प्रकाशक
गौरीशंकर शर्मा
अध्यक्ष एस० चन्द एण्ड कम्पनी
फव्वारा दिल्ली।

एस० चन्द एण्ड कम्पनी
फव्वारा दिल्ली
जयहिन्द सिनेमा बिल्डिंग लखनऊ
माई हीरागेट जालंधर

मूल्य ६॥)

Hindi translation of Parliamentary Govt. in England by H. J. Laski, published by S. Chand & Co. Delhi by arrangements with M/s George Allen & Unwin Ltd., London.

मुद्रक
सुरेन्द्र प्रिन्टर्स लि०
दरियागंज दिल्ली।

# प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक स्वर्गीय श्री हेरल्ड जे. लास्की की सुप्रसिद्ध कृति Parliamentary Government in England का हिन्दी रूपान्तर है। राजनीति-शास्त्र के अध्येताओं के लिए भी लास्की का नाम चिर-परिचित है। वे बीसवी शताब्दी के प्रमुखतम राजनीतिक विचारकों में से एक थे। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त विराट और बहुमुखी था। वे राजनीति के विद्वान् और दार्शनिक, लेखक और पत्रकार, वक्ता और राजनेता, शिक्षक और गुरु थे। जिस समय उनकी मृत्यु (२४ मार्च १९५०) हुई थी, [illegible] विश्वविद्यालय के एक आचार्य ने उन्हें श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए कहा था कि "[illegible] के राजनीतिक विचारधारा पर लास्की का इतना प्रबल प्रभाव था कि उस काल को 'लास्की का युग' कहा जा सकता है।"[1] लास्की का प्रभाव केवल इंगलैण्ड तक ही सीमित नहीं रहा। उनकी पुस्तकें सारे संसार में पढ़ी जाती थीं और पढ़ी जाती हैं। उनके छात्र संसार के सभी देशों में विद्यमान हैं और वे अपने महान् आचार्य की कीर्ति के जीवित स्मारक हैं। लास्की ने राजनीति-शास्त्र की महत्त्वपूर्ण समस्याओं का जिस सूक्ष्मता एवं गम्भीरता से विवेचन किया है वह आधुनिक युग के बहुत कम चिन्तकों में दिखाई देती है। लास्की की कृतियों एवं मान्यताओं का महत्त्व इस कारण और बढ़ जाता है कि वे केवल एक आदर्शवादी विचारक मात्र ही नहीं थे, उनका व्यावहारिक राजनीति से घनिष्ठ संबंध रहता था और वे मार्क्स के इस सिद्धान्त को स्वीकार करते थे कि आधुनिक दार्शनिक का काम समाज की व्याख्या करना नहीं है, उसका वास्तविक कार्य समाज में परिवर्तन लाना है।

लास्की ने Parliamentary Government in England में इंगलैण्ड की शासन-प्रणाली का मार्मिक विश्लेषण किया है। यह पुस्तक, जैसा कि उन्होंने अंग्रेजी संस्करण की भूमिका में स्पष्ट किया है, "इंगलैंड में संसदीय शासन के संचालन का औपचारिक वर्णन मात्र करने वाला ग्रन्थ नहीं, उसमें केवल कतिपय पहलुओं की टीका तक ही सीमित है।" इस पुस्तक में उन्होंने इंगलैंड के संसदीय शासन के केवल उन्हीं कुछ महत्त्वपूर्ण अंगों का विवेचन करने का लिया गया है जिनका "हमारे युग की वर्तमान समस्याओं से प्रगाढ़ संबंध है।

आधुनिक युग में संसदीय शासन प्रणाली काफी लोकप्रिय रही है। इंग्लैंड संसदीय शासन का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माना जाता है। इसका क्या कारण है? लास्की ने इस प्रश्न का उत्तर बेजहॉट के शब्दों में दिया है। बेजहॉट के विचार में उसकी पहली शर्त यह है कि देश के नागरिक समुदाय का सामाजिक क्रिया-कलाप के प्रमुख उद्देश्यों के संबंध में एकमत होना चाहिए। इसका तात्पर्य कि यदि परिवर्तन लाने के लिए संघर्ष की

---

[1] किंग्सले मार्टिन: हेरल्ड लास्की, ए बायोग्राफिकल मेमॉयर, पृ. २५७।

कल्पना तक न करे। इसकी दूसरी शर्त यह है कि समाज के किसी भी वर्ग को स्थायी शक्ति से वंचित न रहना चाहिए। अतएव प्रतिनिधिक शासन की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि राष्ट्र के अन्दर सहिष्णुता की व्यापक भावना हो।

क्या आज इंगलैंड में ये शर्तें उपस्थित हैं? शायद नहीं। जब तक देश का श्रमिक वर्ग निष्क्रिय था संसदीय शासन-प्रणाली सफलतापूर्वक संचालित होती रही। लेकिन अब ज्यों-ज्यों श्रमिक वर्ग में चेतना आती जाती है समाज-रचना के मूलाधारों को चुनौती मिलने लगी है। लास्की ने प्रस्तुत पुस्तक में इसी समस्या को अपने सम्मुख रखा है कि क्या इंग्लैंड का संसदीय शासन इस चुनौती का सफलतापूर्वक सामना कर सकता है? वर्ग-संघर्ष की बढ़ती हुई खाई ने इंग्लैंड की संसदीय संस्थाओं में अनेक अन्तर्विरोध उत्पन्न कर दिए हैं। क्या इंग्लैंड के लिए यह सम्भव है कि वह इन अन्तर्विरोधों का शमन कर सके? यदि हाँ तो किस प्रकार?

भारतीय जनता के लिए इस पुस्तक का महत्व इस कारण और भी बढ़ जाता है क्योंकि हमने भी इंग्लैंड के आदर्श पर ही संसदीय शासन की स्थापना की है। आज ब्रिटिश संसदीय शासन के सम्मुख जो समस्याएँ हैं वे हमारे सम्मुख भी हैं और यदि आज नहीं हैं तो कल आ सकती हैं। वर्तमान काल में जब कि हम भावी भारत के स्वप्निल स्वप्न को साकार करने में संलग्न हैं हमारे लिए यह उपादेय है कि हम अपने देश की भावी समाज-रचना के मूलाधारों के सम्बन्ध में स्पष्ट रहें। प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में चिन्तन की प्रचुर सामग्री दे सकती है।

मुझे राजनीति-शास्त्र के 'क्लासिक्स' के अध्ययन और उनके हिन्दी-अनुवाद की प्रेरणा अपने पूज्य अध्यापक श्री के॰ आर॰ बम्बाल (पी॰ ई॰ एस॰ यू॰ पी॰) से मिली है। इस पुस्तक के तैयार होने में भी उनका बड़ा हाथ है। मैं उनके प्रति विनम्र आभार प्रकट करता हूँ। मैं अपने प्रकाशक श्री श्यामलाल जी गुप्त का भी हृदय से अनुगृहीत हूँ कि उन्होंने पुस्तक को इतने मनोयोग से प्रकाशित किया है।

—विजय प्रकाश

# विषय-सूची

कल्पना तक न करे। इसकी दूसरी शर्त यह है कि समाज के किसी भी वर्ग को स्थायी शक्ति से वंचित न रहना चाहिए। अतएव प्रतिनिधिक शासन की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि राष्ट्र के अन्दर सहिष्णुता की व्यापक भावना हो।

क्या आज इंग्लैंड में ये शर्तें उपस्थित हैं? शायद नहीं। जब तक देश का श्रमिक वर्ग निष्क्रिय था संसदीय शासन प्रणाली सफलतापूर्वक संचालित होती रही। किन्तु अब ज्यों-ज्यों श्रमिक वर्ग में चेतना आती जाती है समाज-रचना के मूलाधारों को चुनौती मिलने लगी है। लास्की ने प्रस्तुत पुस्तक में इसी समस्या को अपने सम्मुख रक्खा है कि क्या इंग्लैंड का संसदीय शासन इस कसौटी का सफलतापूर्वक सामना कर सकता है? वर्ग-संघर्ष की बढ़ती हुई भावना ने इंग्लैंड की संसदीय संस्थाओं में अनेक अन्तर्विरोध उत्पन्न कर दिए हैं। क्या इंग्लैंड के लिए यह संभव है कि वह इन अन्तर्विरोधों का शमन कर सके? यदि हाँ तो किस प्रकार?

भारतीय जनता के लिए इस पुस्तक का महत्त्व इस कारण और भी बढ़ जाता है क्योंकि हमने भी इंग्लैंड के आदर्श पर ही संसदीय शासन की स्थापना की है। आज ब्रिटिश संसदीय शासन के सम्मुख जो समस्याएँ हैं वे हमारे सम्मुख भी हैं और यदि आज नहीं हैं तो कल आ सकती हैं। वर्तमान काल में जब कि हम भावी भारत के स्वर्णिम स्वप्न को साकार करने में संलग्न हैं हमारे लिए यह उपादेय है कि हम अपने देश की भावी समाज-रचना के मूलाधारों के सम्बन्ध में सजग रहें। प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में चिन्तन की प्रचुर सामग्री दे सकती है।

मुझे राजनीति-शास्त्र के क्लासिक्स के अनुशीलन और उनके हिन्दी-अनुवाद की प्रेरणा अपने पूज्य अध्यापक प्रो० के० आर० बम्बवाल (पी० ई० एस०, यू० पी०) से मिली है। इस पुस्तक के तैयार होने में भी उनका बड़ा हाथ है। मैं उनके प्रति विनम्र आभार प्रकट करता हूँ। मैं अपने प्रकाशक श्री श्यामलाल जी गुप्त का भी हृदय से कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने पुस्तक को इतने मनोयोग से प्रकाशित किया है।

—विश्व प्रकाश

# विषय-सूची

# विषय-प्रवेश

इंगलैंड की प्रतिनिधिक शासन-प्रणाली का इतिहास अपूर्व है। अविच्छिन्नता अथवा सफलता की दृष्टि से अन्य कोई शासन-प्रणाली उसकी तुलना में नहीं टिक सकती। उसका जन्म एक ऐसी क्रान्ति से हुआ था जिसके लिये कहा जा सकता है कि वह वास्तव में प्रायः पूरे पचास वर्षों तक चलती रही थी। यद्यपि वह एक क्रूर गृहयुद्ध का परिणाम थी तथापि उसके बाद के २५ वर्षों में होने वाले समस्त आधारभूत परिवर्तन शान्तिपूर्ण समझौतों के द्वारा सम्पन्न हुए हैं। उसने दो विश्वयुद्धों के तनाव को सहा है और वह स्वयं को उस स्थिति के अनुकूल ढालने में समर्थ हुई है जिसमें उसकी राजनीतिक संस्थाओं का रूप उसकी अर्थ-व्यवस्था की वास्तविकता के अनुसार सफलतापूर्वक यथोचित कर लिया गया है। फ्रांस की सरकार अपने आधुनिक इतिहास की डेढ़ शताब्दी में तीन हिंसक क्रान्तियों द्वारा पुनर्गठित की गई है और अमरीका के संविधान को अपने विकास के आधे मार्ग में ही गृहयुद्ध के चार वर्षों द्वारा चुनौती मिली। यदि हम जर्मनी और इटली में प्रतिनिधिक शासन का इतिहास १८७० से मानें तो एक ६३ वर्ष तक चला तथा दूसरा ५२ वर्ष तक।

चाहे जिस दृष्टि से देखा जाय, यह अनुभव विलक्षण है। सामान्यतः हम इसका श्रेय अंग्रेजों के कुछ विशिष्ट जातीय गुणों को, स्वशासन की कठिन कला में उनकी नैसर्गिक प्रवीणता को दे डालते हैं। लेकिन यह व्याख्या सन्तोषप्रद नहीं है क्योंकि स्पष्टतः यह इतिहास का एक निष्कर्ष है न कि उस पर प्रकाश डालने वाला एक सिद्धान्त। सच तो यह है कि राजशास्त्र के कुछ प्रश्न इतने गूढ़ होते हैं कि उनकी सरलता से व्याख्या ही नहीं की जा सकती। ब्रिटिश शासन की सफलता जैसे जटिल प्रश्न को तो किसी एक सिद्धान्त की भाषा में समझना असंभवप्राय ही है। वे व्याख्याएं जिनका आधार राष्ट्रीय चरित्र का कोई माना हुआ गुण हो, व्याख्याताओं के अतिरिक्त शायद ही अन्य किसी व्यक्ति को जंच सकें। यदि कोई भी व्यक्ति जो अंग्रेजों द्वारा समग्र सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में फ्रांसीसियों के ऊपर डाले गए प्रभाव की तुलना करता है, तुरन्त ही वह समझ लेगा कि राष्ट्रीय व्यवहार के निर्णय सदैव भयंकर हुआ करते हैं। उनमें एकता और वस्तुकल्पना दोनों की प्राक्कल्पना होती है जो स्वयं तथ्यों के साथ मुश्किल से ही मेल खाती है।

बैजहॉट के शब्दों में सफल प्रतिनिधिक शासन की 'आवश्यकताएं' वस्तुतः बहुमुखी भी हैं और जटिल भी। केवल गुण और विवेक से ही उसका काम नहीं चल सकता। उसे इनसे कुछ अधिक बातों की आवश्यकता है। सफल प्रतिनिधिक शासन के लिये एक ऐसे नागरिक-समुदाय की आवश्यकता है जो शासनिक क्रिया-कलापों के समस्त प्रमुख उद्देश्यों के सम्बन्ध में एकमत हो, इतना एकमत कि परिवर्तन के साधन-रूप में संघर्ष का विचार राष्ट्र के एक अत्यल्प अंश को छोड़कर अन्य लोगों के मन में ही न आ सके। प्रतिनिधिक

शासन की सफलता के लिये दूसरी शर्त राष्ट्र के अन्दर इस भाव की कि समाज का कोई भी महत्वपूर्ण वर्ग स्थायी रूप से शक्ति से वंचित न रहे व्याप्ति है। यह बात अंग्रेजों के सम्बन्ध में भी अन्य जातियों की अपेक्षा कम सच नहीं है कि सत्ता का दीर्घकाल तक स्वामित्व भ्रष्टकारक होता है और आगे चलकर सत्ता से निष्कासन का अर्थ नियमतः काम से भी निष्कासन होने लगता है। अभिजात वर्ग के शासन का अभिप्राय सदैव ही सत्तारूढ़ अभिजात वर्ग के हित में शासन रहा है। व्यापारी वर्ग के शासन ने कृषकों और श्रमिकों के हितों की सदैव उपेक्षा की है। जब तक कोई व्यक्ति-समूह समझे कि उसकी जनसंख्या काफी बड़ी हो यह अनुभव नहीं करता कि समाज में उसकी स्थिति इतनी दृढ़ है कि या तो उसकी बात को ध्यान से सुना जायेगा या उसकी अस्वीकृति पर सत्तारूढ़ व्यक्तियों की स्थिति को चोट पहुंचेगी तब तक वह सामाजिक शांति के संधारण में यदि अन्तर्ग्रस्त प्रश्न उसके विचार से पर्याप्त महत्व का हुआ सुगमता से सहयोग नहीं देगा।

सफल प्रतिनिधिक शासन की तीसरी शर्त राष्ट्रव्यापी सहिष्णुता की भावना है। उन मनुष्यों को जिन्हें शांतिपूर्वक साथ-साथ रहना है, शांतिपूर्वक साथ-साथ विचार विनिमय करने में समर्थ होना चाहिए। उन्हें चाहिए कि वे वर्तमान वस्तुओं की आलोचना का दमन करने के लिये कमर न कसें प्रत्युत आवश्यकता पड़ने पर उनके परीक्षण को आमंत्रित करने के लिये प्रस्तुत रहें। उन्हें महत्वपूर्ण अल्पमत के ऊपर विधान के वे सिद्धान्त जिनसे उसे रोष उत्पन्न हो आरोपित करने से बचना चाहिए। इस सहिष्णुता के बिना समाज में समझौते की कोई सम्भावना नहीं है और इस दशा में मतभेद का प्रत्येक विषय विघटन का राजमार्ग बन जाता है।

मेरा विचार है कि ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि सहिष्णुता की भावना सुरक्षा की भावना से उत्पन्न होती है। इससे मेरा आशय है कि समाज के सदस्यों को यह विश्वास होना चाहिए कि कम से कम आर्थिक क्षेत्र में उनकी समस्त मूल आशाएं पूरी होंगी। सहिष्णुता एक ऐसी मनोदशा के अस्तित्व पर निर्भर है जिसमें व्यक्ति युक्तिसंगत विचार-विनिमय के लिये सन्नद्ध हों और इस मनोदशा का सबसे प्रबल शत्रु अव्यवस्थित चित्त मन के विक्षेप से उत्पन्न भय है। इंग्लैंड में राजनीतिक सुधार फ्रेंच क्रांति से उत्पन्न आतंक के कारण चालीस वर्षों तक टलता रहा था और एक समय ऐसा भी आया था जब भान होने लगा था कि १८३२ का समझौता शायद शांतिपूर्ण रीति से सम्पन्न न हो सकेगा। मनुष्य अपने मतभेदों को उस समय जबकि उनके जीवन भय से ग्रस्त हों विवेक द्वारा नहीं सुलझा सकते। यह भय युद्ध में पराजय का परिणाम हो सकता है। यह मुद्रार्थ (currency) के पूर्णतः अस्त-व्यस्त हो जाने से उत्पन्न हो सकता है। यह किसी ऐसे आचार अथवा अधिकार पर जो जनता को विशेष प्रिय हो कुठाराघात से भी उत्पन्न हो सकता है। कारण चाहे कुछ भी हो सुरक्षा का वातावरण जितना कम होगा उतनी ही अधिक इस बात की संभावना रहेगी कि प्रतिनिधिक शासन सफल नहीं हो सकेगा।

आज से सत्तर वर्ष पूर्व जब बैजहॉट ने अंग्रेजी संविधान का अपना प्रसिद्ध विश्लेषण किया था उसने प्रतिनिधिक शासन की सफलता के लिए दो शर्तें और आवश्यक ठहराई थीं। उसके विचार से यह आवश्यक था कि जन-समूह विनयशील हो। बैजहॉट 'गुणक'

(monarchy) को एक ऐसी 'गल्प' (myth) मानता था जो अपने चामत्कारिक प्रभाव से जनता को अपने से 'बड़ों' का शासन स्वीकार करने के लिए राजी कर लेती थी। उसने लिखा था "लोग सोचते तो यह हैं कि हम एक आनुवंशिक साम्राज्ञी द्वारा उस साम्राज्ञी द्वारा जिस पर ईश्वर की कृपा है, शासित होते हैं जबकि वास्तविकता यह है कि वे मंत्रिमंडल और संसद द्वारा अपने द्वारा निर्वाचित अपने जैसे व्यक्तियों द्वारा शासित होते हैं। उच्चकोटि का मौरव भक्ति की भावना जगा देता है और इसके कारण बहुधा यह गौरवहीन मनुष्य शासन करने का अवसर पा लेते हैं।

हमें राष्ट्र की भावना को एकान्वित करने में सम्राट के व्यक्तित्व का प्रभाव अस्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन यह बिल्कुल स्पष्ट है कि बेजहॉट की 'गल्प' से यथार्थ में बहुत कम काम निकल पाता है। कारण यह है कि ऐतिहासिक दृष्टि से इस प्रकार की गल्पें तभी समय तक सफल होती हैं जब तक कि उनकी छत्रछाया में संविधान का 'प्रवीण' भाग अपने काम को सफलतापूर्वक करने में समर्थ होता है और यह शासन प्रणाली की इस योग्यता पर कि वह नागरिकों की उचित आशाओं को कहाँ तक पूरा कर सकती है, निर्भर है। जहाँ यह नहीं हो पाता जैसा कि चार्ल्स प्रथम अथवा लुई सोलहवें अथवा निकोलस द्वितीय के साथ हुआ था "गल्प" की विश्वासोत्पादन की योग्यता बड़ी शीघ्रता से नष्ट हो जाती है। गल्प को सफलता वहीं मिलती है जहाँ कि शासन सुदृढ़ होता है, जहाँ शासन अस्त-व्यस्त हुआ उसे भी धूलधानी होते देर नहीं लगती।

बेजहॉट ने संविधान के 'गौरवपूर्ण' भाग के महत्त्व पर जो बल दिया है उसके मूल में एक और गहन विचार है जो अधिक महत्त्वपूर्ण है और जिसे पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं किया गया है। यह स्मरणीय है कि बेजहॉट ने अंग्रेज सत्ता की परिकल्पना तथा १८६७ के सिद्धान्त-अधिनियम के पास होने के ऊपर कुछ प्रभाव डालने के पूर्व लिखा था। उसे इस बात में संदेह था कि प्रतिनिधिक शासन सार्वभौम मताधिकार के साथ निभ सकता है। वह जनता के अज्ञान से डरता था। उसको भय था कि कहीं निम्नवर्गों का मेल 'बड़ों' को शक्ति से वंचित न कर दे और इस खतरे से बचने के लिए उसने अभिजातवर्ग तथा धनिकवर्ग के गठबन्धन का प्रतिपादन किया था। यह स्पष्ट है कि उसके मन में चार्टवादी आन्दोलन अथवा १८४८ की फ्रेंच क्रांति की सी स्थिति थी जिसमें जनसाधारण ने अपनी राजशक्ति का प्रयोग सम्पत्ति का आदर घटाने के लिये किया था। उसे एक ऐसी स्थिति से विशेष भय था जिसमें कि सुशिक्षित और धनिक व्यक्ति दोनों ही "जनता के निर्णय का मानने के लिये निरन्तर प्रस्तुत हों तथा उसे कार्यान्वित करने के पद के लिये संघर्ष करें। यदि जनता की आवाज का व्यावहारिक रूप यह हुआ तो वह शैतान की आवाज होगी।" उसने लिखा था "निम्न वर्गों का अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इस प्रकार का राजनीतिक गठबंधन एक बहुत बड़ी बुराई है। चूँकि अब उनमें से अधिकांश को मताधिकार प्राप्त है इसलिये उनका स्थायी गठबन्धन उन्हें देश में सर्वोच्च बना देगा और वर्तमान स्थिति में उनकी सर्वोच्चता का अर्थ शिक्षा के ऊपर अशिक्षा का और ज्ञान के ऊपर संख्या का आधिपत्य है।"

संख्या के बढ़ते बल का भय उस पीढ़ी की जिसमें बेजहॉट ने लिखा था एक विशेषता है। मिल, मेन और लेकी इन सभी की रचनाएं विभिन्न मात्राओं में इसके प्रभाव से ग्रस्त

है। अब यह स्पष्ट है कि कुछ दृष्टियों से उसका भय काफी अतिरंजित था। उन्होंने शिक्षा की मनुष्यों को दूरदर्शी बनाने की शक्ति को कम समझा था, उन्होंने प्रचार के प्रभाव की इस शक्ति को कि वह प्राचीन विचार-पद्धतियों को बनाए रख सकती है, कम आंका था। लेकिन कम से कम एक दृष्टि से सार्वभौम मताधिकार पर आधारित उनके लोकतंत्र विषयक मत में यह विशेषता है और इस कारण उनकी रचनाओं का अमिट महत्त्व है।

यह निश्चित है कि उस समाज में जहां स्त्री और पुरुष सार्वभौम मताधिकार का उपभोग करते हैं, इस बात की अवश्य मांग रहेगी कि उनकी राजनीतिक शक्ति उनकी भौतिक दशा को उत्तम करने में लगे। जब तक आर्थिक व्यवस्था उनकी मांगों को लगातार और सारभूत मात्रा में पूरा करती रहती है, वे उन मूलाधारों का जिनका परीक्षण वर्ग के मतानुसार सर्वदा ही भयावह होता है, विवेचन करने के लिये विशेष उत्सुक नहीं होंगे। वे सुरक्षा, अधिक वेतन, काम के कम घंटे, अच्छे मकान, अपने बच्चों के लिये अधिक व्यापक शिक्षा और अवसरों की मांग करेंगे। जहां तक अर्थ-व्यवस्था उन्हें ये वस्तुएं प्रदान कर सकती है, सब कुछ ठीक रहेगा। बैजहाट ने स्वयं भी लिखा था, "अवश्यक उच्च वर्ग न केवल प्रत्येक वास्तविक शिकायत ही प्रत्युत प्रत्येक सम्भाव्य शिकायत भी दूर कर सकते हैं, वे उस प्रत्येक बात को स्वीकार करेंगे जिसे वे सुरक्षा से कर सकते हैं।" लेकिन प्रतिनिधिक लोकतंत्र की मूलभूत और नैतिक समस्या यह प्रश्न है कि उस समय उच्च वर्ग क्या करेंगे जिस समय उनके सम्मुख कोई ऐसा दावा उपस्थित किया जाता है जिसे वे अपने विचार से सुरक्षापूर्वक स्वीकार नहीं कर सकते। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बैजहाट के लिए 'सुरक्षा' का विचार एक वस्तुपरक ( objective ) विचार था, वह शायद कुछ ऐसी वस्तु था जिसे उस राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था के आधारों से जिसका वह इतना भव्य प्रतिपादक था, पृथक्‌ निरूपित किया जा सकता है। लेकिन यह स्पष्ट है कि वे आधार वास्तव में उच्च वर्ग के अर्द्ध-चेतन आग्रह थे और उसने उन्हें यों ही मान रक्खा था। उच्च वर्ग ने 'सुरक्षा' विषयक अपने विचारों का निर्माण इस आधार पर इसलिए किया था क्योंकि उसे अन्य कोई सम्भव आधार ही न सूझ पड़ते थे।

वास्तविक समस्या वह थी जिसका इस युग में उदार विचारकों में टोकविलेनी ने और समाजवादी विचारकों में मार्क्स और उसके शिष्यों ने सामना किया था। समस्या थी कि यदि कहीं विभिन्न राजनीतिक दलों ने रियायतों के अनुपात में सुरक्षा की धारणा को एक दूसरे से भिन्न या प्रतिकूल दृष्टिकोणों से देखा, तो क्या स्थिति उत्पन्न होगी? उस स्थिति में व्यक्ति उन्हीं मूलाधारों के सम्बन्ध में जिनके विषय में एकता का बने रहना बैजहाट के विचार से प्रतिनिधिक लोकतंत्र के सफल शासन के लिये आवश्यक था, भिन्न मत होंगे। लार्ड बाल्फोर ने लिखा है कि "हमारा सम्पूर्ण राजनीतिक तंत्र पहले से ही इतने मौलिक रूप से जनता का अभिन्न भाग बन चुका है कि वह पारस्परिक विचार-भेद को सुगमता से सह सकता है। उसे अपनी सहिष्णुता के विषय में इतना प्रगाढ़ विश्वास है कि वह राजनीतिक झगड़ों के असमाप्त कोलाहल से कभी अधिक क्षुब्ध नहीं होता।" यह इस गरिमा का ही फल है कि इंग्लैंड के राजनीतिक इतिहास और उसके महाद्वीपीय पड़ोसियों के राजनीतिक इतिहास में इतना विलक्षण अन्तर रहा है।

यह एकता आर्थिक सफलता, युद्ध की सफलता और साम्राज्य-निर्माण की सफलता से उत्पन्न लगता है। इस सफलता के परिणामस्वरूप अथाह धनराशि हाथ में आई जिसके कारण रियायतों की वह नीति, जिसकी ह्विगों ने निरन्तर प्रयोग करने के लिए सिफारिश की थी, कार्यान्वित होती रही। चार्टिस्ट आन्दोलन के से खतरे के क्षण शान्तिपूर्वक पार कर लिए गए क्योंकि इसमें से प्रत्येक के समकालीन ही देश की विपुल आर्थिक उन्नति हुई और जनसाधारण को प्रचुर भौतिक लाभ पहुँचे। इस क्रम ने कम से कम युद्ध (प्रथम युद्ध) की समाप्ति तक उच्च वर्गों के विशेषाधिकारों अथवा सुरक्षा को किसी भी प्रकार खतरा नहीं पहुँचाया। और तो और १९०८ तक में एक प्रमुख अमेरिकन लेखक का मत था कि इंग्लैंड में श्रमिक दल का सिवाय इसके कि वह उदारवादी दल (Liberal Party) का छोटा साझी बन जाय अन्य कोई भविष्य नहीं है। प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने तक यह समझा जाता था कि समाज की पूँजीवादी बुनियादों को कोई विशेष संकट नहीं है। लोगों का विश्वास था कि समाजोन्मुख नूतन उदारवाद ने, जिसका शायद टी० एच० ग्रीन सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादक था, राज्य-हस्तक्षेप के एक ऐसे दर्शन का निर्माण कर लिया है जो विक्टोरिया-युग के समन्वय की कम से कम स्थूल विशेषताओं को तो सदैव अक्षुण्ण रखेगा ही। ब्रिटिश समाजवादियों का मुख्य भाग स्वयं भी इस दृष्टिकोण की वैधता के ऊपर शायद ही सन्देह करता हो। उनके ऊपर फेबियन विचारधारा का अत्यधिक गहरा प्रभाव पड़ा था और वे राज्य-शक्ति को एक ऐसी नैसर्गिक शक्ति मानते थे जो निर्वाचकीय बहुमत की इच्छा पूर्ण करने का स्वतः ही ध्यान रखती थी। उन्हें इस बात में रंचमात्र भी सन्देह नहीं था कि विवेक हमारे साथ है। वे यह मान बैठे थे कि राज्य की शक्ति आर्थिक सम्बन्धों के समाजवादी कायाकल्प के निमित्त प्रयुक्त करने के लिए उन्हें केवल यही करना है कि वे बहुमत को अपने दावे के औचित्य के विषय में राजी कर लें।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह सरल सिद्धान्त अब भी इस देश का प्रधान दृष्टिकोण है, यद्यपि हाल के वर्षों में इसे कुछ गहरे आघात पहुँचे हैं। वास्तव में इसकी स्वीकृति बहुत सी ऐसी प्राक्कल्पनाओं के ऊपर आधारित है जिनमें से किसी एक का भी ठीक से परीक्षण नहीं हुआ है। यह एक ऐसे वस्तुपरक विवेक के अस्तित्व में विश्वास रखता है जो व्यक्तियों को अपने निष्कर्ष शान्तिपूर्वक स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है फिर चाहे उनके प्रयोग में उनका कोई भी हित हो। यह लोकतन्त्र को सबसे बड़ी अच्छाई मानता है और उस पूँजीवादी व्यवस्था में, जिससे उसका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, लोकतन्त्र के साथ उस की असंगता अस्वीकार करता है। यह महाद्वीपीय देशों के अनुभव और इंगलैंड के अनुभव में भेद मानता है इस आधार पर कि हमारा राष्ट्रीय चरित्र और ऐतिहासिक परम्पराएँ इस देश में निश्चितरूप भिन्न सम्भावनाएँ उत्पन्न कर देती हैं। इस चरित्र और इन परम्पराओं को देखते हुए यह मान लिया जाता है कि ब्रिटिश पूँजीवादी अपने विशेषाधिकारों के लिए संकट उत्पन्न होने पर महाद्वीपीय पूँजीपतियों की भाँति आचरण नहीं करेंगे। पुनश्च, यह राजनीतिक क्रिया-कलाप का विशुद्ध बुद्धिवादी निर्वचन है। यह इस बात को प्रायः भूल सा जाता है कि राजनीति में विवेक बहुत कम काम करता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसने शायद आर्थिक शक्ति और राजनीतिक शक्ति के सम्बन्ध

का इस सीमा का कहां तक राज्य की शक्ति अपनी आर्थिक बुनियादों के ऊपर आश्रित
रहती है, कभी गम्भीरतापूर्वक परीक्षण नहीं किया है।

जैसा कि बैजहॉट और उसकी पीढ़ी के अधिकांश विचारकों का मत था स्थिति इससे
कहीं अधिक जटिल है। वैधानिक सिद्धांत और प्रणालियां भावात्मक तर्क-वितर्क के शून्य
में नहीं पनपतीं। वे तो कतिपय उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए साधन-मात्र हैं। उनका गठन
ही कुछ इस प्रकार होता है जिससे वे अपने उद्देश्यों को भली भांति कार्यान्वित कर सकें।
गत डेढ़ सौ वर्षों का अंग्रेजी राज्य उस उदारवाद (liberalism) की सम्यक्
अभिव्यक्ति है जिसका प्रथम उत्कृष्ट प्रतिपादन लॉक की रचनाओं में मिलता है।
इस उदारवाद ने सम्पत्ति के स्वामी के इस अधिकार को मान लिया था कि यदि कोई
व्यक्ति उसके सम्पत्ति के उपभोग में मनमाना हस्तक्षेप करे, तो राज्य सम्पत्ति के स्वामी
की रक्षा करेगा। राज्य का मुख्य प्रयोजन यह है कि वह ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करे
जिनमें कि सम्पत्ति का स्वामी अपनी सम्पत्ति विषयक अधिकार का अधिकतम उपभोग
कर सके। राज्य के कार्यक्षेत्र की यह धारणा कितनी सर्वमान्य थी एडम स्मिथ ने इसे निस्संकोच
स्वीकार किया था। उनकी राय में न्याय का मुख्य प्रयोजन सम्पत्ति का रक्षण था।
उन्होंने लिखा था धनिकों का ऐश्वर्य निर्धनों के रोष को भड़का देता है और वे बहुधा
अपनी आवश्यकता से प्रेरित तथा ईर्ष्या से उत्तेजित होकर धनिकों की सम्पत्ति पर आक्र-
मण कर देते हैं। उस बहुमूल्य सम्पत्ति का स्वामी जिसने अपनी सम्पत्ति को कई वर्षों
अथवा शायद कई पीढ़ियों के श्रम से उपार्जित किया हो केवल शासक की छत्रछाया में
ही रात को सुरक्षा से सो सकता है। बर्क का भी यही मत था कि राज्य का मुख्य उद्देश्य
सम्पत्ति की रक्षा करना है। उनका कहना था "शासन में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह हमारी
आवश्यकताओं को पूरा कर सके। यदि राजनेता यह सोचते हैं कि हम ऐसा कर सकते हैं
तो यह उनकी अहम्मन्यता है। हां[1] शासन में यह शक्ति अवश्य है कि वह बहुत-सी
बुराई को रोक दे। वह इस बात में या अन्य किसी बात में ठोस भलाई का काम बहुत कम
कर सकता है। इस दृष्टिकोण का अन्तर्भूत सिद्धांत शायद स्पष्टतम रूप से आर्थर यंग
ने व्यक्त किया था। उसने १८७१ में लिखा था मूर्ख को छोड़कर अन्य प्रत्येक व्यक्ति यह
जानता है कि निम्नवर्गों को निर्धन रखना चाहिए नहीं तो वे कदापि परिश्रमी नहीं होंगे।

गत शताब्दी का अंग्रेजी उदारवाद वास्तव में इस दृष्टिकोण से बहुत दूर हट
गया है। उसने एक ऐसे राज्य-सिद्धांत का निर्माण किया है जिसमें भाषण और समुदाय की
स्वतन्त्रता विधि (law) के समक्ष समानता सार्वभौम मताधिकार अनिवार्य शिक्षा
और धार्मिक स्वतन्त्रता आदि की व्यवस्था के प्रति सभी दलों के मन में निष्ठा है। अतएव
प्रारम्भिक उन्नीसवीं शताब्दी के पुलिस-राज्य का स्थान बीसवीं शताब्दी के सामाजिक सेवा
राज्य ने ले लिया है। राज्य ने एक ऐसे परिमाण में जिसकी बैजहॉट कल्पना भी नहीं कर
सकता था अपने चेतन हस्तक्षेप के द्वारा आर्थिक असमानता के कुछ निष्ठुर परिणामों को
जानबूझकर मिटाने के लिये अपनी सर्वोच्च दमन-प्रधान सत्ता का प्रयोग किया है। सार्वजनिक
स्वास्थ्य और शिक्षा मकान और मनोरंजन की सुविधाओं में बैजहॉट के समय से पर्याप्त
सुधार हुए हैं। अधिकांश राजनीतिज्ञों की धारणा है कि इस प्रगति को उस समय तक और

करने का कोई कारण नहीं है जबतक कि कोई अयाचित आपत्ति ही न टूट पड़े। इसमें कोई संदेह नहीं कि सामाजिक उन्नति में उत्थान और पतन होते ही रहेंगे उदाहरणार्थ अभी हम वाणिज्य-चक्र में अन्तर्भूत परिणामों के स्वामी नहीं हैं। लेकिन यदि हममें इच्छा और धैर्य हो तो यह मानने का कोई कारण नहीं है कि हमारी वैधानिक पद्धति इतनी सुपरिवर्तनीय नहीं है कि वह ऐसे किसी सामाजिक परिवर्तन को, जिसके लिए निर्वाचक-मंडल दृढ़-संकल्प हो शांतिपूर्वक सम्पन्न न कर सके।

मेरे विचार से उक्त विश्वास में एक त्रुटि रह जाती है जिसकी ओर सेन्ट साइमन ने संकेत किया था। उसने लिखा था "वह विधि जो शासन की शक्तियों का स्वरूप निश्चित करती है उस विधि की अपेक्षा जो सम्पत्ति से सम्बन्ध रखती है तथा उसके प्रयोग की व्यवस्था देती है, कम महत्त्वपूर्ण है और राष्ट्रों के ऊपर कम प्रभाव रखती है।" हमारी राजनीतिक पद्धति उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार करती है इस स्वीकृति का विधि की रग-रग पर प्रभाव पड़ता है। हमारे न्याय-शास्त्र (Jurisprudence) की समस्त धाराएं व्यक्तिवाद की परम्पराओं से अनुप्राणित हैं। वे सम्पत्ति-विषयक अधिकारों की रक्षा का जोरदार समर्थन करती हैं। वे बीसवीं शताब्दी की समूहवादी और सामुदायिक पद्धतियों पर नहीं प्रत्युत सत्रहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक निर्मित ह्यूम, बर्क, उदारवादी आर्थिक सिद्धांतों पर आधारित हैं। इनके निर्माता वे व्यक्ति थे जिनका विश्वास था कि व्यवसायी व्यक्ति की विजय के साथ ही साथ क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता पर एक प्रतिबंध लग गया था क्योंकि उनकी दृष्टि में उसकी विजय ने जाति, वंश और विचारधारा की रुकावटों की उस शक्ति को, जो उसे समाज में अपना उचित स्थान प्राप्त करने से रोकती, समाप्त कर दिया था। सच्ची स्वतंत्रता यही थी जो उसे मिल गई थी—सम्पत्ति को प्राप्त करने और उसे बनाए रखने की स्वतंत्रता। यही वह वस्तुस्थिति थी जिसने उत्पादन के सम्बन्धों और उत्पादन की शक्तियों में सामंजस्य ला दिया था। धर्म, नीति, राजदर्शन सभी ने इसके उदात्तीकरण में योग दिया। यह 'नैसर्गिक स्वतंत्रता की सरल पद्धति' ही थी जिसने युग-युगों उपरान्त मनुष्य को अपने स्वर्ग-राज्य में प्रवेश करने की सामर्थ्य दी।

इस दृष्टिकोण को कम से कम सौ वर्ष के परिवर्तनों ने स्पर्श नहीं किया। वे रियायतें जिनकी बेजहाट ने सिफारिश की थी, दी गईं लेकिन उन्होंने अपनी समाज के वर्ग व्यवस्था के ऊपर कोई प्रभाव नहीं डाला है। मूलतः यह अब भी धनिकों और निर्धनों के दो राष्ट्रों के बीच विभाजित है। मूलतः उसकी परिधि में अवसरों की समानता का भी कोई अस्तित्व नहीं है। मूलतः पुनश्च उत्पादन का प्रेरक अंग समाज की आवश्यकता नहीं प्रत्युत उत्पादन के साधनों के स्वामियों की अपने पुरुषार्थ द्वारा पैसा पैदा करने की सामर्थ्य है। इसका फल यह हुआ है कि हमारा समाज जैसा कि श्री [illegible] ने लिखा है "आन्तरिक एकता और सामाजिक भावना से शून्य, पूर्णतः अधार्मिक तथा स्वामियों के स्वामित्व के लिए प्रयत्नशील व्यक्तियों का एक संघर्ष-स्थल मात्र बन कर रह गया है। इसके द्वारा निर्मित राजनीतिक संविधान का स्वरूप कुछ ऐसा है कि वह सरकारी काम एक दल या दलों की इच्छा के ऊपर छोड़ देता है जिनका लोक-सभा (House of Commons)

में बहुमत होता है। लेकिन यह भी द्रष्टव्य है कि न्यायपालिका, सिविल सर्विस, सेना और पुलिस इन सबमें महत्त्वपूर्ण स्थानों पर सत्तारूढ़ वर्ग के आदमियों का ही अधिकार रहता है। उनके निश्चित नियम और व्यवहार वे होते हैं जिनसे उनके द्वारा नियंत्रित समाज-व्यवस्था में कोई विघ्न नहीं उठता। अन्य स्थानों की तरह यहाँ भी सार्वजनिक क्षेत्र में सही और गलत, विवेक और अविवेक उस प्रभाव के अनुसार ही होता है जो वे विद्यमान समाज-व्यवस्था के ऊपर डालते हैं। प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि क्या हमारा सामाजिक ढाँचा इतना लचीला है कि वह उन परिवर्तनों को, जो उसको समूल बदलना चाहें, सहन कर सकेगा।

आज परिवर्तन की प्रणाली और गति दोनों ही पिछले दो सौ पचास वर्षों की प्रणाली और गति से भिन्न हैं। दलगत शासन आज भी बेजहॉट के समय की भाँति प्रतिनिधिक शासन का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। लेकिन दल-संगठन के मूल सिद्धान्तों और उद्देश्यों में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया है। एक ओर तो वह दल है जो उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व में विश्वास रखता है और दूसरी ओर वह दल है जिसका विश्वास है कि व्यक्तिगत स्वामित्व की व्यवस्था पूरी हो चुकी है और इन साधनों का समाजीकरण राष्ट्रीय कल्याण की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। यह सही है कि पहला दल उस सीमा तक रियायतों की नीति को लागू रखने के लिये तैयार है जहाँ तक कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में किसी गम्भीर उलट-पुलट की आशंका न हो और यह भी सही है कि उसके विरोधी धनवान हितों को कम से कम हानि पहुँचाते हुए समाजीकरण की नीति को कार्यान्वित करने के लिये उत्सुक हैं। दोनों ही अधिक से अधिक सामान्य भूमि को खोजने के लिए प्रस्तुत हैं क्योंकि उनमें से कोई भी ऐसी नीति पर चलना नहीं चाहता जिसे कि दूसरा लोकतंत्र के लिए एक चुनौती समझे। लेकिन उनमें से किसी ने भी इस प्रश्न का कि क्या पूँजीवाद के पतन-काल में पूँजीवाद और लोकतंत्र का वैवाहिक निबाह संभव है, गम्भीरतापूर्वक सामना नहीं किया है। जब तक अपरिवर्तनवादी दल सत्तारूढ़ रहता है उसका प्रतिद्वंद्वी दल उन पर निरन्तर आक्षेप करता रहता है और निर्वाचकों से कहता है कि यदि आप निर्वाचन में हमें सफलता दिला दें तो हम आपके लिए यह यह करेंगे। इंग्लैंड में अभी दल-पद्धति है, उसको देखते हुए यह निश्चित है कि विरोधी दल एक दिन अपनी सरकार बनायेगा और जब वह उन परिवर्तनों को करना चाहेगा जो बेजहॉट के शब्दों में सम्पत्तिशाली दल 'सुरक्षापूर्वक' स्वीकार नहीं करेगा तब विषम स्थिति उत्पन्न हो जायगी। यह स्थिति व्यवसायी व्यक्तियों में विश्वास का ऐसा अभाव उत्पन्न कर सकती है जिससे १९३१ का सा आर्थिक संकट उत्पन्न हो सकता है। क्या उस दशा में, जबकि एक राजनीतिक दल अपनी नीतियों से समाज की स्थिरता को खतरा पैदा करे, प्रतिनिधिक शासन चल सकता है?

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि वास्तविक समस्या, जिसका हमें समाधान खोजना है, यह है कि क्या हमारी जनता में सचमुच इतनी एकता है, जैसा कि लार्ड बैल्फोर ने कहा था, कि वह "विचारभेद को सुगमता से सहन कर लें"? यह वह कसौटी है जिस पर कि संसदीय पद्धति को युद्धकाल में नहीं कसा गया है। यह सुरक्षा की सामान्य भावना को कम पहुँचाती है और इस प्रकार विवेकशील मनुष्यों के मन पर असमा

प्रमुख बनाए रखने की शक्ति को दुर्बल करती है। पूर्व युग की महती विशेषता यह रही है कि प्रत्येक दल ने अपने पूर्ववर्ती के विधान को बिना किसी विशेष कठिनाई के स्वीकार किया है क्योंकि इससे राज्य की नींवें यथापूर्व सुस्थिर रही हैं। अब भविष्य का जो रूप हमारे सामने आता है, उसमें यह विशेषता कठिनता से ही रह सकती है। हमारी कठिनाइयों के न तो विधान में ही और न व्यवहार में ही दोनों दलों के बीच कोई आधारभूत समझौता है। समाजवादी जिन सिद्धान्तों का समर्थन करते हैं, उनका लक्ष्य राज्य के स्वरूप को बिल्कुल बदल देना है। यही नहीं समाजवादियों का यह भी आग्रह है कि परिवर्तन की प्रक्रिया के साथ ही सुधार भी आवश्यक है। पूंजीवादी समाज के दृष्टिकोण से इन सुधारों की कीमत महंगी होगी है और १९३१ के समान इस नीति का परिणाम यह हो सकता है कि सम्पूर्ण व्यापार अस्त-व्यस्त हो जाय तथा देश की अर्थ-व्यवस्था हिल उठे। क्या ऐसे कार्यक्रम के मनोवैज्ञानिक तनाव और दबाव प्रतिनिधित्व लोकतन्त्र के लिए भारी नहीं हैं? यदि इस प्रश्न का उत्तर 'हां' है तो यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रिटिश संविधान उस रूप में जिसमें कि हम सबे जानते हैं आर्थिक शक्तियों के एक विशेष समानान्तर चतुर्भुज ( parallelogram ) की राजनीतिक शब्दावली में अभिव्यक्ति-मात्र है। यदि प्रश्न का उत्तर 'नहीं' है तो ब्रिटिश संविधान वह प्रथम संविधान होगा जिसके कारण समाज के वर्ग-संगठन में बिना किसी हिंसा के परिवर्तन सम्भव हो सकता है। प्रश्नोक्त स्थिति में संसदीय शासन को उसके परम्परागत रूप में अधिक समय तक बनाए रखना उचित नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में प्रतिनिधिक शासन ऐसा शासन हो जाता है जो पूंजीवाद के विकास-काल में तो उपयुक्त रहता है परन्तु पूंजीवाद के पतन-काल में अनुपयुक्त प्रमाणित होता है। इस समस्त विवेचन से यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि शासन की प्रणालियां कुछ विशिष्ट आर्थिक सिद्धान्तों पर निर्भर रहती हैं और जैसे ही वे आर्थिक सिद्धान्त नूतन युग की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाते शासन-प्रणालियां भी शिथिल हो जाती हैं।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि हम इंगलैंड में जिन परिवर्तनों को देख रहे हैं वे सार्वभौमिक हैं। ये परिवर्तन भावी सम्भावनाओं की दृष्टि से सामंतवाद से पूंजीवाद के संक्रमण की भांति ही महत्त्वपूर्ण हैं। विदेशों में इन परिवर्तनों के परिणाम सचमुच ही सकटापन्न और कभी कभी तो संसदीय पद्धति के लिये प्राणघातक रहे हैं। स्वयं युद्धोत्तर इंगलैंड में भी इन परिवर्तनों के दूरगामी परिणाम दिखाई देते हैं। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप उदार दल (Liberal Party) नष्ट हो गया है और उसका यह अस्त होना स्थायी ही प्रतीत होता है। उदार दल के सदस्य यह जान गए हैं कि यदि पूंजीवाद की रक्षा और समाजवाद की स्वीकृति के बीच किसी एक को चुनने का सवाल है तो उनका उत्तर ही नहीं सम्पूर्ण राष्ट्र का हित पहले के साथ है। इतना ही नहीं अधिकांश उदारवादियों ने अनुदार दल की जो नीति अपनाई है उसका परिणाम राष्ट्रीय सरकार का निर्माण हुआ है। यह राष्ट्रीय सरकार विरोध की परम्परागत पद्धति

---

१ यहाँ युद्ध से तात्पर्य प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८) है।

को अपने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा भिन्न दृष्टि से देखती है। युद्ध के पूर्व तो यह विचार कि विरोधी दल का कर्तव्य ही विरोध करना है संसदीय पद्धति का सारतत्व समझा जाता था लेकिन अब बारम्बार यह कहा जाता है कि इस प्रकार का विरोध बिल्कुल व्यर्थ है। आजकल प्रवृत्ति तो यह मालूम पड़ती है कि दलगत संघर्ष का सम्पूर्ण सिद्धान्त ही इस आधार पर कि इससे राष्ट्रीय एकता को चोट पहुंचती है तिरस्कृत किया जाय। वास्तव में यह आलोचना अंशतः उस आलोचना से भिन्न नहीं है जो फासिस्ट संसदीय पद्धति के संबंध में करते हैं। उनका कहना है कि वह राष्ट्र जो जीवन-मरण के संघर्ष से जूझ रहा है, यह सहन नहीं कर सकता कि उसकी शासन-शक्ति के ऊपर कोई अंकुश लगे।

इतने से ही इति नहीं हो जाती। यह ध्यान देने योग्य है कि हमारे समय में श्रमिक सभा के विरुद्ध सबसे पहला विधान बना है। हमारे समय में लॉर्ड-सभा (House of Lords) के पुनर्गठन के लिये एक शक्तिशाली आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है।] इस आन्दोलन का कारण केवल यही नहीं है कि विधान-मंडल के रूप में यह सभा अधिक कारगर नहीं है प्रत्युत यह भी है कि इस सभा को समाजवादी शासन की सफलता के विरुद्ध एक उपलब्ध रक्षा-कवच के रूप में प्रयुक्त किया जाय। वर्तमान समय में न केवल राजतन्त्र के गौरव को पुनरुज्जीवित करने तथा बढ़ाने का ही प्रयत्न हुआ है अपितु इस सिद्धांत को भी पुनर्प्रतिष्ठित किया गया है कि सम्राट् संविधान का अभिरक्षक है। इस सिद्धांत का निष्कर्ष यह है कि संकट के काल में सम्राट् ही दलों के बीच निर्णायक है। कई कारणोंवश जिनकी मैं आगे चलकर व्याख्या करूंगा सम्राट् के व्यक्तित्व से लाभ उठाने की चेष्टा अत्यधिक महत्व की है। यह न केवल १६८८ की क्रांति[1] के पश्चात् दो शताब्दियों में संस्थापित 'ह्विग-सिद्धांत'[2] (Whig doctrine) का ही पूर्ण विपर्यय है प्रत्युत यह इस सिद्धांत की भी स्वीकारोक्ति है कि भावी राजनीतिक संघर्षों में सम्राट् की प्रतिष्ठा जिसे बेजहाट ने शासन के गौरवपूर्ण भाग का नाम दिया था विपुल महत्व की है। यह निश्चित है कि सम्राट् का सम्पूर्ण समर्थन अपरिवर्तनवादियों को प्राप्त है। इस प्रसंग में यह भी अप्रासंगिक नहीं है कि एक प्रधान मंत्री ने श्रमिक दल को उस खतरे के प्रति सावधान कर दिया है जिसका उसे यदि कभी उसने शासनारूढ़ होने पर पूंजीवादी नींवों के ऊपर सीधा आक्रमण करने की नीति अपनाई सामना करना पड़ेगा। लॉर्ड बाल्डविन के मन में इंगलैंड में लोकतन्त्रात्मक शासन की सुरक्षा का अर्थ यही मालूम पड़ता है कि श्रमिक दल भी पुरानी मान्यता पर ही सामाजिक सुधार की दिशा में प्रवृत्त हो। आशय यह है कि यदि सत्ताधीन श्रमिक दल पूंजीवाद की नींवों पर आक्रमण करता है चाहे उसके पीछे निर्वाचकीय समर्थन क्यों न हो तो इससे यही प्रकट होता है कि श्रमिक दल उन सिद्धान्तों को नहीं समझता जिनके ऊपर इंगलैंड की शासन-प्रणाली निर्भर है। इस प्रकार,

---

१ इंगलैंड के इतिहास में १६८८ की क्रांति रक्तहीन क्रांति (Bloodless Revolution) या गौरवपूर्ण क्रांति (Glorious Revolution) के नाम से प्रख्यात है। इस क्रांति ने वैधानिक या मर्यादित राजतन्त्र के सिद्धान्त को जन्म दिया था।

२ उदारदल का पूर्वकालीन नाम।

एक बार फिर हम ऐसी वस्तुओं के पास आ जाते हैं जिन्हें 'सुरक्षापूर्वक' नहीं माना जा सकता। वस्तुतः हमें चेतावनी दी जाती है कि संसदीय शासन का जीवन साधारण दृष्टि से विजयी दल के इस निश्चय के ऊपर निर्भर है कि वह उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व को मानता है या नहीं। लेकिन यह तो ऐसी विजय के सम्पूर्ण प्रयोजन को ही मिट्टी में मिला देना होगा।

वैजहॉट ने लिखा था "मनुष्य की युद्ध-वृत्ति इतनी बलवती होती है कि वह एक ऐसी लड़ाई में जिसमें उसकी पराजय निश्चित हो बिल्कुल न लड़ने की अपेक्षा लड़ना पसन्द करेगा। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि वैधानिक समयों में केवल सख्या का बल इतना निर्णायक होता है जितना वैजहॉट ने मान रखा था। चुनौती के भय में सम्पत्तिवादी दल के लिये यह प्रलोभन कि वह अपने विरोधियों से छुटकारा पाने के लिये अपना सम्पूर्ण प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव का उपयोग करे, काफी बारबार मालूम पड़ता है। यह भी दिखाई देता है कि वहां उसमें एकता है उसके शत्रुओं में मतभेद हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक प्रशासन की पद्धति उसे उपक्रम की जो शक्ति देती है उसका मूल्यांकन करना कठिन है। लोकमत की शक्तियों पर जितना उसका नियन्त्रण है उसके आलोचकों का नहीं है। उसे जब वह सत्तारूढ़ हो यह महत्त्वपूर्ण लाभ प्राप्त है कि वह वैधानिक प्रणालियों के उपयोग में प्रतिनिधिक शासन की भावना नष्ट कर सकता है। हिटलर के शक्ति प्राप्त करने का यह एक महत्त्वपूर्ण पहलू था। मेरे कथन का यह रंचमात्र भी अभिप्राय नहीं है कि अनुदार दल संविधान को उसके ऐतिहासिक स्वरूप में नष्ट करना चाहता है। मैं केवल यही कह रहा हूं कि मनुष्य शासन की प्रणालियों को जो महत्त्व देते हैं वह जितना इसलिये होता है कि वे क्या हैं, कम से कम उतना ही इसलिये भी होता है कि वे क्या करती हैं। शासन की प्रणालियां दिन-प्रतिदिन के अपने व्यावहारिक रूप में जिन परिणामों को सामने लाती है, उनके आधार पर ही मनुष्य उनके प्रति निष्ठावान बनते हैं। मनुष्य चार्ल्स प्रथम के अधीन केवल राजकीय परमाधिकार (royal preroga tive) के प्रति काल्पनिक विरक्ति के कारण ही युद्ध प्रवृत्त नहीं हुए थे। यह तो इस परमाधिकार का व्यापारियों तथा प्रचलित ईसाई मत के विरोधियों (non-confor-mists) के ऊपर पड़ने वाला प्रभाव था जिसने उन्हें रणक्षेत्र में भेजा। इसी प्रकार मनुष्य ब्रिटिश संविधान का आदर उसी समय तक करेंगे जब तक कि वे उस काम का आदर करते हैं जो ब्रिटिश संविधान करता है। संविधान के प्रति उनका यह आदर-सम्मान संविधान की इस योग्यता पर निर्भर है कि वह उनकी आशाओं को कहां तक पूरा करता है। जहां वह इसमें तनिक असफल हुआ मनुष्यों का उसके प्रति आदर सम्मान कम हो जायेगा।

वैजहॉट ने अपने ग्रंथ में जो चेतावनी दी थी उसका यही वास्तविक अर्थ है। वह मताधिकार के विस्तार के प्रति इसलिये सशंक था क्योंकि वह विस्तृत मताधिकार के निष्कर्षों को पसन्द नहीं करता था। वह जनसत्तावादी नहीं था और उसका विश्वास था कि राजनीतिक शक्ति की बुनियादें जितनी अधिक विस्तृत होंगी उतनी ही अधिक इस बात की सम्भावना रहेगी कि अज्ञान विवेक के ऊपर प्रभुत्व पा लेगा। वैजहॉट के विचार से

बुद्धि तो केवल धनिक वर्गों की ही विरासत थी। राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था के रहस्यमय नियमों को जो जिन पर राष्ट्र का कल्याण निर्भर था केवल वही व्यक्ति जिनका बैंक में रुपया रहता था समझ सकते थे। यही कारण था कि उसने अशिक्षित जन-समूह को सत्ता प्राप्त करने से रोकने के लिये धनिक वर्गों के पक्षपात का प्रतिपादन किया था।

बैजहॉट ने उस पीढ़ी में लिखा था जो १८४८ के आतंकों से त्रस्त थी। जैसे ही वे आतंक समाप्त हुए, लोग लोकतन्त्रात्मक समाज के विचार के अधिक अनुकूल हो गए। उनमें जो विश्वास था वह वाणिज्य के निरन्तर बढ़ते हुए परिमाण से उत्पन्न हुआ था। उन्होंने देखा कि श्रमिक संघों का वर्तमान समाज की बुनियादों के साथ बिना किसी विशेष उत्पात के निर्वाह हो सकता है। शायद उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक अन्य किसी व्यक्ति ने उन शंकाओं को जिन्हें बैजहॉट ने उठाया था दुबारा प्रकट नहीं किया। १९०१ के पश्चात् जैसे जैसे श्रमिक संघों की मांगें बढ़ती गईं, वे शंकाएं पुनः सामने आईं। १९०६ से १९१४ तक का समय ऐसा है जिसमें मालूम पड़ता था कि तत्कालीन झगड़ों के बावजूद भी उदारवादी दल तथा श्रमिक दल की अभिसन्धि श्रमिक दल को सुरक्षित रूप से प्रभुत्व में बनाए रखेगी। १९११ में श्री रैमजे मैकडानल्ड श्री लायड जार्ज के साथ संयुक्त सरकार बनाने की सम्भावनाओं पर बातचीत कर रहे थे। लेकिन अब जब हम उन पिछले वर्षों पर दृष्टि डालते हैं, तब यह स्पष्ट है कि १९११ की औद्योगिक अशांति केवल सतही घटना नहीं थी प्रत्युत यह श्रमिकों के उस तीव्र असंतोष की अभिव्यक्ति थी जो वे अपनी भौतिक दशा की हीनता के कारण अनुभव कर रहे थे। उस समय एक नया श्रमिक संघवाद उदित हुआ था जो उग्रता तथा दृढ़ता में उस श्रमिकवाद से समानता रखता था जिसने १८८९ की हड़ताल के उपरान्त स्वतन्त्र श्रमिक दल (Independent Labour Party) को जन्म दिया था। इस अशांति ने श्रमिक दल तथा उदारवादी दल के बीच किसी भी स्थायी समझौते को असंभव कर दिया। उस काल में उदारवादी दल उन राजनीतिक कठिनाइयों में भी उलझा हुआ था जिनका परिणाम १९१४ का महायुद्ध हुआ। महायुद्ध ने एक युग की हानि की—क्योंकि इसके अन्त ने जिसे वर्ग की शक्ति ने और भी घनीभूत कर दिया था श्रमिक दल में यह संकल्प उत्पन्न कर दिया कि वह राज्य में अपनी एक स्वतंत्र स्थिति के लिये प्रयत्नशील हो। जहां श्रमिक दल ने एक बार यह संकल्प किया उसके तथा पुराने दलों के बीच एक खाई पैदा हो गई। ऐसी स्थिति में १८३२ के पश्चात् पहली बार यह प्रश्न सामने आया कि क्या संविधान इस खाई को बिना किसी हिंसक उथल-पुथल के सफलता-पूर्वक पार कर सकता है। मेरा विचार है कि यह किसी भी प्रकार के विश्लेषण से स्पष्ट है। १८३२ के बाद से श्रमिकों को अपने स्वामियों की ओर से इतनी अधिक रियायतें अन्य किसी भी युग में नहीं मिली हैं लेकिन साथ ही इन रियायतों के प्रति श्रमिकों की प्रतिक्रिया किसी युग में इतनी असन्तोषप्रद नहीं रही है। समाजवाद जो युद्ध के पूर्व सम्मेलनों द्वारा पास किए गए पवित्र प्रस्तावों तक ही सीमित था, शांति के पश्चात् लड़ाई का एक शक्तिशाली उपकरण बन गया है। ऐसा मालूम पड़ता है कि श्रमिकों की बस्तियां कारखानों, मिलों और नगर के पुराने भाग के उस असुरक्षित वर्ग के हाथ से सदैव के लिये निकल गए हैं। बेरोजगारों की एक सेना जो पन्द्रह लाख से कम कभी नहीं रही है और आर्थिक

संकट के समय में तीस लाख से भी अधिक हो गई है, उसने भी आवश्यकता न व्यवस्था और घर की समस्याओं को एक नए संदर्भ में उपस्थित कर दिया है। आर्थिक राष्ट्रवाद के विकास ने अंग्रेजी निर्यात व्यवसाय के आधार पर कठोर प्रहार किया उसने इंगलैंड में ऐसी नई विशेष कठिनाइयों का सृजन कर दिया है जिन्हें कोई भी सरकार अभी तक गम्भीरतापूर्वक सुलझाने में समर्थ नहीं हो सकी है क्योंकि प्रत्येक पग पर ही पूंजीवाद के न्यस्त स्वार्थ रास्ता रोक लेते हैं। यह युद्धोत्तर काल की समस्त प्रधान आर्थिक और सामाजिक समस्याओं—मकान, शिक्षा, कपास, कोयला, जहाज, इस्पात और कृषि—के लिये सही है। इन सबमें श्रमिकों की मांगों तथा सम्बद्ध सरकारी काम के बीच व्यापक अन्तर रहा है। यदि अनुदार दल सत्तारूढ़ रहा है तो इस अन्तर का कारण तो यह विश्वास रहा है कि श्रमिकों की मांगें गलत हैं या अनुदार मंत्रि-मंडल की यह असमर्थता रही है कि वह अपने समर्थकों के विरोध को पार नहीं कर सका है। यदि श्रमिक दल सत्तारूढ़ रहा है तो उसमें इस शक्ति का और कुछ सीमा तक इस संकल्प का भी कि समाधानों को अस्वीकार कर दें सब सकें अभाव रहा है। फलतः इन समस्त वर्षों में यहां आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन काफी बड़े पैमाने पर हुए हैं, हमारी वैधानिक पद्धति ने एकाध अपवाद को छोड़कर हमारे राष्ट्रीय जीवन के क्षेत्र में किसी विशाल नवनिर्माण का परिचय नहीं दिया है।

मेरा विचार है कि इसका कई दृष्टियों से गम्भीर परिणाम रहा है। पहली बात तो यह है कि इसने जनता की आखों में संसदीय पद्धति का मूल्य घटा दिया है। अब संसद् के सदस्यों का कुछ अपवादों को छोड़ कर मंत्रियों तक का जनता के ऊपर युद्ध से पहले के समय की अपेक्षा कम प्रभाव रह गया है। स्वयं वाद-विवादों की भी लोकमत को प्रभावित करने की शक्ति अवनत हो गई है। वे समाचार-पत्रों में पहले की अपेक्षा कम प्रकाशित होते हैं। कुछ समाचार-पत्र तो ऐसे हैं जो उन्हें शायद ही प्रकाशित करते हों। मेरी दृष्टि में यह न तो संसद् के सदस्यों की योग्यता की ही कमी और न स्वयं वाद-विवादों की रुचि या महत्ता के कम का कारण है। वास्तव में इसका कारण दो बातें हैं जिनमें से किसी के लिए भी संसद् को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। पहला कारण तो यह है कि संसद् की कार्यवाहियां शायद ही सीधे समाचारों या व्यक्तियों के नाटकीय द्वंद्वों की ओर ले जाती हैं। युद्धपूर्व काल में ऐसा निरन्तर होता रहता था। मताधिकार सम्बन्धी सुधार, राष्ट्रीय शिक्षा का विकास, आयरलैंड का होमरूल आन्दोलन—इन प्रश्नों को कम से कम मोटी रूपरेखाएं तो उत्तरदायी नागरिकों को ज्ञात रहती ही थीं तथा ग्लैडस्टन और डिजरैली जैसे व्यक्ति उनका श्रेष्ठ प्रतिनिधित्व करते थे। परिणामस्वरूप ये सभी प्रश्न दैनिक जीवन के अभिन्न अंग से मालूम पड़ने लगते थे। अब भी जब कभी कोई ऐसा प्रश्न जो जनता के मन को तुरन्त अपनी ओर खींच सके उठ खड़ा होता है सम्पूर्ण राष्ट्र की आंखें कॉमन सभा की ओर लग जाती हैं।

दूसरा कारण पहले कारण के साथ जुड़ा हुआ है। अब संसद् जिन प्रश्नों पर विचार करती है उनमें से अधिकांश अर्ध-पारिभाषिक (quasi-technical) प्रकृति के होते हैं। फलतः उनमें रोचक वाद-विवादों के लिये कोई स्थान नहीं रहता और [illegible] कम

दुरूह से लगते हैं। शुल्क-अनुसूची (tariff schedule) विषयक ब्योरे, निश्चित मूल्य बढ़ाने की योजना के सिद्धांत, कृषि अथवा नौ-परिवहन के लिए आर्थिक सहायता की मांगें आदि प्रश्न ऐसे हैं जो सर्व-साधारण को नहीं प्रत्युत जनता के किसी विशिष्ट भाग को ही प्रभावित करते हैं, उससे उनके बाजारी मूल्य पर भी काफी असर पड़ता है। यदि इन्हें समाचार-पत्रों में स्थान दिया जाय तो इसके लिए आवश्यक है कि इनके साथ कुछ ऊपरी बातें और मिलाई जायें अन्यथा पत्रों में तो ऐसे ही समाचार योग्य स्थान पाते रहते हैं जो उत्तेजक तथा रोमांचकारी हों। परिणाम यह होता है कि जनता राजनीति की ओर से उदासीन हो जाती है क्योंकि कुछ तो वह राजनीतिक घटना-चक्र के आलोचन में कम दिलचस्पी लेती है और कुछ अब इन विभिन्न विभागों को जिनमें विवेचन के लिये पूर्वकाल की अपेक्षा कम स्थान रहता है समझने में कम समर्थ हो पाती है। उस संसद् के लिए जो तीन करोड़ निर्वाचकों के लिये रोचक बनना चाहे, इन विषयों पर विचार करना आवश्यक है जिससे जनता का उसकी ओर ध्यान खिंच सके। वस्तुतः युद्धोत्तर वर्षों में यह करने में प्रायः ही सफल हुई है। यदि वह ऐसा करने की ओर प्रवृत्त होती है तो उसे राष्ट्रीय जीवन की मूलभित्ति पर विचार करना पड़ता और अनुदार दल का यह प्रयास सहज है कि वह ऐसी किसी चेष्टा को रोके। यदि श्रमिक दल इन प्रश्नों को उठाता है तो चूंकि वह अल्पमत में है इसलिए मत-विभाजन का परिणाम पूर्वनिश्चित है। वह वाद-विवाद जिसका परिणाम पहले से ही ज्ञात हो जनता के लिये कम रुचि का विषय रह जाता है।

संसद् की प्रतिष्ठा के ह्रास के लिये एक तीसरा कारण और उत्तरदायी रहा है। अब संसद् पर काम का बोझा पूर्वकाल की अपेक्षा कहीं अधिक रहता है क्योंकि उसके विधायी कार्यों का क्षेत्र बहुत अधिक बढ़ गया है। फलस्वरूप उसकी गतिविधियों पर सरकार के नियंत्रण में वृद्धि होती जाती है। व्यक्तिगत सदस्य का उपक्रम कम हो गया है। दलगत संगठन की कठोरता बढ़ गई है। अब प्रायः समस्त महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विधेयकों को मंत्रिमंडल ही उपस्थित करता है और सदन के पास समय का इतना अभाव रहता है कि वाद-विवादों के क्रम को कठोरतापूर्वक नियमित करना आवश्यक है। इसके दो अर्थ हैं। एक तो यह कि कुछ अपवादों को छोड़कर जिनकी मैं बाद में चर्चा करूंगा कामन सभा (House of Commons) मंत्रि-मंडल की इच्छा को पूरा करने का साधन मात्र रह गया है। दूसरे यह कि परिस्थिति की आवश्यकताओं को देखते हुए दल का अनुशासन अब इतना कड़ा हुआ है कि केवल उस समय को छोड़ कर जबकि अल्पसंख्यक दल की सरकार सत्तारूढ़ हो इस बात की अत्यल्प संभावना है कि सरकार को मतदान में पराजित होकर पद-त्याग के लिए विवश होना पड़ेगा। इस स्थिति में तथा संसद् की युद्ध से पहले की स्थिति में विस्तृत अन्तर है। इसका अभिप्राय यह है कि उसकी गतिविधियां अब कम नाटकीय इसलिये हैं क्योंकि उनके परिणाम अब कौतुक की दृष्टि से कम प्रभाव डालते हैं। अब सरकारें कामन-सभा के आदेश से नहीं, मतदान से बनती-बिगड़ती हैं, अपने अंदर के संसदीय आचरण से नहीं। ऐसी स्थिति में बेजहॉट ने मध्य विक्टोरिया-युग के लोकमत के ऊपर कामन-सभा के प्रभाव का जो चित्र खींचा था वह हमारे युग के सम्बन्ध में मान्य ही नहीं हो।

मैं इस मत का समर्थक हूँ कि यह स्थिति संसदीय पद्धति में किसी अन्तर्निहित दोष का परिणाम नहीं है। वह संसद जिसके वाद-विवाद सम्बन्धी सिद्धान्त महान् हैं अब भी काफी वाद-विवाद करेगी। वह संसद् जो इस प्रकार आचरण करे कि शासन के अस्तित्व को संकट उत्पन्न हो जाय अब भी व्यापक रुचि आकृष्ट करेगी। चाहे किसी स्थिति में वह बाहर विशाल विचार-विमर्श की सृष्टि करेगी और सार्वजनिक शिक्षा की वह प्रक्रिया जो संसद् के सबसे महत्वपूर्ण कार्यों में से एक है पुनः चल निकलेगी। यह ध्यान देने योग्य है कि जब १९२४ और १९२९ ई० में श्रमिक दल ने अपनी सरकारें बनाई थीं संसद की दीर्घाओं में दर्शकों की अपार भीड़ रहती थी। यह बात भी किसी से छिपी नहीं है कि १९२९ अथवा १९३२ के निर्वाचनों में जितनी अधिक और जितनी विशाल सभाएं होती थीं वैसी बहुत कम निर्वाचनों के अवसर पर देखने को मिलती हैं। कारण यह है कि उक्त दोनों अवसरों पर जनता ने यह समझ लिया था कि निर्वाचनों के परिणाम अत्यन्त महत्वपूर्ण और सुदूरव्यापी होंगे। १९३६ में फ्रांस में जन-मोर्चे (Popular Front) के जो निर्वाचन हुए थे उनके सम्बन्ध में भी यह सत्य है। मेरे कथन की सत्यता इस तथ्य से भी पुष्ट होती है कि *अमरिका में राष्ट्रपति रूजवेल्ट की नूतन नीतियों ने अमरीकी कांग्रेस की* कार्यवाहियों में युद्धयुग के पश्चात् से अन्य किसी काल की अपेक्षा अधिक जान डाल दी है।

मैंने ऊपर जो कुछ कहा है उसका निष्कर्ष स्पष्ट है। यदि संसदीय शासन को जीवित रहना है, तो उसे कुछ ठोस काम करने पड़ेंगे। यदि वह यह करने में असफल रहता है तो निर्वाचक कुछ दूसरे मार्ग खोजेंगे। लोकतन्त्रात्मक राज्य में इससे भयानक अन्य कोई स्थिति नहीं है जिसमें कि जनता को यह विश्वास हो जाय कि उसकी सरकार उन आशाओं को जो उसे सौंपे गए हैं, पूरा नहीं कर सकती। यह स्थिति उस प्रकार का स्वभाव उत्पन्न कर देती है जो जनता को सुगमतापूर्वक अधिनायकवाद की मोहनी आवाज सुनने का प्रशिक्षण कर देता है। यह हमारे जैसे काल के लिए विशेष रूप से सत्य है। हम उस स्थान पर पहुँच गए हैं जहाँ अपरिवर्तनवादी तथा परिवर्तनवादी दलों की नीतियों के आदर्शों को स्वीकार करना है। इन सब का परिणाम सीधा है। जब पूंजीवादी लोकतन्त्र को चुनौती मिलती है उसे अपनी सत्ता बनाए रखने के लिये आर्थिक क्षेत्र में लगातार सफलताएं प्राप्त करनी पड़ती हैं। पूंजीवादी लोकतन्त्र के आर्थिक और राजनीतिक स्वरूप में विरोधाभास अन्तर है। यदि उसे व्यक्तियों को अपने प्रति अनुरक्त रखना है तो यह आवश्यक है कि वह उनकी आशाओं को निरन्तर पूरा करता रहे। इसका अभिप्राय यह है कि उसे निम्न दो बातों में से एक बात करनी चाहिए। या तो उस सम्पत्तिशाली वर्ग को इस बात के लिए तैयार करना चाहिए कि उसपर जनसाधारण की भलाई के लिए निरन्तर अतिरिक्त कर लगते रहें या उसका उत्पादन असाधारण रूप से इस परिमाण में बढ़ता रहे जिससे कि साधारण वेतन-भोगी का जीवन-स्तर निरन्तर ऊंचा उठाया जा सके। दूसरे विकल्प के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि उसे कम से कम उस लाभ के आधार पर जो प्राप्त किया हो, आय को पूंजीवादी को अपना कार्य करने की प्रेरणा बना है। यदि इन विकल्पों में से कोई भी असफल हो जाता है तो पूंजीवादी पद्धति का विनाश निश्चित है क्योंकि वह कोई भी पद्धति जो जनसाधारण के लिये असह्य दरिद्रता उत्पन्न कर देती है अपनी समाप्ति

अपने हाथों तैयार करती है। जनसाधारण असंतोषवश यह सोचने के लिए विवश हो जाता है कि कहीं उसके असंतोषों का कारण स्वयं यह पद्धति ही तो नहीं है। ऐसी स्थिति में आगे चलकर यह आदेश सा हो जाता है कि लोग उस दल की ओर मुड़ जायें जो समाज व्यवस्था के परिवर्तन का प्रतिपादन करता है।

आज की स्थिति कुछ कुछ ऐसी ही है। हमारे लिये यह विचार करना महत्वपूर्ण है कि इसका संसदीय शासन के आर्थिक आधार के ऊपर क्या प्रभाव पड़ेगा। अपरिवर्तनवादियों के लिये इसका अभिप्राय न केवल यही होगा कि वे अपने महान् विशेषाधिकारों को त्यागें प्रत्युत यह भी होगा कि वे उस परिवर्तन को स्वीकार करें जिसे ढाई सौ वर्षों की अभिज्ञता ने उन्हें राष्ट्रीय कल्याण के लिये प्राणघातक बताया है। वे राष्ट्र के हित को अपने व्यक्तिगत हित के साथ जुड़ा हुआ मानते हैं। फलतः उनकी पराजय का अर्थ यह होगा कि संसदीय पद्धति के वे महत्वपूर्ण सिद्धान्त जिनके आधार पर उसका निर्माण हुआ है संकट में पड़ जायेंगे और इस पद्धति का चलते जाना असम्भव हो जायगा। वे ऐसे संघर्ष में जो उनके और उनके सिद्धान्तों के लिये जीवन-मरण का प्रश्न हो तटस्थ नहीं रह सकते। उनकी इस नीति का अच्छे से अच्छा परिणाम यह हो सकता है कि उनका शासन में यह विश्वास नहीं रहेगा जो एक आर्थिक पद्धति से दूसरी आर्थिक पद्धति में उसके परिवर्तन की अनिवार्य आवश्यक शर्त है। इसका बुरा से बुरा परिणाम यह हो सकता है कि वे शासन के उन परिवर्तनों को करने के अधिकार पर जिन्हें वे बिना चुनौती के स्वीकार न करें रोक लगा सकते हैं। पहली नीति का सीधा परिणाम यह होगा कि अपरिवर्तनवादी दल शासन को जानबूझ कर हानि पहुंचाएंगे। वे व्यापार में रुपया लगाना बंद कर दें व्यवसाय की प्रगति रुक जाय तथा आर्थिक संकट जनता के रोष को प्रदीप्त कर देगा। ऐसी स्थिति में सरकार का अपनी नीतियों पर अडिग रहना उसके विरोधियों के लिये ऐसी एक चुनौती होगी जो शायद ही समझौते की भावना विकसित कर सके। ऐसी स्थिति में सरकार के लिये पीछे हटने का अर्थ भी यह स्वीकार करना होगा कि निर्वाचकीय बहुमत की चाहे कुछ भी इच्छा हो आर्थिक शक्ति के स्वामी ही संविधान के स्वामी निकलते हैं। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्थिक शक्ति के स्वामी अपने इस स्वामित्व के बल पर परिवर्तन की संभव सीमाओं का आदेश कर सकते हैं। राज्य उनका राज्य है और उसकी सर्वोच्च बलप्रवर्तनी शक्ति केवल उन्हीं ध्येयों के सम्बन्ध में प्रयुक्त हो सकती है जिन्हें वे स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत हैं।

दूसरी नीति का सीधा परिणाम गृह-युद्ध है। यह उनकी नीति है जो निर्वाचकीय निर्णय के परिणामों का शिरोधार्य करना इस आधार पर अस्वीकार करता है कि उनके विपक्षी की कल्पना करना असम्भव है। यह कहना उपहासास्पद है कि इस प्रकार की स्थिति इंग्लैंड की सी राजनीतिक परम्परावाले देश में अचिन्त्य है। यह बिल्कुल ऐसी ही स्थिति है कि १९१२-१४ के होमरूल-विवाद में सर एडवर्ड कार्सन ने जान बूझ कर तथा अनुदार दल की पूर्ण और चेतन स्वीकृति सहित गृहयुद्ध की सारी तैयारी कर ली थी। उसने एक सशस्त्र सेना खड़ी की और उसकी सामग्री के लिये विदेशी शक्ति की सहायता प्राप्त करने में भी आगा-पीछा नहीं सोचा। उसने ब्रिटिश सेना की राजभक्ति

भंग कर दी। उसने संसद् को गृहयुद्ध के विकल्प के रूप में उन शक्तियों के सम्मुख झुकने को विवश किया जिनका वह प्रतिनिधित्व करता था। जो असम्भव जैसे एक वोट से प्रश्न के ऊपर संभव हो गया वह आर्थिकपद्धति की बुनियादों जैसे एक बड़े प्रश्न के लिए कदापि असम्भव नहीं है। एक बार पुनः यह स्वीकार करना आवश्यक है कि संसदीय शासन की शक्ति ठीक-ठीक उसके मूलभूत उद्देश्यों के ऊपर राजनीतिक दलों की एकता से मापी जाती है। एक बार जहां यह एकता भंग हुई उसकी आधारभूत मान्यताओं की मधुरता उस समय से भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब कि १८७ के सुधार-अधिनियम ने बगहॉट को उसके परिणामों के प्रति सचेष्ट किया था। पारस्परिक आत्म-संयम की सीमाओं का भंग करने के लिए सम्पत्ति से बढ़ कर अन्य कोई विषय नहीं है, और अब जो वाद-विवाद के अखाड़े में आ गया है वह वे अधिकार हैं जो उसके स्वामित्व से सम्बन्ध रखते हैं।

(२)

ब्रिटिश संविधान राजनीतिक दृष्टि से लोकतन्त्रात्मक शासन की अभिव्यक्ति तो अवश्य है, वह लोकतन्त्रात्मक समाज की अभिव्यक्ति नहीं है। इस तथ्य के निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण हैं। इंगलैंड में न केवल हमारी आर्थिक और हमारी राजनीतिक शक्ति के बीच ही अन्तर्विरोध है प्रत्युत जैसा कि श्री टॉनी ने कहा है, 'हमारे असमानता के धर्म' ने हमारे राजनीतिक लोकतन्त्र और हमारी समाज-व्यवस्था के विषम स्वरूप के बीच भी अन्तर्विरोध उत्पन्न कर दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इंगलैंड में धन के प्रभाव से कोई भी व्यक्ति ऊंचे से ऊंचे सामाजिक पद तक पहुंच सकता है। लेकिन यह भी सही है कि केवल कुछ भाग्यशीलों को छोड़कर अवसरों की समानता भी कम ही दिखाई देती है। राज्य में सर्वोच्च स्थानों तक पहुंचने के मार्ग में ऐसी कई बाधाएं हैं जिन्हें पार करने के लिए अकेले योग्यता का होना ही पर्याप्त नहीं है।

शिक्षा के क्षेत्र में अवसरों की असमानता अत्यन्त है और इसका तात्पर्य यह है कि राज्य के प्रमुख पद उच्च के विशिष्ट जनसमूह के लिए आरक्षित हैं। इन पदों तक पहुंचना बहुत कुछ माता-पिता की स्थिति पर निर्भर रहता है। चाहे तो विधि या सिविल सर्विस हो, चाहे सेना या व्यवसाय, इन सभी मार्गों में प्रवेश करने की शर्तें उन व्यक्तियों के लिए जिन्होंने सम्पन्नवर्ग अथवा उच्च वर्ग में जन्म नहीं लिया है बहुत अधिक भारी हैं। यदि कोई व्यक्ति सार्वजनिक कम्पनियों के निदेशक-मंडलों की रचना या राजकीय आयोगों, ब्रिटिश ब्रॉडकास्टिंग कारपोरेशन और लन्दन पैसेंजर ट्रान्सपोर्ट बोर्ड जैसी संस्थाओं में की जाने वाली नियुक्तियों का अध्ययन करे, तो उसे ज्ञात होगा कि इनमें श्रमिक वर्ग का प्रतिनिधित्व प्रायः बिल्कुल नहीं है। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर के अथवा विदेशों में स्थित ब्रिटिश दूतावासों के महत्त्वपूर्ण पदों के सम्बन्ध में भी यही है। लार्ड-सभा की सदस्यता के लिये भी यही बात है। कामन-सभा तक में अनुदार दल के सदस्यों की औसत आयु श्रमिक दल के सदस्यों की औसत आयु से दस वर्ष कम है। यह संघर्ष का वह मूल्य है जो श्रमिक जनता को देना पड़ता है। १८३२ के सुधार-विधेयक को पास हुए प्रायः सौ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं

और इस अवधि में अनुदार दल ने जाज दर्जन कामकरों तक को संसद् में अपना प्रतिनिधित्व करने के लिये नहीं चुना है।

यही स्थिति राजकीय पद और राजप्रासाद के सम्बन्ध में भी सत्य है। वहाँ का सम्पूर्ण वातावरण लोकतन्त्र के सिद्धान्त के विरुद्ध मालूम पड़ता है। विश्वविद्यालय राजनीति अथवा विद्वत्ता के वैशिष्ट्य को मान्यता देते हैं। वे अपनी डाक्टरेट की उपाधियां उन व्यक्तियों को जो उन्हें आर्थिक सहायता दे सकते हैं बड़ी शीघ्रता से प्रदान करते हैं। लेकिन एक शताब्दी में ऐसे आठ दर्जन भी अवसर नहीं आ पाये हैं जब कि श्रमिक जनता की सेवा को ऐसी उपाधि पाने का पासपोर्ट माना गया हो। यदि कोई व्यक्ति सम्मानों की सूची का अध्ययन करे, तो वह यह समझ लेगा कि सम्मान प्रदान करते समय जिस वस्तु को वास्तव में मान्यता दी जाती है, वह राज्य की सीधी सेवा के अतिरिक्त धन का उच्च पद पाने के लिये अन्तर्निहित अधिकार है। शायद सबसे बड़ा व्यंग यह है कि जब राजपरिवार का कोई सदस्य मजदूरों की किसी बस्ती या संस्था में यदा-कदा पहुँच जाता है तो हमसे कहा जाता है कि हम उसकी प्रशंसा करें या जब किसी ग्रीष्म-शिविर में सरकारी स्कूल के बालक पन्द्रह दिन के लिये मजदूरों के बच्चों के साथ मिलते-जुलते हैं तो इसे इस बात का प्रमाण बताया जाता है कि अब वर्ग-प्रतिबन्ध टूट चुके हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि पिछले सौ वर्षों में समाज की मनःस्थिति में वास्तविक परिवर्तन हुआ है। डिज़रायली और डिकेन्स, ट्रोलोप और मेरेडिथ का पाठक यह समझ सकता है कि जनता में लोकतन्त्रात्मक भावनाओं का तेजी से प्रसार हो रहा है। आज अभिजात-वर्ग की प्रतिष्ठा में उस समय की अपेक्षा काफी कमी हो गई है लेकिन अभिजात-वर्ग के स्थान पर धनिक-वर्ग की प्रतिष्ठा बढ़ गई है। आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज अब ऐसे स्थान नहीं रहे हैं जहाँ कि केवल धनिकों के बच्चों को ही प्रशिक्षित किया जाता हो। छात्रवृत्ति के रिवाज के फलस्वरूप मजदूरों के बच्चे भी अब उन विश्वविद्यालयों, आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज तक में पहुँच जाते हैं जहाँ वे आज से पचास अथवा तीस वर्ष पहले तक नहीं पहुँच सकते थे। लेकिन इस सम्बन्ध में भी कुछ बातें याद रखनी चाहिए। मजदूरों के उन बच्चों की प्रतिशत संख्या जो माध्यमिक शिक्षा (secondary education) प्राप्त करते हैं और जो विश्वविद्यालय तक पहुँचने के लिये आवश्यक पासपोर्ट है काफी कम है, पैसे का अभाव उसे और भी कम कर देता है। यह १९३१ के "त्याग की राजनीति" के आवाहन के पश्चात् बहुत कम हो गई है। साक्षी से यही सिद्ध होता है कि वर्तमान बाधाओं का कारण यह नहीं कि अमीरों और गरीबों के बच्चों की नैसर्गिक योग्यता में कोई आधारभूत अन्तर है प्रत्युत इसका वास्तविक कारण तो यह है कि शिक्षा की सुविधाओं आदि के प्रश्न के ऊपर दोनों के बीच काफी असमानता बनी चल रही है। खराब मकान दुर्बल स्वास्थ्य, दोषपूर्ण भोजन जीर्ण-शीर्ण विद्यालय-भवन अयोग्य अध्यापक ये सब सम्पूर्ण धनिकों के बच्चों के लिये अवसरों की अस्वीकृति के चिह्न हैं।

इस स्थिति का परिणाम सरलता से बताया जा सकता है। जैसा कि मैं टान का कहना है हमारा समाज मुख्य रूप से एक पूंजीवादी समाज है और उसका मुख्य शासन-तन्त्र उन लोगों के हाथों में है जिन्होंने इस तन्त्र में सफलता प्राप्त की है। यही

लोग यह निश्चय करते हैं कि राज्य अपनी शक्ति का कैसे प्रयोग करे। यही लोग यह निश्चय करते हैं कि हमारे समाज की क्या आवश्यकताएं हैं और इनमें से किनकी किस सीमा तक पूर्ति होनी चाहिए। श्रमिकों को काफी दूर तक उनकी इस योग्यता में विश्वास रखना पड़ता है कि वे अपनी कल्पना द्वारा जीवन की उन परिस्थितियों को जिनका उन्हें निश्चयतया ठीक ज्ञान नहीं है समझ सकते हैं। उनमें से प्राय सभी उस सुरक्षा तथा उस जीवन स्तर का उपभोग करते हैं जिसकी श्रमिक जनता के लिए कल्पना तक असम्भव है। यह भी सच है कि उनमें से प्राय सभी इस सुरक्षा तथा इस जीवन-स्तर का उपभोग केवल उन परिस्थितियों के कारण ही करते हैं, जिनमें उन्होंने जन्म लिया था। इसका परिणाम यह होता है कि वे न केवल हमारे समाज की नींवों के बारे में उन लोगों से जिनके ऊपर वे शासन करते हैं, भिन्न ही सोचते हैं प्रत्युत वे यह भी सोचते हैं कि यह व्यवस्था केवल इस कारण कि वे जीतते हैं न्यायसंगत है। समानता के विषय में उनके निष्कर्ष सामाजिक स्थितियों पर गम्भीर अविश्वास की कोई छाया नहीं डालते। वे बैगहॉट के 'सभ्य' जन हैं। वे अपने छोटों से आदर और प्रतिष्ठा पाने की आशा रखते हैं तथा उसे पाते भी हैं। उनके लिए अपने अनुभव से यह निष्कर्ष निकालना अस्वाभाविक नहीं है कि उनके समाज-दर्शन की अस्वीकृति या तो सामाजिक संगठन के प्राकृतिक नियमों के अज्ञान का या निम्न वर्गों की उनकी कमी योग्यता के कारण उत्पन्न ईर्ष्या का फल है।

हमारे सामाजिक जीवन की सारी शक्ति जन-साधारण के ऊपर इस विचार को आरोपित करने में लगती है। उदाहरण हमारी शिक्षा-पद्धति का मुख्य उद्देश्य यही है कि वह लोगों में आज्ञा-पालन की भावना का विकास करे। समाचार-पत्र सिनेमा थियेटर, चर्च—ये सभी अपने समग्र प्रभाव में इस उद्देश्य की पूर्ति के साधन हैं। वे समाज की [illegible] विज्ञप्तियों को कुछ इस समझ के साथ प्रकाशित करते हैं जिससे कि वह मूल्य जो जनता को उसके नये सम्बन्धों के लिये देना पड़ता है छिप जाये। वे जनता को अपने औद्योगिक स्वामियों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करने के दायित्व में विश्वास रखना सिखाते हैं। वे यह प्रभाव उत्पन्न करते हैं कि समस्त औद्योगिक अशान्ति वास्तविक मजदूर का असह्य परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह नहीं है, प्रत्युत वह मजदूरों को धोखा देने वाले "आन्दोलनकारियों" का काम है। वे मजदूरों के नेताओं को कुछ इस ढंग से चित्रित करते हैं मानो उन्होंने समाजवादी आन्दोलन के साथ विश्वासघात किया हो। यदि श्रमिक वर्ग में से कोई व्यक्ति कभी उच्च पद तक पहुंच जाता है तो वे यह धूम मचाते नहीं थकते कि योग्य व्यक्ति की सफलता निश्चित है। वे समाज सुधार की प्रत्येक योजना के विरुद्ध भयंकर भय से लड़ते हैं। एक शताब्दी पूर्व बेंथम ने उन समस्त कुचेष्टाओं की जिन्हें वे अपने विशेषाधिकारों की रक्षा में काम में लाते हैं, एक सूची तैयार की थी। उनका सम्पूर्ण दृष्टिकोण इस विचार पर आधारित है कि निर्धनता की समस्या तो असाध्य है यद्यपि वे यह भी अवश्य मानते हैं कि पूंजीवाद ने मनुष्य को प्रकृति के ऊपर इतना अधिकार दे दिया है जितना मनुष्य ने कभी स्वप्न भी नहीं देखा था। उनका यह विश्वास है कि उनका धन न्यायसंगत है, कुछ तो इसलिये कि वे योग्य हैं और कुछ इसलिए कि वे बड़ी दया से दान देते हैं।

लेकिन सच्ची बात यह है कि वे निर्धनों से घृणा करते हैं और उनसे डरते हैं। यह हमारी सभ्यता की एक विकट विभीषिका है। यह प्रत्येक बड़ी हड़ताल में देखने को मिलती है। यह लगातार दुहराए जाने वाले इस विश्वास में भी प्रकट होती है कि बेरोजगारी दोषपूर्ण चरित्र का परिणाम है। यह दान के व्यवसायीकरण में प्रकट होती है और दान संगठन-समाज ( Charity Organization Society ) जैसी संस्थाओं के दर्शन के मूल में विद्यमान है। यह इस व्यापक विश्वास में देखी जा सकती है कि देश में आवश्यकता से अधिक शिक्षा है अथवा हमारी शिक्षा अत्यधिक 'साहित्यिक' है। इस बात को एक प्रसिद्ध धर्माचार्य तक ने कहा है कि हमारी राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था अब काफी आगे बढ़ गई है क्योंकि उसने मजदूरों के बच्चों को अमीरों के बच्चों का प्रतिद्वंद्वी बनने में समर्थ कर दिया है। यह 'सुरक्षित' तथा 'अरक्षित' श्रमिक नेताओं के बीच भेद स्थापित करने की चेष्टा में देखा जा सकता है। यह कोई समाजवादी नहीं प्रत्युत श्री बाल्डविन थे जिन्होंने कहा था कि "जब इस देश के लोग मूक होते हैं, आप कहते हैं वे संतुष्ट हैं, जब वे बोलते होते हैं, आप कहते हैं कि हम हिंसा के आगे झुक नहीं सकते।" श्री शा ने लिखा है "हमारी बस्तियों में पर्वतीय प्रदेशों अथवा अरब के मरुस्थल की तुलना में अधिक विग्रह रहता है।" इस का कारण यह है कि हमारी असमानता का धर्म मन में घृणा और ईर्ष्या को जन्म देता है। सुरक्षा तो अवश्य है, पर न्याय नहीं है और यह भावना जनसमूह के सम्मुख भी दिन प्रतिदिन प्रत्यक्ष होती जा रही है।

हम इंगलैंड की संसदीय पद्धति को उस समय तक नहीं समझ सकते जब तक कि हम यह न समझ लें कि लोकतंत्र के आधार के मूल में वह यह आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था ही है जिसे कि बनाये रखने का विचार है। इस व्यवस्था का निर्माण उत्पादन-साधनों के स्वामियों ने अपनी सम्पत्ति के हित में किया था और इसके समस्त नियमों का उद्देश्य यह है कि सम्पत्तिशील वर्ग के सारे अधिकार सुरक्षित रहें। यह जनता को मताधिकार देने के लिए विवश हुई है लेकिन उसने अपने हाथ में ऐसी सत्ता अवश्य रक्खी है जिससे कि सम्पत्ति की रक्षा की जा सके। जिन लोगों के हाथ में उत्पादन के साधन हैं वही यह निश्चय करते हैं कि क्या उत्पादन होगा। उनका किराए, ब्याज और लाभ का दावा ही वह प्रधान वस्तु है जो हमारी जीवन-चर्या को निर्धारित करती है। यदि किसी नागरिक के पास सम्पत्ति नहीं है तो उसे अपना श्रम वेतन के लिए बाध्य होना पड़ता। वह काम करेगा या नहीं यह उसकी इच्छा से नहीं प्रत्युत उसके मालिक के इस निर्णय से तय होगा कि उसके काम से लाभ है या नहीं। वह काम की मांग नहीं कर सकता। यदि वह यह अकेले करता है तो अपराध है। यदि वह यह दूसरों के साथ मिल कर करता है, तो शांति और व्यवस्था के लिए खतरा पहुँचता है और ऐसी स्थिति में राज्य की बलप्रयोगी शक्ति उसके होश-हवास दुरुस्त करने के लिए प्रयुक्त की जायगी। हमारा 'उसके होश-हवास दुरुस्त करने' से यही अभिप्राय है कि उसे सम्पत्ति के अधिकार स्वीकार करने के लिये बल द्वारा विवश किया जायगा। यह स्वीकृति जनता की इच्छा नहीं जानी है।

उक्त विवेचन का सार यही है कि पूंजीवादी बुनियादों के ऊपर आधारित राजनीतिक लोकतंत्र में लड़ाई सदा रहती है चाहे वह गुप्त हो या प्रकट। इस व्यवस्था में धन का वितरण

असंतोषप्रद समझा जाता है। पूँजीवादी तो सदैव इस बात के लिए प्रयत्न करते हैं कि जो कुछ उनके पास है, वह बना रहे। मजदूर सदैव इस बात के लिए प्रयत्न करते हैं कि जो कुछ उनके पास है, उन्हें उससे अधिक मिले। यही कारण है कि जब मजदूर ऊँचे जीवन-स्तर की कोई माँग उपस्थित करते हैं तो पहले तो वह इस आधार पर कि असम्भव है अस्वीकार कर दी जाती है, लेकिन बाद में जब उसे काफी शक्ति के साथ उठाया जाता है वह थोड़ा-थोड़ा करके मान ली जाती है। कारखानों के नियमन, कामगारों की सुरक्षा, काम के घंटे और निम्नतम वेतन की स्थापना आदि से सम्बन्ध रखने वाली मजदूरों की प्रायः सभी माँगों के साथ यही हुआ है। यह प्रतिरोध स्वामी और मजदूर के विशुद्ध आर्थिक सम्बन्धों तक ही सीमित नहीं रहा है। इसने धनिकों तथा निर्धनों के सामाजिक सम्बन्धों पर भी प्रभाव डाला है। अमीरों ने शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और मनोरंजन की सुविधाओं जैसे विषयों के लिये कर देने का विरोध किया है। जब कभी राज्य निर्धनों के लिये भी इस प्रकार की कुछ सुविधायें सुलभ करने का प्रयास करता है, धनिक काफी उद्विग्न से हो उठते हैं। वे यह समझ ही नहीं पाते कि आखिर राज्य निर्धनों के लिये स्वयं ऐसी सुविधायें सुलभ करना चाहता है जिन्हें वे अपनी सम्पत्ति के द्वारा अपने लिये खरीद सकते हैं। ऐतिहासिक वातावरण ने उन्हें यह मानने के लिये कि निर्धनों को निर्धन ही बने रहना चाहिए कुछ ऐसा अभ्यस्त कर दिया है कि वे उन समस्त उपायों का जो उनकी निर्धनता दूर करते हैं विरोध करने के लिये विवश से हो जाते हैं।

जैसा कि मैं कह चुका हूँ यह व्यवस्था उस समय तक तो ठीक चलती रही जबतक कि यह विस्तार की अवस्था में थी। समकालीन शासन की समस्या यह है कि उस समय उसका क्या होगा जब जैसा कि अब स्पष्ट दिखाई दे रहा है विस्तार का युग समाप्त हो जायगा। इस स्थिति का अनिवार्य परिणाम उस छिपे हुए पक्ष को जो इस समाज के मूल में स्थित है उत्तेजित करना होगा। लाभ-प्राप्ति की चेष्टा अधिकाधिक कठिन होती जा रही है। पूँजी का केन्द्रीकरण अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। विशिष्ट जाति में बेकारों की संख्या बढ़ती है जिसके फलस्वरूप प्रतियोगी आर्थिक बाजार में श्रम का मूल्य घट गया है। कृषि तथा उद्योग का सन्तुलन बिगड़ गया है। परोक्ष उत्पादक के रक्षण की आवश्यकता, जिसके निर्यात व्यापार पर भी प्रभाव पड़ता है, इस गति से छिन्नभिन्न हो रही है। उत्पादन तो तेजी से बढ़ रहा है परन्तु वितरण काफी धीमा है क्योंकि जनता के पास इतना पैसा नहीं है कि वह अधिक वस्तुएँ खरीद सके। चूँकि वैज्ञानिक परिवर्तन हमारे यंत्रों की उत्पादन-शक्ति का प्रतिरूप ही बढ़ा रहा है, अतः जानबूझ कर न्यूनता (scarcity) को बनाये रखना इस व्यवस्था का एक आवश्यक लक्षण बन जाता है। इस प्रकार इन सब क्रियाओं में सीमित नियतांश (restriction-quotas) और ऐसी ही अन्य प्रकार की नीतियाँ अपनाते हैं। लेकिन इसका अनिवार्य परिणाम मूल्य की वृद्धि है और इस वृद्धि का परिणाम अधिक वेतनों की माँग है जिससे कि जीवन-स्तर का संभाव्य पतन रोका जा सके। पूँजीवादी व्यवस्था में इस विषाक्त चक्र को तोड़ने का कोई मार्ग नहीं है सिवाय इसके कि या तो देश में ही या फिर विदेशों में ऐसे बाजार खोज जायें जो हमारी उत्पादन-वस्तुओं को खरीद सकें तथा हमारे लिये लाभ का कारण बनें। लेकिन देश में तो जनता की दरिद्रता

भी यह नहीं होने देती। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इंगलैंड में एक करोड़ व्यक्ति अपने भोजन पर जो व्यय करते हैं वह उस निम्नतम व्यय से जिसे ब्रिटिश चिकित्सा संघ ने स्वास्थ्य को ठीक बनाये रखने के लिये आवश्यक ठहराया है एक शिलिंग कम होता है। विदेशों में बाजारों को प्राप्त करना संभव है लेकिन इससे राज्यों की अन्तर्राष्ट्रीय तनातनी बढ़ती है। उन्हें अपने बाजारों को तथा उनमें अपने प्रवेश को सुरक्षित रखने के लिये बलवान् बनना पड़ता है। बलवान होने के लिये वे शस्त्रास्त्र बनाते हैं। इसके दो परिणाम निकलते हैं। एक ओर तो इसका परिणाम इतना व्यय होता है कि राज्य सामाजिक सुधार की अन्य योजनाओं पर आचरण नहीं कर पाता दूसरी ओर इसका परिणाम शस्त्रास्त्रों की वह होड़ है जो अविश्वास तथा आशंका उत्पन्न करती है। इस स्थिति का चरम परिणाम युद्ध है।

संसदीय शासन का सिद्धान्त जैसा कि मैं कह चुका हूं यह है कि नागरिक अपने मत भेदों को शांतिपूर्वक समझौतों द्वारा सुलझा सकते हैं। इसका केवल यही अभिप्राय नहीं है कि वे बौद्धिक प्राणी हैं प्रत्युत यह भी है कि वे अपने मतभेदों का विवेचन विचार-विमर्श के एक से आधार स्वीकार करके करते हैं। यह फल पाने में उस समय तक तो कोई कठिनाई नहीं होती जब तक कि प्रत्येक व्यक्ति यह समझता है कि समाज अपने सदस्यों की आवश्यकताएं निरन्तर पूरी करता जाता है। लेकिन उस समय जबकि देश के अन्दर दो गम्भीर मतभेद हों तथा बाहर युद्ध का भय हो यह फल प्राप्त करना पर्याप्त कठिन हो जाता है। देश के अन्दर के मतभेद का अभिप्राय यह है कि वर्तमान समाज की विषमतायें उन लोगों को जो स्वयं को उसके लाभों से वंचित मानते हैं न्यायसंगत नहीं लगती। बाह्य युद्ध के भय का अभिप्राय यह है कि समाज स्वयं को प्रतिरक्षा के लिये संगठित करे जिसकी तैयारियां आगे चलकर उन भेदों को जो विभाजन पैदा करते हैं संभवत और तीव्र कर सकती हैं। ऐसे वातावरण में विवेक की शक्ति का बने रहना अधिक संभव नहीं है। सामाजिक तनाव कुछ ऐसे हैं कि जो पहले काल्पनिक तर्क मालूम पड़ते थे वे अब सार्वजनिक शांति के लिये खतरे मालूम पड़ते हैं। फलत तनातनी बढ़ने लगती है। जो पहले निर्दोष मालूम पड़ता था तनातनी के सन्दर्भ में अभ्यस्त नियमों के लिए संकट बन जाता है। चूंकि राज्य की शक्ति इन नियमों के पीछे होती है अतः तनातनी उसके स्वामियों को उनके प्रयोग के लिये प्रेरित करती है। वे समाज के उन तत्वों को जो नियमक्रम में विरोध डालते हैं नियंत्रित करने का प्रयास करते हैं। यदि यह तनातनी जर्मनी और इटली की तरह काफी अधिक हो जाती है तो वे उनका दमन करने की चेष्टा करते हैं। लेकिन ये तत्व उदाहरणार्थ श्रमिक संघ समाजवादी दल और सहकारी आंदोलन आदि लोकतन्त्रात्मक संसदीय शासन में श्रमिक दल के हितों की रक्षा करने के लिये निर्मित उठ खड़े होते हैं। यदि उनका दमन किया जाता है तो इसमें संदेह नहीं कि संसदीय शासन की बुनियादों को चोट पहुंचती है। समाज बड़े संकट की अवस्था में है। ऐसी स्थिति में कोई भी समाज विवेक के उस मार्ग का जिस पर संसदीय शासन निर्भर है सर्वथ अनुसरण नहीं करेगा।

इसे ऐतिहासिक सामान्यीकरण की शब्दावली में भी सुगमता से व्यक्त किया जा सकता है। लोकतंत्रात्मक राजनीतिक संगठन सदैव ही आगे चलकर, लोकतन्त्रात्मक समाज बन जायेगा अर्थात् वह न्याययुक्त वितरण की चेष्टा करेगा। वह प्रारम्भ में पद,

जन्म, धर्म और जाति के अन्यायमूलक विशेषाधिकारों पर आक्रमण करेगा। शुरू-शुरू में तो उसे उनका अन्त करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होगी। लेकिन उसे बाद में पता चलेगा कि विशेषाधिकारों का वास्तविक स्रोत तो उनके नष्ट होने पर भी बना हुआ है। तब वह समझेगा जैसा कि आज अमरीका में समझा जा रहा है कि केवल सामंतवाद के विशेषाधिकारों का उन्मूलन ही समतामूलक समाज का निर्माण नहीं कर देता। उस समय उसे ज्ञात होगा कि विशेषाधिकारों का वास्तविक स्रोत तो उत्पादन-साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व में निहित है और यह स्थिति ऐसे वर्ग-सम्बन्धों को जन्म देती है जो न्याय के सिद्धांत के प्रतिकूल होते हैं। वह इन वर्ग-सम्बन्धों को उसी समय तक और केवल उसी समय तक स्वीकार करेगा जब तक कि वे उन सामाजिक मांगों को जो उनके सामने आती हैं शीघ्र और यथेष्ट मात्रा में पूरा कर सकते हैं। लेकिन यदि वे इन मांगों की पूर्ति करने में असमर्थ होंगे वे उत्पादन के साधनों का व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त कर देंगे क्योंकि यही असंतोष का सीधा और अनिवार्य कारण है। चूंकि राजनीतिक संगठन लोकतन्त्रात्मक है, अतः वे उसकी सत्ता को यह परिवर्तन लाने के लिये प्रयुक्त करेंगे। उस समय वे आर्थिक शक्ति के स्वामियों के सम्मुख दो विकल्प रखेंगे यह या तो यह होगा कि वे लोग अपना स्वामित्व छोड़ दें या यह होगा कि वह लोकतन्त्रात्मक आधार जिसके ऊपर राजनीतिक संगठन निर्भर है नष्ट कर दिया जाय। सच तो यह है कि उस समय राज्य क्रांतिक परिवर्तन को रोकने के लिये पूंजीवादी अधिनायकतंत्र का रूप धारण कर लेता है।

यह ठीक है कि ब्रिटिश संविधान इस परिवर्तन को शान्तिपूर्ण रीति से पूरा करने के समस्त आवश्यक उपकरण प्रदान करता है। लेकिन यह प्रत्येक राजनीतिक लोकतन्त्र को आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में असमानता के सिद्धांत पर आधारित हो एक ऐसी कठिनाई खड़ी कर देता है जिससे अन्य देशों की भांति इंग्लैंड भी अछूता नहीं है। वह कठिनाई यह है कि वे व्यक्ति जो इस असमानता से लाभ उठाते हैं उसके प्रति इतने अनुरक्त हो जाते हैं कि उसके त्यागने की अपेक्षा उसके लिये युद्ध करना अधिक पसन्द करते हैं। यह मैं नहीं कहता हूं कि वे ऐसा स्वार्थ की भावनाओं से नहीं करते। वे ऐसा इसलिये करते हैं क्योंकि परम्परा ने उन्हें न्याय के एक ऐसे सिद्धांत का अभ्यस्त कर दिया है जिसमें आर्थिक समानता के विचार को कोई स्थान ही नहीं है। उन्हें अपनी सफलताओं का आत्मविश्वास है। उन्हें अपने शासन करने के अधिकार का विश्वास है। यह विश्वास युगयुगों में उनके अधिकार के प्रयोग से उत्पन्न हुआ है उन्हें इस बात का ज्ञान है कि यदि वे निर्वाचनों में पराजित भी हो जायें तब भी देश के शासन-तंत्र पर उनका कितना मनोवैज्ञानिक नियंत्रण रहता है। उनकी यह अडिग आस्था है कि प्रस्तावित परिवर्तन न केवल उनके लिये ही घातक है प्रत्युत उन लोगों के लिये भी घातक है जिनके कल्याण का दायित्व वे अपने कंधों पर मानते हैं। वे यह जानते हैं कि परिवर्तन की ऐसी चेष्टाएं असफल हो चुकी हैं। उन्होंने यह देखा है कि रूसी क्रांति ने कितने महंगे मूल्य पर समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की है। इस पृष्ठभूमि में यह संभव नहीं है कि वे अपनी सत्ता शान्तिपूर्ण रीति से त्यागना स्वीकार कर लेंगे।

इस सन्दर्भ में यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि संकट के इस युग में लोकतंत्रात्मक समाज के संदेह कितने गहरे हैं। हमें इसकी अस्थिरता के प्रति सजग किया जाता है। हमें यह बताया जाता है कि यह सबसे कठिन शासन प्रणाली है। यह सुझाव दिया जाता है कि लोग राजनीति में आवश्यकता से अधिक रुचि लेते हैं। यदि उनके मन को इस ओर से हटा दिया जाय तो वे धर्म की सेवा जैसी ऊंची वस्तुओं में ध्यान लगा सकेंगे। यह तर्क किया जाता है कि आधुनिक जीवन की जटिलता के कारण विशेषज्ञों का नियंत्रण और भी आवश्यक है मानो सरकारी समस्याओं के सामंजस्य से सम्बन्ध रखने वाली मूल्यांकन विषयक समस्याओं में जनता का निर्णय न्याय्य न हो। हमसे स्वतंत्रता के अपार महत्त्व की चर्चा की जाती है और कहा जाता है कि यह बढ़ते हुए सरकारी नियंत्रण के विरुद्ध है तथा यदि हम सरकार के इस बढ़ते हुए नियंत्रण पर कोई अंकुश नहीं लगाते तो अपनी समस्त स्वतंत्रता से हाथ धो बैठेंगे। विश्लेषण करने पर इस दृष्टिकोण का मंतव्य यही प्रकट होता है कि शासन को व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इंगलैंड के प्रधान न्यायाधीश ( Chief Justice of England ) जैसे कुछ आलोचक नौकरशाही के खतरों पर बल देते हैं। लेकिन विश्लेषण करने पर उनका भी तात्पर्य यही मालूम पड़ता है कि सामाजिक सुधार की सामान्य विधि ( common law) द्वारा विकसित व्यक्तिवादी सिद्धान्तों की सीमाओं के भीतर रह कर काम करना चाहिए।

संक्षेप में अब जो मनोभाव बढ़ रहा है वह लोकतंत्रात्मक साधनों के प्रति शंकालु है क्योंकि वह लोकतंत्रात्मक उद्देश्यों को नापसंद करता है। वह लोकतंत्रात्मक शासन के लिए उस समय तक तय्यार था जब तक कि उसकी बढ़ती हुई मांगों ने कतिपय आधारभूत स्वार्थों को नहीं स्पर्श किया था। जहां इन स्वार्थों को स्पर्श किया गया वह लोकतंत्रात्मक सिद्धान्त के सम्बन्ध में अपने विचारों को संशोधित करने के लिए तुरन्त तय्यार हो गया। यह कई प्रकार से स्पष्ट है। यह इस बात से स्पष्ट है कि ब्रिटेन एक ओर तो सोवियत रूस और दूसरी ओर हिटलर तथा मुसोलिनी के सम्बन्ध में जो नीति अपना रहा है उन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। यह सर सैमुअल होर के इस भाराक्रान्त वचन से स्पष्ट है कि स्पेन की वैधानिक सरकार और जनरल फ्रेंको की लड़ाई एक ऐसी दलगत लड़ाई थी जिसमें हमें एक राष्ट्र के नाते कोई रुचि नहीं थी। यह १८८५ के बाद से एक अनुपम घटना हुई है कि एक मंत्री ने लोकतन्त्र तथा विधिपाधिकार के युद्ध के परिणामों के प्रति हमारी उदासीनता घोषित की है। तथ्य यह है कि युद्ध के बाद से हमारी परराष्ट्र नीति का मुख्य लक्ष्य उन समस्त विदेशी आन्दोलनों को जिनका उद्देश्य लोकतन्त्र का प्रसार करना है लेकिन निःसन्देह यह प्रमाण किया है कि उनके मार्ग की प्रमुख बाधा सम्पत्ति के स्वत्व स्वार्थ हैं हतोत्साह करता रहा है। देश के सम्पत्तिवान् वर्ग ने इस नीति का सोत्साह स्वागत किया है। उनमें अलम् विश्वास का अभाव आराम की प्रवृत्ति तथा किसी वस्तु के आधारभूत परीक्षण का भय है और यह उस दृष्टिकोण से समानता रखता है जिससे वर्क ने फ्रांस राज्यक्रान्ति का स्वागत किया था। जब धर्माचार्यों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन धार्मिक समस्याओं में ईसाई धर्म के सामाजिक

समस्याओं से सम्बन्ध की आवश्यकता पर विचार करने के लिए कहता है "दि टाइम्स"[1] पत्र उसे झिड़क देता है कि धर्म का वास्तविक क्षेत्र विश्वास है, कर्म नहीं। पत्र का कहना है, "यदि ईसाइयों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं पर इतना समय लगाने की अपेक्षा उसे विशिष्ट धार्मिक विषयों पर विचार करने में लगाता तो अपने प्रयोजन को अधिक सार्थक करता।" ईसाई मत अपने पौराणिक उपाख्यानों द्वारा भी एक जीवन-मार्ग माना जाता है। लार्ड मेस्टन ने जो लार्ड-सभा में मजदूर दल के एक भूतपूर्व नेता रह चुकने के कारण व्यक्तिगत स्वामित्व के प्रति शत्रुता की भावना के दोषी नहीं ठहराए जा सकते लिखा है, "अब हमारे लिए ईश्वर को साक्षी बना कर यह प्रण लेने की परम आवश्यकता है कि हम ईसा की भावना और सिद्धान्तों को व्यक्तिगत व्यवहार तथा सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रयुक्त करेंगे।" लेकिन 'टाइम्स' के शब्दों में आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के क्षेत्र में यह प्रश्न अप्रासंगिक है। उसके विचार से ईसाई जीवन-मार्ग में इन समस्याओं का कोई स्थान नहीं है।

संक्षेप में हम राजनीतिक लोकतंत्र के विचार की अपनी सम्भावना में एक अवरोध के लिये तैयार किए जा रहे हैं। राजनीतिक लोकतंत्र का परिणाम वह नहीं है जिसकी आशा की जाती थी। हमारा सम्पत्तिवान् वर्ग "समानता, पुण्य और लोक स्वातन्त्र्य" के लिये जैसा कि मैथ्यू आर्नल्ड ने उससे कहा था कि वह तैयार हो जाय, तैयार नहीं है। आज जब कि आचारों का युक्तिसंगत परीक्षण धार्मिक सुधारणा (Reformation) के बाद से भी अधिक आवश्यक है, एक ऐसे मनोभाव का विकास हो रहा है जो विवेक को अपना साम्राज्य बनाए रखने की शक्ति के लिये गम्भीर खतरा है। अब इस विचार का कि लोकतंत्र सम्पत्ति के आधारों का परीक्षण कर सकता है विरोध बढ़ रहा है। आर्थिक क्षेत्र में सम्पत्ति के स्वामी ध्वंसन (sabotage) और प्रतिरोध तक को उचित समझते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में वैधानिक वाद-विवाद शब्दों की शक्ति और तर्क के प्रभाव जैसे प्राचीन हथियारों को फिर से धारण करने की सम्भावना पर इस आशा से कि वे समाजवादी सिद्धान्तों की विजय को स्थगित कर देंगे या नष्ट कर देंगे, विचार करते हैं। और फिर इसके साथ उनका यह शक्तिशाली प्रचार भी चलता है कि यदि कहीं समाजवादी सिद्धान्तों की विजय हो गई तो जनता का विनाश निश्चित है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उस सबका संसदीय शासन की केन्द्रीय समस्याओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह मैं एक बार फिर कहता हूँ कि उसकी सफल होने की शक्ति न केवल उसके उपायों पर ही निर्भर है प्रत्युत उन उद्देश्यों की सहमति पर भी निर्भर है जिनकी पूर्ति के लिये इन साधनों का प्रयोग होता है। असहमति जब छोटी छोटी वस्तुओं से सम्बन्ध रखती है तब उसका कोई विशेष महत्व नहीं होता लेकिन जब वह बुनियादों पर उभरती है, उसका महत्व बढ़ जाता है। उस समय वे मनुष्य जो यह प्रश्न करने में प्रवृत्त होते हैं कि संविधान क्या कर रहा है बड़ी शीघ्रता से स्वयं संविधान के औचित्य के सम्बन्ध में

---

1 दि टाइम्स अगस्त २१ ३७।

भी प्रश्न करने लग जाते हैं। जब अन्तर्ग्रस्त संविधान इंगलैंड के जैसा संविधान हो जो स्वयं अपने में ही एक अत्यन्त जटिल वस्तु-परम्पराओं विचारों और भावनाओं का विषय हो तो उसके दुरुपयोग का खतरा बहुत अधिक होता है। हम लोग जिन्होंने यह देखा है कि न्याय-व्यवस्था अमेरिका तक के संविधान को जो हमारे संविधान की अपेक्षा कहीं अधिक सरल है काफी बदल सकती है, अपने संविधान के अन्तर्भूत सिद्धांत को उसके व्यवहार से अलग करने का खतरा नहीं उठा सकते। यह एक गतिशील वस्तु, शक्ति प्राप्त करने के लिये विरोधी दलों के बीच संघर्ष का एक साधन है। ब्रिटिश संविधान में पर्याप्त नम्रता है। यह उन विशिष्ट परिस्थितियों में जो सत्तारूढ़ दल के सम्मुख उठ खड़ी होती हैं उसके (सत्तारूढ़ दल के) उद्देश्यों की पूर्ति में प्रयुक्त हो सकता है। सत्तारूढ़ दल सामान्यतः और निःसंदेह यह मान लेता है कि वही रीति जिससे वह संविधान के अपने उद्देश्य की पूर्ति का साधन बना सकता है "वैधानिक" है। हमें संसदीय शासन के आवश्यक आधार के रूप में "संविधान के अभिसमयों ( conventions ) का इस दृष्टि से परीक्षण करना चाहिए।

(१)

एडमंड बर्क ने लिखा है "संविधान के अभिसमय उस रीति को निश्चित करते हैं जिसमें विधि के नियम जिन्हें वे पहले से मान लेते हैं, प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार वे (अभिसमय) ही वास्तव में संविधान की प्रेरक शक्ति हैं। दूसरे, अभिसमयों का उद्देश्य यह रहता है कि संविधान युग की प्रचलित वैधानिक विचारधारा के अनुसार आचरण करे।" लेकिन यह स्पष्ट है कि "युग की प्रचलित वैधानिक विचारधारा" कोई ठोस वस्तु है। मनुष्य संविधान का इस प्रकार प्रयोग करते हैं जिससे वह उनके कतिपय वांछित उद्देश्यों को पूरा कर सके। वैधानिक विचारधारा इन उद्देश्यों की अभिव्यक्ति होती है।

एक अन्य प्रतिवेदन के लेखकों ने लिखा है "वैधानिक अभिसमयों का विधि के साथ सहयोग ब्रिटिश राज्य के इतिहास में दीर्घ काल से चलता आ रहा है। इसने प्रासनिक और विधायी दोनों प्रकार की शक्ति को अनुप्राणित किया है। जहाँ व्यावहारिक समस्याओं का विशुद्ध कानूनी समाधान असम्भव था—वह संस्थाओं के लिये जीवनप्रद चेतना के स्वतंत्र विकास को अवरुद्ध कर देता या उसे प्राप्त करने में असफल रहता—वहाँ इसने सम्बन्धों में सामंजस्य स्थापित करने का साधन प्रदान किया है। ऐसे अभिसमयों की उन वैधानिक सिद्धांतों में गणना होती है जिन्हें व्यवहार में बंधनकारी और पुनीत माना जाता है चाहे नमद् की कुछ भी शक्तियाँ हों।

लेकिन मनुष्य वैधानिक सिद्धांतों को "बंधनकारी और पुनीत" इसलिए मानते हैं क्योंकि वे उन उद्देश्यों को जिन्हें वह (वैधानिक सिद्धांत) प्राप्त करना चाहते हैं स्वीकार करते हैं। यदि मनुष्य उन उद्देश्यों के प्रति संशयशील हैं तो क्या वे वैधानिक सिद्धांतों का आदर करेंगे? संविधान का एक अभिसमय यह है कि सदन के स्थायी आदेशों का इस प्रकार प्रयोग होना चाहिए कि विरोधी दल को वाद-विवाद में पूरा संरक्षण मिले। स्पष्ट है कि यह अभिसमय पूर्णतः बहुमत की इच्छा के ऊपर निर्भर है। गम्भीर संकट के समय

इसे स्थगित करना अत्यन्त सुगम होगा। अधिकांश अभिसमय बड़े अस्पष्ट हैं। उनका जीवन दलों की सहमति पर कि उनका किस प्रकार प्रयोग हो निर्भर है। एक बार यह सहमति टूट जाने दीजिए विरोधी दल को इसमें कोई संदेह नहीं रहेगा कि सरकार द्वारा किया गया उनका निर्वचन "अवैधानिक" है। यह कहना जैसा कि डायसी ने कहा था कि अभिसमयों का अंततोगत्वा पालन इसलिये आवश्यक है क्योंकि अन्यथा उनके उल्लंघन से कानून भंग होगा निश्चिततः असत्य है। संसद् को प्रतिवर्ष आहूत करने के लिये सेना अधिनियम ( The Army Act ) का प्रतिवर्ष पास करना आवश्यक नहीं है। राष्ट्रीय सेनाओं के लिये वार्षिक व्यवस्था एक वर्ष के स्थान पर सुगमतापूर्वक दो वर्षों के लिये की जा सकती है। पराजित सरकार तक, जहाँ एक बार उसने अपना वित्तीय विधान तथा सेनाओं के अनुशासन से सम्बन्ध रखने वाले विधेयक पास कर लिये प्रायः एक वर्ष के लिये सत्तारूढ़ रह सकती है। चूंकि परिस्थितियों ने इन अभिसमयों को "बंधनकारी तथा पवित्र" अर्थात् सरकार के जो उनका पालन करती है उद्देश्यों के अनुकूल बनाए रक्खा है इसलिए उनका आदर किया जाता है।

आप तनिक उन दूसरे अभिसमयों पर जो अधिक सूक्ष्म हैं विचार कीजिए। संविधान का यह अभिसमय है कि मंत्रिमंडल अपने कृत्यों के लिये संसद् के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। १९३१ की राष्ट्रीय सरकार ने इस अभिसमय को असुविधाजनक अनुभव किया था अतएव उसे विरोधी दल के विरोधों के बावजूद भी कुछ समय के लिये रद्द कर दिया। एक अभिसमय यह है कि सम्राट् को अपने मंत्रियों के परामर्श पर कार्य करना चाहिए। क्या इसका अभिप्राय यह है कि सम्राट् को मंत्रियों का प्रत्येक परामर्श उस समय तक जब तक कि वे कामन-सभा को वह परामर्श अनुमोदित करने के लिये सहमत कर सकते हैं स्वीकार करते रहना चाहिए? या इसका अभिप्राय यह है कि यदि सम्राट् मंत्रियों के एक गुट का परामर्श अस्वीकार करता है तो वह दूसरों से सरकार बनाने तथा विघटन (dissolution) के द्वारा अपने कृत्य के लिये निर्वाचकों की सहमति पाने के लिए कह सकता है। अधिकांश विद्वानों में इस प्रश्न के ऊपर मतैक्य नहीं है। यह निश्चित है कि पर्याप्त बहुमत वाली सरकार जिसे ऐसी परिस्थितियों में अपदस्थ कर दिया गया हो सम्राट् के कृत्य को अवैधानिक मानेगी यह भी निश्चित है कि नए मंत्री शासन सम्हालने के निष्कर्ष मात्र से वैधानिकता के सम्बन्ध में एक बिल्कुल दूसरी ही दृष्टि रक्खेंगे। अकेला यह तथ्य ही कि हम राजकीय शक्ति की सीमाओं को नहीं जानते हैं और संकट की घड़ियों में उसका पक्ष तथा विपक्ष दोनों ओर से प्रयोग हो सकता है स्थिति की कठिनाइयों का विशद परिचय देता है। यह निश्चित है कि राजकीय अधिकार की मर्यादायें उन पूर्व दृष्टान्तों के द्वारा जो अपनी प्राचीनता के कारण संदेहास्पद हैं निर्धारित नहीं होंगी प्रत्युत वे नागरिकों द्वारा उस उद्देश्य के जिसके लिये राजकीय शक्ति का प्रयोग किया जाता है अनुमोदन या निरनुमोदन द्वारा निर्णीत होंगी। यह स्मरणीय है कि जब १९३६ में भी बैल्डविन ने ड्यूक ऑफ विंडसर के विवाह का विरोध किया था कुछ लोगों ने एडवर्ड अष्टम से सरकार को बदलने की बात कही थी। यह तो केवल सम्राट् के आत्मसंयम और श्रमिक दल के भी बैल्डविन के साथ पूर्ण मतैक्य का ही फल था जिससे एक भयंकर वैधानिक

संकट टल गया। लेकिन सरकार की यह इच्छा तथा यह आत्मसंयम दूसरे किसी अवसर पर जब कि सम्राट् तथा उसके मंत्रियों के सम्बन्ध कटु हो अनुपस्थित रह सकता है।

संक्षेप में पूर्व दृष्टान्त उस समय तक अभिसमयों की स्थापना नहीं करते जब तक कि यह पक्का न हो कि वे सब व्यक्ति जो उनसे बद्ध हों स्वयं को उनसे पूर्ण बद्ध मानेंगे। यदि उन्हें अभिसमयों के व्यवहार के फलस्वरूप उन प्रयोजनों पर जिनसे वे बद्ध हो जाते हैं संदेह हुआ तो वे स्वयं को शायद ही बद्ध मानेंगे। मेरा विचार है कि यह १९११ के संसदीय अधिनियम ( Parliament Act of 1911 ) के ऊपर होने वाले वाद-विवाद के अनुभव से स्पष्ट है। यह १९१४ के होम रूल सम्बन्धी संघर्ष के अनुभव से भी स्पष्ट है। इन दोनों में से किसी भी स्थिति में प्रश्न को अंतिम वैधानिक निर्णय तक नहीं घसीटा गया। लेकिन हम प्रत्येक प्रकरण में तलवार की धार पर चल रहे थे और थोड़ी सी भी असावधानी विनाश कर सकती थी। १९३६ के संकट को ही ले लीजिए। यदि श्री एटली एडवर्ड अष्टम के निमंत्रण पर नया मंत्रिमंडल बना लेते और बाद में निर्वाचनों में भी जीत जाते तो क्या इसका अभिप्राय यह होता कि यदि कभी सम्राट् अपने मंत्रियों से सहमत न हो और उसे अपनी हां में हां मिलाने वाले कुछ अन्य व्यक्ति मिल जावें तो वह मंत्रियों की अवहेलना कर सीधे देश से अपील कर सकता है। इस दृष्टिकोण से तो अभिप्राय यह हो जाता कि वैधानिक सत्ता का वास्तविक केन्द्र उन लोगों के हाथ में है जो सम्राट् के मन तथा इच्छा पर प्रभाव डालने में समर्थ हैं। स्पष्टतः यह दृष्टिकोण उस वर्तमान सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ता है जो कि इस समय संविधान का प्राणतत्त्व है। इस ढंग लोगों का जो सम्राट् को प्रभावित करने वाले समूह में सम्मिलित नहीं किए जायेंगे तीव्र विरोध प्राप्त होगा। कुछ समय बाद इसका अर्थ यह हो जायेगा कि प्रधान राजनीतिक संघर्ष राजकीय शक्ति की मर्यादाओं के ऊपर केन्द्रित होगा। लेकिन यह तो सम्राट् के उत्तरदायित्व का विवेचन करता हुआ और उसका अनुत्तरदायित्व संविधान का केवल इस कारण अविवाद है क्योंकि जैसा कि हम जानते हैं यह इस धारणा पर कि सम्राट् समस्त राजनीतिक विवादों में तटस्थ रहता है अवलम्बित है।

अथवा आइये हम उस अभिसमय पर विचार करें जो संसद् के दोनों सदनों के सम्बन्ध निश्चित करता है। संसद के दोनों सदन इस समय १९११ के संसदीय अधिनियम द्वारा शासित होते हैं और इस अधिनियम ने आपसी द्वारा विवेचित इस अभिसमय को कि यदि कामन सभा तथा लॉर्ड सभा की इच्छा में कोई स्थायी संघर्ष हो तो किसी न किसी स्थिति पर लॉर्ड सभा को कॉमन सभा के सम्मुख झुकना होगा उपेक्षित कर दिया है। संसदीय अधिनियम ने यह स्थिति दो वर्ष निश्चित की है। लेकिन दो वर्ष की यह अवधि भी संघर्ष के लिए काफी गुंजायश छोड़ देती है। निर्वाचनों की सफलता से उत्साहित श्रमिक सरकार के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक है कि वह अपने आवश्यक कानूनों को एक ऐसे सदन के द्वारा जिसे वह अनुदार दल की सुरक्षित शक्ति समझती हो दो वर्ष तक बाधित होते देखना नहीं पसंद करेगी। या यह कल्पना कीजिए कि श्रमिक सरकार १९३१ के से आर्थिक संकट की परिस्थितियों में सत्ता प्राप्त करती है। यह भी मान लीजिए कि वे आपात-शक्तियाँ जिनका वह इस स्थिति

से निपटने के लिए प्रयोग करना चाहती है, लंदन बाहर द्वारा अनुमोदित नहीं है। यह कम से कम अनिश्चित है कि वह इन शक्तियों को प्राप्त करने में लॉर्ड-सभा का सहयोग हस्तगत कर लेगी। यदि उसे लॉर्ड-सभा का सहयोग नहीं मिला तो यह निश्चित है कि वह अपने वचनबद्ध कार्यक्रम को पूरा करने के लिए इतने नए पीयर बनाने की शक्ति चाहेगी जिससे कि उच्च सभा में समाप्य विरोध पर वश पाई जा सके। क्या यह निश्चित है कि उसे ये पीयर बनाने का अधिकार मिल जायेगा? क्या यह संभव नहीं है कि उसके सामने द्वितीय साधारण निर्वाचन की मांग रखी जायेगी जिससे यह ज्ञात हो सके कि देश उनके साथ है। क्या यह स्पष्ट नहीं है कि ऐसी विषम परिस्थिति में सम्भवतः राजनीति की उत्तमता सरकार तथा विरोधी दल के बीच इस प्रश्न पर कि आखिर वह अभिसमय क्या है जो दोनों सदनों के सम्बन्धों का नियमन करता है, शायद मतैक्य रोक दे और यदि रोके नहीं तो शायद कठिन अवश्य कर दे।

साधारण अर्थ में यह स्पष्ट है कि अंग्रेजों की 'आधारभूत स्वतन्त्रताएँ' हमारे वैधानिक अभिसमय का कोई भाग नहीं है। लेकिन यह कि बहुमत के अत्याचारों से अल्पमत के अधिकारों की रक्षा की जानी चाहिए संसदीय शासन की एक ऐसी मान्यता है जिस पर अंततोगत्वा समस्त अभिसमय निर्भर है। इस दृष्टि से "आधारभूत स्वतंत्रताओं" की रक्षा एक महत्वपूर्ण वैधानिक समस्या है। इस प्रश्न के दो पहलू हैं। एक पहलू तो यह है कि विचारों को इतना स्वतंत्र छोड़ दिया जाय कि प्रचलित सरकार मत की सरकार हो। दूसरा पहलू यह है कि 'स्वतन्त्र' शब्द की कुछ ऐसी व्याख्या की जाय जिससे कि उसके तत्त्व पर सभी दल सहमत हो सकें।

यह विषय जैसा कि ऊपर से देखने पर मालूम पड़ता है उससे कहीं कठिन विषय है। विधि की दृष्टि से हमें इस देश में कोई मूल अधिकार प्राप्त नहीं है, हम उनके रक्षण के लिए राज्य के साधारण वैधानिक तंत्र पर भरोसा रखते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि शांति-कालों में यह रक्षण पर्याप्त रहता है। वास्तविक समस्या यह है कि प्रखर सामाजिक परिवर्तन के युगों में जो वस्तु एक प्रकार के मतावलम्बियों को भूल मालूम पड़ती है दूसरे प्रकार के मतावलम्बियों को भूल नहीं मालूम पड़ती। कोई यह नहीं कहता कि भाषण देने सभा करने और समुदाय बनाने की स्वतंत्रता अमर्यादित है क्योंकि एक अवसर पर प्रतिबंध का अभाव सार्वजनिक व्यवस्था के लिए घातक हो जाता है। उदाहरणार्थ वाक्-स्वातंत्र्य का अर्थ जैसा कि न्यायमूर्ति होम्स ने कहा था यह नहीं हो जाता कि कोई व्यक्ति एक भरे हुए थियेटर में "आग" चीख उठे। समुदाय-स्वातंत्र्य का अर्थ शासन को अपदस्थ करने के लिए एक सशस्त्र संस्था का निर्माण नहीं हो जाता। कहने का सार यह है कि स्वतंत्रता की कुछ मर्यादाएँ हैं और इन मर्यादाओं को सरकार निश्चित करती है। इस देश में इन अधिकारों का उपभोग हमारे सार्वजनिक जीवन के एक विरोधाभास का ही प्रदर्शन है। एक ओर तो विधि की मर्यादाएँ बड़ी कठोर हैं और दूसरी ओर यह परिपाटी है कि वे लागू नहीं की जायेंगी। "विधि" जैसा कि डा॰ जेनिंग्स ने कहा है, "उन दिनों की विरासत है

---

जब कि देश जनसंख्या के छोटे से भाग द्वारा शासित होता था और जब कि निम्न-वर्गों का एकमात्र काम आज्ञा पालन करना था।" विधि उस "छोटे से भाग" की उन आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति है जिन्हें वह किसी चुनौती के विरुद्ध अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए उपयोगी समझता था।

शांति के समय में सामान्य सहमति द्वारा विधान को प्रयुक्त नहीं किया गया है। उसका क्षेत्र असाधारण रूप से व्यापक है। जा जनिंग्स ने लिखा है, "सम्राट् को प्रजाजनों की दृष्टि में अप्रतिष्ठित करना, असंतोष और रोष उत्पन्न करना, जनता को अशांति, हिंसा और अव्यवस्था के लिए उत्तेजित करना, शासन और संविधान के विरुद्ध घृणा और विरक्ति उत्पन्न करना या शारीरिक शक्ति द्वारा विधियों में कोई परिवर्तन करना राजद्रोह है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यक्तियों का सम्मिलन राजद्रोहपूर्ण षड्यन्त्र है और वह सभा जहाँ ऐसे वक्तव्य दिए जायें गैर-कानूनी सभा है।" यहीं नहीं सार्वजनिक भाषणों और सभाओं के ऊपर पुलिस का व्यापक नियंत्रण रहता है। गृह मंत्री या प्रधान कान्स्टेबिल को जलूसों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार है। यदि वे उचित समझें तो किसी निश्चित जिले में किसी निश्चित समय पर उन्हें रोक सकते हैं। उन्हें १३६१ की एक संविधि के अनुसार किसी व्यक्ति से न केवल उसके सद्व्यवहार के लिए ही प्रत्युत उन व्यक्तियों के सद्व्यवहार के लिए भी जो सीधे उसके नियंत्रण में न हों प्रतिभूति ( sureties ) मांगने का अधिकार है। इस सम्बन्ध में श्री टाम मैन का उदाहरण उल्लेख्य है। अदालत ने उन्हें प्रतिभू पाने से इन्कार करने पर जेल भेज दिया यद्यपि न्यायाधीश ने यह स्वीकार किया था कि वे किसी अपराध के लिए दोषी नहीं है। १९२७ के श्रमिक संघ-विधि-संशोधन-अधिनियम (Trade Union Law-Amendment Act) ने जो १८७५ के पश्चात् से श्रमिकों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने वाला पहला विधान है, श्रमिक संघों के कार्यों को और कठिन कर दिया है। पुलिस और सेना १९३४ के पूर्व भी प्रचार द्वारा उत्पन्न असंतोष के खतरे से सुरक्षित समझी जाती थी किन्तु उस वर्ष भी एक संविधि में तो इतने व्यापक उपबंध है कि उनका अर्थ यह भी हो सकता है कि एल्डरशाट जैसे एक सैनिक क्षेत्र में कोई शान्ति-वादी भाषण सेना अधिनियम के अनुसार एक अपराध माना जावे। सचमुच यह कहना कि यह भाषण जो वहाँ अ-प्रतिरोध के निर्देश कर्तव्य का प्रचार करे अपराध नहीं है, बड़ा कठिन है। डायसी ने काफी समय पहले ही यह कहा था कि विधि का वर्तमान रूप में सामान्य राजनीतिक वाद-विवाद भी इसीलिए छूट है क्योंकि सरकार विधि को लागू करने का प्रयास नहीं करती है।

मेरे विचार से केवल यह मानना कि कोई सरकार विधि को लागू करने या कब समय तक प्रयास नहीं करेगी जब तक कि उसकी बुद्धि न बिगड़ गई हो या यह कहना कि अपराधी को यदि उसने इच्छा की तो सदैव जूरी ( Jury ) का संरक्षण विशेषा पर्याप्त नहीं हो जाता। पहली बात का उत्तर यह है कि संकट के समय में सरकारों की बुद्धि बिगड़ जाती है। दूसरी बात का उत्तर यह है कि ऐसी परिस्थितियों में जो लोग जूरी में शामिल होते हैं, वे भी प्रतिक्रियावादी होते हैं और उनसे सम्भवतः ऐसे

लोगों के आचरण का निर्णय करने के लिए कहा जाता है, जिनके विचार बड़े प्रगतिशील होते हैं। पुनश्च अभियोगों का निर्णय अधिकतर वे न्यायाधीश करते हैं, जिनकी अचेतन धारणा यह है कि राजनीतिक क्षेत्र में उग्र विचार रखना अवांछनीय है। आर बनाम पालिट्ट ( R. V Pollit ) अभियोग के ज्ञाता कि न्यायिक स्वतन्त्रता और न्यायिक निष्पक्षता एक ही वस्तु है। कम से कम पिछले सौ वर्षों में न्यायाधीशों ने जूरियों के निर्णय पर अप्रतिम प्रभाव डाला है। जूरी-पद्धति के वर्तमान स्वरूप को देखते हुए स्वाभाविक ही है कि विधि का प्रयोग करने के लिए अतीव आतंकित सरकार अपनी आवश्यकता के अनुसार ही आतंकित जूरियों को प्राप्त करने का प्रयास करेगी।

लेकिन यहीं इति नहीं हो जाती। चाहे कुछ भी हो सरकार का कामन-सभा में बहुमत रहता है। यदि वह स्वयं आतंक-ग्रस्त हो तो इस बात की सम्भावना है कि उसके समर्थक भी आतंक का भाव प्रकट करेंगे। संसद् की विधान-निर्मात्री शक्ति के ऊपर कोई अंकुश नहीं है और लुब्ध सरकार ऐसे विधान का निर्माण कर सकती है जो अंग्रेजों की आधारभूत स्वतंत्रताओं पर अंकुश लगाए। सरकार अपने विधान के द्वारा प्रचार के उन समस्त साधनों को जिनके ऊपर उसके आलोचक निर्भर रहते हैं, नियंत्रित कर सकती है। फिर, सरकार के हाथ में ब्राडकास्टिंग का भी शक्तिशाली अस्त्र है, इसके द्वारा वह अपने विरोधियों के अन्दर असीम तनाव की स्थिति उत्पन्न कर सकती है। सरकार के विरोधियों के पास इसका प्रतिकार करने के लिए कुछ भी नहीं होता है। संक्षेप में आतंकग्रस्त सरकार जो न करे वही थोड़ा है और जब आतंक का समय बीत जाता है सरकार को तथा उसके अभिकर्ताओं को समस्त भूलें दोषमुक्ति अधिनियम (Indemnity Act) द्वारा क्षमा कर दी जाती हैं। पिछले सौ वर्षों में एक भी ऐसा अवसर नहीं आया है जबकि ऐसे अधिनियम को क्षमा किया गया हो।

इन सम्भावनाओं के सम्बन्ध में यह कहने से कि ये नहीं हो सकतीं ब्रिटिश मंत्रिमंडल अपना मानसिक संतुलन नहीं खोता और राष्ट्र की राजनीतिक प्रतिभा ऐसी शक्तियों के दुरुपयोग को रोक देती है, काम नहीं चल सकता। ब्रिटिश मंत्रिमंडल भी अन्य किसी मंत्रिमंडल की भाँति उस समय जबकि उसके ऊपर अत्यधिक दबाव पड़े अपना मानसिक संतुलन खो देता है। १७९२ के पश्चात् पिट् और १८१५ के पश्चात् सिडमाउथ निर्मम दमन के लिए उत्तरदायी थे और दोनों में से किसी भी स्थिति में राष्ट्र की राजनीतिक प्रतिभा ने भयंकर अन्यायों को नहीं रोका। उन कालों का प्रतिगामी स्वरूप एक ऐसे सार्वभौम आन्दोलन का भाग था जिसमें युद्ध तथा आर्थिक दमन फ्रेंच क्रांति द्वारा उत्पन्न क्रांतिकारी मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों के परिणाम थे। सम्पत्तिशाली वर्ग एकदम ही आतंकित हो गया था और उसने राज्य की सत्ता का प्रयोग न केवल हिंसक चुनौती से अपनी रक्षा के लिए ही किया अपितु इस कारण भी किया कि उसकी शक्ति के आर्थिक आधारों का छिद्रान्वेषण न हो सके।

स्वयं हमारे युग में रूसी क्रांति का वही मनोवैज्ञानिक प्रभाव है जो कि आज से प्रायः डेढ़ शताब्दी पूर्व फ्रेंच क्रांति का हुआ था। रूसी क्रांति ने सम्पत्तिधारी

वर्ग को आतंकित कर दिया है और इस वर्ग के सदस्य यह मानने लगे हैं कि वे विचार और ऐच्छिक समुदाय, जिन्हें पहले हमने उपेक्षा के साथ देखा था अब हमारे विशेषाधिकारों को चुनौती देते हैं। वे ठीक पहले की तरह उन से युद्ध करने के लिए निकलते हैं। पहले का जेकोबिन आज का बोल्शेविक है और उसका ठीक पहले की तरह कानून तथा व्यवस्था के नाम पर दमन किया जाता है। लेकिन इन शब्दों का अभिप्राय कुछ ऐसे सिद्धान्त नहीं हैं, जिनके ऊपर कि सामान्य सहमति हो। इस समस्या का परिणाम परिवर्तन के खतरे से पुरानी व्यवस्था का रक्षण है। आज के पहले की अपेक्षा अधिक अन्योन्याश्रित विश्व में इस बात की कम संभावना है कि इंगलैंड इन विचारों के प्रभाव से स्वतन्त्र रहेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसकी द्वीपीय स्थिति ऐतिहासिक परम्पराएँ, अपार धनराशि तथा रियासतें देने की अधिक क्षमता उसे क्रांतिकारी परिवर्तनों से बचाने के लिए महत्वपूर्ण साधन हैं। लेकिन उनसे सर्वत्र काम नहीं चल सकता। उनकी भी एक सीमा है और वह सीमा यह है कि मनुष्य व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों की अपेक्षा सामाजिक शांति का अधिक ध्यान रखता है। जब कभी उसके सामने इन दोनों विकल्पों में से किसी एक को चुनने का सवाल उठेगा वह व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों की तुलना में सामाजिक शांति को अधिक पसंद करेगा।

कहने का अभिप्राय यह है कि ब्रिटिश संविधान में समझौते के लिए अन्य देशों की अपेक्षा अधिक स्थान है परन्तु इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि समझौते का विचार उसकी सफलता की एक आशा ही है न कि एक विश्वास। सामाजिक शांति का सधारण कई अस्थिर और जटिल तत्वों पर निर्भर रहता है। यह हमारे शासकों के लिए केवल विवेक और आत्म-संयम का ही प्रश्न नहीं है। कम-से-कम इतना ही आवश्यक उन वस्तुपरक परिस्थितियों का अस्तित्व है जो कि उनके विवेक और आत्म-संयम को सफल बनाती हैं। सफल समझौते की परिस्थितियों के लिए उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा आर्थिक पुनर्लाभ की आवश्यकताएँ हैं। इससे मनुष्यों में विश्वास उत्पन्न होता है और एक दूसरे को समझने की संभावना बढ़ जाती है। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति हमारी आँखों के सामने बिगड़ती चली जा रही है और वहाँ शांति की बहुत कम संभावना है। आज जब कि सारे संसार में अविच्छिन्न स्वार्थ न केवल समाजवाद के ही प्रत्युत उसके समागम की आपत्तों के ही जिनकी पूँजीवाद को स्वयं आवश्यकता होती है मार्ग में बाधक है, स्थायी आर्थिक पुनर्लाभ भी कम आशा है। उसका अपना एक विशिष्ट और चरम तर्कशास्त्र है। अविच्छिन्न स्वार्थों का प्रकार इस तर्कशास्त्र को उसका मूल्य चुकाए बिना अस्वीकार नहीं कर सकता। यह मूल्य क्या है इस सम्बन्ध में युद्धोत्तर वर्षों के अनुभवों को देखते हुए किसी भूल की सम्भावना नहीं हो सकती।

यूरोप में यह मुख्य विचारधाराओं का युद्ध है। ये धाराएँ सम्पूर्ण दर्शन बन जाती हैं और वे एक दूसरे से युद्ध करने लगती हैं। युद्धोन्मुख व्यक्ति एक भाषा नहीं बोलते, फिर वे एक दूसरे को समझने की आशा कैसे कर सकते हैं? ऐसे वातावरण में यह

सोचना कि वे उन मूल सिद्धान्तों को जिनके ऊपर ब्रिटिश संविधान के अभिसमय निर्भर हैं, "पवित्र तथा चमत्कारी" मान लेंगे ऐतिहासिक अनुभव के बिल्कुल प्रतिकूल है। प्रस्तुत परिस्थितियों में वे दो ही मार्ग अपनाएँगे या तो वे अभिसमयों को स्थगित कर देंगे या वे उनके स्वरूप को तो बनाए रखेंगे परन्तु उनकी भावना को बिल्कुल बदल देंगे। इंगलैण्ड में दूसरी बात का अधिक खतरा है। राजनीतिक दल अपने ऊपर पड़नेवाले दबावों के तनाव का अनुभव करते हैं। वे अपने लिए शांतिपूर्ण सहयोग के सूत्र को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। वे अपनी दशाओं के विषय स्वरूप पर बल देते हैं वे हमें याद दिलाते हैं कि हिंसक समाधान जनता की राष्ट्रीय प्रतिभा के अनुकूल नहीं है। लेकिन तनातनी का मनोभाव उपस्थित है और उसका शमन समाज की बिगड़ती हुई हालत को रोकने पर निर्भर है लेकिन राष्ट्र के बड़े-से-बड़े राजनेताओं के बस में नहीं है।

वास्तव में शांति उत्पादन के सम्बन्धों और उत्पादन की शक्तियों में एक नया सामंजस्य स्थापित करने पर निर्भर है। इस नए सामंजस्य का अर्थ सदा कि वह युग काल में सदैव रहा है, अधिष्ठित स्वार्थों के ऊपर सर्वग्राही आक्रमण है। अधिष्ठित स्वार्थों के सामने दो ही विकल्प है—या तो वे समझाने-बुझाने से झुक जायें या उन्हें बल-प्रयोग द्वारा झुका दिया जाये। इतिहास से यही सिद्ध होता है कि वे अभी तक बड़े पैमाने पर और अल्प समय में समझाने-बुझाने से कभी नहीं झुके हैं। इसके लिए अर्थात् समझाने-बुझाने से मान जाने के लिए जिस विशाल मानसिक संतुलन की आवश्यकता है, उसका उनमें सर्वथा अभाव है। उनके जीवन एक विशेष प्रकार के रहन सहन के अभ्यस्त हो गए हैं। उनकी न्यायसम्बन्धी मान्यता इस रहन-सहन से मर्यादित है। उन्होंने जिस राज्य का निर्माण किया है, वह उनकी दृष्टि में उनके प्रयोजनों की पूर्ति का माध्यम है। राज्य की बल-प्रयोग सम्बन्धी शक्ति का उदय आक्रमण से इन प्रयोजनों की रक्षा करता है। ये प्रयोजन उनके लिए उस धर्म के तुल्य हैं जिस पर उनका जीवन निर्भर है। वे उनके सिद्धान्तों में ठीक उसी प्रकार संदेह नहीं करते जिस प्रकार कि एक श्रेष्ठ मुसलमान कुरान के सिद्धान्तों में संदेह नहीं करता। वह उनके लिए उन समस्त निश्चिन्तताओं का प्रतीक है, जो उनके जीवन में आशा तथा सरसता का संचार करती है। क्या वे बुद्धिपूर्वक लेकिन स्वतन्त्रतापूर्वक यह स्वीकार कर सकते हैं कि यह सब वास्तव में एक भयंकर भूल है? इस प्रकार की स्वीकृति अभी तक मनुष्य-जाति का स्वभाव नहीं रहा है। न हमें ऐसे किसी परिवर्तन का ही ज्ञान है जिसके कारण हम यह मानने लग जायें कि मानव-जाति की मानसिक रचना में कोई परिवर्तन हो गया है।

हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि नए हथियारों के कारण संघर्ष किसी पूर्व युग की अपेक्षा अधिक विनाशकारी है लेकिन फिर भी हम कम-से-कम आधारों पर झुकने की अपेक्षा लड़ने के लिए अधिक तय्यार हैं। हम साम्राज्यवाद की पूर्ति में लगे जापान की भांति शांति की भाषा में निर्लज्ज होकर झूठ बोल सकते हैं और भय के कारण विरोध से मुँह छिपाने हुए संसार को पत्थर के देवता बने देखते रह सकते हैं। नैतिकता के क्षेत्र में हम पूर्वकाल की अपेक्षा एक इंच भी आगे नहीं बढ़े हैं। आज

वर्ग को मताधिकार दिया है और इस वर्ग के सदस्य यह मानने लगे हैं कि वे विचार और ऐच्छिक समुदाय जिन्हें पहले हमने उपेक्षा के साथ देखा था अब हमारे विशेषाधिकारों को चुनौती देते हैं। वे ठीक पहले की तरह उन से युद्ध करने के लिए निकलते हैं। पहले का जेकोबिन आज का बोलशेविक है और उसका ठीक पहले की तरह कानून तथा व्यवस्था के नाम पर दमन किया जाता है। लेकिन इन शब्दों का अभिप्राय कुछ ऐसे सिद्धान्त नहीं हैं जिनके ऊपर कि सामान्य मतैक्य हो। इन शब्दों का अभिप्राय परिवर्तन के खतरे से पुरानी व्यवस्था का रक्षण है। आज के पहले की अपेक्षा अधिक अन्योन्याश्रित विश्व में इस बात की कम संभावना है कि इंग्लैंड इन विचारों के प्रभाव से स्वतन्त्र रहेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसकी द्वीपीय स्थिति ऐतिहासिक परम्पराएँ, अपार धनराशि तथा रियासतें देने की अधिक क्षमता उसे क्रांतिकारी परिवर्तनों से बचाने के लिए महत्वपूर्ण साधन हैं। लेकिन उनसे सदैव काम नहीं चल सकता। उनकी भी एक सीमा है और वह सीमा यह है कि मनुष्य व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों की अपेक्षा सामाजिक शांति का अधिक ध्यान रखता है। जब कभी उसके सामने इन दोनों विकल्पों में से किसी एक को चुनने का सवाल उठेगा वह व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों की तुलना में सामाजिक शांति को अधिक पसंद करेगा।

कहने का अभिप्राय यह है कि ब्रिटिश संविधान में समझौते के लिए अन्य देशों की अपेक्षा अधिक स्थान है परन्तु इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि समझौते का विचार उसकी सफलता की एक आशा ही है न कि एक विश्वास। सामाजिक शांति का सदाचरण कई अस्थिर और जटिल तत्वों पर निर्भर रहता है। यह हमारे शासकों के लिए केवल विवेक और आत्म-संयम का ही प्रश्न नहीं है। कम-से-कम उतना ही आवश्यक उन अनुकूलक परिस्थितियों का अस्तित्व है जो कि उनके विवेक और आत्म-संयम को संभव बनाती हैं। सफल समझौते की परिस्थितियों के लिए चाहिए अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा आर्थिक पुनर्लाभ की आवश्यकताएँ हैं। इनसे मनुष्यों में विश्वास उत्पन्न होता है और एक दूसरे को समझने की संभावना बढ़ जाती है। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति हमारी आँखों के सामने बिगड़ती चली जा रही है और वहां शांति की बहुत कम संभावना है। आज जब कि सारे संसार में अविच्छिन्न स्वार्थ न केवल समाजवाद के ही प्रत्युत उसके समागम की आहटों के ही जिनकी पूंजीवाद को स्वयं आवश्यकता होती है मार्ग में खड़े हैं, स्थायी आर्थिक पुनर्लाभ की कम आशा है। उसका अपना एक विशिष्ट और अटल तर्कशास्त्र है। अविच्छिन्न स्वार्थों का रुझान इस तर्कशास्त्र को इसका मूल्य चुकाए बिना अस्वीकार नहीं कर सकता। यह मूल्य क्या है, इस सम्बन्ध में युद्धोत्तर वर्षों के अनुभवों को देखते हुए किसी भूल की संभावना नहीं हो सकती।

संक्षेप में यह मुख्य विचारधाराओं का युद्ध है। इन धाराएँ सफल दर्शन बन जाती हैं और वे एक दूसरे से युद्ध करने लगती हैं। युद्धोन्मुख व्यक्ति एक भाषा नहीं बोलते, फिर वे एक दूसरे को समझने की आशा कैसे कर सकते हैं? ऐसे वातावरण में यह

सोचना कि वे उन मूल सिद्धान्तों को जिनके ऊपर ब्रिटिश संविधान के अभिसमय निर्भर है, "पवित्र तथा बन्धनकारी" मान लेंगे ऐतिहासिक अनुभव के बिल्कुल प्रतिकूल है। प्रस्तुत परिस्थितियों में वे दो ही मार्ग अपनाएँगे या तो वे अभिसमयों को स्थगित कर देंगे या वे उनके स्वरूप को तो बनाए रक्खेंगे परन्तु उनकी भावना को बिल्कुल बदल देंगे। इंगलैण्ड में दूसरी बात का अधिक खतरा है। राजनीतिक दल अपने ऊपर पड़नेवाले स्वार्थों के दबाव का अनुभव करते हैं। वे अपने लिए शान्तिपूर्ण सहयोग के सूत्र को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। वे अपनी इच्छाओं के विशेष स्वरूप पर बल देते हैं, वे हमें साफ दिखाते हैं कि हिंसक समाधान जनता की राष्ट्रीय प्रतिभा के अनुरूप नहीं है। लेकिन चेतावनी का मनोभाव उपस्थित है और उसका शमन सुधार की बिगड़ती हुई हालत को रोकने पर निर्भर है लेकिन राष्ट्र के बड़े-से-बड़े राजनेताओं के वश में नहीं है।

वास्तव में शांति उत्पादन के सम्बन्धों और उत्पादन की शक्तियों में एक नया सामंजस्य स्थापित करने पर निर्भर है। इस नए सामंजस्य का अर्थ वैसा कि वह भूत काल में सदैव रहा है, अधिष्ठित स्वार्थों के ऊपर सफलाही आक्रमण है। अधिष्ठित स्वार्थों के सामने दो ही विकल्प हैं—या तो वे समझाने-बुझाने से झुक जायें या उन्हें बल-प्रयोग द्वारा झुका दिया जाये। इतिहास से नहीं सिद्ध होता है कि वे अभी तक बड़े पैमाने पर और अल्प समय में समझाने-बुझाने से कभी नहीं झुके हैं। इसके लिए अर्थात् समझाने-बुझाने से मान जाने के लिए जिस विशाल मानसिक संतुलन की आवश्यकता है उसका उनमें सर्वथा अभाव है। उनके जीवन एक विशेष प्रकार के रहन सहन के अभ्यस्त हो गए हैं। उनकी न्यायसम्बन्धी मान्यता इस रहन-सहन में सन्निहित है। उन्होंने जिस राज्य का निर्माण किया है, वह उनकी दृष्टि में उनके प्रयोजनों की पूर्ति का माध्यम है। राज्य की बल-प्रयोग सम्बन्धी शक्ति का उदय आक्रमण से इन प्रयोजनों की रक्षा करता है। ये प्रयोजन उनके लिए उन सब के तुल्य हैं, जिस पर उनका जीवन निर्भर है। वे उनके सिद्धान्तों में ठीक उसी प्रकार सन्देह नहीं करते जिस प्रकार कि एक अच्छा मुसलमान कुरान के सिद्धान्तों में सन्देह नहीं करता। वह उनके लिए उन समस्त निश्चिन्तताओं का प्रतीक है जो उनके जीवन में आशा तथा सरसता का संचार करती है। क्या वे दुःखपूर्वक लेकिन स्वतन्त्रतापूर्वक यह स्वीकार कर सकते हैं कि यह सब वास्तव में एक भयंकर भूल है? इस प्रकार की स्वीकृति अभी तक मनुष्य-जाति का स्वभाव नहीं रहा है। न हमें ऐसे किसी परिवर्तन का ही ज्ञान है जिसके कारण हम यह मानने लग जायें कि मानव-जाति की मानसिक रचना में कोई परिवर्तन हो गया है।

हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि नए हथियारों के कारण संघर्ष किसी पूर्व युग की अपेक्षा अधिक विनाशकारी है लेकिन फिर भी हम कम-से-कम आधारों पर झुकने की अपेक्षा लड़ने के लिए अधिक तय्यार हैं। हम साम्राज्यवाद की पूर्ति में लगे जापान की भांति शांति की भाषा में निर्लज्ज होकर झूठ बोल सकते हैं और भय के कारण विरोध से मुँह छिपाते हुए संसार को पत्थर के देवता बने देखते रह सकते हैं। नैतिकता के क्षेत्र में हम पूर्वकाल की अपेक्षा एक इंच भी आगे नहीं बढ़े हैं। आज

भी जब हम किसी दुष्कृत्य पर उतर आते हैं, तो उसका औचित्य सिद्ध करने के लिए नए-नए सिद्धान्त गढ़ लेते हैं। उदाहरणार्थ जर्मनी के नाजीवादी विद्वानों ने पागलपन से भरे जातिवाद का आविष्कार किया है। लेकिन वास्तविकता यह है कि नाजी नेता अपने अनुयायियों को पुरस्कार के रूप में वे पद देना चाहते हैं जिन पर यहूदियों का अधिकार है। यह तभी सम्भव है जब कि वे यहूदियों को जर्मनी से निकाल दें। इसी प्रकार इटली के न्यायशास्त्रियों ने अपने संगठित राज्य (corporative state) के लिए जो शब्द भंडार के अतिरिक्त कुछ नहीं है, एक नए कानूनी दर्शन का निर्माण किया है और अपने विज्ञान के साथ व्यभिचार किया है। यही दशा अमेरिका के उन बड़े-बड़े उद्योगपतियों की है जो दुष्काल (रेल और ठिकानों में हड़तालियों के ऊपर इस आधार पर कि हम संविदा (contract) की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं गोली चला देते हैं। अप्रिय सत्य यह है कि वे व्यक्ति जिनके हाथ में शक्ति है उसे त्यागना नहीं चाहते। उन्हें उन लोगों के ऊपर अपनी सत्ता का औचित्य सिद्ध करने के लिए, जिन्हें उससे कुछ लाभ नहीं है एक विचारधारा की आवश्यकता है और वे इस विचारधारा को जनता के ऊपर आरोपित करने के लिए अपनी बल-प्रवर्ती शक्ति का जिसे राज्य के प्रतापी कवच का रूप देते हैं, प्रयोग करते हैं। यह बल-प्रयोग उस समय तक जब तक कि जनता उसे चुनौती नहीं देती सहमति का रूप धारण किए रह सकता है। जहाँ जनता के पर्याप्त भाग ने उसे चुनौती देना आरम्भ किया उसकी आलोचना धमकी बन जाती है, उसका संगठन राजद्रोह या षड्यन्त्र बन जाता है और कानून तथा व्यवस्था की चुनौती को दबाने के लिए राज्य की शक्ति का प्रयोग होने लगता है। ये शक्ति के कटाक्ष निश्चय हैं और जितनी अधिक असमानता वे बनाए रखना चाहेंगे उतना ही अधिक उन्हें दमन करना होगा।

यह वह संदर्भ है जिसमें हमें अपने संविधान के अभिसमयों को समझना है। प्रत्येक पीढ़ी उनकी व्याख्या अपने समय की प्रधान विचारधारा के अनुसार करेगी। जहाँ वातावरण तनिक शान्त हुआ, लोग उनकी उदार व्याख्याएँ मान लेंगे, लेकिन जहाँ वातावरण क्षुब्ध हुआ उनकी व्याख्याएँ संकुचित हो जायेंगी इतनी संकुचित कि एक पक्ष की व्याख्या दूसरे पक्ष की समझ में ही न आ सकेगी। यहाँ सज्जनता या सद्भावना का कोई प्रश्न नहीं है। उस वर्ग को जिसे अपनी सत्ता बनाए रखनी है प्रारम्भ के अनुसार ही शासन अपनाने पड़ते हैं। हमारी राजनीति का जो वर्तमान रूप है, उसमें पूँजीवादी लोक-तंत्र के संचालन का अभिप्राय अंततोगत्वा पूँजीवाद का लोकतंत्रात्मक उपायों द्वारा समाजवाद के रूप में परिवर्तन है। यही वह मार्ग है जिसमें उत्पादन के सम्बन्धों का उत्पादन की शक्तियों के साथ सामंजस्य बैठाया जा सकता है। लेकिन इस प्रकार के सामंजस्य का अर्थ तो उन सीमाओं को काटना हुआ जिनके अंदर पूँजीवाद ने लोकतंत्र को सीमित करने का प्रयास किया है। किनारे पर दोनों एक दूसरे से स्पष्ट हैं। हम एक ऐसे युग में पहुँच गए हैं जहाँ उन चरम मान्यताओं को जिनका एक वर्ग ने अपनी भलाई के लिए आविष्कार किया है दूसरा वर्ग जो पहले वर्ग के स्थान पर आना चाहता है, उनके विरुद्ध प्रयुक्त करता है। संक्षेप में संसदीय शासन की वर्तमान समस्या यही

है। अभी तो लड़ाई शुरू भी नहीं हुई है। अभी तो हम १९२६ की सामान्य हड़ताल के रूप में या १९३१ के संकट के रूप में केवल उन चिनगारियों को ही देख रहे हैं जो कि संघर्ष की संभावना का परिचय देती हैं। लेकिन इनका अर्थ समझने में कोई संदेह नहीं रहना चाहिए। यदि मनुष्य एक बार नई सामाजिक व्यवस्था को मन से स्वीकार नहीं कर पाते तो उन्हें धर्मयुद्ध प्रारम्भ कर देना सुगम लगता है। जहाँ वे एक बार इस भाव में हुए, विवेक उनके आवेशों के अधीन हो जाता है तथा वह मनःस्थिति जिसमें सहिष्णुता एक गुण मानी जाती है शीघ्रता से तिरोहित हो जाती है।

मैंने ऊपर मनोभाव के जिस बढ़ते हुए अंतर की चर्चा की है वह स्पेन के गृह युद्ध की समस्याओं के प्रति इस देश की प्रतिक्रिया से भली-भाँति प्रकट होता है। दक्षिणपंथियों के लिए यह या तो सर सैमुअल होर के शब्दों में 'दलगत लड़ाई' रही है जिसमें किसी भी पक्ष की विजय में हमारी रुचि नहीं है या यह श्री गार्विन के शब्दों में अंधकार के विरुद्ध प्रकाश की लड़ाई रही है जिसमें जनरल फ्रैंको की विजय सभ्यता की रक्षा के लिए आवश्यक है। वामपंथियों की सहानुभूति स्पेन की सरकार के साथ रही है। श्रमिक दल हस्तक्षेप न करने की नीति के सम्बन्ध में सदैव संशयशील था और उसने १९३७ के ग्रीष्म के उपरान्त स्पेन की सरकार का खुलकर साथ दिया। मजदूरों ने स्पेन की सरकार को सहस्रों स्वयंसेवक दिए हैं और जिनकी लड़ते हुए मृत्यु हो गई है वे लोकतंत्र की वेदी पर शहीद माने जाते हैं। वे दक्षिणपंथियों के हृदय में ऐसी कोई भावना उत्पन्न नहीं करते। सच तो यह है कि इस प्रश्न के ऊपर दोनों पक्षों में कोई सामान्य विचार-भूमि नहीं है। दक्षिणपंथ स्पेन की वैधानिक सरकार की विजय को कठिनता से परिपूर्ण समझेगा और उसकी पराजय को व्यवहार में एक ऐसी समस्या मानेगा जिसे वह अपनी चतुर कूटनीति के द्वारा सुलझाने में असमर्थ नहीं होगा। वामपंथ के लिए सरकार की पूर्ण विजय न होने का अर्थ महाविनाश है। उसके विचार से सरकार की विजय यूरोप में लोकतंत्रात्मक स्वतन्त्रताओं के जीवन की कुंजी है। ब्रिटिश सरकार की नीति ने उसके हृदय में तीव्र विरोध उत्पन्न कर दिया है। जिस समय युद्ध की समाप्ति पर इंग्लैंड ने रूस के मामले में हस्तक्षेप किया था उस समय के बाद से ब्रिटिश सरकार की यही नीति संदेहों के लिए सबसे अधिक उत्तरदायी है।

यह खाई क्यों है? मूलतः उत्तर यह है कि वे वस्तुएँ, जिनके लिए जनरल फ्रैंको लड़ा है दक्षिणपंथियों द्वारा अनुमोदित हैं और वे वस्तुएँ, जिनसे वह लड़ रहा है, वामपंथियों द्वारा अनुमोदित हैं। दक्षिणपंथी स्पेन में निर्वाचित लोकप्रिय सरकार के *सम्पत्ति की सुविधाएँ बदलने के अधिकार को स्वीकार करने की अपेक्षा वहाँ लोकतंत्र* की पराजय देखना अधिक पसंद करते हैं। वामपंथी यह अधिकाधिक अनुभव करते हैं कि सरकार की पराजय इस अधिकार के ऊपर एक घातक प्रहार होगी। प्रत्येक पक्ष की पसंद का हमारी अपनी राजनीति पर व्यापक प्रभाव पड़ेगा इसमें कोई संदेह नहीं। यह निश्चित है कि स्पेन की सरकार की पराजय इस देश में उन व्यक्तियों को काफी प्रोत्साहन देगी जो यह अनुभव करते हैं कि लोकतंत्र के अधिकार

उत्पादन-साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व के द्वार पर रुक जाते हैं।

अब एक बात और। वैधानिक पद्धति का उद्देश्य विधि के शासन की उन्नति करना कहा जा सकता है। अंग्रेज इस सिद्धान्त को जो उनके कानूनी इतिहास के प्रारम्भ से चलता आया है त्यागने के लिए कदापि प्रस्तुत नहीं होंगे। विधि के शासन का अर्थ यही है कि विधि के उद्देश्यों को एक निश्चित प्रक्रिया से होकर पूरा करना पड़ता है। यह स्वयं विधि के लक्ष्य को स्पष्ट नहीं करता। यह लक्ष्य उन ध्येयों द्वारा निश्चित होता है, जिनकी पूर्ति में राज्य की शक्ति निरत रहती है और ये ध्येय समाज के वर्ग-सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होते हैं। संक्षेप में हम पुनः उस आरम्भ के उस सिद्धान्त के पास पहुँच जाते हैं जिसे मैंने प्रारम्भ में उद्धृत किया था। पूँजीवाद तथा लोकतंत्र के विवाह में जिसने हमें हमारा संसदीय शासन दिया है पूँजीवाद लोकतंत्र की अपेक्षा अधिक महत्त्वशाली है क्योंकि उसके द्वारा आरोपित सम्पत्ति के सम्बन्ध ही लोकतंत्र को उसका विधायी सिद्धान्त देते हैं। लोकतंत्र इस सिद्धान्त को यह विवाह विघटित किए बिना जिसने उसे जन्म दिया है अस्वीकार नहीं कर सकता। वह विघटन के बाद भी जीवित रह सकता है लेकिन केवल इस शर्त पर कि उसका सहमति के द्वारा हो।

मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि इंगलैंड में संसदीय शासन का औचित्य इस तथ्य पर निर्भर था कि उसने उन लोगों के लिए, जिन्होंने उसका निर्माण किया था उन उद्देश्यों को सफलतापूर्वक व्यक्त किया जिनको उन्होंने पूँजीवाद के आधार पर नए सिरे से समाज-रचना करते समय अपने सामने रक्खा था। ब्रिटिश संविधान उन लोगों के लिए, जो इस बात पर सहमत थे कि ब्रिटिश राज्य को कैसी जीवन-रीति का आरोपण करना चाहिए, एक साधन था। उसे उस आर्थिक पद्धति द्वारा जिसके ऊपर यह निर्मित हुआ था प्रचुर पोषण मिला। यह इंगलैंड को संसार की उद्योगशाला बना चुका था वह इंगलैंड को पूर्णिमा के बाजार को पाने में सभी देशों से आगे बढ़ा हुआ था उन समस्त समझौतों की जो उसमें अन्तर्ग्रस्त थे कीमत चुका सकता था। यही अंग्रेजों की स्वतंत्रता सहिष्णुता तथा सामाजिक शांति का कारण है। वे १६८८ के पश्चात् एक दूसरे को ऐसी रियायतें दे सकते थे जिनका अर्थ था कि आधारभूत प्रश्नों को फिर से न उठाया जाये। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस पद्धति की सफलता के पीछे सोलहवीं शताब्दी की क्रूर कड़ाइयाँ और सत्रहवीं शताब्दी का गृहयुद्ध दोनों छिपे हुए हैं। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि फ्रेंच क्रांति और नैपोलियन के युद्धों ने उसकी सफलता के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया था। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यद्यपि इसकी सफलता ने इसे ऐसी सफलता प्रदान की जिसके फलस्वरूप इसका सारे संसार में अनुसरण हुआ है इसका शायद ही कहीं सफलतापूर्वक अनुसरण हुआ हो। इसका कारण यह है कि उन अधिकांश देशों में जहाँ इसका अनुसरण हुआ है सफलता के आर्थिक आधारों का अभाव रहा है। उनके पास भावना की उस एकता को खोजने की आर्थिक योग्यता नहीं थी जो राष्ट्रीय राजनीतिक परम्परा की भूमिकाओं में समझौते की आदत का निर्माण करती है। यह इटली और जर्मनी के सम्बन्ध

में विशेष रूप से सत्य है। दोनों ही देशों में उस क्रांति का अभाव था जो समझौते की आदत को संभव कर देती है। दोनों में से किसी भी देश में आर्थिक समृद्धि का इतना दीर्घ युग कभी नहीं रहा जिससे कि यह आदत जड़ पकड़ सकती। वह परिपक्वता पहुँचने के पूर्व ही नष्ट कर दी गई क्योंकि समझौते का मूल्य आर्थिक शक्ति के स्वामियों की दृष्टि में बहुत अधिक था।

लेकिन जैसा कि मैं निवेदन कर चुका हूँ समझौते की आदत शून्य में नहीं रहती। उसके ऊपर यह मर्यादा लगी हुई है कि जहाँ वे परिस्थितियाँ जो उसकी वृद्धि करती हैं, नष्ट कर दी जाती हैं, वह स्वयं भी नष्ट हो जाती है। मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि इस समय इनको गम्भीर खतरा है। यह खतरा देश के दो प्रधान दलों के अर्थ-व्यवस्था-सम्बन्धी विचारों के विरोध द्वारा प्रकट होता है। उनके अंतर नीति की उस अविच्छिन्नता को जो अब तक सामाजिक और राजनीतिक संगठन के समस्त प्रधान विषयों में ब्रिटिश राजनीतिक इतिहास की एक अनुपम विशेषता रही है नष्ट कर देते हैं। अविच्छिन्नता के अवरोध द्वारा वे एकता का भी अवरोध कर देते हैं और यह अवरोध जैसा कि मैंने निवेदन किया है यह प्रश्न खड़ा कर देता है कि क्या हमारी पद्धति के अभिसमय उस नए युग में भी जिसमें होकर वे गुजर रहे हैं सफल होंगे? यह स्पष्ट है कि मैंने यह नहीं कहा है कि उनको सफल बनाने का संकल्प नहीं है। मैंने केवल यही कहा है कि इस संकल्प के सफल होने की शक्ति उन परिस्थितियों पर निर्भर है जिन पर राजनेताओं का अल्प ही अधिकार है। मैंने यह मानने के भी कारण बताए हैं कि ये परिस्थितियाँ अपना एक विशिष्ट मनोविज्ञान बनाती हैं और यह मनोविज्ञान हमारी उन आदतों तक को सुगमता से पार कर सकता है और कर जाता है जो कि हमारी परम्परा में गहराई से जड़ जमाए हुए हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारे ऐतिहासिक समझौते का मंगलाचरण क्रांति तथा युद्ध था। इनमें से कोई इसलिए नहीं आया क्योंकि इनकी जानबूझकर इच्छा की गई थी प्रत्युत इनमें से प्रत्येक विरोध के शक्तिशाली प्रयत्नों के बावजूद भी आया। जहाँ तक हम इन संकटों के प्रति सजग हैं, वहीं तक हम अपनी स्थिति को सम्हाल सकते हैं और समय रहते कुछ काम कर सकते हैं।

अधिक स्वतन्त्रता की आशा नहीं रख सकते। मत की ऐसी अनेक धाराएँ और प्रति-धाराएँ जैसी कि १८४४ के लार्ड पैंपट्सबरी के कैक्ट्री-विधेयक में या लार्ड पामर्स्टन की विदेश-नीति पर १८५ के डाम पैसिफिको वाद-विवाद में प्रकट हुई थीं अब असम्भव हो गई हैं। अब वे केवल उन थोड़े से और कम महत्व के अवसरों पर दिखाई देते हैं जबकि सरकार सदन में स्वतन्त्र मतदान की अनुमति दे देती है। इस कठोरता का अभिप्राय यह है कि कामन-सभा के ऊपर मन्त्रि-मण्डल का नियंत्रण बढ़ता जा रहा है और इस नियंत्रण का रहस्य यह है कि सरकार और विरोधी दल के नेता समान रूप से बलयुत संगठन के द्वारा अपने सदस्यों के कार्य-कलापों पर अंकुश रख सकते हैं।

यह बढ़ती हुई कठोरता के कारण सरल नहीं है। इसका आंशिक कारण तो यह है कि आधुनिक इंगलैंड के विशाल निर्वाचक-मण्डल को पहले से अधिक विस्तृत दल-संगठन की आवश्यकता है। इसका कुछ कारण यह भी है कि राज्य-हस्तक्षेप के विस्तार ने संसद में सरकार के काम को बढ़ा दिया है। यदि इस काम को समय के अन्दर पूरा करना है तो कठोरतर दल-संगठन आवश्यक है। इसका कुछ कारण यह भी है कि आजकल के निर्वाचक सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यक्तियों से अधिक प्रभावित होते हैं और वे प्रत्याशियों को उनके काम के आधार पर कम उनके नेताओं के आधार पर अधिक निर्वाचित करते हैं। दल की सम्पूर्ण पद्धति का ही व्यवसायीकरण हो गया है और उसके कार्यों की व्यापकता ने उस सेना के समान अनुशासन रखने को विवश कर दिया है। दल की कठोरता के विरुद्ध आवाजें उठ सकती हैं और विद्रोह भी हो सकते हैं। लेकिन दल के अधिकांश सदस्य यह समझते हैं कि दल से अलग होना न केवल उनके लिए ही खतरा है प्रत्युत यदि कहीं यह अलगाव गम्भीर हुआ तो इससे उनके विरोधियों को सफलता के अवसर बढ़ जाते हैं। इसलिए जब तक कोई बहुत ही गम्भीर बात न हो दल के अन्दर विद्रोह का कोई प्रश्न नहीं उठता। १९११ सन् में श्रमिक दल के केवल सोलह सदस्यों ने ही श्री रैमजे मैक्डानल्ड का साथ दिया था।

यह ब्रिटिश पद्धति की एक विशेषता है, जो केवल अंग्रेजी भाषा-भाषी देशों में ही विशेष रूप से पायी जाती है कि राज्य में स्थूल रूप से दो ही ऐसे दल रहने चाहिएँ जो कि निर्वाचकों के ध्यान को गम्भीरतापूर्वक अपनी ओर आकृष्ट कर सकें। कुछ लोगों की दृष्टि में तो यह स्थिति स्वतःसिद्ध सत्य हो गई है और उनका कहना है कि प्रतिनिधिक शासन के सफल सञ्चालन के लिए यह सर्वश्रेष्ठ उपाय है। मेरे विचार में यह सही है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि द्विदल पद्धति संयोग से ही उत्पन्न हुई है न कि किसी योजना से। निश्चितरूप द्वि-दल पद्धति के कई बड़े लाभ हैं। एक लाभ तो यह है कि इससे निर्वाचकों को सीधे अपनी इच्छा की सरकार चुनने का अवसर मिलता है। दूसरा लाभ यह है कि किसी कार्य का उत्तर-दायित्व एक निश्चित जन-समूह के ऊपर रहता है। महाद्वीप की बहुदल-पद्धतियों में सरकार का चुनाव जनता के हाथ से निकलकर निर्वाचित सदन के हाथ में आ

जाता है और मतदाता जो चाहते तो यह थे कि हम भी हैरियट के द्वारा शासित हों, वास्तव में अपने को भी पोहलमेयर या भी शासक द्वारा शासित पाते हैं। अतएव बहुदल-पद्धति में या तो संयुक्त सरकार बनती है जिसका अनिवार्य परिणाम सैद्धान्तिक शिथिलता है या अल्पदल की सरकार बनती है जो सर्वदा दुर्बल रहती है तथा किसी कार्यक्रम को सुचारु रूप से पूरा नहीं कर पाती। यदि हम यह मान लेते हैं कि दल इसलिए सत्ता प्राप्त करना चाहते हैं जिससे कि वे अपने सिद्धान्तों को कार्यक्रम में परिणत कर सकें तो यह स्पष्ट है कि जितनी प्रत्यक्ष तथा निर्णायक निर्वाचक-मण्डल की पसन्द होगी उतना ही अवसर निर्वाचक-मण्डल तथा विधान-मण्डल का कार्य होगा।

श्री रैमजे म्योर ने एक रोचक विश्लेषण में इस निष्कर्ष को अस्वीकृत करा दिया है। उनका कहना है कि बहुदलमूलक शासन में एक बड़ा लाभ यह है कि इसमें जनता के सामने केवल दो ही विकल्प नहीं रहते उसके सामने कई विकल्प रहते हैं और इस प्रकार अनेक प्रकार के दृष्टिकोणों में सामंजस्य स्थापित हो जाता है। उन्होंने द्वि-दल पद्धति के विकास को उसके विस्तृत संगठन के विकास से अनुप्रेरित किया है। इस पद्धति ने कठोर अनुशासन को जन्म दिया है और कठोर अनुशासन का अर्थ "मन्त्रि-मण्डल का अधिनायकत्व" है। उन्होंने लिखा है "इसने संसद् को दो युद्ध और अनुशासित सेनाओं के बीच विभाजित करके हमारे शासन-संचालन में विघ्न उपस्थित कर दिया है। बहुमत का प्रधान उद्देश्य तत्काल सरकार को सत्तारूढ़ रखना है और अल्पमत का प्रधान उद्देश्य उसका स्थान लेने के लिये उसे निन्दित करना है। इससे संसद् की कार्यवाहियों में अवास्तविकता आ जाती है और राष्ट्र की आँखों में उसकी प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचता है। चूँकि विरोधी दल सरकार को निन्दित करने के प्रत्येक अवसर का उपयोग करता है अतः सरकारी दल के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह उस समय के अतिरिक्त जब कि उसका कोई गम्भीर परिणाम न हो अपनी समस्त भूलों को उपेक्षित कर दे और मुक्त व निष्पक्ष आलोचना के कर्तव्य को त्यागकर सरकार का उसके प्रत्येक कार्य में समर्थन करे। श्री म्योर का विश्वास है "हमारे देश में त्रिदल पद्धति की महत्वपूर्ण और निरन्तर बढ़ती हुई प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। यह सामान्यतः निर्वाचकीय पद्धति के संचालन से बाधित है, परन्तु बार-बार जीवित हो जाती है।" श्री म्योर दक्षिण केन्द्र तथा वाम की त्रिदल-पद्धति का प्रतिपादन करते हैं। ये दल न्यूनाधिक रूप से हमारे अनुदार दल उदारदल और श्रमिक दल के समस्थानी होंगे। उनके मत से यह आधुनिक परिस्थितियों में सबसे अधिक स्वाभाविक दल-पद्धति होगी। प्रायः सभी देशों में वे व्यक्ति जो राजनीति में सक्रिय रुचि लेते हैं, तीन वर्गों में बाँटे जा सकते हैं। पहले वर्ग में वे व्यक्ति आते हैं जो सामाजिक व्यवस्था में कोई गंभीर परिवर्तन नहीं चाहते। दूसरे वर्ग में वे व्यक्ति आते हैं जो बड़े बड़े परिवर्तन चाहते हैं परन्तु ये परिवर्तन केवल समाजवादी या समुदायवादी दिशा में ही होने चाहिएं। तीसरे वर्ग में वे व्यक्ति आते हैं जो बड़े बड़े परिवर्तन अवश्य चाहते हैं, लेकिन ये परिवर्तन

समाजवादी दिशा में नहीं होने चाहिएँ प्रत्युत इस प्रकार होने चाहिएँ कि अधिक से अधिक लाभ और दूसरों की स्वतन्त्रता के कम से कम प्रतिबंध के साथ व्यक्तिगत उद्यम बना रहे। श्री म्योर वर्तमान निर्वाचकीय पद्धति में स्थानों और मतों की जो व्यापक असंगति है उसका विरोध करते हैं और सानुपात प्रतिनिधित्व को अपनाने का समर्थन करते हैं। उनका मत है कि "सानुपात प्रतिनिधित्व के द्वारा ही देश के प्रत्येक राजनीतिक दल को उसकी शक्ति के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सकता है।" उन्होंने लिखा है "स्वतन्त्र और उत्तरदायी आलोचना केवल उस सुरक्षा और स्थिरता के आधार पर ही जो एकमात्र सानुपात प्रतिनिधित्व ही आश्वस्त कर सकता है चल सकती है।"[1]

स्पष्टतः यह समर्थ और हृदयग्राही तर्क है। फिर भी मेरा विचार है कि वह बिल्कुल असत्य है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि फ्रांस जैसे देशों में जहाँ कि बहुदल-पद्धति प्रचलित है विधान मंडल की प्रतिष्ठा हमारे यहाँ से अधिक है। वहाँ तो प्रतिनिधि कभी एक दल में शामिल होते हैं कभी दूसरे में और इस प्रकार वे शासन की नींव को दुर्बल कर देते हैं। शासन जनता की आँखों में गिर जाता है और किसी भी कार्यक्रम को पूर्ण रूप से कार्यान्वित नहीं कर पाता। इंगलैंड में "त्रिदल-पद्धति की महत्वपूर्ण और निरन्तर बढ़ती हुई प्रवृत्ति" आयरिश दल के अपवाद को छोड़कर पिछले सौ वर्षों में ठीक दो बार घटित हुई है। एक बार तो यह १८३२ के बाद के तीस वर्षों की अव्यवस्था में जब कि आधुनिक उदार और अनुदार दल सुधार पूर्व युग के राजनीतिक कोलाहल से बाहर निकल रहे थे घटित हुई थी। दूसरी बार यह धीरे धीरे १९०६ से १९१८ के बीच में तथा अधिक तीव्रतापूर्वक इसके बाद जबकि इस देश में राजनीतिक कार्य के एक नए सिद्धान्त के रूप में समाजवाद का अवतरण हमारी राजनीति में मौलिक युगान्तर का रहा था घटित हुई। चूंकि अब निर्वाचकों के सामने वास्तविक प्रश्न समाजवाद की स्वीकृति या अस्वीकृति का ही है इसलिए देश में दो ही राजनीतिक दलों के लिए स्थान रह जाता है। एक तो वह दल है जो समाजवाद को स्वीकार करता है और दूसरा वह है जो उसे स्वीकार नहीं करता। चूंकि केन्द्र का दल समाजवाद को स्वीकार नहीं करता अतः वह धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है।

श्री म्योर केन्द्र के दल को जीवित रखना चाहते हैं और इसलिए उनका विचार है कि संसद् को राष्ट्रीय मत का दर्पण होना चाहिए अर्थात् उसका गठन सानुपात प्रतिनिधित्व के आधार पर होना चाहिए। इस सम्बन्ध में पहली बात तो ध्यान देने की यह है कि जब श्री म्योर ने लिखा था उसके बाद से जर्मनी और स्पेन दोनों ने उनके विचार को कि सानुपात प्रतिनिधित्व लोकतन्त्रात्मक शासन को सुरक्षा और स्थायित्व प्रदान करता है असत्य सिद्ध कर दिया है। ये विशेषताएँ तो जैसा कि मैंने पूर्व अध्याय में दिखाने का प्रयास किया है, कुछ और ही परिस्थितियों का परिणाम होती हैं। यदि हम तर्क की दृष्टि से संशोधित निर्वाचकीय पद्धति के आधार पर

---

1 हाउ ब्रिटेन इज गवर्न्ड् (१९३० ) अध्याय ४ और ५।

भी म्योर की द्वि-दल पद्धति मान भी लें तो क्या परिणाम होगा ? या तो कॉमन-सभा में एक ऐसा शक्तिशाली दल होगा जो आज की तरह स्वयं सरकार बना लेगा। इस स्थिति में वर्तमान स्थिति से कोई अंतर नहीं होगा। या कॉमन-सभा में कोई एक दल ऐसा शक्तिशाली नहीं होगा जो दूसरे किसी दल की सहायता के बिना सरकार बना सके।

दूसरी स्थिति का परिणाम या तो अल्पमत की सरकार होगा या संयुक्त सरकार। अल्पमत की सरकार की दुर्बलता तो हमारे युद्धोत्तर अनुभव के प्रकाश में स्वतः स्पष्ट है। वह किसी दृढ़ नीति का पालन नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में वास्तविक शक्ति सहायता देने वाले दल के हाथ में रहती है और सरकार अपने विश्वस्त सिद्धान्तों को उन सिद्धान्तों के लिए, जिनके लिए उसे सहायता पाने की आशा होती है, स्थगित कर देती है। फलतः उनके कार्यों में साहस और दृढ़ता का उन गुणों का जो प्रत्येक शासन के लिए सबसे पहली आवश्यकताएँ हैं—अभाव रहता है। जहाँ तक संयुक्त सरकार का प्रश्न है वह दो परिस्थितियों में ठीक मालूम पड़ती है। वह युद्ध के समय ठीक मालूम पड़ती है क्योंकि उस समय समस्त मतभेदों को स्थगित कर देना तथा विजय के उद्देश्यों को सर्वोपरि रखना आवश्यक हो जाता है। ऐसी एकता सीमित समय तक ही रहती है और जैसा कि भी लॉयड जार्ज की संयुक्त सरकार ने सिद्ध किया था शांति की स्थापना के बाद कठिनता से ही चल पाती है। वह उस समय भी ठीक मालूम पड़ती है जबकि जैसा कि १९३१ में फ्रांस में लवल सरकार के साथ हुआ था व्यापक मतभेदों द्वारा विभक्त दो दल कुछ ऐसे विषयों पर, जिन्हें वे कुछ समय के लिए अपने मतभेदों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानें एकमत हो जायें। ऐतिहासिक अनुभव से यह ज्ञात पड़ता है कि ऐसी संयुक्त सरकारों को पूर्ण सफलता पाने के लिए काफी सबल पृष्ठभूमि की आवश्यकता होती है और आमतौर पर होता यह है कि या तो १९३१ की तरह स्थायी अभिसन्धि का रूप धारण कर लेती है (जिसका अर्थ द्वि-दल पद्धति का प्रत्यावर्तन है) या अभिसन्धि विघटित हो जाती है और फिर दुर्बल शासन उस समय तक चलता रहता है जब तक कि निर्वाचक यह दृढ़ निश्चय नहीं कर लेते कि अब हमें किस दशा में बढ़ना है।

असल बात यह है कि श्री म्योर उन आधारों को भूल जाते हैं, जिनके ऊपर विक्टोरिया युग की दल-पद्धति इतने सुचारु रूप से चलती रही थी। वे यह भूल जाते हैं कि उन दिनों निर्वाचकों की संख्या कम थी वे निर्वाचक राज्य के उद्देश्यों के ऊपर एकमत थे और विधान न इतना विचारणीय ही था और न इतना महत्त्वपूर्ण हो कि उसे आजकल की तरह कम से कम प्रधान विषयों में मंत्रिमण्डल के एकमत की आवश्यकता पड़ती हो। वे चाहते हैं कि संसद आज भी विक्टोरिया-युग के समान ही सीधे शासन करे लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि आज वे परिस्थितियाँ जिनके कारण ऐसा हो सका था तिरोहित हो चुकी हैं। मैं मंत्रिमण्डल के अधिनायकत्व के सम्बन्ध में उनके विचारों का इस पुस्तक में आगे चलकर विवेचन करूँगा। यहाँ जो महत्त्वपूर्ण है वह यह अनुभूति है कि यदि हम कुछ समस्त सिद्धान्तों के आधार पर किसी विधान

निर्माण की आवश्यकता स्वीकार कर लेते हैं तो उस स्थिति में मत की भिन्नताएं बड़ी विनाशकारी सिद्ध हो सकती हैं। मैं इस विवेचन में सानुपात प्रतिनिधित्व के छोटे-मोटे दोष—उसकी दल बढ़ाने की प्रवृत्ति जैसे कि उसने जर्मनी में दल-संगठन की शक्ति घटाने के स्थान पर बढ़ा दी है—शामिल नहीं कर रहा हूं। सानुपात प्रतिनिधित्व जिन दोषों को दूर करना चाहता है वे काफी गहरे हैं और उन्हें किसी निर्वाचकीय पद्धति द्वारा दूर नहीं किया जा सकता।

यदि हम दलों को तनिक गम्भीरता से देखें तो हमें ज्ञात होगा कि उनके प्रधान सिद्धान्त आर्थिक संगठन के उन विचारों पर निर्भर होते हैं जिनके साथ राष्ट्र का प्रगाढ़ सम्बन्ध रहता है। यदि जैसे कि उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैंड निश्चयात्मक रीति से पूंजीवादी है, तो पूंजीवादी स्वामित्व के विभिन्न पहलुओं के विकास के सम्बन्ध में क्या नीति अपनाई जाये इस प्रश्न के ऊपर दलों में कुछ मतभेद हो सकते हैं। उनके कार्यक्रम और उनके समर्थक इन्हीं मतभेदों से विशेष सम्बन्ध रखेंगे। उदाहरणार्थ हमारे समय में प्रमुख राष्ट्रीय प्रश्न यह है कि उत्पादन के साधनों का समाजीकरण हो या नहीं हो। फलतः प्रत्येक दल के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह इस प्रश्न के ऊपर अपनी एक निश्चित नीति निर्धारित करे। श्री म्योर की ब्रिटिश लोकमत का ऐसा स्थायी तत्त्व पाने की चेष्टा जो न अनुदार है और न समाजवादी है लेकिन जो उन परिस्थितियों का सृजन करना चाहती है जिनमें कि व्यक्तिगत उद्यम स्वयं अपना अधिकतम लाभ साधते हुए तथा दूसरों की स्वतन्त्रता के साथ कम से कम हस्तक्षेप करता हुआ बना रहे निष्फल हो जाती है। इसका कारण कुछ तो यह है कि यह नीति ही ऐसी है कि अनिवार्य अनुदारवादी इसे अपनी नीति बतायेंगे और कुछ यह है कि जहां तक यह नवीनतम ऐसे कदम करना चाहती है जिन्हें दोनों दलों में से कोई भी स्वीकार करने को प्रस्तुत न हो यह प्रभावशाली शासन का आधार नहीं हो सकती। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि दलों का गठन चाहे कुछ भी हो राज्य में कुछ ऐसा लोकमत अवश्य रहेगा जो किसी भी सरकार द्वारा प्रस्तावित योजनाओं को शिरोधार्य करने में असमर्थ होगा। यह लोकमत दलों की नीतियों को प्रभावित करने में सफल हो सकता है लेकिन उनकी नीति के आधारभूत सिद्धान्तों को नियमित नहीं कर सकता। इसका झुकाव हर हालत में अनुदारवाद की ओर है क्योंकि यह स्वयं को व्यक्तिगत उद्यम के संचालन के साथ सम्बन्धित करता है।

मेरा निवेदन है कि दल मुख्यतः वे संगठन हैं जो राज्य की आर्थिक रचना को निर्धारित करने का प्रयास करते हैं। मेरे कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि केवल आर्थिक विचार ही उनकी नीति निश्चित करते हैं। श्रमिक दल शिक्षा के मामलों में रोमन कैथोलिक लोगों के मतों की ओर अधिक ध्यान देगा अनुदार दल चर्च को राज्य से पृथक करने के मामले में एंग्लिकनों की मत-शक्ति पर विशेष निर्भर होगा। प्रत्येक दल कुछ सीमा तक विभिन्न हितों का संघ होता है और उससे जहां तक बन पड़ता है, वह अपनी नीति का इन विभिन्न हितों के साथ सामंजस्य स्थापित

करने की चेष्टा करता है। लेकिन दल के क्रिया-कलापों का मुख्य आधार आर्थिक है। यह तथ्य ध्यान में रखे बिना किसी भी दल की नीति को नहीं समझा जा सकता। ह्विग दल ने व्यापारी वर्ग के मतों को जो प्राप्त किया था इसका प्रमुख कारण यह था कि उसने 'मुक्त वाणिज्य' के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था। टोरियों की विजय का प्रमुख कारण यह था कि उनका कृषिजीवियों के हितों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। यह प्रत्येक व्यक्ति जो १८८८ के बाद से साम्राज्य के प्रति राजनैतिक वर्गों के परिवर्तित दृष्टिकोण को देखता है यह समझ लेगा कि इसके मूल में आर्थिक परिस्थितियों का कार्यक्रम ही विद्यमान है।

इससे भी अधिक आश्चर्यजनक उसके कर्मचारी-वृन्द एवं निधियां से सम्बद्ध तथ्य है। अनुदार दल के निर्देशन में मजदूरों ने कभी कोई महत्वपूर्ण भाग नहीं लिया है। उसकी कार्यपालिका-समिति में शायद ही किसी मजदूर को कभी कोई स्थान मिला हो। उसने अपने टिकट पर शायद ही किसी मजदूर को संसद् के लिए प्रत्याशी के रूप में खड़ा किया हो, यदि खड़ा भी किया है तो ऐसे चुनाव-क्षेत्र से जहाँ कि सफलता की रत्तीभर भी आशा न रही हो। अनुदार दल के उच्चतम स्थानों पर मजदूरों का कभी कोई अधिकार नहीं रहा है। इन स्थानों पर तो बड़े-बड़े जमींदारों महाजनों और व्यापारियों की ही तूती बोलती रही है। हमें अनुदार दल की निधियों के स्रोत का निश्चित रूप से कोई ज्ञान नहीं है। यह हम अवश्य जानते हैं कि इसकी आय का मुख्य स्रोत धनिकों का दान है। हम यह भी जानते हैं कि जब उसका कोई 'सुरक्षित' निर्वाचन-क्षेत्र खाली होता है तो उसे हथियाने के लिए प्रत्याशियों में काफी जोरदार खींचतान होती है और प्रत्याशी की सामान्य योग्यताओं के साथ-साथ उसकी इस योग्यता पर भी ध्यान दिया जाता है कि वह दल को कितना पैसा दे सकता है। हमें यह भी ज्ञात है कि इसकी निधियों का अधिकांश भाग सम्मानसूचक उपाधियों के व्यक्तिगत विक्रय द्वारा उपलब्ध होता है और यह प्रायः उसी प्रकार है जैसे कि जेम्स प्रथम अपने कोष की पुष्टि आनुवंशिक पदवियाँ बेच-बेचकर करता था। अंततः हम यह भी जानते हैं, कि प्रत्येक साधारण निर्वाचन के अवसर पर सुप्रसिद्ध वाणिज्य-नेता उसकी ओर से अपने नाम में चंदे की एक अपील निकालते हैं और यह मानने का कोई कारण नहीं है कि वे अपने प्रयत्न में असफल होते हैं।

इस सम्बन्ध में श्रमिक दल की नीतियाँ बिल्कुल भिन्न हैं। उसके अधिकांश सदस्य श्रमिक संघों से आते हैं और उसकी राष्ट्रीय कार्यकारिणी समिति मुख्यतः मजदूरों से मिलकर बनती है। उसके प्रतिनिधियों में व्यापारियों अथवा धनिकों का मिलना अपवाद-स्वरूप ही है। उसके प्रतिनिधियों में थोड़े से बैरिस्टर, डॉक्टर और अध्यापक होंगे। जिनमें से आधे पदावधि की वैधानिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए श्रमिक सरकारों द्वारा बनाए गए पीअर होते हैं। कहने का सार यह है कि दल का वास्तविक निर्देशन मजदूरों के हाथ में रहता है। थोड़े से बुद्धिजीवियों और छोटे-छोटे व्यापारियों का भी इस दल के ऊपर प्रभाव रहता है। उसकी निधियों का मुख्य स्रोत श्रमिक संघों के सदस्यों द्वारा अपनी इच्छानुसार स्वयं अपने ऊपर आरोपित कर

है। इसके अतिरिक्त दल की स्थानीय शाखाओं के सदस्य दल को प्रति सप्ताह एक पैनी के हिसाब से चंदा भी देते हैं। मेलों, नृत्य-समारोहों और सभाओं आदि के द्वारा भी दल को थोड़ी बहुत आय हो जाती है।

हमें उदार दल की अर्थ-व्यवस्था का अनुदार-दल की अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा अधिक ज्ञान है। इसमें कोई संदेह नहीं कि १९१६ तक उसकी निधियाँ भी अनुदार दल की निधियों की भाँति ही एकत्रित की जाती थीं। १९१० से १९२२ तक लॉयड जार्ज फैण्डल का अथवा उपाधियों के जिस लोभायुक्त विक्रय के द्वारा एकत्रित किया गया था वह ब्रिटिश इतिहास में शायद अभूतपूर्व है। १९२२ के बाद से उदार दल की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई है। लेकिन इसने निधियाँ एकत्रित करने के उसके साधनों में कोई अंतर नहीं आया है। वह दल जिसको सरकार बनाने की आशा कम है धनिक सज्जनों को आकृष्ट करना कठिन पाता है। एक ओर तो विचारधारा के प्रचार की शिथिलता और दूसरी ओर प्रत्याशियों की संख्या की कमी से यह प्रकट हो जाता है कि उदार दल धनिकों का वरद हस्त अपने शीश पर से हट जाने के धक्के को सम्हाल नहीं सका है। उदार दल के अधिकांश धनिक समर्थक या तो अनुदार दल में सम्मिलित हो गए हैं, या उन्होंने सक्रिय राजनीति में रुचि लेना बन्द कर दिया है।

उक्त विरोधाभास की केवल एक ही सिद्धान्त के अनुसार व्याख्या की जा सकती है और वह सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक दल का स्वरूप उसके आर्थिक हितों द्वारा निर्धारित होता है। यह संभव नहीं है कि श्रमिक दल जान बूझ कर कोई ऐसी नीति अपनाए जिससे कि श्रमिक संघ रुष्ट हो जाय। इसी प्रकार यह भी संभव नहीं है कि अनुदार दल कुछ ऐसे काम करने लगे जिनका कि व्यापारियों के ऊपर प्रतिकूल प्रभाव पड़े। जहाँ तक मूलाधारों का प्रश्न है, प्रत्येक दल ही कुछ ऐसे सिद्धान्तों के दायरे में बंधा हुआ है जिनका निर्माण उसके समर्थकों ने उसके लिए किया है। जहाँ तक इस दायरे को कोई चोट नहीं पहुँचती वहाँ तक प्रत्येक दल को यह स्वतन्त्रता है कि वह निर्वाचकों का अधिक से अधिक समर्थन पाने के लिए जो चाहे सो करे। उदाहरणार्थ कोई भी व्यक्ति श्रमिक दल से इस घोषणा की आशा नहीं करेगा कि वह पर्याप्त-सोच-विचार के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि श्रमिक संघों का १९२७ के श्रमिक संघ विधि-संशोधन अधिनियम से लड़ने का कोई कारण नहीं है। इसी प्रकार अनुदार दल से भी यह आशा करना दुराशामात्र ही होगा कि वह प्रति सप्ताह तीन पौंड अनिवार्य न्यूनतम वेतन की एक घोषणा निकाले। वास्तव में वह क्षेत्र जिसमें प्रत्येक दल स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य कर सकता है, उसके आर्थिक समर्थकों द्वारा निश्चित किया जाता है।

अस्तु, उन मूलाधारों के बारे में जिनके ऊपर प्रत्येक दल के सिद्धान्त निर्भर हैं, विभिन्न वस्तु वह गहराई है जिसके द्वारा वे पृथक हैं। १९२४ से पूर्व उदार दल की सरकार व्यापारियों को यह आश्वासन देकर कि हमारे समाज का बुनियादी ढाँचा यथापूर्व रहेगा अनुदारदल की सरकार का स्थान ग्रहण कर सकती थी। कोई भी व्यक्ति जो १९१० के अंत में प्रकाशित श्रमिक दल के 'संक्षिप्त कार्य-क्रम' को

देखेगा यह समझ लेगा कि अब ऐसा कोई आश्वासन नहीं है। श्रमिक दल का निर्वाचकों से यह वायदा है कि यदि हमारी विजय हुई तो हम न केवल पांच वर्षों की अवधि में बहुत सी वस्तुओं का राष्ट्रीयकरण ही करेंगे प्रत्युत ऐसे बहुत से व्यापक सामाजिक सुधार भी करेंगे जिनमें बेकारों के लिए 'मीन्स टेस्ट' का उन्मूलन उनके लिए दी जाने वाली बीमे की दरों में वृद्धि तथा वृद्धावस्था की पेंशनों को बढ़ा कर प्रत्येक अविवाहित व्यक्ति के लिए एक पौंड प्रति सप्ताह तथा विवाहित दम्पति के लिए पैंतीस शिलिंग प्रति सप्ताह कर देना शामिल होगा। इस कार्य-क्रम के वास्तविक निष्कर्ष बिल्कुल स्पष्ट हैं। अपरंच इस विधान का सीधा अभिप्राय नीति की उस पुरानी अविच्छिन्नता को जान बूझ कर नष्ट कर देना होगा जिसके ऊपर कि हमारी संसदीय पद्धति टिकी हुई है। हमारी संसदीय पद्धति विभिन्न हितों की मांगों के उत्तर के ऊपर निर्मित है यह एक ऐसे समाज की कल्पना करती है जो आजकल के ब्रिटिश समाज से बिल्कुल भिन्न है। मेरा विचार है कि यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि यह उन प्रयोजनों की सिद्धि का जिनके प्रति राज्य-शक्ति अनुरक्त है, एक साधन है। यह उन 'हितक कंपनों' में से एक का प्रतिनिधित्व करती है जिनका निवारण करना भी रैमजे म्योर के अनुसार दल-पद्धति का प्रमुख काम है।

(२)

क्या इतने व्यापक मतभेदों के ऊपर दलगत संघर्ष सामान्य सा ही बना रहेगा? क्या हम लार्ड बाल्फोर की शब्दावली में मूलाधारों के सम्बन्ध में सुरक्षापूर्वक मतभेद सहन कर सकते हैं? स्पष्टतः सम्भावनाएं ये हैं। श्रमिक दल का कार्यक्रम ही कुछ ऐसा है कि उसे किसी भी समय आवश्यक बहुमत नहीं मिल सकता। ऐसी स्थिति में अनुदार दल सत्तारूढ़ बना रहेगा और संविधान के अन्दर किसी भी चुनौती की सम्भावना नहीं उठेगी। या श्रमिक दल विजयी हो जाये और वह अपने वांछित परिवर्तनों को शांतिपूर्वक पूरा करने में समर्थ हो; यह जैसा कि मैं प्रथम अध्याय में निवेदन कर चुका हूं इतिहास में अद्वितीय क्रान्ति होगी। या तीसरा विकल्प यह हो सकता है कि श्रमिक दल विजयी हो जाये किन्तु वह आर्थिक और वैधानिक संकट उत्पन्न किए बिना अपने कार्यक्रम को पूरा करना असंभव पाये। क्या इस अंतिम स्थिति में संसदीय शासन के परम्परागत ढांचे को बनाए रखना संभव होगा?

हमें इस प्रश्न को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए। श्रमिक दल की विजय एक ऐसे समय में होगी जबकि मजदूरों के कानों में यह कूट-कूट कर भर दिया जायेगा कि समाजवाद की विजय का अब राष्ट्र का विनाश है। दल एक ऐसे कार्य क्रम को लेकर सत्तारूढ़ होगा जिसका कि प्रत्येक विषय विरोधियों के लिए अभिशाप होगा। वे अपनी पूंजी के भविष्य के सम्बन्ध में बहुत चिंतित [illegible] जायेंगे और यह हो सकता है कि वे जैसा कि विसकाउन्ट एल्फिन्सटन ने उन्हें परामर्श दिया था अपनी सम्भाव्य पराजय की स्थिति में अपनी अधिक से अधिक पूंजी का निर्यात कर दें। विश्वास की कमी हो जायेगी बाजार में पूंजी आना शिथिल पड़ जायेगा और शायद लन्दन शहर में छोटी अवधि के लिए दिए जाने वाले कर्ज बंद हो जायेंगे। स्पष्ट है

कि इस आर्थिक संकट को रोकने के लिए सफल श्रमिक सरकार को कुछ ठोस कार्यवाही करनी पड़ेगी। इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिए उसे न केवल लार्ड-सभा की ही प्रत्युत उन आर्थिक संस्थाओं की भी जिनका विश्वास उसकी नीति से हिल गया था सहायता लेनी होगी।

मैं नहीं जानता कि श्रमिक दल को यह सहयोग मिल जायेगा। मैं नहीं समझता कि कोई भी व्यक्ति यह दावा कर सकता है कि वह इस बात को जानता है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि यह संसदीय शासन की अग्नि-परीक्षा है। १९३१ की घटनाओं को देखते हुए यह विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह इस अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो जायेगी। वैधानिकता के जटिल प्रश्नों के अलावा १९३१ के घटना-चक्र का मूल प्रभाव यह हुआ था कि निर्वाचकों में आतंक भर जाय पैदा हो गया था। यदि वहीं श्रमिक दल उस संघर्ष में विजयी हो जाता तब भी उसके लिए उस आतंक पर जय पाना दुस्साध्य होता। श्री रैमजे मैकडानल्ड और उनके साथियों ने जैसा वातावरण तय्यार कर दिया था उसमें यह अब अवश्यम्भावी था कि देश की आर्थिक स्थिति बहुत डांवाडोल हो जाती। हमें यह पूछना है कि विस्काउंट स्नोडेन ने श्रमिक दल के आर्थिक कार्यक्रम को जिसके सारतः वे स्वयं निर्माता थे उन्मत्त बोल्शेविज्म बताया था। क्या कोई दल जो ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दे, निर्वाचन के पश्चात् अपनी बात बदल सकता है और कह सकता है निर्वाचन के समय में उसने जो कुछ कहा था वह विश्वसनीय नहीं है? क्या वे व्यक्ति जो कल तक राष्ट्र के विध्वंसक थे आज समस्त देशभक्त नागरिकों के, उन नागरिकों के, जिनसे उनके विशेषाधिकारों को त्यागने की बात कही जाती है सहयोग के पात्र हो सकते हैं? हमें यह याद रखना चाहिये कि यह स्थिति १९२४ अथवा १९२९ की भाँति नहीं है जिसमें कि अल्पसंख्यक श्रमिक सरकार को, जहाँ उसने अपने सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने का प्रयास किया अवरुद्ध किया जा सकता है। हमारी कल्पना यह है कि उनके बहुमत ने उसे राज्य के सम्पूर्ण तंत्र का अधिकार सौंप दिया है। वह एकमात्र उपाय जिसके द्वारा उसको अवरुद्ध किया जा सकता है संसदीय पद्धति के सामान्य सिद्धान्तों के बाहर है। इस प्रकार की परिस्थितियों में इन सिद्धान्तों का क्या होगा?

उक्त अवस्था को देखते हुए उन तीन सम्भावनाओं में से जिनकी मैंने चर्चा की है पहली सम्भावना अधिक स्वाभाविक मालूम पड़ती है। देश में श्रमिक दल का काफी लम्बे समय तक शासन रहेगा क्योंकि निर्वाचक-गण उसके किसी विकल्प में अन्तर्निहित खतरे का सामना करने के लिए तय्यार नहीं होंगे। लेकिन यह विचार उतना आसान नहीं है जितना कि ऊपर से देखने पर मालूम पड़ता है। यदि इस काल में जनता की उत्तरोत्तर भौतिक अभिवृद्धि नहीं होती और साथ ही साथ सामाजिक विकास के क्षेत्र में आगे कदम नहीं बढ़ाये जाते तो श्रमिक दल अपना मोर्चा राजनैतिक क्षेत्र से हटाकर आर्थिक क्षेत्र में ले जायेगा। इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि औद्योगिक क्षेत्र में अस्त-व्यस्तता आ जायेगी मजदूर हड़ताल के द्वारा अपनी वेतन घटाने के प्रयत्न रोकने में प्रवृत्त होंगे और बेकार लोग जलूस निकाल निकाल कर लोगों का ध्यान अपनी ओर

आकृष्ट करेंगे। श्रमिक दल इस संघर्ष का संसद् में समर्थन करने के लिए विवश होगा। भूतकालीन अनुभवों के आधार पर हम कह सकते हैं कि १९२६ की हड़ताल के पश्चात् की भाँति ही करारा व्यापिक और उसके परिणामों का दोष सरकार के ऊपर ही डाला जायेगा। फलतः फिर श्रमिक दल की विजय की सम्भावना हो जायगी। अनुदार दल के सामने यह दुरन्त समस्या मुँह फैला कर खड़ी होगी कि या तो वह जनता की जीवन-स्तर बढ़ाने की माँग को पूरा करे या इसका मूल्य निर्वाचन के अवसर पर चुकाए। हमारी शासन-व्यवस्था में उसके पास अभी कम-से-कम काफी समय तक के लिए अन्य कोई विकल्प नहीं है।

अनुभव यह बताता है कि कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर संसदीय शासन पद्धति में शायद ही कोई आधुनिक निर्वाचक-गण एक ही सरकार को अधिक समय तक सत्तारूढ़ देखने के लिए प्रस्तुत हो। यह दो ही स्थितियों में स्वीकार्य हो सकता है या तो दीर्घस्थायी युद्धकाल में या उस दशा में जब कि सरकार के शासन-काल में देश की अनवरत समृद्धि होती रहे। इंगलैंड में १८३२ के पश्चात् से कोई भी सरकार दस वर्ष से अधिक समय के लिए सत्तारूढ़ नहीं रही है। यदि हम ग्रोवर क्लीवलैण्ड के १८८४ के निर्वाचन को दक्षिण के राष्ट्रीय जीवन में अवतरण का श्रीगणेश मानें तो अमरीका में १८९६ से १९१२ तक का रिपब्लिकन दल का शासन दीर्घतम शासन-काल है। फ्रांस में युद्ध-काल के पश्चात् से लोकमत में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है वहाँ का विधान-मंडल कभी तो पूर्ण रूप से दक्षिण वर्ग के हाथ में और कभी पूर्ण रूप से वाम पक्ष के हाथ में रहा है। इसलिए, मेरे विचार से यह स्पष्ट है कि यदि अनुदार दल की सरकार लम्बे समय तक सत्तारूढ़ रहना चाहती है तो उसे असाधारण रूप से सफल होना पड़ेगा। आर्थिक या अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति अथवा दोनों को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता—इस सफलता की अधिक सम्भावना नहीं प्रकट करती। इसलिए समय के पलटा खाते ही हमारी पद्धति पर उस दबाव का पड़ना जिसका मैंने उल्लेख किया है अवश्यम्भावी है।

यह उचित रूप से कहा जा सकता है कि श्रमिक दल जैसा आगन्तुक दल जितने अधिक समय तक सत्ता से च्युत रहेगा, वह उतने ही अधिक क्रांतिकारी विधान को कार्यान्वित करने की घोषणा करेगा। जब तक उसका विरोधी अनवरत और व्यापक सामाजिक सुधारों का प्रणेता नहीं है उसे दो आधारों के आधार पर पद ग्रहण करना होगा। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि उसे अपने पूर्ववर्ती के शासन-काल की क्षति-पूर्ति करनी होगी। मकान शिक्षा सार्वजनिक स्वास्थ्य और बेरोजगारी की समस्या जैसे मामलों में अधान दलों द्वारा प्रस्तावित विधान के विभिन्न मानदंड इस बात के आश्वासन हैं कि यही स्थिति होगी। इसलिए, केवल इस दृष्टि से भी यह निश्चित है कि कर के भार में वृद्धि हो जायगी। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि राजनैतिक क्षेत्र की विजय के साथ-साथ औद्योगिक क्षेत्र में भी प्रगति होनी चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अमरीका में राष्ट्रपति क्लीवलैण्ड तथा फ्रांस में श्री ब्लम के शासन-कालों में श्रमिक संघों के इतिहास का विवेचन करे, तो उसे यह सम्भावना समझने में कठिनाई

नहीं होगी। इसका अर्थ यह है कि श्रमिक दल की विजय के पश्चात् पूँजीवाद पर तीन ओर से आक्रमण होगा सामाजिक अभ्युत्थान के लिए प्रयत्न होगा औद्योगिक विकास का चक्र चलेगा तथा ऐसे विधान का निर्माण होगा जो प्रमुख उद्योगों का समाजीकरण करे और भूमि को राष्ट्रीय स्वामित्व में ले ले।

किसी भी तरह देखा जाये इतना स्पष्ट है कि इसमें संसदीय पद्धति पर भारी दबाव पड़ता है। मेरा निवेदन है कि यह सब उस समस्त संघर्ष के स्वरूप में जो हम देख रहे हैं छिपा हुआ है। जहाँ एक बार वर्गों का विभाजन उत्पादन की पूँजीवादी पद्धति की स्वीकृति या अस्वीकृति के द्वारा निश्चित हुआ संघर्ष का मूल एवं प्रयोजन के संघर्ष पर आकर ठहर जाता है। मैं यह और कह दूँ कि यह संघर्ष ऐसा नहीं है जिसमें कि विकास इतना धनै: धनै: हो जिसमें कि आर्थिक शक्ति के स्वामी क्रमशः परिवर्तन के अभ्यस्त हो जावें। श्रमिक दल का घोषित कार्यक्रम इस संभावना को स्वयं दूर कर देता है। वह तो अपनी शर्तों द्वारा इस बात के लिए वचन-बद्ध है कि पूँजीवाद के केन्द्रबिन्दु पर सीधा संसदीय आक्रमण करे। जहाँ निर्वाचकों ने उसे अपना कार्यक्रम पूरा करने की एक बार शक्ति दे दी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसके लिए इसे त्यागने की चेष्टा असम्भव हो जायेगी। यदि वह ऐसा नहीं करता तो यह उसकी आत्महत्या के तुल्य है क्योंकि पूँजीवाद को बदलने की चेष्टा त्यागने का अर्थ उसके सम्पूर्ण अस्तित्व का विनाश है।

मेरे कहने का सार यह है राजनीतिक लोकतंत्र अपनी आभ्यन्तरिक प्रवृत्तियों के कारण सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र होने की चेष्टा करता है। लेकिन उसे इस लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग उन पूँजीवादी बुनियादों द्वारा जिन पर राजनीतिक लोकतंत्र निर्मित होता है घिरा हुआ मिलता है। इसलिए, इन बुनियादों की वैधता राजनीति में केन्द्रीय प्रश्न बन जाती है। अपरिवर्तनवादी दल पूँजी की वैधता को सिद्ध करने का प्रयास करता है। इसके लिए वह सार्वभौम मताधिकार की व्यवस्था करता है और प्रयास करता है कि जनता के जीवन-स्तर में निरन्तर वृद्धि होती रहे। वह सत्तारूढ़ केवल उसी समय तक रहेगा जब तक कि जनता उसकी सफलताओं से संतुष्ट रहे। जहाँ जनता एक बार असंतुष्ट हुई वह परिवर्तनवादी दल को सत्तारूढ़ कर देगी और परिवर्तनवादी दल पूँजीवादी बुनियादों को बदलने का कार्य प्रारम्भ कर देगा या प्रारम्भ करने की चेष्टा करेगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आज दल-पद्धति एक ऐसे वातावरण में कार्य कर रही है जो कि गत शताब्दियों के वातावरण से बिल्कुल भिन्न है। अब तक उसका कार्य परिमाणात्मक मतभेदों को सुलझाना रहा है अब उसे गुणात्मक मतभेदों के सुलझाने का कार्य करना है। लोकतन्त्र के सिद्धान्त उन्हीं आधारों से प्रारम्भ होते थे जिनसे कि डिज़रैली के इसी प्रकार श्री एस्क्विथ और श्री लायड जार्ज के सिद्धान्त उन मूलाधारों से प्रारम्भ होते थे जिन्हें मोटे तौर से पर कोई कन्ज़र्वेटिव अथवा कोई वाल्पोल सुगमता से स्वीकार कर लेते। आधुनिक संसदीय इतिहास के सौ वर्षों में आधारभूत मतभेद का एक प्रश्न १९१४ के होमरूल एक्ट से अल्स्टर का अपवर्जन

था। यह एक ऐसा प्रश्न था जिस पर अलस्टर झुकने के बजाय लड़ने के लिए तय्यार था। १९१४ में उदार दलीय सरकार ने संघर्ष की धमकी के सामने शासन-त्याग कर दिया था। इन सभी वर्षों में राजनीतिक दलों के विवाद अपने उद्देश्य की अन्तर्भूत एकता को छिपाने और अपने मतभेदों को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाने की चेष्टा किया करते थे। मोटे तौर पर वे राज्य की बुनियादों के ऊपर कभी वाद-विवाद नहीं करते थे। १९२८ तक तो उनके सामने मुख्य प्रश्न यही था कि मताधिकार की कैसे वृद्धि हो क्योंकि १८३२ से साठ वर्ष तक मताधिकार बड़ा सीमित रहा था। उनके सामने एक अन्य प्रश्न यह था कि पूंजीवादी व्यवस्था का किस प्रकार ठीक सचालन हो। उन्होंने इस बात पर कभी विचार नहीं किया कि यदि यह व्यवस्था समाप्त हो जाये तो कैसा रहे? इन राजनीतिक दलों ने उन बातों पर कभी बल नहीं दिया जिनसे कि स्वयं पूंजीवादी व्यवस्था के सम्बन्ध में सन्देह उपस्थित हों। राजनीतिक दलों की उद्देश्य-विषयक समानता के कारण ही नीति की यह अविच्छिन्नता सम्भव रह सका। साम्राज्य वैदेशिक मामले सामाजिक सिद्धान्त और आर्थिक नीति आदि के क्षेत्रों में उदारवादी और अनुदारवादी समान रूप से एक दूसरे की सरकारों के परिणामों को स्वीकार कर सकते थे क्योंकि उनमें से किसी को भी नीति में सम्पत्ति के अंतिम बंटन के आधारभूत प्रश्न को कभी नहीं उठाया। उन्होंने राष्ट्र के मामलों का सचालन इस स्वीकृत सिद्धान्त के आधार पर किया कि इस प्रश्न को कभी नहीं उठाया जायेगा।

वास्तव में वे अपने इस चिन्तन में सच्चे भी थे क्योंकि उनका विचार था कि एक आधारभूत प्रश्न के रूप में इसके ऊपर कोई गम्भीर विवेचन नहीं हो सकता। उस समय की राजनीति का गठन भी कुछ ऐसा था जिसकी वजह से यह प्रश्न उनके सामने स्पष्ट रूप से कभी नहीं उठा। १८७४ तक कामन-सभा में एक भी मजदूर सदस्य नहीं था १९ ६ तक उनकी संख्या नगण्य थी १९२२ तक वे ऐसे विरोधी दल का रूप धारण नहीं कर सकते थे कि शासन के कार्य को प्रभावित कर सकते। इन सभी वर्षों में उन्हें इन दोनों ऐतिहासिक दलों में से किसी के भी अन्दर नीति के निर्धारण में भाग लेने का अवसर नहीं मिला था। उनमें से कोई भी उन्हें कामन सभा के संभव प्रत्याशियों के रूप में नहीं समझता था। श्री रैमजे मैकडॉनल्ड का एक पत्र यह स्पष्ट कर देता है कि उदारदल ने उन्हें १८९ तक में कामन-सभा के लिए अपना प्रत्याशी बनाना अस्वीकार कर दिया था। यही कारण था कि वे भी केर हार्डी के दल में सम्मिलित हो गए। सामयिक विवेचन से यह स्पष्ट है कि अनुदारवादियों और उदारवादियों दोनों ने १९ में श्रमिक प्रतिनिधित्व समिति (Labour Representation Committee) का निर्माण कोई विशेष महत्व की घटना नहीं समझी थी। उदार दल तो श्रमिक दल के प्रत्याशियों से इसलिए रुष्ट था क्योंकि इससे उनके आपस में मत बंट जाते थे फलस्वरूप उनके सामान्य शत्रु अनुदार दल को लाभ पहुँचता था। १९ ६ से १९१४ तक उदार दल का प्रभुत्व रहा था। लेकिन इस बीच में भी श्रमिक दल का महत्व शायद ही समझा गया हो। इन वर्षों में अनुदार दल और उदार दल की नीति यह रहती थी कि वे श्रमिक दल

के कार्यक्रम में से कुछ वस्तुएं ग्रहण कर बैठे थे। १९ ९ का वाणिज्य-विवाद अधि-नियम इसका एक उदाहरण है। वे कठिन परिश्रम वाले उद्योगों में वाणिज्य-मंडल अधिनियम बेकारी के सम्बन्ध में श्रम-विनिमय केन्द्रों की स्थापना (१९ ८) और बुढ़ापे की समस्याओं के लिए सत्तर वर्ष से ऊँची अवस्था वाले व्यक्तियों के लिए पाँच शिलिंग प्रति सप्ताह पेंशन की व्यवस्था करके अपना काम निकालने की चेष्टा करते थे। मेरा विचार है कि इस विधान में और कोई लोकसुधारी अथवा डिसराउंट ब्लॉच के प्रयत्नों में कोई महत्व भेद नहीं है। ये तो वही सीधी-सादी रियायतें हैं जिनकी चैमहॉट ने चर्चा की थी। हाँ इतना अवश्य है कि ये उस निर्वाचक-मण्डल के दबाव के फलस्वरूप जो चैमहॉट के समय से कहीं अधिक शिक्षित और कहीं अधिक संगठित है, अधिक विस्तृत हो गई हैं।

युद्ध के पश्चात् इंगलैण्ड के राजनीतिक क्षेत्र में एक तात्कालिक और नाटकीय परिवर्तन हो गया है। रूस की क्रान्ति मताधिकार के विस्तार, श्रमिक संघों की शक्ति वृद्धि और इस विचार ने कि युद्ध स्वयं पूंजीवाद के पतन की अभिव्यक्ति था राजनीति में एक नई जागृति ला दी है। इसका प्रभाव दीर्घव्यापी अवपात महंगाई, शिल्पिक क्रान्ति भावनों के मनोवैज्ञानिक परिवर्तन और युद्ध के फलस्वरूप निर्मित नए सामाजिक सम्बन्धों में दिखाई देता है। श्रमिक दल ने विरोधी दल का रूप धारण कर लिया। इतिहास में यह पहली बार पुराने राजनीतिक दलों की तरह एक महान् राष्ट्रीय संगठन बना। उसने स्वयं को स्पष्ट रूप से समाजवादी आधार पर खड़ा किया। यह ठीक है कि उसे १९२४ अथवा १९२९ में अपने सिद्धान्त के साथ प्रयोग करने का साहस नहीं हुआ। लेकिन कम से कम १९३१ में उसने यह दिखा दिया कि वह उन्हें त्यागने के लिए भी प्रस्तुत नहीं है और चाहे हो या पसन्द यूरोप और अमरीका के बाद के वर्षों के इतिहास ने यह प्रकट कर दिया है कि उसका यह कदम पसन्द नहीं था। इस विकास-परम्परा के परिणामस्वरूप समाज का आर्थिक संगठन अत्यन्त मतभेद का केन्द्रबिन्दु बन गया है। इस केन्द्रबिन्दु पर ही संसदीय शासन का सम्पूर्ण भविष्य निर्भर है।

लेकिन इस घटना-परम्परा का सबसे अधिक विस्मयजनक प्रभाव पुराने दलों पर पड़ा है। इस प्रभाव को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि इसने समस्त प्रधान प्रयोजनों के लिए उनका ध्रुवीकरण आवश्यक कर दिया है। १९३१ में राष्ट्रीय सरकार का निर्माण ब्रिटिश राजनीतिक दलों के इतिहास में सचमुच एक परिवर्तनकारी बिन्दु था। उसके प्रधान मंत्री ने तो कहा था कि यह एक अस्थायी अभि-संधि है और केवल कुछ सप्ताह तक ही चलेगी लेकिन बाद में इसने स्थायी गठबंधन का रूप धारण कर लिया है। साझीदारों को एक दूसरे से भिन्न करने वाली कोई वस्तु नहीं है और उनकी एकता का वास्तविक आधार समाजवादी कार्यक्रम के परिणामों के विरुद्ध उनका सामान्य विरोध है। विरोधी दल के उदारवादी भी इस सम्बन्ध में उनके साथ शामिल हैं और वे मुक्त वाणिज्य को छोड़कर राष्ट्रीय सरकार का अन्य कोई सिद्धान्त अपने प्रतिकूल नहीं पाते। यदि हम यथार्थवादी दृष्टि से विचार

करें तो यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश मतदाता का वास्तविक चुनाव इस बात पर निर्भर है कि वह हमारे समाज के आर्थिक आधार के समाजवादी परिवर्तन के पक्ष में है या नहीं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह सर्वथा नूतन विचार नहीं है। यह तो बैजहॉट के विवेचन में और उसके निष्कर्षों पर लॉर्ड बल्फोर की टिप्पणी में निहित है। १९८९ से राज्य के ऊपर मुख्यतः एक ही दल का नियंत्रण रहा है। यह ठीक है कि यह दल दो पक्षों में बंटा रहा है। परिवर्तन की गति और परिवर्तन की क्रिया के सम्बन्ध में उसमें मतभेद रहा है, लेकिन परिवर्तन के आधारभूत सिद्धान्तों के ऊपर उसमें कभी कोई गम्भीर मतभेद नहीं रहा है। वह मताधिकार के विस्तार, धार्मिक सहिष्णुता मुक्त वाणिज्य अथवा संरक्षण की [सीमाओं सामाजिक विधानों के स्वरूप उपनिवेशों को दिए जाने वाले स्वशासन की मात्रा और वैदेशिक नीति के ब्यौरों के बारे में बिना किसी कटुता के विचार करने में समर्थ हुआ है। सच तो यह है कि उसके ये विवाद सर्वत्र ऐसे घरेलू विवाद रहे हैं जिनमें समझौते के लिए काफी गुंजायश रही है। हाँ आयरलैंड का प्रश्न इसका एक अपवाद था और यह महत्वपूर्ण है कि जब आयरलैंड की समस्या सुलझी स्वीकृत समाधान को शक्ति के द्वारा लागू किया गया था और वह दोनों पक्षों के बीच एक समझौते का परिणाम था। किसी भी बड़े प्रश्न पर दोनों पक्ष एक दूसरे से इतनी दूर कभी नहीं हटे हैं कि उनमें चरम असामंजस्य आ जाय। ऐसा न हो यह विश्वास रहा है कि साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व पर कभी उँगली नहीं उठाई जा सकती। वे व्यक्ति जिन्होंने इन पक्षों का आत्म-निर्णय किया था प्रायः एक ही सामाजिक वातावरण से आये थे वे एक सी ही भाषा बोलते थे उनका परिचय-मंडल एक सा ही था और उनके विचार भी एक से ही थे। वे एक ही तरीके से सोचते थे। एक पक्ष का सदस्य अपने सिद्धान्त के बिना किसी आधारभूत परिवर्तन के दूसरे पक्ष में सम्मिलित हो सकता था। डिज़रैली की भांति एक टोरी लोकतन्त्रवादी सामाजिक विधान के मामलों में ग्लैडस्टन जैसे उदारवादी और जॉन ब्राइट जैसे शांतिवादी से अधिक प्रगतिशील हो सकता था। लॉर्ड सैलिस जैसा अनुदार अभिजात वैदेशिक नीति के संबन्ध में भी लॉयड जार्ज जैसे क्रांतिकारी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक उदार विचार रख सकता था। सर हर्बर्ट सैमुअल जैसा उदारवादी भारतीय स्वशासन की समस्याओं के बारे में सर सैमुअल होर जैसे कट्टर टोरी के से विचार रख सकता था। लॉर्ड बाल्डविन जैसे अनुदारवादी के पूजी के उत्तरदायित्व के बारे में विस्काउन्ट रन्सिमैन जैसे उदारवादी व्यापारी की अपेक्षा कहीं ऊंचे विचार थे।

इसकी व्याख्या यही है कि वे उस ढांचे के बारे में जिसके अन्दर रहकर उन्हें काम करना था एकमत थे और वह समाज जिसका यह ढांचा अभिव्यक्ति था इतना समृद्धि और लचीला था कि मतभेदों के विवेचन के लिए काफी जगह छोड़ देता था और स्वीकार्य समझौते करता सकता था। स्वयं इस ढांचे के ऊपर डट कर कभी कोई विचार नहीं हुआ। गृह-युद्ध के समय से जबकि संसदीय शक्तियों की सफलता से उसकी रूपरेखा निश्चित कर दी थी उसके ऊपर कभी कोई उंगली नहीं उठी है। और कदाचित इसके विवेचन की कोई आवश्यकता भी नहीं थी। राष्ट्र का समग्र रूप से यह

विचार था कि उसमें भाग्य के साथ सीनेबाजी कर ली है। रॉबर्ट आवेन जैसे व्यक्ति या फेबियन सोसायटी जैसे छोटे-मोटे गुट यह अवश्य कर देते थे कि इस सीनेबाजी को दुबारा तय करना होगा। लेकिन उनके इस कहने का कोई लाभ नहीं था। यही कारण है कि इस सम्पूर्ण युग में चार्टिस्ट आर्नेल्ड विलियम मॉरिस और रस्किन जैसे सन्देहवादियों की बातों पर जनता ने कभी गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया। लोगों की दृष्टि में वे अव्यावहारिक थे कवि थे आलोचक थे पैगम्बर थे। उनकी भविष्य वाणियों को व्यावहारिक सफलताओं से झूठा सिद्ध किया जा सकता था। इंग्लैण्ड के शासकों को अपने दृष्टित्व की दृढ़ता में कभी कोई सन्देह नहीं हुआ। होता भी कैसे? सारा संसार तो उन्हें अपनी श्रद्धांजली भेंट करता था और उन्होंने अमरीका को छोड़ कर अपने प्रजाजनों के लिए अन्य किसी भी देश की अपेक्षा अधिक ऊँचे जीवन-स्तर का निर्माण किया था।

अब हालत बिल्कुल बदल गई है। अब विशेषता वाद-विवाद को सीमित नहीं रख सकती। अब वे उस ढाँचे का विवेचन करते हैं जिसे उन्होंने अपरिवर्तनीय मान रखा था विवाद है। अब उनके और उनके विरोधियों के बीच कुछ ऐसे मतभेद हैं जिन्हें पुरानी शर्तों अथवा पुराने ढंग से नहीं सुलझाया जा सकता। यही वह केन्द्रीय समस्या है जो दल-पद्धति के सम्मुख मुँह बाए खड़ी है। संविधान ने जिसके अंतर्गत दल-पद्धति कार्य करती है उसकी एकता की उन संस्थाओं के रूप में व्यक्त किया था जो उस एकता के अनुकूल थी। भाषण की स्वतन्त्रता समुदाय की स्वतन्त्रता तथा आश्वासन उस आत्म-विश्वास के परिणाम थे, जो कि एकता से उत्पन्न होता है। उनके बल रहने का रहस्य नहीं था कि वे केवल अपने मनोनुकूल विषयों पर विचार विनिमय करते थे। जिन विषयों को वे पसन्द नहीं करते थे उन पर विचार होने का प्रश्न ही नहीं उठता था। आयरिश जनता ने इसको समाप्त किया और पार्नेल की प्रतिभा ने बाधा डालने के एक ऐसे शस्त्र का आविष्कार किया जिसने कि आयरलैण्ड के अन्यायों के प्रति ब्रिटिश शासकों का ध्यान आकृष्ट करके ही छोड़ा। इसके बाद तरल के समय तक आयरलैण्ड के प्रति इंग्लैण्ड की नीति चाटुकारिता तथा दमन की रही थी। यह कहना अनुचित नहीं है कि श्रमिक दल के पुष्ट बल प्राप्त करने के पूर्व तक ब्रिटिश शासकों की मजदूरों की समस्याओं के प्रति भी बहुत कुछ यही नीति रही थी। लेकिन अब स्थिति में भी परिवर्तन हो गया है। उस परिवर्तन को ठीक से समझने के ऊपर ही संसदीय शासन का भविष्य निर्भर है।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि ये विशेषताएँ केवल इंग्लैण्ड तक ही सीमित नहीं हैं, ये तो सभी पूँजीवादी लोकतन्त्रों में दिखाई देती हैं। अमरीका में रिपब्लिकन और डैमोक्रेट दलों की दृढ़ता के मूल में यही शक्तियाँ काम कर रही हैं। कनाडा आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड इन सभी देशों में ये परिस्थितियाँ दृष्टिगत होती हैं। दक्षिण अफ्रीका में समझौते का प्रश्न अत्यन्त प्रत्यक्ष है जहाँ पर गोरे लोगों ने काले लोगों के विरुद्ध उनका सामूहिक शोषण करने के लिए अपनी शक्ति सुदृढ़ की है। यह भिन्न-भिन्न मात्राओं में फ्रांस हालैण्ड और बेल्जियम के बारे में भी सही है।

दल-पद्धति पूँजीवादी लोकतन्त्र को उसी समय तक चला सकती है जब तक कि जनता पूँजीवाद के परिणामों से संतुष्ट रहती है। उस समय वह लोकमत को कुछ इस प्रकार निर्देशित करती है कि पूँजीवाद की सुरक्षा को चोट पहुँचाने वाले कानूनों के बनने का प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन जब पूँजीवादी सफलता के घटते हुए क्षितिजों ने इस प्रकार की शंकाओं का उठना स्वाभाविक कर दिया है। फलतः एकता के एक नये आधार को प्राप्त करना संसदीय शासन के भावी जीवन की शर्त हो जाती है।

( २ )

इस अध्याय में मैंने आधुनिक राज्य में दलों के क्या कार्य होते हैं इसका संक्षिप्त विवेचन किया है। मैंने यह निवेदन किया है कि दलों के अस्तित्व के लिए कानूनी मान्यता की अनुपस्थिति का यह अभिप्राय नहीं हो जाता कि वे सरकार के प्रभावशाली अंग नहीं हैं। वैधानिक दृष्टि से मंत्रि-मंडल सम्राट् के मंत्रियों का केवल वह निकाय है जो संसद के सर्वेक्षण में रहकर प्रशासन का संचालन करता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि वे सम्राट् के मंत्री इसलिए हैं कि क्योंकि दल उन्हें कॉमन सभा में बहुमत देता है। इसके अतिरिक्त वैधानिक क्रांति को छोड़कर ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे कि वे अपने पदों पर स्थिर रह सकें। दल को संगठित कौन रखता है? कुछ तो संगठन का जोर और कुछ नेतृत्व की अनुयायियों को आकृष्ट करने की शक्ति। लेकिन दल के ऐक्य का मुख्य कारण यह है कि उसके सदस्य ऐसा कि बर्क ने कहा था "कुछ विशेष सिद्धान्तों की अभिवृद्धि का जिसके ऊपर कि वे एकमत होते हैं" प्रयास करते हैं। मैंने यहाँ यह निवेदन किया है कि मूलतः उन सिद्धान्तों का स्वरूप आर्थिक होता है। हो सकता है कि कभी-कभी यह स्वरूप समाज की जटिलताओं से धूमिल पड़ जाये। लेकिन दो बातों से यह पता चलता है कि वास्तव में आर्थिक आधार ही दल की रचना को निर्धारित करता है।

पहली बात तो यह है कि वे सभी राजनीतिक दल जो काफी लम्बे समय तक चलते हैं, आर्थिक असंतोषों में जन्म लेते हैं। यह इंगलैंड में व्हिग और टोरी दलों तथा अमरीका में रिपब्लिकन और डैमोक्रेट दलों के बारे में सही है। जहाँ इंगलैंड के श्रमिक दल या अमरीका के एग्रेरियन दल की तरह तीसरा दल उठ खड़ा होता है वहाँ भी यह सही है। वे दल जो धर्मों के आधार पर उठते हैं कठिनता से ही स्वयं को अधिक समय तक बनाए रख पाते हैं और यदि बनाए भी रखते हैं तो उन्हें किसी न किसी रूप में आर्थिक कार्यक्रम अवश्य अपनाना पड़ता है। यही नियम राष्ट्रवादी दलों उदाहरणार्थ इंगलैंड के आयरिश दल और बेल्जियम के फ्लेमिश दल के बारे में भी लागू होता है। यदि हम विश्लेषण करके देखें तो पता चलेगा कि राष्ट्रवादी दल राष्ट्रीय स्वतंत्रता की माँग इसीलिए करते हैं क्योंकि इसके अभाव में उन्हें आर्थिक अवसर नहीं मिल पाते। यही कारण है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रवाद की सबसे पहली अभिव्यक्ति संरक्षणात्मक आयात-शुल्क (protective tariff) के रूप में दिखाई देती है। गृह उत्पादक के लाभ के लिए गृह-बाजार कुछ इस ढंग

से प्राप्त करने की कोशिश की जाती है जिससे कि उपभोक्ताओं के हित काफी क्षीण हो जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह सब स्वाभाविक भी है। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति के लिए सबसे महत्वपूर्ण वस्तु वह रीति है जिसमें वह अपनी जीविका उपार्जित करता है। इसलिए जैसा कि मैडीसन ने कहा था यह आवश्यक ही है कि "हलचल का एकमात्र स्थायी स्रोत" सम्पत्ति हो। दल सम्पत्ति के सम्बन्ध में लोकमत को अपने सदस्यों की इच्छानुसार निर्मित करने का साधन है।

उक्त पद्धति में कुछ दुर्बलताएँ भी हैं जिनके ऊपर ओस्ट्रोगोर्स्की और माइकेल्स जैसे विद्वानों ने सुप्रसिद्ध पुस्तकें लिखी हैं। ओस्ट्रोगोर्स्की ने इंग्लैंड तथा अमेरिका के राजनीतिक दलों का व्यापक परीक्षण करने के उपरांत यह निष्कर्ष निकाला था कि उन बहुत सी प्रबल कुटिलताओं को रोकने का जिनके लिए राजनीतिक दल उत्तरदायी हैं एकमात्र उपाय राजनीतिक दलों का ही उन्मूलन है। ह्यूम की भांति उसका भी यह विचार था कि अपनी उत्पत्ति के समय अच्छे से अच्छा दल "राष्ट्र के विरुद्ध एक प्रकार का षड्यन्त्र होता है। लेकिन राजनीतिक दलों के स्थान पर वह केवल कुछ ऐसे ऐच्छिक संघों का ही सुझाव दे सका जो कि कुछ विशेष हितों की अभिवृद्धि के लिए निर्मित हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि उसकी योजना उस आवश्यक संगठन को नहीं बनाए रख सकती जो कि सरकार के लिये आवश्यक होता है। निर्वाचक-मंडल को यह जानने की आवश्यकता है कि उसका प्रत्याशी वैदेशिक नीति के बारे में क्या सोचता है और परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदेशिक नीति सम्बन्धी उसके विचार आर्थिक मामलों में कुछ इस तरह संबद्ध रहते हैं कि वे एक विशेष जीवन-दर्शन और जीवन-रीति का निर्माण कर डालते हैं।

वास्तविकता यह है कि आधुनिक राज्य में सम्मत शासन का एकमात्र विकल्प अधिनायकवाद है। शासन को नेताओं की आवश्यकता होती है और नेताओं को अपने पीछे असंगठित भीड़ की नहीं प्रत्युत सुसंगठित अनुयायियों की आवश्यकता होती है। प्रतिनिधिक शासन के लिए राजनीतिक दलों की अनिवार्यता बर्क के समय ही निश्चित हो गयी थी और उस समय के बाद से अब तक बर्क के तर्क का कोई उत्तर नहीं दिया जा सका है। सम्मत शासन की अपूर्णताओं का कारण यही है कि हम एक अपूर्ण संसार में रहते हैं। चूंकि हम पूर्णतः बौद्धिक प्राणी नहीं हैं, इसीलिए राजनीति दूसरे दर्जे के लोगों का दर्शन है। चूंकि दलों की हलचल के पीछे मनुष्य का सबसे शक्तिशाली हित उसका उन शर्तों पर जो अनुभव उसे ठीक बताये जीविका कमाने का हित छिपा हुआ है इसलिए दल अपने अपने पक्ष की विजय के लिये प्रत्येक सम्भव उपाय का प्रयोग करेंगे। राष्ट्रपति रूजवेल्ट के विरुद्ध कानाफूसी और गाली की तरह 'कैसर को फांसी दो' नारा भी तो विजय प्राप्त करने की बहुत ही सीधी-सादी पद्धतियाँ हैं। लेकिन जब निर्वाचन के परिणाम काफी दूरव्यापी और महत्वपूर्ण हों तब तो राजनीतिक दल विजय प्राप्त करने के लिए क्या न करें यही थोड़ा है। यह मान लेने पर कि मनुष्य एक कलहप्रिय प्राणी है विचार कठिन होता है विशेषकर एक विषम समाज में विरोधी महत्वाकांक्षाओं ईर्ष्या और भय का

धार रखता है इसके अतिरिक्त और आशा ही क्या की जा सकती थी ? वाशिंगटन की 'एक दल के ऊपर दूसरे दल की निरंकुशता' जिसने 'बहुत विकट असमतियों को उत्पन्न किया है और जो 'स्वयं ही एक भयंकर निरंकुशता है' उस निरंकुशता से फिर भी अच्छी है जो दल-पद्धति का पूर्णतया विनाश कर देती है। एक दल अधिक से अधिक मुख्य पद से हटाया जाता है लेकिन दूसरे का मूल्य जैसा कि हमने अपने समय में देखा है समाहार-शिविर, नेताओं की हत्या तथा शासन द्वारा संगठित हिंसा आदि है।

हमारे शासन में विवेक-शक्ति का अभाव पाया जाता है। ऑक्सेनस्टर्ना[1] का मोह मानव इतिहास में सदा ही देखने को मिलता है। हम इस बुराई को काफी हद तक दलों के संगठन द्वारा दूर कर सकते हैं। लेकिन यह तभी संभव है जबकि हमारा दल के संचालकों की सत्यनिष्ठा और न्यायनिष्ठा में विश्वास हो। लेकिन इन विशेषताओं की शर्त कठिन है। यों ग्लैडस्टन के अनुसार यह शर्त है कि राज्य के महान् दल सामयिक राजनीतिक मतभेदों को भूलकर पारस्परिक विश्वास के सूत्र में बंधे रहें।

लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से यह 'पारस्परिक विश्वास' सदैव इस तथ्य पर आधारित रहा है कि राजनीतिक दल मूलाधारों के ऊपर एकमत हों। बर्क के अनुसार ये मूलाधार मोटे तौर से प्राचीन परम्पराओं द्वारा निर्धारित होते हैं और इन पर स्थायी का सबसे बड़ा भाग जनसाधारण की सम्पत्ति विषयक धारणाएँ हैं। मेरे कहने का आशय यही है कि अनुदार दल तथा श्रमिक दल के सम्पत्ति विषयक दृष्टिकोणों की भिन्नता को देखते हुए हमें यह नहीं मालूम कि दल पद्धति का भविष्य क्या होगा। यहाँ हम एक ऐसे क्षेत्रमें प्रवेश करते हैं जहाँ कि विवेक कोई विशेष काम नहीं करता। अधिकांश लोगों का मत है कि ऐसी स्थिति में अनवरत संघर्ष उठ खड़ा होगा। इटली और जर्मनी में लोगोंने संपत्ति विषयक विधान के बनने के पूर्व ही वैधानिक लोकतन्त्र के सूत्र को स्थगित करना प्रारम्भ कर दिया था। जहाँ इस विषय पर विचार प्रारम्भ हुआ संपत्तिशाली वर्ग आतंकित हो उठा और उसने फासिस्ट राज्य की स्थापना कर डाली। आशावादियों का कहना है कि हमारी परम्पराएँ इतनी भिन्न हैं कि विदेशों के अनुभव हमारी समस्याओं से कोई विशेष संबंध नहीं रखते। मैंने इस अध्याय में उन कारणों का निर्देश कर दिया है जिनके फलस्वरूप इस आशावाद का आधार बिल्कुल शिथिल मालूम पड़ता है।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि दल के नेताओं का अधिकार बाद के समझौते के लिए कितने ही उत्सुक हों किन्तु अधिक नहीं चलता। उन्हें अपने अनुयायियों को समझाना पड़ता है, वे उन्हें विवश नहीं कर सकते। बजहॉट के अनुसार फल यह होता है कि दल का नेता सामान्य विचारों का एक असामान्य व्यक्ति बन जाता है।

---

१ आक्सेनस्टर्ना स्वीडन का एक महान् राजनीतिज्ञ था। उसका विचार था कि शासन करना एक अत्यन्त दुष्कर और हीन काम है।

उसके दल के मुख्य लोग उसके समर्थक होते हैं। पील और बैकिंघम के सम्मिलित प्रभाव ने टोरियों को कैथोलिक धर्म में सुधार करने के लिए विवश कर दिया था लेकिन जब पील ने कार्न लाज (Corn Laws) को रद्द करने की आवश्यकता स्वीकार की उसने अपने दल को भंग कर दिया। इसी प्रकार ग्लैडस्टन का अद्वितीय व्यक्तित्व सन् १८८७–८ के उदारवादियों को आयरिश होमरूल स्वीकार करने के लिए सुगमता से तैयार नहीं कर सका था। इसका मुख्य उन्हें यह देना पड़ा कि दल के अन्दर फूट पड़ गई और उनके प्राय तिहाई साथियों ने उनका साथ छोड़ दिया। श्री रैमजे मैकडोनल्ड १९३१ के आर्थिक संकट में सम्पूर्ण आर्थिक नीति के संबंध में अपने मंत्रि-मण्डल के साथ सहमत थे लेकिन उनके दल के प्रचण्ड बहुमत ने बेकारी के वेतन में दस प्रतिशत कमी करने के प्रश्न पर उनका साथ छोड़ दिया।

कहने का सार यह है कि दल के नेता को अपने दल से इतना बाँधे रखा हुआ नहीं होना चाहिए *कि जब वह दल की सामान्य नीति में कुछ परिवर्तन करे, तो दल के* सदस्य उसका अनुगमन न कर सकें। आज हमें जिस स्थिति का सामना करना पड़ रहा है उसमें अनुदार दल के नेता के सामने केवल दो ही विकल्प हैं और इन दोनों विकल्पों का एक दूसरे के साथ आसानी से मेल नहीं हो सकता। एक ओर तो उसे अपने अनुयायियों से यह कह देना है कि श्रमिक दल का आर्थिक कार्यक्रम राष्ट्र के लिए घातक होगा। यह भी कुछ ऐसा है कि उसके अनुयायी इसे तत्परता से स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर उसे उनसे यह कहना होगा कि यदि निर्वाचकों का बहुमत विनाश के कार्यक्रम को पसन्द करता है तो उन्हें उसकी स्वीकृति के लिए स्वयं को राजी कर लेना चाहिए। चाहे जिस दृष्टि से देखा जाय यह बहुत कठिन कार्य है। यह कार्य विशेष रूप से कठिन इसलिए है क्योंकि महाजन और व्यापारियों आदि को प्रभावित करने की उसकी शक्ति काफी हद तक सीमित है। ऐसे कितने अनुदारवादी महाजन हैं जो अंग्रेजी प्रतिभू को विदेशी प्रतिभू के रूप में बदलना इसलिए अस्वीकार कर देंगे क्योंकि उनके नेता ने उनसे कहा है कि नव-निर्वाचित श्रमिक सरकार को उस सरकार को जिसके लिए वह निर्वाचकों को कल यह चेतावनी दे रहा था कि उसकी विजय का अर्थ राष्ट्र की सुरक्षा को संकट में डालना है काम करने का पूरा अवसर मिलना चाहिए।

जहाँ संकट अनुदार दल के सामने है, प्रायः वही श्रमिक दल के सामने भी उपस्थित है। जब बहुमत के बिना उसकी सरकार बनी उसके अनुयायियों ने उसे पूँजीवाद की सीमाओं के भीतर रहते हुए अनिच्छापूर्वक विधान बनाने की अनुमति दी। लेकिन यदि किसी श्रमिक प्रधान मंत्री को बहुमत प्राप्त है तो उसे अपने सिद्धान्तों पर आचरण न करने की छूट न मिल सकेगी। दूसरी मैकडॉनल्ड सरकार ने इस प्रकार की शिथिलता दिखा कर स्वतन्त्र श्रमिक दल में फूट पैदा कर दी थी और मेरा विचार है कि यदि इस प्रयोग की पुनरावृत्ति हुई तो श्रमिक दल ऊपर से नीचे तक हिल जायगा तथा उसके अधिकांश सदस्य साम्यवादी हो जायेंगे। इसके फलस्वरूप हमारे देश में बहुत गम्भीर संकट उत्पन्न हो जायेगा। श्रमिक सरकार के विरोधी जिस सीमा तक संसद के भीतर और बाहर उसके कार्यक्रम में बाधा डालने का प्रयास

करने से उसी सीमा तक देश के अन्दर तनाव बढ़ता जायेगा। फलतः दोनों ही पक्षों का भ्रम बढ़ेगा और समझौते की सम्भावना कठिन हो जायेगी।

दल पद्धति की समस्याएं ऐसी हैं कि उनका सामना करने के लिए जिस कौशल की आवश्यकता है, वह मानव प्राणियों में कठिनता से ही उपलब्ध होता है। एक बार तो उसके लिए यह आवश्यक है कि अनुदार दल कुछ ऐसा दर्शन अपनाए—उसके नेताओं को कहना चाहिए यदि समाजवादियों को बहुमत मिल जाता है, तो वे देश का विनाश कर देंगे और हमसे आपका भी विनाश हो जायेगा। अतः हमें उनकी विजय को रोकने का यथासम्भव प्रयास करना चाहिए। लेकिन आपको याद रखना चाहिए कि यदि कहीं वे जीत जावें तो हमें ऐसा कोई काम न करना चाहिए जिससे कि उन्हें अपने कार्यक्रम पर शान्तिपूर्वक आचरण करने में कोई बाधा पहुंचे। देश की शान्ति आपकी सम्पत्ति से अधिक महत्वपूर्ण है। ब्रिटिश संविधान का मूलभूत सिद्धान्त ही यह है कि उस प्रत्येक सरकार को जिसे कॉमन-सभा का समर्थन प्राप्त है और जिसके पीछे निर्वाचकों की स्वीकृति है अपने कार्यक्रम पर आचरण करने का अधिकार है।"

स्पष्ट है कि अनुदारवादी नेताओं के लिए इस प्रकार की नीति अपनाना बड़े कौशल की बात होगी। हो सकता है कि इससे पूंजीवादी शासन के समर्थक यह मानने के लिए तय्यार हो जावें कि समाजवाद के परिणामों के सम्बन्ध में उनकी शंकाएं चाहे कितनी ठीक क्यों न हों निर्वाचन में पराजित होने पर उन्हें अपनी नीति पर आचरण करने का अधिकार नहीं है। इसका परिणाम यह भी हो सकता है कि पूंजीवादी शासन के समर्थक यह समझने लग जावें कि इस प्रकार के परामर्श का अर्थ यह है कि उनके नेताओं में पौरुष का अभाव है क्योंकि यदि उन्हें यह दृढ़ विश्वास है कि समाजवाद की विजय का अर्थ राष्ट्रीय विनाश है तो उन्हें अपनी पराजय चुपचाप नहीं सहनी चाहिए।

आइये हम इस स्थिति पर तनिक दूसरे पक्ष की दृष्टि से भी विचार करके देखें। क्या हम साधारण निर्वाचन में विजय के अवसर पर श्रमिक प्रधान मंत्री को अपने अनुयायियों से यह कहता हुआ पा सकते हैं, "हमने देश में समाजवाद के लिए बहुमत प्राप्त कर लिया है। हमारा विचार समाजवादी राज्य की बुनियादें डालना है क्योंकि जैसा कि हम काफी समय से कहते आ रहे हैं, पूंजीवाद के सड़े हुए ढांचे को और अधिक समय तक बनाए रखना असंभव है। लेकिन दुर्भाग्यवश हमारी विजय और उसके परिणामों ने दूसरे पक्ष में ऐसा आतंक उत्पन्न कर दिया है जिससे यह सन्देहास्पद हो गया है कि हम अपने कार्यक्रम को शान्तिपूर्ण रीति से क्रियान्वित कर सकें। हमें शान्ति को जो समाजवाद से अधिक महत्वपूर्ण है, खतरे में नहीं डालना चाहिए। ब्रिटिश संविधान उस समय तक नहीं चल सकता जब तक कि अल्पसंख्यक दल निर्वाचन के निर्णय को शिरोधार्य करने के लिए तत्पर न हो। स्पष्ट है कि वह इसे शिरोधार्य करने के लिए तय्यार नहीं है। इसलिए मैं और मेरे साथी शान्ति के हित में उन नीतियों पर आचरण करना जिनके लिए हमने वचन

दिया था और जिसके लिए कॉमन-सभा में हमें आवश्यक समर्थन प्राप्त है उस समय तक के लिए स्थगित करते हैं जब तक कि यह स्पष्ट न हो जाय कि उसके आचरण से कोई संघर्ष उत्पन्न नहीं होगा।"

इस प्रकार का दृष्टिकोण शासन का निषेध है। यों भला इस दृष्टिकोण को अप नायगा यह एक दिन भी टला नहीं रह सकता। लेकिन यह संभव नहीं है। श्रमिक दल का कोई भी व्यक्ति इस प्रकार का आश्वासन नहीं दे सकता। कम-से-कम वे लोग तो दे ही नहीं सकते जिनका यह विश्वास है कि समाजवाद का अर्थ विनाश है। दूसरी बात यह है कि यह घोषणा करना कि न इन्हीं शर्तों पर आचरण करके जान-बूझ कर एक ऐसी स्थिति को उत्पन्न करना है जिसमें कि समाजवाद का प्रयोग असम्भव हो जाये। इसका अर्थ समाजीकरण को रोकने के लिए प्रत्येक उद्योग को जिसे कि समाजीकृत करना है, काल्टेर बनाने के लिए आमन्त्रण देना है।

वास्तविकता यह है कि समाजवादी लोकतन्त्रात्मक दल होने के नाते जिन एकमात्र सम्भाव्य नीति को अपना सकते हैं वह शर्तों के बीच उस "पारस्परिक विश्वास" को मान लेना है जिसकी भी स्थैतन्त्य न शर्तों को की। जब तक यह है और कानून उन्हें समाजवादी विचारों के प्रचार के लिए अनुमति देता है उनका यह दायित्व है कि वे निर्वाचकों को उन सिद्धान्तों से अवगत करायें, जिनको सत्तारूढ़ होने पर कार्यान्वित करने का उनका विचार है। उनके विरोधियों का एक मात्र अधिकार मतदाताओं को यह विश्वास दिलाना है कि वे समाजवादी सिद्धान्तों को स्वीकार न करें। लेकिन यदि कई वर्षों के प्रचार के बाद जिसमें कि समाजवादी विजय के परिणामों का अच्छी तरह निरूपण कर दिया गया है समाजवाद की विजय हो और फिर उस पारस्परिक विश्वास को जिस पर हमारे संविधान का आचरण निर्भर है हटा लिया जाये तो हमारे संविधान में कोई सार नहीं रह जाता। इसका अभिप्राय तो यह हो गया कि केवल एक ही दल को संसदीय शासन के ध्येयों की व्याख्या करने का अधिकार है। निश्चितत: यह ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसे कि दूसरा दल स्वीकार कर ही लेगा। यदि उसने इसे स्वीकार कर लिया तो वह ऐसा करने पर दल नहीं रह जायेगा।

मैंने ऊपर जो कुछ कहा है उसका सारांश यही है और इसे मैं पहले भी कह चुका हूँ कि १८८९ के पश्चात् से हुए समस्त आधारभूत मामलों में केवल एक मात्र नीतिक दल के द्वारा ही शासित होते हैं। यह ठीक है कि इस दल ने दिखावे के लिए स्वयं को दो भागों में बाँट रखा है लेकिन अब तक तथ्य सदैव यह रहा है कि इन दोनों ही भागों में संसदीय शासन के ध्येयों की एक सी ही व्याख्या की है। ये ध्येय मोटे तौर पर यह कह कर वर्णित किए जा सकते हैं कि चाहे कोई भी सरकार सत्तारूढ़ हो उसे उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व के भीतर रहते हुए, जहाँ तक सम्भव हो निर्वाचकों की इच्छा को पूरा करने का प्रयास करना चाहिए। आगामी साधारण निर्वाचन में निर्वाचक ही इस बात के निर्णायक होते हैं कि उनकी इच्छा को कहाँ तक और किस रीति से पूरा किया गया है। आमतौर से अब बहुत

था कि हमारी पद्धति निर्वाचकों को देश का राजनीतिक प्रभु बना देती है उसका यही अभिप्राय था। मतदाता निश्चित करता है कि किस दल को सरकार का निर्माण करना चाहिए। और किस उद्देश्य से सरकार का निर्माण करना चाहिए। हमारे संविधान में ऐसे कोई स्पष्ट या गर्भित मूल अधिकार नहीं हैं जिन्हें कि संसद् स्वेच्छा से बदल सके। इस संबंध में संसद् की शक्ति के ऊपर कोई कानूनी या वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं है।

इससे कहा जाता है कि ऐसा करने के लिए सरकार के पास निर्वाचकों का 'आदेश' होना चाहिए, अथवा उसे अल्पसंख्यक वर्गों की भावनाओं को चोट नहीं पहुँचानी चाहिए अथवा उसे अपनी सत्ता का प्रयोग उस बुद्धिमानी और विवेक से करना चाहिए जिसके ऊपर कि सुशासन निर्भर होता है। इनमें से पहला तर्क दूसरों से बहुत भिन्न है और उसके किंचित् परीक्षण की आवश्यकता है। अपेक्षतया यह एक नया सिद्धान्त है और इसका प्रारम्भ राष्ट्रीय उदार संघ (National Liberal Federation) के १८९१ के न्यूकासिल कार्यक्रम से माना जाता है। इसका सार यह है कि कोई भी दल सरकार के रूप में संसद् के सामने ऐसा कानून नहीं रखेगा जिसके लिए कि वह पहले से घोषणा न कर दे कि उसका यदि उसमें हो सका तो उन्हें कार्यान्वित करने का इरादा है। स्पष्टतः आदेश के इस सिद्धान्त पर कई प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। चाहे कोई भी सरकार हो उसके शासन-काल में आकस्मिक आवश्यकताओं का खड़ा होना स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ देश के सम्मुख युद्ध का संकट उपस्थित होने पर सरकार निर्वाचकों से सलाह लिये बिना ही युद्ध न युद्ध करने के लिए विवश है। पुनश्च, १९१६ में संसद के जीवन को १९११ के संसद् अधिनियम द्वारा निर्धारित अवधि से अधिक समय के लिए बढ़ा दिया गया था। राष्ट्रीय सरकार के १९३१ के 'डाक्टर्स मेण्डेट' के बारे में भी यही कहा जा सकता है। उस अवसर पर यह प्रश्न कि क्या संरक्षण आयात शुल्क की पद्धति को अपनाएं, भविष्य के लिए छोड़ दिया गया था। निर्वाचन के कुछ महीने पश्चात् मंत्रि-मंडल की एक समिति ने जिसे मंत्रि-मंडल के बहुमत का समर्थन प्राप्त था लेकिन जिसका लार्ड स्नोडेन और उनके कुछ उदार साथियों ने उग्र विरोध किया था यह निर्णय किया कि आयात शुल्क वांछनीय है। इस निर्णय के लिए मंत्रि-मंडल का कोई सामूहिक उत्तरदायित्व नहीं था। स्पष्टतः, ऐसा सिद्धान्त जिसकी इतनी व्यापक व्याख्या हो सकती हो कोई गम्भीर प्रतिबन्ध नहीं है।

चाहे कुछ भी स्थिति हो आदेश का सिद्धान्त श्रमिक सरकार के ऊपर लागू नहीं होगा क्योंकि पीलिंग कानूनों का उसका कार्यक्रम तो पहले से ही देश के सामने है। यदि इस सिद्धान्त का यह अर्थ लिया जाये कि सरकार को बिना सारभूत बहुमत के कम से कम सम्पत्ति के सम्बन्ध में आधारभूत परिवर्तन नहीं करने चाहिएं, तो हम तीसरे प्रतिबन्ध पर आ जाते हैं। यह प्रतिबन्ध है सरकार को अपने बहुमत का प्रयोग 'बुद्धिमानी और विवेक' से करना चाहिए। स्पष्टतः, इससे कुछ ऐसे प्रश्न उठ खड़े होते हैं जिनका स्वरूप वैधानिक नहीं है। "सारभूत" बहुमत क्या है? क्या इसे विजित स्थानों या डाले गये मतों के अनुसार निश्चित किया जा सकता है? सरकार

तो जिस वस्तु की ओर ध्यान देगी वह यह है कि उसे कॉमन-सभा में कामचलाऊ बहुमत प्राप्त हो। उदाहरणार्थ १९२४ में अनुदारवादियों को कुल ४७ मत मिले थे, लेकिन कॉमन-सभा में उनका ६१५ में से ४१५ स्थानों पर अधिकार था। साधारण हड़ताल के पश्चात् अनुदार दल ने अपने बहुमत का प्रयोग १९२७ के श्रमिक-संघ विधि-संशोधन-अधिनियम (Trade Union Law Amendment Act of 1927) को पास करने में किया था। आपके सिद्धान्त के अनुसार उसे ऐसा करने का अधिकार नहीं था क्योंकि उस समय उप-निर्वाचनों के परिणाम १९२९ की श्रमिक विजय की भविष्यवाणी कर रहे थे। क्या यह "बुद्धिमानी और विवेक" के साथ बहुमत का प्रयोग था? १९१५ के कैबिनेट काल के ऊपर भी यही विचार लागू होते हैं, और लॉर्ड बैल्डविन ने यह अभी हाल में स्वीकार किया है कि १९३५ के साधारण निर्वाचन में उन्होंने पुनःशस्त्रीकरण के परिणाम के बारे में जिसका उन्होंने अपने मन में निश्चय कर लिया था निर्वाचकों को धोखा दिया था। क्या यह भी "बुद्धिमानी और विवेक" था?

सच तो यह है कि जब हम सरकार की किसी नीति का समर्थन करते हैं तब समझते हैं कि उसने बुद्धिमानी और विवेक से काम लिया है। जब तक सरकार अपना बहुमत बनाए रखती है तब तक आगामी साधारण निर्वाचनों में मतदाताओं के निर्णय के अतिरिक्त उसके कृत्य की वैधता को परखने की कोई वैधानिक कसौटी नहीं है। इस तर्क के विकल्प दो हो सकते हैं। या तो यह हो सकता है कि जब जनता सरकार की किसी नीति से इतना रुष्ट हो जाये तो, वह उसके विरुद्ध कार्यवाही कर सकती है। लेकिन यह एक अवैधानिक उपचार है और लोक-पद्धति की परम्पराओं से मेल नहीं खाता। या यह हो सकता है कि सम्राट् एक विशेष अर्थ में संविधान का अभिरक्षक है और यदि वह यह समझे कि सरकार को देश का विश्वास प्राप्त नहीं है तो वह उसे अपदस्थ कर सकता है चाहे उसे कॉमन-सभा में बहुमत क्यों न प्राप्त हो। मैं इस दृष्टिकोण के निष्कर्षों पर बाद में गम्भीरता से विचार करूँगा। यहाँ शायद यह कहना काफी होगा कि ऐसी स्थिति में सम्राट् का निर्णय वैध नहीं होगा और इस हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप ऐसा उग्र राजनीतिक वाद-विवाद उठ खड़ा हो सकता है जो कि संभवतः राजतंत्र को ही ले डूबे।

यह तर्क कि सरकार को अल्पसंख्यक वर्ग की भावनाओं को चोट नहीं पहुँचानी

पर निर्भर है कि उसके पास वालों के मन में क्या है। यदि वे उसे रोचक मान सके हैं तो यह ध्रुव सत्य है कि संसदीय शासन की समस्त परम्पराएं छिन्न-भिन्न हो जायेंगी। लेकिन मेरा विचार है कि किसी सरकार के लिए ऐसे विधान को पुरोस्थापित न करने का जिसके लिए वह वचन-बद्ध है और जिसको पुरास्थापित करने का अधिकार पाने के लिए उसने विरोधी दल के रूप में वर्षों तक संघर्ष किया है इस आधार पर कि इस स्थिति में दूसरा दल दल-पद्धति के पारस्परिक विश्वास को स्थगित मानकर निश्चय करना सम्भव नहीं है। इसका तात्पर्य तो यह हो गया कि चाहे बहुमत हो या न हो समाजवादी विरोधी दल को सदन सत्तारूढ़ बने रहने का अधिकार है। निश्चितन, राजनैतिक लोकतन्त्र में इस प्रकार का विचार वाञ्छनीय नहीं है।

लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि यह विचार जीवित है और चूंकि यह विचार जीवित है, अतः मेरा यह कथन सत्य प्रमाणित होता है कि हमारे संविधान के अभिसमय दुर्बल वस्तुएं हैं और उन्हें बनाये रखना काफी कठिन है। दल-पद्धति की महान सफलता यह थी कि उसने इन्हें कुछ अवसरों को छोड़ कर दो सौ पचास वर्षों तक जीवित रख लिया। इसकी इस सफलता का कारण यह था कि जिन प्रश्नों पर यह बंटा उनमें आर्थिक रचना के प्रश्नों का सूक्ष्म विवेचन सम्मिलित नहीं था। अब परिस्थितियां ऐसी आ गई हैं कि इन प्रश्नों को नहीं टाला जा सकता। परिस्थितियों ने हमें समाज की बुनियादों के सामने ला खड़ा किया है और अब हम यह निर्णय कि उसका भावी स्वरूप क्या हो नहीं टाल सकते। वे युग जिनमें ऐसे निर्णय किये जाते हैं सदैव तनाव के युग हुआ करते हैं। यह देखना सचमुच बड़ा रोचक होगा कि क्या यह शांति जो दल-पद्धति ने हमें दी है उन अनुभवों के बाद भी बनी रहती है जिनका उसे आगामी पीढ़ी में निश्चितः सामना करना है।

अध्याय ३

# लॉर्ड सभा

## ( १ )

प्रायः पिछले चालीस वर्षों से लार्ड-सभा को सुधारने के निरन्तर ही प्रयत्न होते रहे हैं। इससे ज्ञात होता है कि इसका हमारी वैधानिक पद्धति में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है एवं साथ ही इसके अस्तित्व मात्र से कितनी जटिल समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। यह प्रायः सर्वत्र स्वीकार कर लिया गया है कि राजनीतिक लोकतंत्र में द्वितीय सदन के रूप में यह एक ऐसी असंगति है जिसको कदापि उचित नहीं ठहराया जा सकता। सात सौ पचास पीयरों का यह निकाय जिसके समस्त सदस्य बिशपों और लार्डों को छोड़कर आनुवंशिक हों तथा जो अपने अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति उत्तरदायी न हो, किसी अभिलषित विधान के अधिनियम को दो वर्षों तक रोके रखने की शक्ति रखता हो, यह एक विचित्र बात है। यह जीवित केवल इसलिए बना रहा है क्योंकि पिछली पीढ़ी के प्रत्येक संघर्ष में उससे लड़ने के स्थान पर सुधार का अधिक यत्न किया है और अब तक राजनीतिक दल उन सिद्धान्तों पर एकमत नहीं हो सके हैं जिनके आधार पर कि इसका सुधार किया जा सके।

लार्ड-सभा के स्वरूप को समझने के लिए उसकी वर्तमान विशेषताओं को समझना आवश्यक है। अब यह पूर्णरूप से प्राचीन ज़मींदारों के प्रतिनिधियों का जिन्हें हमारे समाज का नैसर्गिक नेता समझा जाता है और जो अपने विशेषाधिकारों के बदले में महान् सार्वजनिक सेवाएँ करते हैं, एक छोटा-सा निकाय नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सेसिल्स और स्टेनलीज जैसे कुछ परिवार अब भी ऐसे हैं जिन्होंने पिछली एक शताब्दी के राष्ट्र के राजनीतिक जीवन में प्रशंसनीय और महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। लेकिन लार्ड-सभा के आधे सदस्य सौ पचास वर्ष पुराने हैं और हाल में बनाए गए सदस्यों में से अधिकांश को केवल धन के कारण यह गौरव मिला है। अपने प्रधान मंत्रित्व के आठ वर्षों में श्री एस्क्विथ ने १ ८ पीयरों का और श्री लायड जार्ज ने छः वर्षों में ११५ पीयरों का निर्माण किया। जिन लोगों को लार्ड-सभा का सदस्य बनाया जाता है, उनमें से अधिकतर व्यक्ति मोटरकारों के व्यापारी, समाचारपत्रों के स्वामी, उद्योगपति, व्यवसायी, बैंकर्स, दलत्यागी राजनेता, अवकाश प्राप्त सैनिक और नाविक, प्रसिद्ध वैज्ञानिक, चिकित्सक, विधिक सर्वेक्षक और राजदूत ही मुख्य रूप से होते हैं। यह ऐसा निकाय हो गया है जिसमें उन व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता है जिनका यश या धन इतना अधिक हो कि उनको नाइटहुड की उपाधि प्रदान करना अपर्याप्त मालूम पड़ता हो।

श्री रैमजे म्योर के शब्दों में लार्ड-सभा 'धन का सामान्य घर' भी बन गई है। पब्लिक कम्पनियों के निर्देशकों को कामन-सभा की अपेक्षा लार्ड-सभा में अधिक स्थान प्राप्त है।

इंगलैंड में पहले लार्ड-सभा की सदस्यता प्रदान करते समय उद्योगपतियों को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। लेकिन १८७ और विशेषकर १९ के पश्चात् यह भावना बड़ी तेजी से समाप्त हो गई है। अब देश में ऐसा कोई बड़ा राष्ट्रीय उद्योग नहीं है जिसके पूंजीवादी नेताओं को लार्ड-सभा में उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त न हो। उन्हें मंत्रिमंडल में भी प्रतिनिधित्व प्राप्त है क्योंकि कानून के अनुसार यह आवश्यक है कि राज्य के दो मंत्री उच्च सदन के सदस्य हों और १६८८ की क्रांति के पश्चात् यह एक अटूट परम्परा रही है कि लार्ड चांसलर को पीयरेज प्रदान की जाय। लार्ड सैलिसबरी के समय से कोई भी प्रधान मंत्री अपनी पदावधि में लार्ड-सभा का सदस्य नहीं रहा है और जार्ज पंचम् का लार्ड कर्जन के स्थान पर मी बैल्डविन को प्रधान मंत्री-पद के लिए इस आधार पर चुनना (कहते हैं कि उन्होंने यह चुनाव समस्त जीवित भूतपूर्व प्रधान मंत्रियों के परामर्श पर किया था) कि यह नितान्त आवश्यक है कि प्रधान-मंत्री कामन सभा का सदस्य हो यह स्पष्ट कर देता है कि वह भविष्य में उच्च सदन के सदस्यों में से कभी नहीं चुना जायगा।

यद्यपि लार्ड-सभा की सदस्य-संख्या तो ७५ है लेकिन यह व्यवहार में बिल्कुल भिन्न निकाय है। उसकी सामान्य उपस्थिति-संख्या १५ है और १९११ के पश्चात् से ऐसे केवल १५ अवसर ही उपस्थित हुए हैं जब कि किसी वाद-विवाद में २ से अधिक सदस्य मौजूद रहे हों। इसी अवधि में मत-विभाजन के अवसरों पर लार्ड-सभा की सदस्य संख्या १ से कम रही है और उन पीयरों की संख्या जो वर्ष में औसतन एक बार से अधिक भाषण देते हैं ९८ है। सदन के प्राय: आधे सदस्यों ने कभी भाषण ही नहीं दिए हैं और (अवयस्कों को छोड़कर) १ से अधिक पीयर ऐसे हैं जिन्होंने अभी तक शपथ ग्रहण न करने के कारण उसकी कार्यवाहियों में कोई भाग नहीं लिया है। हम सामान्य पुस्तकों से यह नहीं जान पाते कि इन सदस्यों का किस दल से संबंध है। लेकिन ऐसा मालूम पड़ता है कि बारह पीयर तो श्रमिक दल के हैं प्राय: अस्सी उदार दल की दो शाखाओं के हैं तीन या चार जो कि ऐसे हैं मैकडानल्ड के राष्ट्रीय श्रमिक दल के हैं तथा शेष की या तो कोई राजनीतिक निष्ठा नहीं है या वे अनुदार दल के सदस्य हैं। मैं यह पता लगाने में समर्थ हुआ हूं कि प्राय: चार सौ सदस्य ऐसे हैं जो स्वयं को अनुदारवादी घोषित करते हैं।

इसलिए सामान्य प्रयोजनों के लिए लार्ड-सभा की सदस्य-संख्या पचास से भी कम रहती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस छोटी सदस्य-संख्या के कारण शांतिपूर्ण कार्यों में यह बड़ी गुणवान सिद्ध होती है। इसके प्रमुख वाद-विवादों का संचालन अनुभवी और वयोवृद्ध राजनेता करते हैं। इन वाद-विवादों में कभी कभी कुछ प्रतिनिधि धर्माधिकारी और प्रसिद्ध ला-लार्ड (Law Lords) भी योग देते रहे हैं। यह आराम से धीरे धीरे काम करने वाला सदन है। कामन-सभा इस के पास जो विधेयक भेजती है उनका यह फुरसत से निपुणतापूर्वक परीक्षण कर सकता है। यह उन बड़े सार्वजनिक प्रश्नों को भी जिन्हें कि तत्कालीन सरकार विचार के लिए उचित नहीं समझती उठा सकता है। इस दृष्टि से यह एक ऐसे साधन का काम करता है जिसके द्वारा लोकमत का निर्माण किया जा सकता है। उदाहरणार्थ महायुद्ध के बीच में लार्ड लान्स या लार्ड लोरेबर्न जब कभी कोई भाषण देते

में तो उससे जनता को बड़ा उत्साह मिलता था। इसके अतिरिक्त लार्ड-सभा व्यक्तिगत विधेयकों (Private Bills) के परीक्षण में प्रशंसनीय कार्य करती है।

यदि किसी लोकतंत्रात्मक राज्य में द्वितीय सदन की आवश्यकता हो तो लार्ड-सभा जब कि अनुदार दल सत्तारूढ़ हो शायद संसार का सर्वश्रेष्ठ द्वितीय सदन है। उसके वाद-विवादों का स्तर ऊंचा होता है उसे ऐसे किन्हीं उत्तमभावात्मक प्रश्नों पर विचार नहीं करना पड़ता जिनका उद्देश्य निर्वाचकों को प्रभावित करना हो। उसके पास ऐसे समस्त प्रश्नों पर विचार करने का समय रहता है जिनके लिये गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता होती है और जिन पर विचार करने का अत्यधिक व्यस्त कामन-सभा के पास समय नहीं होता। लार्ड-सभा वास्तविक समस्याओं को उन राजनीतिक वाद-विवादों के उन्हीं अंगों में चला करती है जबकि कोई प्रगतिशील सरकार सत्तारूढ़ हो। ऐसे ही अवसरों पर "धन के सामान्य सदन" के रूप में उसका स्वरूप स्पष्ट रूप से सामने आता है। यह अनुदार दल की सुरक्षित शक्ति बन जाती है और जहां तक उसका वश चलता है यह निर्वाचन में प्रगतिशील दल की विजय के परिणामों को दुरुस्त करने की चेष्टा करती है। १९११ के संसदीय अधिनियम ने उसकी इस शक्ति के ऊपर जो प्रतिबन्ध लगा दिया है उसके बावजूद भी उसका प्रभाव बना हुआ है। अब यह किसी वित्तीय विधेयक को अस्वीकृत नहीं कर सकती और अब वित्तीय विधेयक की कानूनी परिभाषा यह है कि जिस विधेयक को कामन-सभा का स्पीकर वित्तीय विधेयक कह दे वही वित्तीय विधेयक है। लेकिन यह अन्य विधेयकों को संशोधित या अस्वीकृत कर सकती है और वे सविधि-पुस्तक तक तभी पहुंच सकते हैं जबकि सरकार उन्हें कम से कम दो वर्षों के भीतर तीन पृथक सत्रों में पास कर दे।

यह सही है कि संसदीय अधिनियम ने राज्य में लार्ड-सभा की स्थिति को निश्चितरूप सीमित कर दिया है। अब यह वित्तीय मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकती और दूसरे मामलों में जब तक तत्कालीन सरकार के पास बहुमत है और उस विधान को जिस पर लार्ड आपत्ति करते हैं पास करने का संकल्प है लार्ड-सभा केवल संशोधन या विलम्ब करने की ही चेष्टा कर सकती है। लेकिन सामाजिक कारणों के लिये यह जैसी ऊपर देखने में मालूम पड़ती है उससे कहीं अधिक बड़ी शक्ति है। पहली बात तो यह है कि लार्ड अस्वीकृति की अपनी शक्ति का बड़े विषम ढंग से प्रयोग करते हैं। जब अनुदार दल की सरकार सत्तारूढ़ होती है तब तो वे उसका प्रयोग नहीं करते लेकिन जब उदार दल या श्रमिक दल की सरकार बनती है तब वे उसका प्रयोग करते हैं। दूसरे इसका अभिप्राय यह हुआ कि लार्ड अपनी इच्छा से समाजवादी सरकार के विधान को दो वर्षों तक तो रोके ही रख सकते हैं और वे इस तरह कामन-सभा का बहुत सा समय उस विधान पर केवल इस कारण नष्ट कर सकते हैं कि उससे उन्हें कुछ भय है। लार्ड सेल्सबरी के अनुसार यह तथ्य कि वह अपनी शक्ति का प्रयोग करते समय विवाद के सर्वश्रेष्ठ आधार को चुनने में सजग रहती है स्थिति को और विषम बना देता है क्योंकि इसका अभिप्राय यह है कि लार्ड-सभा अपने ऐसे निर्णय करते समय केवल आगामी साधारण निर्वाचन के ऊपर पड़नेवाले सम्भाव्य परिणाम का ही विचार करती है। फलस्वरूप जैसे सरकार अपनी

पदावधि के अंतिम वर्षों में पदार्पण करती है विलम्ब करने की शक्ति का अब अनिश्चित काल के लिए स्थगित करने की शक्ति हो जाता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि कामन-सभा ने अपने चौथे वर्ष में मद्य-वाणिज्य के राष्ट्रीयकरण के लिए एक कानून पास किया और जिसे लार्ड-सभा ने अस्वीकार कर दिया। यदि आगामी साधारण निर्वाचनों में सरकार पराजित हो गई तो उसका अर्थ यह होगा कि विधेयक दो वर्षों के लिए स्थगित नहीं होगा प्रत्युत उस समय तक के लिए स्थगित हो जायगा जब तक कि श्रमिक दल को दुबारा अपनी सरकार बनाने का अवसर न मिले। विलम्ब करने की शक्ति इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसका प्रयोग ऐसे संकटकालीन अवसर पर हो सकता है जब कि वह सरकार, जिसकी लार्ड-सभा विरोधी हो आपात-शक्तियाँ पाना चाहती हो। ऐसी स्थिति में पीयरों के दुराग्रह के दो परिणाम होते हैं। या तो सरकार को द्वितीय सदन में विरोधी दल को पराजित करने के लिए यथायुक्त समाजवादी पीयरों का निर्माण करना पड़ता है या यदि कहीं सम्राट ने उसके पीयरों के बनाने के अधिकार को अस्वीकार कर दिया तो वह सम्राट को कामन-सभा भंग करने का परामर्श देती है।

यह कहा जाता है कि विलम्ब करने की शक्ति इसलिये ठीक है क्योंकि महान् परिवर्तन उस समय तक नहीं करने चाहिये जब तक यह निश्चित न हो जाय कि देश उन्हें वस्तुतः चाहता है। लार्ड-सभा इस बात का आश्वासन देती है कि निर्वाचकों की स्पष्ट इच्छा को ही विधान का रूप दिया जायगा। लेकिन इस सम्बन्ध में दो बातें कही जा सकती हैं। पहली बात तो यह है कि लार्ड-सभा यह आश्वासन उस समय देती है जब कि अनुदार दल सत्तारूढ़ न हो। जब अनुदार दल की सरकार होती है वह बड़े बड़े परिवर्तन बिना किसी विलम्ब के पास होने देती है। दूसरे, कोई भी व्यक्ति ब्रिटिश विधान के गत सौ वर्षों के इतिहास को देखकर यह नहीं कह सकता कि महान परिवर्तन बड़ी जल्दी में किये गए हैं। राजनीतिक मताधिकार को विस्तृत करने की प्रक्रिया १८३२ से १९२८ तक चलती रही। राष्ट्रीय प्रारम्भिक शिक्षा की स्थापना में १८३३ से १८७० तक का समय लग गया। इसी प्रकार राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा की स्थापना का कार्य १९०२ में प्रारम्भ हुआ था जो १९०७ और १९१६ में बढ़ा और अभी अपूर्ण है। आयरलैंड के होमरूल के प्रश्न पर १८६५ से १८८६ तक समय समय पर बराबर वाद विवाद होता रहा उस उस वर्ष तथा दुबारा १८९३ में एक विधेयक का रूप दिया गया अधूरे कानूनों की एक पूरी शाखा के पश्चात् होमरूल विधेयक १९१२ में पुनः पुरःस्थापित किया गया और वह १९१४ के संसदीय अधिनियम के अन्तर्गत संविधि-पुस्तक तक पहुँचा। नियुक्तकों की जवाबदेही का प्रश्न प्रीस्टली बनाम फाउलर ( Priestly Vs Fowler ) के द्वारा १८३७ में उठा था लेकिन वह एक कानूनी सिद्धान्त के रूप में १८८० तक स्थापित नहीं हुआ था। विवाह-विच्छेद विधियों के सुधार पर मन्त्रणा देने के लिए जब एक राजकीय आयोग की नियुक्ति हुई तो उसने एक लम्बा प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस आयोग ने १९१२ में जिन सिफारिशों को किया था उनमें से अधिकांश को १९३७ में ही कानून का रूप दिया जा सका था। स्वयं संसदीय अधिनियम की प्रस्तावना में यह कहा गया है कि लार्ड-सभा के सुधार

का प्रश्न एक ऐसा आवश्यक प्रश्न है जिसे और अधिक समय तक नहीं टालना चाहिए। यद्यपि संसदीय अधिनियम को पास हुए चौथाई शताब्दी बीत चुकी है लेकिन इस संबंध में कोई भी विधायक समिति-सुझाव तक नहीं पहुंच सका है। औसतन हमारे देश में राजकीय आयोग के सर्वसम्मत प्रतिवेदन की सिफारिशों को कानूनी रूप धारण करने में उन्नीस वर्ष लग जाते हैं और यदि आयोग की राय बंटी रहती है तो औसतन इसकी कुछ सिफारिशों को कानूनी रूप धारण करने में प्रायः तीस वर्ष लग जाते हैं। यदि हम श्रमिक सरकार के १९१८ के प्रसिद्ध कार्यक्रम को वह तिथि मान जबकि उसने समाजवाद के प्रश्न को स्पष्ट रूप से निर्वाचकों के सामने रखा था, उस समय से अब तक बीस वर्ष से अधिक व्यतीत हो चुके हैं जबकि उसके सिद्धान्तों को कानूनी रूप देने की सम्भावना दिखाई देती है। इन उदाहरणों में प्रत्येक में तथा ऐसे सैकड़ों उदाहरण और दिए जा सकते हैं मैं यही समझता कि यह बात गम्भीरतापूर्वक कही जा सकती है कि इस देश में राजनीतिक दल बिना काफी सोच-विचार के ही जल्द जल्द परिवर्तनों के लिये उतावले हो जाते हैं।

स्पष्ट यह तर्क कि लार्ड-सभा का जल्दबाजी को रोकने का कार्य वांछनीय है दो कारणों से निस्सार प्रतीत होता है। यह इसलिए निस्सार प्रतीत होता है क्योंकि निवारण केवल एक ही दल के लिए प्रयुक्त होता है। दूसरे इस स्थिति में "जल्दबाजी" के तर्क का वास्तविक अभिप्राय यह है कि लार्ड-सभा किसी विशेष कानून को अस्वीकृत करके कॉमन-सभा में अनुदार दल की सहायता करती है जिससे कि वह प्रगतिशील सरकार के काम में अपने दलगत-विरोधी भाव से अधिक जोरदार ढंग से बाधा डाल सकती है। कॉमन-सभा में तो यह दलगत विरोध ठीक है क्योंकि अनुदार सदस्य निर्वाचकों के द्वारा वहां इसीलिए भेजे गए हैं। लार्ड-सभा में इस प्रकार का विरोध ठीक नहीं है क्योंकि उसका आधार यह है कि अनुदार दल सदैव ही उस विधान को रोक सकता है जिसे कि वह अपने विरोधियों को अधिनियमित करने की अनुमति दे। लार्ड-सभा के कार्यों के मूल में "आदेश" का कोई भी सिद्धान्त निहित नहीं है। १९११ के संसदीय अधिनियम की आवश्यकता को अभी हाल के एक साधारण निर्वाचन में अभिपुष्ट किया था लेकिन लार्ड इसे पास करने के लिये बड़ी कठिनता से नए पीयरों के सृजन की धमकी के बाद राजी हुए थे। १९२७ के श्रमिक संघ विधि-संशोधन अधिनियम के लिए अनुदार सरकार के पास जनता का कोई आदेश नहीं था, श्रमिक दल ने उसका घोर विरोध किया था लेकिन लार्ड-सभा ने ऐसे विधेयक में जिसे कामन-सभा के वाद-विवाद में टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया था जल्दबाजी की कोई झलक नहीं देखी और उसे बिना कठिनता के पास कर दिया। स्पष्ट है कि विलम्ब करने की यह शक्ति, जो केवल एक दिशा के विधान के विरुद्ध ही प्रतिबन्ध के रूप में प्रयुक्त होती है, श्रमिक सरकार को भविष्य में इतनी ही असह्य सिद्ध होगी जितनी कि वह १९०६ और १९१४ के बीच उदार सरकार को असह्य मालूम पड़ी थी।

( २ )

वास्तविकता यह है कि अब इस स्थिति को स्वीकार कर लिया गया है और कोई भी व्यक्ति उच्च सदन के वर्तमान संगठन का समर्थन नहीं करता। आम तर्क या तो कोई

द्वितीय सदन नहीं चाहता और यदि चाहता है तो वह द्वितीय सदन नार्वे के द्वितीय सदन की तरह सीमिततम अर्थों में दुहरानेवाला निकाय-मात्र होना चाहिए। दक्षिण-पक्ष एक वास्तविक द्वितीय सदन ऐसा पुनर्गठित द्वितीय सदन चाहता है जिसके पास कि दक्षिण वर्ग के मतप्रस्तावों को यदि उनकी कभी सरकार बन ना विलम्ब करने की आवश्यक शक्ति हो। लॉर्ड-सैलिसबरी ने १९३२ में लार्ड-सभा के सुधार के जो सुझाव दिये थे उनमें उन्होंने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था। उनका कहना था कि इस बात का खतरा है कि एक दिन समाजवादी सरकार बन जाये समाजवाद को मानकर समझने के इसलिए उनकी इच्छा थी कि द्वितीय सदन का इतना शक्तिशाली होना चाहिए कि वह समाजवाद के आगमन को जितना अधिक समय तक हो रोक सके।

उनके सुझाव स्वीकार नहीं हुए। इस समय सब इस बात पर एकमत है कि लॉर्ड सभा की रचना और शक्तियों के सम्बन्ध में जो भी सुधार हो, उसे सामान्य स्वीकृति मिलनी चाहिए। इस प्रकार के सुझाव अब तक नहीं आ सके हैं लेकिन लार्ड सैलिसबरी के सुझावों के पीछे क्या रहस्य है उसे समझने के लिए इन सुझावों के सिद्धान्त को समझना उचित होगा। लॉर्ड सैलिसबरी ने करीब तीन सौ सदस्यों के एक सदन की कल्पना की थी। इनमें से आधे सदस्य तो आनुवंशिक पीयरों द्वारा बारह वर्षों के लिए निर्वाचित होने चाहिये और शेष आधे सदस्य इसी अवधि के लिए सरकार द्वारा मनोनीत होने चाहियें। सदन की शक्तियाँ यथापूर्व रहनी चाहियें। हाँ उनमें इतना अन्तर अवश्य हो कि वित्तीय विधेयक की परिभाषा स्पीकर के हाथों में न रह अपितु उसकी अध्यक्षता में स्थापित दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति के हाथों में रहे। आगाम में आनुवंशिक निर्वाचकों की स्थिति का रोकने के लिये सम्राट का परमाधिकार इस प्रकार मर्यादित होना चाहिये कि एक वर्ष में बारह से अधिक पीयर न बनाये जा सकें तथा संसदीय अधिनियम के उपबन्ध नए द्वितीय सदन के ऊपर लागू न हों। यह सुधार तभी संभव हो सकता था जबकि लॉर्ड-सभा इस पर स्वयं सहमत हो।

स्पष्ट है कि यदि इस योजना के अनुसार लार्ड-सभा का सर्वप्रथम संगठन अनुदार दल की सरकार द्वारा हो तो उसमें अनुदार सदस्यों का प्रबल बहुमत रहेगा। अधिक-से-अधिक आनुवंशिक वर्ग द्वारा निर्वाचित केवल बारह पीयर ही श्रमिक दल के सदस्य होंगे। इस सन्तुलन का ठीक करने का इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं हो सकता कि प्रायः सभी मनोनीत सदस्य श्रमिक दल का प्रतिनिधित्व करते हों। पीयर बनाने के सम्राट के अधिकार को सीमित करने का अर्थ सामान्यतः यह होगा कि प्रायः एक पीढ़ी के बाद आनुवंशिक निर्वाचकों का बहुमत श्रमिक दल से सहानुभूति रखनेवाला हो सकेगा (इसका अभिप्राय यह है कि उस पीढ़ी में श्रमिक दल निरन्तर सत्तारूढ़ बना रहे) लेकिन इसके साथ यह भी आवश्यक शर्त जुड़ी हुई है कि श्रमिक सरकार द्वारा बनाये गए समस्त पीयरों के पुत्र भी अपने पिताओं की विचारधारा को स्वीकार करें। इस योजना का एक उपबन्ध यह है कि वित्तीय विधेयक की परिभाषा स्पीकर जैसे एक तटस्थ व्यक्ति के हाथों में न रखकर विशुद्ध दलगत आधारों पर चुनी गई एक ऐसी समिति के हाथों में रक्खी जाये जिसमें अनुदार दल का बहुमत अवश्यम्भावी है।

यह स्वाभाविक ही है कि इन सुझावों को अस्वीकृत कर दिया गया। इनका अनुदार दल की ओर से स्वयं लार्ड सैलिसबरी के अपने साथियों ने ही कट्टर विरोध किया था। उनका उद्देश्य स्पष्ट रूप से अनुदार दल का परोक्ष उपायों द्वारा सदैव सत्तारूढ़ रखना था। अनुदार दल लार्ड-सभा के सुधार की जो भी योजनायें उपस्थित करता है उनका उद्देश्य यही है। यदि लार्ड-सभा के समस्त सदस्य मनोनीत हों जीवन भर के लिये या कुछ वर्षों के लिए तो निश्चित रूप से यह या कम से कम उसका बहुमत अनुदारदलीय होगा। अवकाशप्राप्त न्यायिकों और नाविकों भूतपूर्व सिविल सर्वेन्ट्स राजदूतों और प्रशासकों ब्रिटिश उद्योग-संघ के अध्यक्षों और ब्रिटिश अकादमी तथा रॉयल सोसायटी के अध्यक्षों के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वे समाजवादी विचारों के होंगे। यह ठीक है कि यह कुछ श्रमिक संघ के अधिकारियों भूतपूर्व श्रमिक मंत्रियों और राष्ट्रीय कार्यकारिणी के अधिक ख्यातिप्राप्त सदस्यों को भी लार्ड-सभा का सदस्य मनोनीत करने के लिए तैयार हो जाय लेकिन मनोनयन की यह व्यवस्था उसके सदस्यों को किसी सीमा तक मान्य नहीं होगी।

इसी प्रकार मिश्रित द्वितीय सदन भी जो कुछ तो निर्वाचित हो और कुछ मनोनीत अधिक सन्तोषप्रद नहीं है। इसका फिर यह फल होगा कि अनुदार दल सदैव बहुमत में बना रहेगा। यह भी संभव है कि इस स्थिति में पीयर यह आग्रह करें कि सदन के कुछ सदस्यों का आनुवंशिक पीयरों द्वारा चुना जाना आवश्यक है। यह निश्चित है कि श्रमिक दल इन सिद्धान्तों को अस्वीकृत कर देगा और जैसा कि उसके कार्यक्रम से प्रकट होता है वह विकल्प के ऐसे किसी सिद्धांत को मानने के लिए प्रस्तुत नहीं होगा जो उच्च सदन को लोक-सदन की सत्ता के ऊपर दो वर्ष का नियन्त्रण दे। समाजवादी दल इस प्रकार के प्रत्येक सुझाव का या उसके ऐसे रूपान्तरों का जिनमें परोक्ष निर्वाचन का तत्त्व अन्तर्ग्रस्त हो डटकर विरोध करेगा।

यही बात निर्वाचित द्वितीय सदन के सम्बन्ध में चाहे वह प्रादेशिक आधार पर और चाहे व्यावसायिक आधार पर निर्वाचित हो कही जा सकती है। पहले सिद्धांत में अनेक कठिनाइयां हैं। निर्वाचन-क्षेत्रों के आकार की कठिनाई है उस तिथि की कठिनाई है जिसपर कि सदन को चुना जाय इस बात की कठिनाई है कि सदन को सार्वभौम मताधिकार द्वारा चुना जाय या नहीं फिर सदन की शक्तियां क्या हों विशेषकर वित्त के क्षेत्र में यह निर्णय करने की कठिनाई है। आजकल के समस्त राज्यों में जहाँ कि दो निर्वाचित सदन हैं यह सदैव देखा गया है कि वास्तविक शक्ति एक सदन के हाथों में आ जाती है। अमरीका में सीनेट शक्तिशाली है और फ्रांस में चैम्बर आफ डिप्टीज। और, संघीय राज्य को छोड़कर, सब राज्यों के द्वितीय सदन में उस समय तक कोई विशेषता नहीं रहती जब तक कि उनके निर्वाचन-क्षेत्र और उनके निर्वाचन की तिथि पहले सदन से भिन्न न हों। लेकिन उनको भिन्न रखने में खतरा यह है कि दोनों निकायों में कभी न कभी संघर्ष अवश्यम्भावी हो जाता है। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप वैधानिक परिवर्तन की आवश्यकता उठ खड़ी होती है क्योंकि जब दोनों सदनों का निर्माण निर्वाचन के आधार पर होता है तब इस प्रश्न का कि मतदाताओं की वास्तविक इच्छा क्या है निर्णय

नहीं हो पाता।

इस प्रयोजन के लिए व्यावसायिक प्रतिनिधित्व भी सन्तोषप्रद नहीं है। इस स्थान पर यह प्रथम कठिनाई उठ खड़ी होती है कि श्रम और पूंजी को किन अनुपातों में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। इसके पश्चात् यह विकट और म समझता हूं कि असम्भवप्राय कठिनाई है कि प्रतिनिधित्व के एककों की सीमा-रेखा कहां खींची जाय। यह प्रश्न जर्मन आर्थिक परिषद् जैसी विशुद्ध परामर्शीय संस्था तक में अजेय सिद्ध हुआ था। फिर, स्त्रियों की भी कठिनाई है। यदि उनको व्यवसाय के आधार पर, उनकी संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व दिया जाय तो यह निश्चित है कि विवाहित गृहपत्नी का व्यवसाय सबसे अधिक महत्त्व का और उत्तरदायी है। यदि उन्हें उनकी संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व नहीं दिया जाता तो ऐसा अन्य कोई सिद्धांत समझ में नहीं आता जिसके आधार पर कि उनके प्रतिनिधित्व का विस्तार निश्चित किया जा सके। पुनश्च यह भी एक दुरूह प्रश्न है कि चिकित्सा जैसे व्यवसाय का विधान-सभा के प्रयोजन से क्या उचित सम्बन्ध है। मुक्त वाणिज्य या शाला के राष्ट्रीयकरण या विदेश नीति के बारे में चिकित्सक दृष्टिकोण जैसी कोई वस्तु नहीं है। यदि डाक्टरों ने किसी प्रत्याशी को इन विषयों पर उसके विचारों के कारण मत दिया तो वे डाक्टरों के रूप में बिल्कुल मत नहीं दे रहे होंगे और यदि उन्होंने अपने में से कुछ व्यक्तियों को अपने व्यावसायिक हितों के कारण मत दिया तो वे व्यक्ति उनके नाम में चिकित्सा-क्षेत्र से बाहर के विषयों पर बोलने के अधिकारी नहीं होंगे। सच तो यह है कि व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत और सर्वशक्तिसम्पन्न विधान सभा में कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि इस प्रकार के निर्वाचित निकाय के कार्य परामर्श देने तक सीमित हों तब भी उनमें कोई सम्बन्ध नहीं मालूम पड़ता। यही कारण है कि जर्मन आर्थिक परिषद् एक साधारण निकाय के रूप में क्यों इतनी व्यर्थ सिद्ध हुई और क्यों उसकी कुछ उप-समितियों में उसके विशेषज्ञ इतना मूल्यवान् परामर्श देने में समर्थ हुए। क्योंकि वहां विचार के लिये उनके पास जो विषय भेजे जाते थे उनके बारे में उन्हें विशेष ज्ञान रहता था।

इस प्रकार लार्ड-सभा के सुधार के लिए ऐसा कोई अनुदारदलीय सिद्धांत नहीं है जिसे कि श्रमिक दल स्वीकार कर लेगा। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि लार्ड सभा के सुधार के लिये श्रमिक दल के किसी सुझाव को अनुदारवादियों का कोई समर्थन नहीं मिलेगा। श्रमिक दल की व्यावहारिक नीति अब भी एकसदनात्मक शासन के पक्ष में है और यह मानने का कारण है कि इस नीति को पर्याप्त समर्थन प्राप्त है। एबे सईस का यह पुराना विचार कि यदि द्वितीय सदन पहले सदन से सहमत है तो वह व्यर्थ है और यदि वह उससे असहमत है तो त्याज्य है अब भी बहुतों को ठीक मालूम पड़ता है। संसदीय शासन के सुदीर्घतर अनुभव ने इस विचार को और मजबूत कर दिया है। इसने प्रकट कर दिया है कि द्वितीय सदन या तो प्रगतिशील सरकार के विरुद्ध प्रतिक्रिया का एक साधन हो जाता है या वह उस समय जबकि सामाजिक समस्याओं के शीघ्र समाधान की आवश्यकता हो परिवर्तन की गति को धीमी कर देता है। श्रमिक दल इस विचार से प्रभावित नहीं हुआ है कि चूंकि अधिकांश राज्यों में द्वितीय सदन हैं अतः उसके अस्तित्व

को राजनैतिक अनुभव का एक स्वतः सिद्ध प्रमाण माना जा सकता है। उसके बहुत से सदस्यों ने इस निर्णय को स्वीकार नहीं किया है और बताया है कि द्वितीय सदन के पक्ष में बेंथम, फ्रैंकलिन, कान्डोरसेट तथा बकरहम जैसे उद्भट विचारक हैं।

लेकिन युद्ध के पश्चात् से इस समस्या पर सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार नहीं हुआ है। यदि इस समस्या पर विचार हुआ तो यह सम्भव है कि श्रमिक दल एक छोटे से पुनरावलोकन सदन का विचार इस शर्त पर स्वीकार कर लेगा कि उसके पास कामन सभा द्वारा स्वीकृत विधान के अधिनियमन में विलम्ब करने की कोई शक्ति न रहे। नए निकाय की सदस्य संख्या थोड़ी होगी और इन सदस्यों को प्रत्येक नव-निर्वाचित कामन सभा अपने अनुवर्ती दलों की सदस्य-संख्या के अनुपात से उनके द्वारा तैयार की हुई सूचियों में से चुनेगी। इस सदन की रचना कामन-सभा की रचना के समान ही होगी और उसके सदस्य कामन-सभा के प्रत्येक चुनाव के पश्चात् नए सिरे से निर्वाचित हुआ करेंगे। इस योजना के अनुसार जिस सरकार का कामन-सभा में बहुमत होगा उसे नए सदन में भी बहुमत मिल जायगा। उस स्थिति में सरकार को अपने कार्यक्रम के विनाश या विलम्बन का कोई भय नहीं रहेगा। लार्ड-सभा आजकल जिन उपयोगी कार्यों को करती है वे नए सदन द्वारा भी किये जा सकते हैं। उसके सदस्यों में भी दोनों पक्षों की ओर से कुछ प्रसिद्ध व्यक्ति यदि वे अपने दल के नाम पर निर्वाचन में खड़े होने के लिए तैयार हो सकते हैं, वह उन वयोवृद्ध राजनेताओं के लिये जो लोक-निर्वाचन के दबाव और कामन-सभा के थकानेवाले कार्य को सहने के लिए तैयार न हों विश्रान्ति का स्थल सिद्ध हो सकता है। वह लार्ड-सभा के समान बड़े बड़े प्रश्नों पर बड़ी गम्भीरता और फुरसत से विचार कर सकता है। वह कामन-सभा को परामर्श, प्रोत्साहन और चेतावनी देने के श्रेष्ठ गुण को अपनाने में समर्थ होगा। एक बड़ी शक्ति जिससे वह वंचित हो जायगा, यह है कि वह किसी सरकारी कानून के पास होने में बाधा न डाल सकेगा।

लेकिन वास्तव में यह शक्ति लार्ड-सभा की एक बहुत बड़ी शक्ति है। यह निश्चित है कि इसका उन्मूलन चाहे तो वह एक संरचनात्मक व्यवस्था की स्थापना द्वारा हो या इस वैकल्पिक उपाय द्वारा हो अनुदारवादियों को कदापि इष्ट नहीं होगा और वे इसका डटकर विरोध करेंगे। कारण यह है कि यहां यह शक्ति एक बार समाप्त हुई, पूंजीवाद तथा संविधान की रूपरेखा के भीतर निर्वाचकों की इच्छा के बीच फिर कोई वस्तु खड़ी नहीं रह सकेगी। इसके फलस्वरूप वर्तमान व्यवस्था की रक्षा करने का एक आवश्यक माध्यमिक साधन नष्ट हो जायगा और सम्पत्तिधारी वर्ग यहां एक बार समाजवादी बहुमत में आया इस योजना के अन्तर्गत लोक-सभा की इच्छा को स्थगित करने का कोई उपाय नहीं खोज सकेगा। अनुदारवादी दल इस बात को बहुत अच्छी तरह समझता है और यही कारण है कि उसके प्रत्येक वार्षिक अधिवेशन में यह मांग की जाती है कि लार्ड-सभा के सुधार का कार्य उस समय हो जबकि उसकी अपनी सरकार सत्तारूढ़ हो। अभिप्राय अनुदारवादियों को उस सदन का दुर्बल होना, जो वर्तमान सम्पत्ति-व्यवस्था के ऊपर किसी शक्तिशाली आक्रमण को रोकने में अब भी समर्थ हो, रंचमात्र भी इष्ट नहीं है। यह एक ऐसा वैधानिक प्रश्न है जिसके ऊपर दोनों दलों के बीच समझौते की कोई

सम्भावना नहीं है। यही कारण है कि जब कभी सुधार की आवश्यकता सामने आती है जब कभी अनुदारवादी नेता सुधार की वाञ्छनीयता स्वीकार करते हैं, वे वर्तमान स्थिति को यथापूर्व ही छोड़ देते हैं। वे यह समझते हैं कि परिवर्तन का वह प्रत्येक सिद्धान्त जिसे वे अपने समर्थकों को स्वीकार करने के लिये तैयार कर सकें उनके अनुयायियों को कदापि ग्राह्य नहीं होगा।

लार्ड रोजबरी ने कहा था कि "लार्ड-सभा तूफान में से सकुशल निकल जायगी।" जितना ही अधिक हम उसके स्वरूप और संविधान में उसके स्थान का परीक्षण करते हैं उतना ही अधिक इस कथन का सत्य प्रकट होता है। लॉर्ड-सभा का वास्तविक महत्त्व यही है कि वह "धन का सामान्य दल" है और अपनी शक्तियों को इस धन के अधिकारों की रक्षा में प्रयुक्त करना चाहती है। ज्योंही आप उसके इस स्वरूप को हटा दीजिये उसके सुधार की समस्या तुरन्त सुगम हो जाती है। लेकिन यहां आपने उसके स्वरूप को वास्तविक अरक्षक कर हुआ धन की शक्ति तुरन्त ही सरकारी शक्ति के साथ जुड़ जाती है। वह इस पराजय को सुगमता से स्वीकार नहीं करेगी। जब तक उसकी संसदीय अधिनियम द्वारा मर्यादित शक्तियाँ विद्यमान हैं वह श्रमिक सरकार के काम में बाधा डालती रहेगी। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, वह आपात-कानूनों पर घातक प्रहार कर सकती है। वह सरकार के कार्यक्रम को उस के पहले दो सालों में पास होने में देरी करके अवरुद्ध कर सकती है। वह अंतिम दो वर्षों में सरकार के कार्यक्रम को ऐसे समय के लिए स्थगित करके जब जनता का उस कार्यक्रम के लिये कोई विशेष उत्साह न रहे सरकार के इरादों पर तुषारपात कर सकती है। इसके अतिरिक्त लार्ड-सभा को यह शक्ति भी जो उसने १९१०-१९११ में प्रकट की थी प्राप्त है कि वह लोकसभा का विघटन बाध्य कर सकती है।

यह शक्ति कितनी वास्तविक है इसे उस अवसर का विचार करके जब इस का प्रयोग किया जा सकता है अच्छी तरह समझा जा सकता है। मान लीजिए कि श्रमिक दल को निर्वाचनों में विजय होती है श्रमिक सरकार का निर्माण होता है और श्रमिक सरकार उन कानूनों को पुरःस्थापित करती है जिनके लिये कि वह वचनबद्ध है। फिलहाल यह भी मान लीजिये कि श्रमिक सरकार शासन की बागडोर बिना किन्हीं प्रारम्भिक कठिनाइयों का सामना किये सम्भालती है। उसके कानून मुख्य रूप से दो श्रेणियों में विभक्त हैं—तत्कालीन सामाजिक सुधार के कानून उदाहरणार्थ बेकारी की समस्या और खानों के राष्ट्रीयकरण जैसे कानून जिनका लाभ काफी समय बाद उठाया जा सकता है। यह स्पष्ट ही है कि राजनीतिक कौशल की दृष्टि से जहां श्रमिक सरकार संसदीय अधिनियम के बल को दूसरी श्रेणी के लिए प्रयुक्त करने के लिये प्रस्तुत हो सकती है वह उसे पहली श्रेणी के लिए प्रयुक्त नहीं करेगी क्योंकि निर्वाचकों के ऊपर उसका प्रभाव मुख्य रूप से इसी बात पर निर्भर है कि वह जन-साधारण के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने की मांग कहां तक पूरा करती है। यदि लार्ड-सभा इस श्रेणी के साथ हस्तक्षेप करेगी तो उसे यह धमकी दी जायगी कि नए पीयर बनाकर उसका विरोध निष्फल कर दिया जायगा। नए पीयर बनाने की सम्राट की शक्ति का उल्लेख १९११ और १९३५ की तरह

श्रमिक दल के निर्वाचनीय कार्यक्रम का एक आवश्यक भाग हो सकता है।

इससे लार्ड-सभा के विनाश का चित्र तुरन्त ही सामने आ जायगा। यदि वह इस धमकी के सामने झुक गई तो श्रमिक सरकार के लिए यह आवश्यक होगा कि वह धमकी की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए उसके पुनर्गठन में तुरन्त दत्तचित्त हो और यदि उसके सदस्यों ने लड़ते-लड़ते मर जाना पसंद किया तो नए पीयरों के सृजन द्वारा लार्ड-सभा की सदस्य-संख्या इतनी बढ़ा दी जायगी कि वह एक विरूप निकाय हो जायगी तथा उसका सुधार आवश्यक हो जायगा। दोनों ही स्थितियों में लार्ड-सभा और उसके साथ समाजवाद के विरुद्ध धन की रक्षा का एक आवश्यक साधन नष्ट हो जायगा।

लेकिन इसका अर्थ तो यह पहले से मान लेना हुआ कि 'क्राउन' पीयर बनाने के अधिकार को स्वीकार कर लेगा। हम इस बात का विश्वास नहीं है कि ऐसा होगा। १९११ के छोटे से विवाद में पीयरों के विरोध के फलस्वरूप 'क्राउन' से यह मांग की थी कि इस अधिकार को देने के पूर्व दो साधारण निर्वाचन आवश्यक है। हमें विश्वास है कि इस कौशल की पुनरावृत्ति के लिए सम्राट पर यथासंभव सम्भव दबाव डाला जायगा। उक्त स्थिति में इस प्रकार के कथनों से कि देश ने इस सम्बन्ध में पूरा निर्णय नहीं किया है सम्राट का जनता से राय लेना का कर्तव्य है इतना बड़ा परिवर्तन के लिए निर्वाचकों की विशेष सहमति आवश्यक है सम्राट का संविधान को "रोमांचक" से बचाने का दायित्व है पूरा लाभ उठाया जायगा। यह कहा जायगा कि यदि सम्राट अपने मंत्रियों से परामर्श लेना अस्वीकार कर देते हैं तो विरोधी दल सत्ता-ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत रहेगा। निर्वाचन में श्रमिक दल की असफलता सम्राट के इस कार्य को पुष्ट कर देगी। इस प्रकार के निर्वाचन का परिणाम जिसमें मतदाता को यह बार बार बताया जायगा कि श्रमिक दल की विजय से राजसिंहासन का अस्तित्व तक खतरे में है स्पष्ट स्पष्ट है।

प्रत्यक्ष है कि यह एक डांवाडोल स्थिति है और इसमें भविष्य के बारे में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। सारी कठिनाई को इस रूप में रक्खा जा सकता है (१) यदि लार्ड-सभा को यथास्थिति छोड़ दिया जाता है तो देर-सबेर समाजवादी सरकार के साथ उसका संघर्ष अपरिहार्य है (२) यदि उसका सुधार अनुदार दल के द्वारा होता है तो उसे श्रमिक दल बिल्कुल स्वीकार नहीं करेगा (३) यदि उसका सुधार श्रमिक दल करता है तो वह अनुदार दल को बिल्कुल स्वीकार्य नहीं होगा।

यह स्थिति क्यों है ? मेरे विचार से इस प्रश्न का उत्तर महत्वपूर्ण है। वास्तव में लार्ड-सभा के सुधार का प्रश्न उन वैधानिक प्रश्नों में से एक है जिसकी जड़ें राज्य की आर्थिक बुनियादों तक जाती हैं। दोनों सदनों में गम्भीर संघर्ष के प्रत्येक अवसर पर नहीं हुआ है। १८३१ ३२ में सुधार विधेयक सम्बन्धी वाद-विवाद के अवसर पर नहीं हुआ था १ ९ में उस वर्ष के बजट विधेयक संघर्ष के अवसर पर भी नहीं हुआ था १९१०-११ में संसदीय अधिनियम के सम्बन्ध में जिसमें वास्तविक प्रश्न यह था कि अनुदार दल उदार दल के विधान को पसंद नहीं करता था एक बार फिर इसकी पुनरावृत्ति हुई थी। लेकिन ये सब संघर्ष उन संघर्षों की तुलना में जो अब भविष्य में उठ खड़े हो सकते हैं बहुत छोटे हैं। कारण यह है कि पुराने प्रश्न तो केवल परिमाणात्मक विचार-भेदों के प्रश्न थ

और जैसा कि पटनायक ने प्रकट किया था उसमें समझौता भी हो सकता था। लेकिन अब जो प्रश्न सामने आ रहे हैं उनका स्वरूप बिल्कुल भिन्न है। वे साधारण प्रश्न नहीं हैं। वे ऐसे प्रश्न हैं जिनके निर्णय से हमारे समाज की वर्ग-व्यवस्था बिल्कुल बदल जायगी। चूंकि इस निर्णय में लार्ड-सभा को महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त है अतः यह विचार आसान नहीं है कि वह अपनी शक्तियों को कायम रखने का उग्र प्रयास किये बिना ही झुक जायगी।

यह कहा जा सकता है कि लार्ड-सभा के लिए यह आश्वासन मानना कि श्रमिक दल जिन बड़े परिवर्तनों को करना चाहता है उनको जनता का दृढ़ समर्थन भी प्राप्त है या नहीं स्वाभाविक है। भूतकाल में उसे जहां यह मालूम हुआ कि किसी प्रश्न के ऊपर जनता ने दृढ़ संकल्प का परिचय दिया है वहीं वह झुक गई है और प्रश्न की गम्भीरता को देखते हुए उस सदस्य के प्रमाण के रूप में द्वितीय साधारण निर्वाचन की मांग करना कोई बुरी बात नहीं दीखती। लेकिन इस दृष्टिकोण का उत्तर बड़ा सरल है। लार्ड-सभा ऐसी कोई पक्षपातहीन और सम्पूरक संस्था नहीं है जो कि लोकमत के बारे में स्वतन्त्र और निरपेक्ष राय रखती हो। उसकी रचना उसे अनुदारदल के सम्भावित मन्त्रिमंडल का एक आधारभूत भाग बना देती है। उसका उद्देश्य यह है जैसा कि लार्ड बल्फोर ने एक बार कहा था कि अनुदार दल चाहे वह पदारूढ़ हो या न हो सर्वदा शक्ति में बना रहे। उसके द्वारा कथित लोकमत विश्लेषण सर्वदा एक पक्ष के विरुद्ध होता है। इसलिये वह दल परक विश्लेषण मालूम पड़ता है इस प्रकार का विश्लेषण उस दल को जिसके विरुद्ध वह प्रयुक्त हो विधान का उल्लंघन मालूम पड़ना निश्चित है।

लेकिन इसका अभिप्राय तो यह कहना हुआ कि श्रमिक दल जनता से जिसका एक लोकतंत्रात्मक दल होने के नाते वह अपना विश्वास प्रकट करता है अपनी नीति का पुनः समर्थन प्राप्त करते हुए करता है। यह एक तात्विक दृष्टिकोण है और इसके पीछे कोई सार नहीं है। मुख्य रूप से निर्धनों पर निर्भर राजनीतिक दल का उस शासन के प्रति घबराहट होना जो उसके धनी विरोधियों के हाथों में उनकी प्रभुता से है स्वाभाविक ही है। यह नैसर्गिक ही है कि वह इस बात का विरोध करे कि सरकार के रूप में उसकी गतिविधियां उस सभा की विषय है जिसमें निहित वर्ग स्वार्थ है। अपनी राय में वह एक खास कार्यक्रम के आधार पर जिसके लिये वह निर्वाचकों का समर्थन प्राप्त कर चुका है सत्तारूढ़ होता है। उसके विधान के सिद्धांत और कार्य-पद्धति के अनुसार बात ही है। वह अपनी विजय को एक ऐसी गैर-निर्वाचित सभा की शक्ति के सामने झुककर जिसकी उसकी सफलता को अवरुद्ध करने की प्रबल इच्छा उसके सत्ता-ग्रहण के पूर्व ही ज्ञात थी क्यों संकटग्रस्त करे? अनुदारवादी सरकारें इस प्रकार की आवश्यकता में अपने 'मैन्डेट' के निर्धारण के लिये निर्वाचकीय साक्षात्कार का प्रयास नहीं करती। बैल्डविन सरकार ने १९२९ या दुबारा १९३६ में ऐसा किया यद्यपि स्वयं प्रधान-मंत्री की अपनी स्वीकारोक्ति के अनुसार ही उसकी पुनःशस्त्रीकरण की नीति उन मान्यताओं के बिल्कुल विरुद्ध थी जिसके आधार पर उसने १९३५ के पुनर्निर्वाचन में विजय प्राप्त की थी। यदि किसी संविधान की मूल धारणाएँ दलों के बीच विषम रीति से प्रयुक्त होती हैं तो वह सफल नहीं हो सकता।

इसलिये यह कहना जैसा कि श्री रैम्जे म्योर ने कहा है कि "लार्ड-सभा दुहरान

बाधा और विलम्ब करनेवाला निकाय है और इस प्रयोजन के लिये भी यह बहुत कारगर नहीं है बहुत सही नहीं है। महत्त्वपूर्ण यह है कि उसे जिस स्थान पर विलम्ब करने की शक्ति प्राप्त है। उसकी स्थिति जैसा कि उल्लेख कहा है कामन-सभा से निश्चित होती है। संसदीय अधिनियम ने पहल करने की वास्तविक शक्ति निर्वाचित सदन को दी है। लेकिन उसने लार्ड-सभा के पास एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शक्ति रखती है। लार्ड-सभा इस शक्ति का प्रयोग ठीक ऐसे अवसर पर, जबकि उसे बुद्धि के मानमूल्य आधारों पर नहीं प्रत्युत निजयाधिकार के ठोस आधारों पर लड़ने की आवश्यकता हो कर सकती है। उसकी विलम्ब करने की शक्ति केवल धनिकों के हाथों की एक खिलौना है जो जनता की इच्छा के विरुद्ध बचाव का काम करती है। यह शक्ति स्वयं रैमजे म्योर के शब्दों में "लोकतंत्रात्मक राज्य में एक असंगति" है। बहुत कुछ तो लार्ड सभा का निषधाधिकार घटा गया है लेकिन उसका बहुत कुछ तत्त्व अब भी विद्यमान है। यह कहा जा सकता है कि परोक्षतः उसकी वित्तीय शक्तियां भी बनी हुई है। सामाजिक पुनर्निर्माण का प्रत्येक बड़ा कानून वास्तव में आय के पुनर्वितरण का विधेयक होता है और उसके अधिनियमन को स्थगित कर देने की शक्ति उच्च कोटि की वित्तीय शक्ति भी है।

(१)

कभी कभी यह कहा जाता है कि इन कठिनाइयों का समाधान एक भिन्न क्षेत्र में विद्यमान है। ऐसे बहुत से अनुदारवादी हैं जो लार्ड-सभा के अधिकार के विषम प्रयोग को समझते हैं और वे द्वयपरक विघटन के असन्तोषप्रद स्वरूप को स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि जिस कानून को सरकार बहुत महत्त्वपूर्ण समझती है उस पर जनता की राय जानने के लिये साधारण निर्वाचन तो न किया जाय परन्तु जनमत-संग्रह किया जाय। वे कहते हैं कि यह एक लोकतंत्रात्मक प्रक्रिया है यह उस प्रश्न को जिसपर मतदाता को निर्णय देना है, बिल्कुल पृथक् कर देती है और निर्णय को केवल एक प्रश्न तक ही सीमित रखने से सरकार द्वयपरक विघटन की आवश्यकता से बच जाती है।

ऊपर से देखने पर यह योजना विचारणीय और आकर्षक मालूम पड़ती है लेकिन सूक्ष्म परीक्षण के उपरान्त यह व्यर्थ मालूम पड़ती है। पहली बात तो यह है कि यह इस प्रश्न को कि क्या जनमत-संग्रह उच्च सदन के हाथों में अर्थात् अनुदार दल के हाथों में प्रदान किया जाय छोड़ देती है। हमारा तो वस्तुतः और मान के इस विषय पर आक्षेप है क्योंकि लॉर्ड-सभा की रचना में निहित है। प्रस्तावित योजना इस विषय को समाप्त नहीं करती। लेकिन कुछ और भी बड़ी आपत्तियां हैं। इने-गिने लोग ही इस बात को मान सकते हैं कि उलझे हुए प्रश्नों को जन-मतदान के द्वारा अच्छी तरह सुलझाया जा सकता है। उदाहरण के लिये कोई भी व्यक्ति १९२१ के ट्रेड्स डिस्प्यूट्स एक्ट पर मत-संग्रह का सुझाव नहीं देगा। यदि किसी कानून के सिद्धान्तों को विस्तार की उन बातों से अलग कर दिया जाता है जो उसे महत्त्व देती हैं तो वे बिल्कुल अवास्तविक हो जाती हैं। "क्या आप खानों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में हैं" वास्तव में यह विधेयक की धाराओं से एक बिल्कुल भिन्न प्रश्न है। इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करने के लिये जिस वातावरण की आवश्यकता है वह लाखों निर्वाचकों के लिये संभव नहीं है। किसी एक प्रश्न को आप समस्त रिकार्ड

से जिसका वह एक भाग होता है अलग करना संभव नहीं है। हजारों लोग ऐसे होते हैं जो पार्लमेन्ट बिल पर सरकार के विरुद्ध मत देते हैं इसलिये नहीं कि उनकी उस विधेयक के बारे में कोई खास राय होती है प्रत्युत इसलिए कि वे सरकार की विशेष नीति को पसन्द नहीं करते। प्रश्नों को अलग अलग करके देखना सुगम कार्य नहीं है। सच तो यह है कि मत संग्रह की भी पृष्ठभूमि वही होगी जोकि साधारण निर्वाचन की होती है। प्रत्येक व्यक्ति को यह ज्ञात होगा कि विधेयक की अस्वीकृति सरकार की प्रतिष्ठा के लिए एक गम्भीर चुनौती होगी और उसके विरोधी स्वार्थों की वृद्धि के लिए उसका प्रयोग करने से नहीं चूकेंगे। विदेशों में विशेषकर स्विट्जरलैंड और अमरीका में जनमत-संग्रह के अनुभव से यह सिद्ध नहीं होता कि वह लोकमत को उत्तम बनाने का विशेष अच्छा साधन है। उसका प्रयोग सैद्धान्तिक प्रश्नों के उत्तर पाने तक सीमित है लेकिन विस्तार के अभाव में वे प्रश्न वास्तविक अर्थ से वंचित हो जाते हैं। यदि उसे किसी व्यापक प्रणाली के पूरे विवरणों पर विचार करने के लिए विस्तृत कर दिया जाय तो यह कहना व्यर्थ होगा कि उसकी धाराओं पर जनता का निर्णय किसी भी तरह ठीक है।

उक्त विवेचन को १९३५ की एक काल्पनिक घटना लेकर सुगमता से सिद्ध किया जा सकता है। मैं नहीं मानता कि कोई व्यक्ति यह तर्क करेगा कि यदि निर्वाचकों के सामने यह प्रश्न रखा जाय कि क्या आप हारे-सावेक प्रस्तावों के पक्ष में हैं तो वे ऐसा उत्तर दे सकते हैं जिसकी कि उचित व्याख्या की जा सके। पूरे प्रस्तावों पर निर्णय की मांग करना विस्तार की उन बहुत सी बातों पर निर्णय की मांग करना है जो उनके प्रकाशन के पूर्व संसत्सदस्यों और बहुत से मन्त्रियों तक को मालूम नहीं थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दीर्घ और सूक्ष्म परीक्षण के उपरान्त कोई गम्भीरोचित निर्वाचक निर्णय देने में अवश्य समर्थ हो सकता है लेकिन जनमत-संग्रह उन परिस्थितियों का निर्माण नहीं करता जिनमें कि दीर्घ और सूक्ष्म परीक्षण सम्भव हो सके।

वास्तविकता यह है कि जनमत-संग्रह का पूरा सिद्धान्त ही निर्वाचकों के प्रयोजन को नहीं समझता। निर्वाचक-मंडल किसी राजनीतिक प्रवृत्ति के साधारण मार्गदर्शन पर ही अपना दृष्टिकोण निर्धारित करता है और धारासभाओं में व्यक्तियों को उस मानचित्र के एक बड़े भाग के पक्ष या विपक्ष में अपना मत देने के लिए भेजता है। राजनीतिक दल जितनी अच्छी तरह हो सकता है उस चित्र को बनाते हैं। उस चित्र में से किसी एक रेखा को चुन लेना और मतदाताओं से उसे सम्पूर्ण चित्र से अलग करने के लिए कहना उनसे एक ऐसे कार्य के लिए कहना है जिसके लिए वे एक जनसमूह के नाते सर्वथा अनुपयुक्त हैं। संक्षेप में, प्रत्यक्ष शासन स्वशासन का पर्याय नहीं है। वह तो जैसा कि प्लासिस्टपारी देशों का अनुभव बताता है उसका बिल्कुल विरोधी हो सकता है। निर्वाचकों का कार्य तो एक दल को सरकार बनाने के लिए चुनना और उसके कार्यकाल की समाप्ति पर उसके सम्पूर्ण रिकार्ड पर निर्णय दे डालना है। यदि उस रिकार्ड के कुछ विशेष कार्यों को जनता के निर्णय के लिए चुन लिया जाय तो वे सम्पूर्ण निर्णय को मूल्यहीन कर देते हैं। वे ऐसा इसलिये करते हैं क्योंकि जहां वे एक चुन गए, वे विशेष कार्य नहीं रहते। वे उस साधारण निर्णय के साथ घुल-मिल जाते हैं जिसकी अभीव्यक्ति घोषणा करने में

मौरिसन स्वयं को समर्थ पाता है।

(४)

बैजहॉट ने लिखा था "कुलीनतन्त्र अत्यन्त उपयोगी है न केवल इस कारण कि यह क्या करता है बल्कि इस कारण भी कि यह क्या रोकता है।" यह धन के शासन—स्वर्ण के धर्म—को रोकता है। हमें उसका यह कथन मानने की कोई आवश्यकता नहीं है कि धन की उपासना आज ऐंग्लो-सैक्सन देशों में ही विशेषरूप से दिखाई देती है। अब इस देश में कुलीनों का एक समुदाय है ठीक उस अर्थ में जिसमें कि बैजहॉट ने उसका प्रयोग किया था। फिर भी दोनों के अर्थों में हमारा समाज एकवर्गपरायण समाज है और वर्तमान लार्ड-सभा इस शब्द में जो कुछ वर्णित है उस सबको व्यक्त करती है। वह अतीत में या वर्तमान में उन सिद्धांतों पर प्राप्त की गई सफलता की जिनसे इस प्रकार की सफलता हमारे जैसे समाज में प्राप्त की जा सकती है, प्रतीक है। वह इस आदर्श की कैसी पूर्ण प्रतीक है यह इससे समझा जा सकता है कि हम एक धनी व्यक्ति के लिये स्वाभाविक रूप से यह आशा करते हैं कि वह लार्ड-सभा का सदस्य होगा लेकिन जब कोई व्यक्ति धन के अतिरिक्त अन्य किसी बात के लिए प्रसिद्ध होने के कारण लार्ड-सभा का सदस्य हो जाता है तो हमें आश्चर्य होता है।

जब तक हमारे समाज के अन्तर्भूत सिद्धान्तों पर उंगली नहीं उठाई गई लार्ड-सभा के शासन-कार्य में भाग लेने के दावे पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं था। इसके कुछ महत्वपूर्ण गुणों की मैं पहले ही चर्चा कर चुका हूँ इसके अतिरिक्त उसमें एक और विशेष गुण था; वह पूजनीय थी। जब से हमारे पास संविधान रहा है वह हमारे संविधान का एक अभिन्न अंग रही है। बहुत से सदस्य जिन्होंने उसमें महत्वपूर्ण भाग लिया स्वयं इंगलैण्ड के इतिहास के सजीव प्रतीक थे। प्रायः १८६७ के पश्चात् लार्ड-सभा कभी युक्तिसंगत समर्थन के योग्य नहीं रही लेकिन १९११ तक उसके समर्थन की गम्भीर आवश्यकता कभी सामने नहीं आई। वह एक ऐसी गौरवपूर्ण संस्था बन गई थी जिसे हम एलबर्ट स्मारक की तरह स्वयंसिद्ध मान लेते हैं। वह अपने युग की प्रवृत्तियों के प्रतिकूल नहीं थी क्योंकि उसका युग उसकी प्रवृत्तियों के प्रतिकूल नहीं मालूम पड़ता था। उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश भाग तक जनता के हृदय में धन के प्रति पूजनीयता का भाव होने के साथ-साथ कुलीनतन्त्र के प्रति भी पूजनीयता का भाव था। डिकेन्स और थैकरे की तरह कुछ व्यक्ति यदा-कदा मुँह बिगाड़ सकते थे लेकिन ट्रौलोप के उपन्यासों के पाठक उनमें ऐसा कोई भी संकेत नहीं पायेंगे कि कुलीनतंत्र के शासन करने के अधिकार पर उंगली उठाई जा सकती है।

यह बैजहॉट को मालूम था कि कॉमन-सभा से लार्ड-सभा की हीनता पहले से स्थापित एक वैधानिक सिद्धान्त था। वह इस विचार से सहमत था कि यदि कभी उन दोनों में संघर्ष हो तो अन्ततोगत्वा लार्ड-सभा को झुकना चाहिए। लेकिन वह यह नहीं देख सका था कि कुलीनतन्त्र और धन के संयोग के फलस्वरूप सार्वभौम मताधिकार पर आधारित हमारे समाज में इस भवन का स्थान बिल्कुल बदल जायेगा।

इस स्थिति के कई कारण हैं। कुछ तो यह सीमित उत्तरदायित्व का परिणाम है। पीयर कम्पनियों के निर्देशक हो गए और उन्होंने वित्त तथा खेल के अतिरिक्त अन्य बातों में रुचि लेना बन्द कर दिया। कुछ यह पीयरों की राजनीति में सर्वोच्च स्थान पाने की असमर्थता का परिणाम है। यह स्मरणीय है कि १८७ के पश्चात् हमारी राजनीति में लार्ड सॉल्सबरी ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी लॉर्ड-सभा में प्रतिष्ठा थी। इस स्थिति का एक कारण यह भी था कि सदन के आकार में बहुत वृद्धि हो गई। कोई संस्था यदि उसकी सदस्य-संख्या पचास वर्षों में दुगनी हो जाये घनिष्ठता का जो कुलीनतन्त्र का सार है, सहारा नहीं कर सकती।

लेकिन लॉर्ड-सभा के राजनीतिक जीवन में प्रभावशाली भाग लेने के प्रति तर्क-सिद्ध दृष्टिकोण विकसित होने का असली कारण यह है कि उसका उन मूल प्रश्नों से जिनका उसे निर्णय करना है, अभिन्न सम्बन्ध है। यह एक सदन है जिसमें सतत सम्पत्ति के स्वार्थों की आक्रमण से रक्षा होती है। इस प्रतिरक्षा में लॉर्ड-सभा का रूप एक ऐसी स्थूल इकाई का है जो देश के सम्भाव्य भावी बहुमत के विरुद्ध है। जहाँ उसका यह स्वरूप सामने आता है आलोचक बैजहॉट के आलोचक के सामने यह अनुभव करने के लिए बाध्य है कि "लॉर्ड-सभा की प्रशंसा का एकमात्र उपचार यह है कि उसके पास जाकर उसका अवलोकन किया जाये।" तब फिर प्राचीनता का मक्के कुछ अर्थ नहीं रखता। यह तो स्पष्ट इस बात का प्रमाण हो जाता है कि यह संस्था एक असंगति है। तब फिर, सदन के ठोस गुण भी बिल्कुल दूसरे रूप में दिखाई देने लगते हैं और आलोचकों को यह स्पष्ट हो जाता है कि इन गुणों को एक ऐसे सदन में भी पाया जा सकता है जिसमें कि लॉर्ड-सभा के दोष न हों।

सचाई यह है कि एक अलोकतन्त्रात्मक संस्था लोकतन्त्रात्मक समाज में उस समय तक नहीं रह सकती जब तक कि वह अपने व्यवहार को लोकतन्त्र की माँगों के अनुकूल ढालने में समर्थ न हो। लॉर्ड-सभा प्राचीन संस्था है इसका यह अभिप्राय नहीं [illegible] जाता कि वह स्वयं को नई परिस्थितियों के अनुकूल ढाल ही नहीं सकती। उदाहरण के लिये हम 'क्राउन' को ले सकते हैं। जहाँ तक उसके सार्वजनिक व्यवहार का संबंध है, उसने यह सिद्ध कर दिया है कि सामंजस्य स्थापित करने की शक्ति अनिवार्यतः प्राचीनता के प्रतिकूल नहीं पड़ती। लॉर्ड-सभा की कठिनाई यह है कि वह जिस वस्तु की रक्षा करना चाहती है लोकमत उसी पर आक्रमण करने के लिए तत्पर है। लॉर्ड-सभा अपनी रचना-मात्र से धन और संख्या के संघर्ष का जब कभी सब्बा संघर्ष पर उतारू हो प्रतीक है। यदि लॉर्ड-सभा परिवर्तन की गति अवरुद्ध करने को तत्पर न हो तब फिर उसमें कोई सार नहीं रह जाता। उसका संगठन ही उसे इस अवरोध के लिए प्रेरणा देता है और जब वह ऐसा करता है उसकी वैधानिक स्थिति में समस्त कठिनाइयाँ आ जाती हैं।

इस स्थिति का अर्थ यह है कि अपनी दुर्बलताओं से परिचित सदन अपने सुधार के उपाय खोज निकालने में असमर्थ है। जहाँ यह प्रश्न किया जाता है कि इस सुधार का यह रूप क्या है तो इस प्रश्न का जो उत्तर सामने आता है उस पर दोनों राज

नीतिक दल एकमत नहीं है। अनुदारवादी उसका सुधार इस दृष्टि से करना चाहते हैं कि वे उन सुधारों को जो उनके विचार से समाज के वर्तमान वर्ग-संगठन में आवश्यकता से अधिक क्रान्तिकारी परिवर्तनों की धमकी देते हैं, स्थगित कर सकें। समाजवादी उसका सुधार इस स्थगन को रोकने के लिए करना चाहते हैं। एक पक्ष की ओर से जो सुधार आएगा वह दूसरे पक्ष की ओर से आनेवाले सुधार के प्रतिकूल है। जितना लम्बा और जितनी ईमानदारी से यह वाद-विवाद चलेगा समझौते की उतनी ही कम आशा दिखाई देती है। निश्चित स्थिति यह है कि प्रत्येक दल ही इस प्रश्न को टालना चाहता है क्योंकि वह जानता है कि उसके द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रस्तावों को दूसरा दल अपने लिए चुनौती समझता। लेकिन इस विलम्ब से मतभेद समाप्त नहीं होते प्रत्युत वे बढ़ते ही हैं क्योंकि इससे श्रमिक दल के सामने यह स्पष्ट होता जा रहा है कि यदि उसे देश में लोकतंत्र के उच्च स्वरूप की प्रतिष्ठा करनी है तो उसे एक न एक दिन लॉर्ड-सभा को अपने मार्ग से अवश्य हटाना होगा। यह निश्चित है कि श्रमिक दल लॉर्ड-सभा को जिस ढंग से और जिस तरह उसे हटाएगा उससे उसके विरोधियों में प्रबल रोष जाग्रत होगा।

यह आश्चर्यजनक ही है कि जब आज से सत्तर वर्ष पूर्व बेजहॉट ने लॉर्ड-सभा की स्थिति का अध्ययन किया था तो वह उसे बिल्कुल भिन्न मालूम पड़ी थी। उसने लिखा था "लॉर्ड-सभा निर्मम विनाश से अच्छी तरह सुरक्षित है, लेकिन वह आभ्यन्तरिक पतन से सुरक्षित नहीं है। उसका संकट हत्या में नहीं प्रत्युत क्षय में उन्मूलन में नहीं प्रत्युत पतन में है।" उसने लॉर्ड-सभा की दुर्बलता के ये कारण बतलाए थे "उसके अधिकांश सदस्य अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा करते हैं" "उसके सब सदस्य एक ही वर्ग के हैं और वह भी सर्वश्रेष्ठ नहीं।" बेजहॉट ने भविष्यवाणी की थी कि "ब्राउन की तरह लॉर्ड-सभा का भी निषेधाधिकार लुप्त हो जायेगा।" फिर भी लॉर्ड सभा का कोई आभ्यन्तरिक ह्रास नहीं हुआ है। जो कार्य वह बेजहॉट के समय में करती थी आज भी करती है। वास्तव में लॉर्ड-सभा का असली खतरा हत्या है जिसे बेजहॉट असम्भव समझता था। अनुदारवादी पक्ष के अनुसार उसका सुधार करके हम संविधान के नमनशील को—उसके निर्णयों को उल्लंघन करने की उसकी शक्ति को नष्ट कर सकते हैं। यदि हम श्रमिक दल के सिद्धान्तों के अनुसार उसका सुधार करते हैं, तो हम सम्पत्ति के स्वामियों में उस लोकतन्त्रात्मक पद्धति को जो उसकी शक्ति के लिए खतरा है दूर से नमस्कार करने का संकल्प उत्पन्न कर देते हैं। वह राजनेता जो इन गम्भीर संकटों के बीच से अपना रास्ता निकाल लेगा देश की कृतज्ञता का अधिकारी होगा।

अध्याय ४

# कॉमन-सभा

(१)

मेरा विचार है कि यदि कोई व्यक्ति कॉमन-सभा की प्रवृत्तियों तथा प्रक्रिया का कुछ समय तक ध्यान से अवलोकन करे, तो उसके हृदय में कॉमन-सभा की विजय गाथा के प्रति प्रशंसा का भाव आए बिना नहीं रह सकता। आखिर, यह एक दुर्लभ और अनुपम बात ही तो है कि प्रकीर्ण अविश्वासों का एक निकाय सत् के पश्चात् सत् तक विभ्रम व्यक्तियों के ऐसे तर्कों को जिनमें उनकी आस्था हो सुनता जाय। यह और भी अद्भुत है कि हम अध्यक्ष (स्पीकर) को जिसका कार्य यह देखना है कि इन विभ्रम व्यक्तियों के सुने जाने का अधिकार मानव-प्रकृति द्वारा अब तक आविष्कृत शायद सबसे अधिक विस्तृत प्रक्रिया द्वारा रक्षित हो राज्य में सबसे ऊँचे पदों में से एक दें।

हम विचार-विमर्श द्वारा शासन को स्वतः सिद्ध स्वीकार करते हैं और जब मत विभाजन हो चुकता है तो परिणाम पर सन्ताप किए बिना उसे शिरोधार्य करना अपना नैतिक दायित्व समझते हैं। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि विचार-विमर्श द्वारा शासन शायद सबसे कठिन इतनी कठिन कला है कि विश्व में केवल दो-तीन ही ऐसे देश हैं जहाँ यह लम्बे समय तक रहा है। अपने विरोधी को उस समय भी जब आपको यह दृढ़ विश्वास हो कि वह गलत है, जो कुछ वह कहना चाहे कहने की अनुमति देना उसे उन लोगों को जो या तो संदिग्ध हैं या उदासीन हैं वह विश्वास दिलाने का अवसर देना कि आपके दृष्टिकोण के बावजूद भी शायद हम सही हैं, अपने उस आदर्श को जिसे आप अत्यावश्यक समझते हैं पराजित होते देखना और फिर इस पराजय को सामान्य दिनचर्या की भाँति स्वीकार करना यह सब यदि वास्तव में कठिन न हुआ होता तो अविश्वसनीय ही लगता। अनेक सामन्ती जीव होते हैं उन्हें अपनी सफलताओं पर अपनी पीठ आप ठोकने में रस मिलता है। मेरा विचार है कि कॉमन-सभा की गति-विधि पर जितना ही अधिक विचार किया जायगा उतना ही अधिक सदस्यों को अपनी सफलता पर गर्व करने का अवसर मिलेगा।

आखिर, एक इतनी बड़ी संस्था का निर्माण कर देना जिसकी गति-विधियों में कार्य व्यापार तक सामाजिक शान्ति को बनाए रखना [illegible] एक बहुत बड़ी चीज है। हमारे राष्ट्र की सेवा में जो ऊँची-से-ऊँची प्रतिभाएँ लगातार लगी हुई हैं, कॉमन-सभा उनकी सेवाएँ प्राप्त करने में समर्थ हुई है। जहाँ यह ज्ञात होता है कि शासनतन्त्र इस कॉमन सभा के बहुमत का समर्थन नहीं पा सकता वह त्यागपत्र देने के लिए तुरन्त तत्पर हो जाता है। यही नहीं। सभा के वाद-विवादों में चाहे जो दल हो उनमें दो ऐसे बड़

गुण हैं जिनके महत्व का वर्णन करना कठिन है। वे इस बात का आश्वासन देते हैं कि जब बड़े-बड़े प्रश्नों पर विचार-विनिमय होता है तो उनके बारे में जो कुछ कहा जाने योग्य होता है कहा जाता है और नियमतः इसमें स्पष्ट रूप में कहा जाता है कि सारे राष्ट्र का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट होता है और उसे शिक्षा मिलती है। कॉमन-सभा में जब कभी कोई वस्तुतः महत्वपूर्ण वाद-विवाद हो रहा होता है तो हम यह विश्वास रख सकते हैं कि राष्ट्र के सर्व-श्रेष्ठ व्यक्तियों में से अधिकांश उसे सुनते हैं। वे भाषणों की विशदता तथा प्रयुक्त किए गए तर्कों का आतुरतापूर्ण विवेचन करते हैं। देश के प्रमुख समाचार-पत्र उन पर टिप्पणी देते हैं। बहुत से ऐच्छिक संघ उन पर प्रस्ताव पास करते हैं। कॉमन-सभा में चाहे कुछ भी दुर्बलता हो उसने ब्रिटिश जनता को संसार की अन्य किसी जनता की अपेक्षा राजनीतिक दृष्टि से अधिक चेतन बनाया है।

यह एक ऐसी सफलता है जो धीरे-धीरे प्राप्त हो भी वर्षों से अधिक समय में पूरी हुई है। न्यूनाधिक रूप से उसका विकास विल्की के निर्वाचन-विषयक वाद-विवाद से प्रारम्भ माना जा सकता है। इस घटना ने यह सिद्ध कर दिया कि सरकारी निर्णयों के निर्माण में जनसाधारण के लोकमत को महत्व देना भी अनिवार्य है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारी जैसी सामाजिक व्यवस्था में जनसाधारण को अपनी शक्ति का शनैः शनैः ही भान हुआ। कुछ अपवादों को (जो इतिहास-ग्रंथों में कुख्यात आन्दोलन-कर्ताओं के नाम से विख्यात हैं) छोड़ कर जनसाधारण को १८६७ तक यह भान नहीं हुआ था कि उसे अपने शासकों के समीप गिड़गिड़ाते हुए जाने की आवश्यकता नहीं है। जनसाधारण में यह चेतना निरन्तर ही बढ़ी है। अंग्रेजों की स्वतन्त्र शासन की सुदीर्घ परम्परा का यह एक प्रमुख कारण है। मेरे कहने का मन्तव्य यही है कि कॉमन-सभा वह मुख्य साधन थी जिसने चेतना की इस प्रक्रिया को संभव किया। इसने सदस्य तथा निर्वाचन-क्षेत्र के बीच ऐसा सम्बन्ध स्थापित किया जिसने कॉमन-सभा को यह अनुभव करने के लिए बाध्य कर दिया कि उसका जीवन लोकमत को सन्तुष्ट रखने पर ही निर्भर है। सभा का कार्य स्वयं को इस तरह शासित करना था जिससे कि वह अपने सामने प्रस्तुत की गई माँगों का अधिक से अधिक उत्तर दे सके। इस प्रकार के दृष्टिकोण का आधार यह ज्ञान था कि यदि उसने लोकमत की माँगों का सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दिया तो इस बात का सदैव खतरा है कि निर्वाचन इस सम्बन्ध में कठोर अवश्य निकाल लेगा।

कॉमन-सभा एक ऐसी संस्था है जिसमें सभी प्रकार के तत्व प्रवेश करते हैं। अब कोई बैजहॉट की तरह यह सत्यतापूर्वक नहीं कह सकता कि श्रमिक जनता एक ऐसा वर्ग है जिसको लोकमत का निर्माण करने वाले तत्वों में गणना करने की आवश्यकता नहीं है। सार्वभौम मताधिकार का अभिप्राय यह है कि जनसंख्या का कोई भी अंग ऐसा नहीं है जिसकी राय को राजनीतिक दलों द्वारा महत्वहीन समझा जाए। नाना स्वार्थों के संगम में से ऐसी सुनिश्चित नीति को निकाल लेना जो कुशल शासन संचालन के लिए पर्याप्त हो सचमुच ही एक दुस्तर कार्य है। यह कार्य अभी तक सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ है, इसका बहुत कुछ कारण यह है कि कॉमन-सभा ने

राष्ट्र का अनुपम आदर है।

कॉमन-सभा किस लिए है? जब तक हम उसके उद्देश्यों के बारे में स्पष्ट नहीं हैं हम उसके महत्व को नहीं समझ सकते। आखिर ऐसे ६१५ स्त्री पुरुषों के एक प्रकीर्ण निकाय को जिसमें से अधिकांश राजनीति में नौसिखिए हों सर्वोच्च विधायी शक्ति दे देने से तो सफल विधान का निर्माण नहीं हो जाता। कॉमन-सभा की सफलता का रहस्य उसके संगठन में तथा उन उद्देश्यों में जिनके लिए यह संगठन प्रयुक्त होता है निहित है। यह समझना भी आवश्यक है कि कॉमन-सभा राष्ट्र के समस्त मतों तथा हितों का पूर्ण दर्पण नहीं है। यदि यह ऐसी होती तो शायद अपना काम को नहीं कर पाती। कारण यह है कि ये मत और हित एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि यदि सभा इनके पर्याप्त अंश को प्रतिबिम्बित करती तो उसका संगठन छिन्न-भिन्न हो जाता और वह किसी एक समरस नीति का निर्माण नहीं कर पाती। कॉमन-सभा का जीवन सामान्य लोकमत के ऐसे प्रबल सूत्रों के प्रतिनिधित्व पर निर्भर है जोकि सत्ता रखता ऐसे शासन का निर्माण संभव कर सके जिसके पीछे कि प्रभावशाली बहुमत हो। इससे सरकार प्रशासनिक क्रिया-कलापों में अविच्छिन्नता बनाए रखने में समर्थ होती है। सरकार का निर्माण करना और सार्वजनिक कार्य-संचालन के लिए उसे औपचारिक प्राधिकार देना या न देना कॉमन-सभा का ऐसा कार्य है जिसके ऊपर अन्य समस्त कार्य निर्भर हैं।

दूसरा तथ्य यह है कि कॉमन-सभा का जीवन दल-पद्धति के द्वारा ही चलता है। दल ही वे आधार हैं जिनके ऊपर सभा की एकरूपता अवलम्बित है। केवल कुछ अपवादों को छोड़कर सभा के सदस्य को दल का भी अच्छा सदस्य होना चाहिए, तभी सभा अपना काम अच्छी तरह कर सकती है। दार्शनिक अपने अध्ययन-कक्ष में इस आवश्यकता पर आँसू बहा सकता है। वह कह सकता है कि इससे तो व्यक्ति की आत्मा का दल की वेदी पर बलिदान हो जाता है। वह तर्क कर सकता है कि इससे तो सदस्य ऐसे मामलों पर जिनके बारे में उन्होंने चाहे सभा में वाद-विवाद भी न सुना हो विभिन्न गुटों में बँट जाते हैं। वह सभा में मन्त्रिमण्डल के अधिनायकत्व के बारे में रोषपूर्वक लिख सकता है। तथ्य इन भावनात्मक विचारों के सर्वथा विपरीत हैं। बहुत कम अवसर ऐसे होते हैं जब कि औसत सदस्य अपने दल के विरुद्ध विभाजन पर जब कि यह दल सत्तारूढ़ हो मत देने की सोचता है। तथ्य से यह सिद्ध होता है कि जब इस प्रकार मत देने की भावना अत्यन्त तीव्र होती है सदस्य उसका पालन करता है। यह सोचना मूर्खतापूर्ण है कि वाद-विवाद के मामलों में सदस्य को प्रत्येक विषय पर ही अपनी एक अलग राय रखनी चाहिए। सभा तो काम के निमित्त है सदस्य का कार्य यह है कि वह बड़ी बड़ी प्रवृत्तियों का समर्थन करने के लिए प्रस्तुत रहे जिनकी सामान्य दिशा को वह मोटे तौर पर स्वीकार करता हो। यदि उसकी मनःस्थिति इतनी श्रेष्ठ है कि वह प्रत्येक विषय पर मतदान करने के पूर्व उसका सूक्ष्म परीक्षण आवश्यक समझता है तो उसके दृष्टिकोण पर उचित टिप्पणी यही है कि वह किसी विधान-सभा का सदस्य होने योग्य नहीं है।

मन्त्रि-मंडल के अधिनायकत्व का प्रश्न जटिल है और मैं उस पर अगले अध्याय में विचार करूँगा। सभा के स्वरूप को समझने के लिए पहली आवश्यक चीज यह समझना है कि विधान के अन्दर पहल करने का काम न सभा का है और न होना चाहिए। उसका प्रमुख कार्य सरकार का निर्माण करना है और जब तक कि सरकार उसकी विश्वास-पात्र रहे, तब तक उसका यह कर्तव्य है कि वह उसकी पहल को स्वीकार करे। कॉमन-सभा और मन्त्रिमंडल के इस सम्बन्ध से यह निश्चित हो जाता है कि जो भी कानून पास हों, वे ऐसे होने चाहिए जिनके बारे में महत्त्वपूर्ण लोकमत निश्चित हो। यह उस समय और भी विशेष रूप से होता है जब कि सभा के सम्मुख कुछ बड़ी बड़ी समस्याएँ विद्यमान हों। यदि वह स्वयं को इनमें से केवल कुछ समस्याओं तक ही सीमित न रखे तो वह अपना कार्य [illegible] न कर सकेगी।

इसलिए सभा का पहला कार्य यह है कि वह सरकार का निर्माण करे और उसे विधान में पहल करने का अधिकार दे। वह इस कार्य को किस प्रकार करती है, इसका विवेचन मैं उस समय करूँगा जबकि मन्त्रि-मण्डल के निर्माण की समस्या पर विचार करूँगा। यदि हम यह मान लें कि सरकार अस्तित्व में है तो उस समय सभा के क्या कार्य हैं? वे कार्य हैं शिकायतों का सामने लाना, जनता को हर तरह की सूचना देना, वाद-विवाद करना। वाद-विवाद के द्वारा प्रयत्न किया जाता है कि लोकरुचि को बनाए रखा जाये और जो कुछ किया जा रहा है उसके महत्त्व के सम्बन्ध में जनता को शिक्षित किया जाये। सभा का एक प्रमुख कार्य है जिसका अर्थ वह सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक सदस्य तो अपनी प्रतिष्ठा बनाता है और दूसरा नहीं बना पाता। इसका प्रभाव सरकार के सदस्य-पृष्ठ पर भी पड़ता है। अंततः यह प्रश्न है कि व्यक्तिगत सदस्य को कॉमन-सभा के कार्य में क्या स्थान प्राप्त हो। इनमें से प्रत्येक विषय पर पृथक् अलग विचार करने की आवश्यकता है।

यह स्पष्ट है कि मैंने यहाँ पर यह मान लिया है कि वित्त का परीक्षण और निरीक्षण कॉमन-सभा का पृथक् और विशिष्ट कार्य नहीं है। मेरा ऐसा ही विचार है। वित्त नीति से पृथक् कोई वस्तु नहीं प्रत्युत उसकी एक अभिव्यक्ति है। यह निश्चित करके कि उसे दूसरे क्षेत्रों में क्या करना है सभा एक प्रकार से यही निश्चित करती है कि उसे वित्तीय क्षेत्र में क्या करना है। सभा में वित्त-मन्त्री का प्रधान-मन्त्री के पश्चात् दूसरा स्थान है। उसके कार्य का उसके अन्य साथियों द्वारा किए गए कार्यों की अपेक्षा कम ही परीक्षण हो सकता है। कॉमन-सभा जैसी एक बड़ी संस्था आगणनाओं का विवेचन नहीं कर सकती वह तो केवल उस सामान्य नीति का ही विवेचन कर सकती है जो कि इन आगणनाओं के पीछे रहती है। सदस्य कह सकते हैं "हमारी इच्छा है कि माध्यमिक शिक्षा पर अधिक व्यय होना।" वे वाद-विवाद में यह नहीं कह सकते कि एसेक्स में नर्सरी स्कूलों के लिए अधिक धन दिया जाना चाहिए था। उनका यह कहना एसेक्स निर्वाचन-क्षेत्र के सदस्यों के लिए तो रुचिकर हो सकता है, लेकिन लंकाशायर अथवा वेस्टमोर्लैंड के सदस्य तुरन्त यह कहने लगेंगे कि सभा का बहुमूल्य समय देश के

किसी एक विशेष भाग की शिकायतों को दूर करने के लिए नहीं है। यदि कॉमन-सभा सम्पूर्ण आर्थिक दृष्टि से आवश्यकताओं का परीक्षण करना चाहे, तो उसे ऐसा करने के लिए कुछ विशेष उपकरणों का निर्माण करना होगा।

अर्थोपाय की समस्या के सम्बन्ध में भी यही सच है। सम्पूर्ण सभा में बजट का विवेचन अधिक से अधिक करारोपण के सामान्य सिद्धान्तों का वित्त-मंत्री के प्रस्तावों के सम्बन्ध में प्रयोग ही हो सकता है। उससे यह निवेदन किया जा सकता है कि उसने आयकर बहुत अधिक रक्खा है या वह धनिकों पर पर्याप्त कर नहीं लगा रहा। उसे यह चेतावनी दी जा सकती है कि वह जनता के भोजन पर बहुत अधिक बोझा डाल रहा है। यह कहा जा सकता है कि मोटरकारों पर उसका कर उस प्रकार के वाहनों का जो विदेशी बाजार में अपना स्थान बना सकें उत्पादन निरुत्साहित करता है। उससे यह माँग रखने की प्रार्थना की जा सकती कि नगरभूमि मूल्य (urban land value) के कर में उसके पास उपेक्षित राजस्व का एक सफल स्रोत है। सदस्य कृषि के सम्बन्ध में उसकी उदारता का जोर-शोर से बखान कर सकते हैं। उसे यह चेतावनी दी जा सकती है कि वह ऋण के द्वारा अधिक धन एकत्रित कर रहा है और कर के द्वारा धन एकत्रित करने की ओर से उदासीन है। लेकिन वित्त-मंत्री की चाहे जितनी आलोचना की जाये प्रकीर्ण सभा में उसका प्रभाव विशिष्ट नहीं प्रत्युत साधारण ही होगा। मोटी रूपरेखाओं का नियन्त्रण उसे अपने ही हाथों में रखना पड़ता है। इसका विकल्प यह है कि सभा स्वयं ही विधान बनाए और फ्रांस तथा अमरीका दोनों का अनुभव यह बताता है कि इसका अर्थ दूषित विधान है। बजट-निर्मात्री समिति का उत्तरदायित्व इतना विकीर्ण होता है कि वह आवश्यक एकता या एकरूपता नहीं ला पाती। पुनश्च यह सम्भव है कि कुछ भिन्न उपकरणों द्वारा कॉमन-सभा वित्त-मंत्री के ऊपर अपना प्रभुत्व जमाने में समर्थ हो जाये। लेकिन हमें इसमें सन्देह है कि ऐसा होने पर एक बेहतर वित्त-व्यवस्था का निर्माण हो सकेगा। लेकिन कॉमन-सभा के पास ऐसे उपकरण नहीं हैं और उनकी अनुपस्थिति का तात्पर्य यह है कि या तो बजट वित्त-मंत्री का बजट होना चाहिए, उस रूप में जिसमें कि वह उसका उत्तरदायित्व सम्हालने के लिए तय्यार हो या कॉमन-सभा दूसरे वित्त-मंत्री को और शायद दूसरी सरकार को प्राप्त करे। लेकिन कॉमन-सभा ऐसा कदम उठाने के लिए तय्यार नहीं होगी और इसका अर्थ यह है कि वह विरोधी दल के माध्यम से वित्त मंत्री की और प्रकारान्तर से सरकार की आलोचना करती है और अन्तिम निर्णय निर्वाचकों में निर्वाचकों के ऊपर छोड़ दिया जाता है।

सरकार का निर्माण करने के पश्चात् हमारी पद्धति में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य शिकायतों को सामने लाना है। कोई भी सरकार प्रत्येक हित को सन्तुष्ट नहीं कर सकती और कुछ सरकारें कुछ हितों को चाहे वे महत्त्वपूर्ण हों या महत्त्वहीन संतुष्ट करने में बुरी तरह असफल रहती हैं। लोकतन्त्रात्मक शासन की यह विशेषता है कि यदि किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को कुछ शिकायत हो और वह सभा के किसी सदस्य को यह शिकायत सभा में उपस्थित करने के लिए तय्यार कर ले तो सभा

उसकी इस शिकायत पर अवश्य विचार करेगी। यह भी हो सकता है कि मि० ओ ब्रिएन (Mr O Brien) सकते हैं जिन्हें कानून की आवश्यक प्रक्रिया के बिना गिरफ्तार किया जाता है। वह श्रीमती सेविज हो सकती है जिनके ऊपर पुलिस कोई अपराध आरोपित करे लेकिन जिन्हें न्यायालय दोषमुक्त कर दे परन्तु इसके बाद भी पुलिस उनसे कठोर सवाल पूछे। सहकारी आन्दोलन वित्त-मंत्री द्वारा जिन्होंने पहले एक प्रसिद्ध अधिवक्ता के रूप में कह दिया था कि चूंकि सहकारी आन्दोलन मुनाफा नहीं कमाता अतः उस पर कर नहीं लगाया जा सकता अपने नाम पर लगाए गए कर के बारे में रुष्ट हो सकता है। वह भी रिक्तमनोज हो सकते हैं जो व्यापारिक पोतों के स्वामियों के साथ सद्व्यवहार करने की सरकार की अस्वीकृति के विरुद्ध क्षोभपूर्ण संघर्ष कर रहे हों। वह विरोधी दल हो सकता है जो या तो सरकार के ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव कर रहा हो या विदेशी मामलों के संचालन या किसी त्रुटि के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करने के लिए एक दिन की मांग कर रहा हो। विषय का कोई महत्व नहीं है। पद्धति इतनी सरल हो सकती है कि मंत्रियों से केवल एक सीधा-सा प्रश्न ही पूछा जाय या इतनी नाटकीय हो सकती है कि आवश्यकता के प्रश्न पर सदन को भंग करने के लिए प्रस्ताव उपस्थित किया जाये। आवश्यक बात यह है कि शिकायत को चाहे वह वास्तविक हो या अवास्तविक सामने लाया जा सकता है और सरकार को जहाँ तक हो सके शिकायत का संतोषजनक उत्तर देना चाहिए।

इस अधिकार के महत्व के बारे में किसी भी व्यक्ति को जिसने उसका प्रयोग देखा है कोई संदेह नहीं हो सकता। प्रशासन के संतोषप्रद संचालन के लिए इससे अच्छी और किसी पद्धति का आविष्कार नहीं हुआ। इसका अभिप्राय यह है कि सरकार को प्रत्येक कार्य दिन के प्रकाश में करना होगा और उसको जवाब भी दिन के प्रकाश में देना होगा। मैं यह नहीं कहता कि इससे न्याय का आश्वासन मिलता है। लेकिन इससे यह आश्वासन अवश्य मिलता है कि अन्याय के दोषारोपण की सतर्क छान-बीन होगी। वह मंत्री जिसके विभाग के विरुद्ध दोषारोपण किया जाता है यह समझता है कि उसकी अग्नि-परीक्षा है। वह सभा को विश्वास दिलाने के लिए आतुर होता है वह आलोचक से अपनी व्याख्या स्वीकार करवाने के लिए उत्सुक होता है। ऐसे बहुत से प्रकरण हैं जिनमें कि व्यक्तिगत सदस्य को अपनी कड़ी से कड़ी शिकायत का शीघ्र ही परिहार मिला हो। सैविज प्रकरण में सम्पूर्ण सभा दलगत भेदभावों को भूलकर उस सदस्य के पक्ष में थी जिसने सभा के स्थगन का प्रस्ताव उपस्थित किया था। इस सम्बन्ध में गृह-मंत्री को विवश होकर पुलिस की शक्तियों तथा प्रक्रिया के सम्बन्ध में विचार करने के लिए एक राजकीय आयोग की नियुक्ति करनी पड़ी थी। इस आयोग ने पुलिस अधिकारियों की शक्ति में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए।

निसर्देह इस पद्धति की कुछ सीमाएँ भी हैं। उसकी सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर रहती है कि सदन का उसके सम्बन्ध में क्या दृष्टि-बिन्दु है। निन्दा के केवल कुछ ही मत सफल हो सकते हैं। यदि किसी वित्त-मंत्री ने व्यक्तिगत अधिवक्ता के रूप में सहकारी आन्दोलन के ऊपर कर लगाने का विरोध किया हो और वित्त-मंत्री बनने पर

पर्दे सहकारी आन्दोलन के ऊपर कर लगाने पड़ें और इस पर उसकी आलोचना हो तो वह अपना मुँह छिपाने के लिए अपने दल की तटस्थता नीति का ही बहाना लेगा। अभी हाल के एक प्रकरण में नौसैनिक नावघरों (Admiralty dock-yards) के औद्योगिक मजदूरों को अपने अभियोगों अथवा आपत्तियों का कारण दिए बिना ही पदच्युत कर दिया गया। यह बात ब्रिटिश परम्पराओं के बिल्कुल विरुद्ध थी। सम्बद्ध मंत्री ने अपने दल से विश्वास रखने की माँग करके तथा अन्याय के अनुचित आरोपों का इस प्रश्न के ऊपर बलवान बहुमत का प्रयोग कर टाल दिया। १९३१ ई० में फिलस्तीन उपद्रवों में सरकार ने कठिनाई से बचने का यह रास्ता निकाला कि इस प्रश्न के ऊपर एक राजकीय आयोग की नियुक्ति का वचन दिया और आयोग को कुछ ऐसी शर्तों के साथ नियुक्त किया कि शिकायत के मूल कारणों पर विचार करना जिसके लिए उसकी स्थापना की गई थी आयोग की जाँच-पड़ताल के क्षेत्र से बाहर था। फल यह हुआ कि जनता धीरे-धीरे मूल प्रश्न को बिल्कुल भूल गई। यह भी हो सकता है कि मंत्री किसी प्रश्न का उत्तर देना इस आधार पर अस्वीकार कर दे कि यह सार्वजनिक हित में नहीं है अथवा वह शिकायत के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर सकता है चाहे शिकायत सच्ची अथवा उचित हो पर उसके लिए ऐसे प्रमाण जुटाना सम्भव न हो जिससे कि कॉमन-सभा में मंत्री की स्थिति को खतरा पहुँचता हो।

ये सब महत्त्वपूर्ण सीमाएँ हैं लेकिन उनको पूरा करने में टोका-टोकी कर देने के बाद भी इस अधिकार का महत्त्व बहुत अधिक है। यह कहना कितना ठीक है इसे एक छोटे से उदाहरण से समझा जा सकता है। संसदीय पद्धति के बारे में यह सही है कि जनरल मोर्टिमर ने रीडिंगटन ट्रायल में जैसा प्रदर्शन किया था उसके बाद से ब्रिटिश सरकार के चौबीस घंटे भी सत्ता में नहीं रह सकते थे। ब्रिटिश प्रधान मंत्री को इस बात का पता होता है कि ऐसे मामलों के बारे में सभा में उनसे प्रश्न किया जायगा और वह सभा के समक्ष हाल के पूर्व ही उसका स्पष्टीकरण दे देता जिससे वह सभा के सदस्यों को विश्वास दिला देता कि इस प्रश्न पर वह पूर्ण रूप से सभा के साथ है। शिकायतों को सामने लाने की शक्ति का आशय शिकायत के प्रति ध्यान आकृष्ट करने की शक्ति है। वह सरकार जिस विरोध के द्वारा अपने कार्यों की सफाई देने के लिए बाध्य किया जाता विरोध के निवारण की सम्भावना पैदा करती है। यह उत्तरदायी शासन के लिए अमूल्य कवच है। जहाँ यह शक्ति नहीं होती वहाँ अन्याय के लिए काफी गुंजाइश रहती है। जनता के अन्दर सबसे अधिक आतुरता उस समय बढ़ती है जब कि वह अपनी शिकायत प्रस्तुत करने और केन्द्रीय सरकार के ऊपर उसके निवारण के लिए जोर डालने में असमर्थ हो। कॉमन-सभा इसे कर सकती है और कभी-कभी तो इतने जोर के साथ करती है कि समूचे देश का ध्यान सम्बन्धित प्रश्न के ऊपर केन्द्रीभूत हो जाता है। डेविस-प्रकरण उस समय तक जब तक सरकार ने शिकायत के निवारण का आश्वासन नहीं दे दिया था सभा के लिए एक तीव्र स्थानीय समाचार रहा था। क्या कोई बर्लिन के किसी संवाददाता के विषय में यह सोच सकता है कि उसके साथ भी यदि वह नाजी पार्टी के अनुचित व्यवहार के बारे में जर्मन देश के संसद-

सस्य मे शिकायत करती तो ऐसा ही व्यवहार होता ?

शिकायत को सामने लाने की शक्ति के समान ही सूचना प्राप्त करने की शक्ति भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। संसदीय शासन का जीवन और मरण इसी बात पर निर्भर है कि वह सरकारी गतिविधियों और सरकारी प्रक्रियाओं के बारे में कितना ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मैं उदाहरण के लिए जुलाई २१ १९३७ को लेता हूँ। इस दिन श्री ईडन स्पेन और चीन विषयक अपनी वैदेशिक नीति जापानी अरब में शस्त्रों के आयात आंग्ल-अमरीकी सम्बन्धों पर फिजमोल-प्रतिवेदन के प्रभाव इस देश में चेकोस्लोवाकिया के विरुद्ध प्रचार चीन जापान के सम्बन्धों के साथ राष्ट्र-संघ की प्रासंगिकता ब्रिटिश राजदूत के बर्लिन में दिए गए एक भाषण तथा राष्ट्र-संघ के सुधार के बारे में भाषण देते हैं। श्री डफ कूपर जनरल फ्रेंको के आक्रमणों से ब्रिटिश जहाजी बेड़े की रक्षा योजना जहाजी कारखानों (dock yards) में कारबार की हालत सिंगापुर में मल्लाहों की उपलब्धियाँ वीयरनेस में टीका लगाने के नियमों, और पोर्टलैंड बिल के समीप समुद्र के अन्दर के प्रयोगों की अवधि में एक आरोपित चाह के बारे में प्रकाश डालते हैं। श्री आर्म्सबी गोर उपनिवेशों के खनिकों के सम्बन्ध में परामर्शीय समिति त्रिनिडाड के औद्योगिक उपद्रवों अदन प्रोटेक्टरेट की समता नाइजेरिया के विभाजन और जंजीबार के लौंग-उद्योग आदि के विषय में प्रश्नों के उत्तर देते हैं। सर थामस इन्स्किप नौका-शास्त्र के कारखानों हवाई जहाजों के सम्भरण और प्रतिरक्षा की विविध समस्याओं के बारे में अपनी नीति स्पष्ट करते हैं। विमान चालन यातायात मार्ग की दुर्घटनाओं, रेल के डिब्बों के सम्भरण विद्युतीकरण की देरी कोयले से तेल निकालने और चौदह से सत्रह वर्ष तक की अवस्था के बच्चों के अवैध नियोजन के सम्बन्ध में कारखानों के प्रधान इन्स्पेक्टर के कर्मचारी वर्ग की उपयुक्तता आदि के ऊपर प्रश्न पूछे जाते हैं। कहने का सार यह है कि सदस्यों में तो सूचना प्राप्त करने की असीम क्षुधा और सरकार में इस क्षुधा को तृप्त करने की अपूर्व उत्कंठा रहती है।

प्रश्न पूछने की इस प्रक्रिया के महत्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं। इससे राज्य के विभागों का काम जनता के सामने आ जाता है। इससे उन्हें यह भान हो जाता है कि वे जनता की ऐसी सतर्क निगरानी में कार्य कर रहे हैं जो उनकी निपुणता और ईमानदारी की सतत जाँच करती रहेगी। यह सिविल सर्विस की बहुत सी नौकरशाही प्रवृत्तियों को यदि पूर्ण रूप से रोक नहीं सकती तो कम अवश्य कर देती है। वे व्यक्ति जिन्हें अपने निर्णयों के लिए दिन-प्रतिदिन उत्तर देना पड़ता है, इस बात की चेष्टा करते हैं कि वे अपने इस कार्य को अच्छी तरह कर सकें। यदि कोई व्यक्ति प्रश्नोत्तरों के इस क्रम का कुछ समय तक निरीक्षण करे, तो उसको यह अवश्य ज्ञात हो जायगा कि प्रशासन को जनता के लिए सुबोध बनाने की दृष्टि से यह प्रक्रिया अत्यन्त उपयोगी है। लेकिन इसका क्रम यहीं समाप्त नहीं हो जाता। कुछ प्रश्नों से सम्बद्ध विभाग की दोषपूर्ण स्थिति का ज्ञान होता है। मंत्री को यह पता चल जाता है कि उसके उत्तर असंतोषप्रद रहे हैं। वह सोचता है कि उसे अपने विभाग द्वारा दिए गए उत्तर से आगे बढ़ना चाहिए। वह उस

विशिष्टता प्राप्त लोकमत को या यह आग्रह करता है कि और अधिक ज्ञात होना चाहिए, सन्तुष्ट करने के लिए उत्सुक होता है। वह समस्या पर रिपोर्ट देने के लिए प्रवर समिति, विभागीय समिति अथवा राजकीय आयोग को नियुक्त करता है। या वह सोचता है कि जनता के सामने ऐसा कोई प्रश्न आना चाहिए जिसके बारे में पर्याप्त जानकारी न हो या जनता की भावना सम्भ्रमित और उद्वेलित हो। समिति तथ्यों की खोज करेगी और उस संबंध में नीति की रूपरेखा निश्चित करेगी जिस पर आगे चलकर कार्यवाही सम्पन्न हो सके।

संसदीय पद्धति की प्रतिनिधिक शासन के प्रति एक बहुत बड़ी देन समितियों द्वारा किया गया अनुसंधान है। इन समितियों से जो प्रतिवेदन प्रकाशित किए हैं वे अपने-अपने विषय के इतिहास में सीमा-चिह्न रहे हैं। शिक्षा, कारखानों की स्थिति के सुधार, निर्धन विधान-सुधार, शासन-तन्त्र, सभा के पुनर्गठन, मंत्रियों की शक्तियों की सीमाओं, स्थानीय कर के सिद्धान्तों आदि के विषय में हमारे पास जो प्रतिवेदन हैं उन्होंने सरकार की नीति पर गहरा प्रभाव डाला है। जब १९३१ के बजट के समय से पूर्व ज्ञात हुआ जान से लोकमत असन्तुष्ट हो गया था, पोस्टर-समिति ने उसे संतुष्ट करने की दिशा में आश्चर्यजनक कार्य किया था। यह एक ऐसा कार्य था जो केवल लोकतन्त्रात्मक शासन में ही संभव हो सकता था। यही बात फिशर-समिति की अद्वितीय जाँच के बारे में भी, जिसके फलस्वरूप लोक-सभा से एक विभाग के एक स्थायी सचिव को हटा दिया गया था, सही है। एक दृष्टि से फिशर प्रतिवेदन न्यायमूर्ति पोर्टर के प्रतिवेदन से भी अच्छा है। पोर्टर समिति एक ऐसे आरोपित अपराध के ऊपर लागू हुई थी जो सर्वत्र ही चर्चा का विषय था। किन्तु फिशर-समिति ने एक ऐसे मामले की छान-बीन की थी जो अधिक से अधिक कुछ मात्र व्यक्तियों को ही ज्ञात था और जिसे गुप्त कार्यवाही द्वारा बड़ी सुगमता से जनता से छिपाया जा सकता था। यह प्रकरण इस बात का सजीव प्रमाण था कि संसदीय शासन ने सिविल सर्विस में ईमानदारी की परम्परा को जो नौकरशाही की दुर्बलताओं के विरुद्ध सर्वश्रेष्ठ कवच है कितना विकसित कर लिया है।

इस शासन की भी विधायनी शासन काल के शासन की भाँति कुछ सीमाएं हैं। समितियों द्वारा किए गए अनुसंधान का मूल्य अधिकतर समितियों के सदस्य-वृन्द पर निर्भर है और यह कुछ ऐसी रोचक समस्याएँ खड़ी कर देता है जिन पर दो शब्द कहना ठीक होगा। हो सकता है कि सरकार मितव्ययिता की धुन में समिति को पर्याप्त सचिवीय सहायता न दे। उसके सदस्यों की नियुक्ति उनके ज्ञान के आधार पर नहीं प्रत्युत इस आधार पर कि मंत्री अपने किसी मित्र को प्रतिष्ठा देना चाहे, हो सकती है। सरकार इस अभिप्राय से नियमित अवकाश-प्राप्त राजनीतिज्ञों में से और श्रमिक संघों के अधिकारियों में से जिनके विचारों पर विश्वास किया जा सके चयन करता है। प्रतिवेदन में सर्वसम्मति बनाए रखने की खींच-तान रहती है मानो निष्कर्षों का महत्त्व विश्लेषण की शक्ति में नहीं प्रत्युत उन निष्कर्षों को निकालने में है जिनसे वर्तमान हितों को कम से कम चोट पहुँचे। स्थानीय शासन के सम्बन्ध में नियुक्त किए गए राजकीय आयोग का प्रतिवेदन इस खतरे का सजीव उदाहरण है। अपने समस्त

परिश्रम के पश्चात् वह उन समस्याओं का सामना करने से जिनका परीक्षण करने के लिए उसका निर्माण किया गया था मुकर जाता है। उसका महत्त्व केवल साक्ष्य विशेषकर उन अधिकारियों के साक्ष्य में है जो उसके सामने उपस्थित हुए थे। साक्ष्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है लेकिन किसी राजकीय आयोग की नियुक्ति केवल साक्ष्य प्राप्त करने के लिए ही तो नहीं होती।

इन समस्त दुर्बलताओं के बावजूद भी इस पद्धति का महत्त्व बहुत अधिक है। इसके तथा सरकारी प्रकाशनों में उपलब्ध प्रचार सूचना के बिना हमारे पास ऐसा कोई तथ्यात्मक आधार नहीं होता जिसके द्वारा हम जीवन की अनवरत सामग्री से कुछ सिद्धान्तों को निःसृत कर सकें। हमें यह याद रखना चाहिए कि कार्ल मार्क्स ने पूंजीवादी सभ्यता की जो भर्त्सना की है वह मुख्यतः उन तथ्यों के ऊपर आधारित है जो उसे संसदीय दबाव के फलस्वरूप की गई छान-बीनों के द्वारा उपलब्ध हुए थे। चाहे किसी भी दृष्टि से देखा जाय यह एक अद्भुत तथ्य है। यदि हम इन प्रवृत्तियों की फासीवादी देशों के सीमित और अस्पष्ट प्रचार से तुलना करें, तो इस तुलना से संसदीय पद्धति का पक्ष ही अधिक पुष्ट होता है। आज संसार में एक भी ऐसा फासीवादी देश नहीं है जो मजदूरी और मूल्य, बेरोजगारों की संख्या एवं उनके साथ किए जाने वाले व्यवहार तथा न्याय-व्यवस्था आदि के बारे में जनता को सही सूचना देता हो। ऐसा कोई भी फासीवादी देश नहीं है जो कि जनता को अर्द्ध-सत्यों तक के परिणामों के बारे में विचार-विमर्श की अनुमति देता हो। तथ्यों को बता देना और फिर राजनीति के ऐसे सिद्धान्त निकालना जो इन तथ्यों का मन्तव्य स्पष्ट करते हों एक ऐसी सफलता है जिसका सही मूल्यांकन सुगम नहीं है।

शासन-सभा वाद-विवाद की भी सभा है। युद्धोत्तर वर्षों में इस कार्य के महत्त्व को कम करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत हुई है। हम सब कुछ न कुछ मात्रा में भूतकाल के भक्त हैं। हम सुगमता से यह मान लेते हैं कि संसद का महान युग बह है जिसे हम विस्मृत कर चुके हैं। ग्लैडस्टन के समय के राजनीतिज्ञ कहते हैं कि सभा अब ऐसी नहीं है जैसी कि वह श्री एस्क्विथ के समय में थी। श्री एस्क्विथ के समय के राजनीतिज्ञ बड़ी वेदना से ग्लैडस्टन तथा डिज़रैली के महान दिवसों को याद देखते थे। इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि उन दिनों का कोई वृद्ध सदस्य आह भरकर पिट और फाक्स के दिनों को याद करता होगा। कहा जाता है कि वाद-विवाद अब पुराने स्तरों के नहीं रहे वे सभा के नेताओं द्वारा बहुत अधिक नियमित होते हैं, वे केवल रिक्त और यांत्रिक प्रदर्शनमात्र हैं क्योंकि ९९ प्रतिशत स्थितियों में वाद-विवाद के परिणामों का पहले से ही ज्ञान रहता है। सभा के ऊपर मुंह चिढ़ाता राजनीतिक कपट का प्रभाव सा बन गया है। कार्लाइल जैसे बहुत से व्यक्ति इस 'बातूनी दुकान' की ओर देखकर आह भरते हैं।

इस सबके प्रत्युत्तर में कहने के लिए बहुत सी बातें हैं। इनमें से एक प्रमुख बात यह है कि बातूनी दुकान का विकल्प समाहार-शिविर (कॉन्सन्ट्रेशन कैम्प) है। उस समाज को जो विचार-विमर्श कर सकता है दमन की कोई आवश्यकता नहीं है और जितनी ही अधिक विचार-विमर्श में रुचि बनाए रखने की क्षमता होगी उतनी ही अधिक उस सम

ढाँचे को बनाए रखने की संभावना होगी जो कि सामाजिक शांति को कायम रखता है। मेरे विचार से वाद-विवाद के स्तर में कमी मानने का कोई कारण नहीं है। सभा की प्रवृत्तियाँ उसी प्रकार बदल गई हैं, जिस प्रकार उसकी रचना बदल गई है। अब सभा मुख्य रूप से उच्च वर्ग को ही प्रतिबिंबित नहीं करती। अब सदस्यों की शिक्षा भिन्न है उनकी विवेच्य-विषय-वस्तु भिन्न है और वाद-विवाद की शैली निःसंदेह अपने को नई परिस्थितियों के अनुकूल ढालती है। यदि कोई व्यक्ति साठ या सत्तर वर्ष पूर्व के संसदीय वाद-विवादों को पढ़े तो उसे सर्वश्रेष्ठ अपवादरूप ऐतिहासिक भाषणों को छोड़कर और सब कुछ मिलेगा। वह वही पुनरावृत्ति वही उसी प्रकार नेताओं का वही आधिपत्य पायेगा। जब भी ग्लैडस्टन जवाब दे चुकते हैं सभा रिक्त हो जाती है ठीक उसी प्रकार जैसे कि वह श्री चैम्बरलेन के बैठ जाने पर रिक्त हो जाती थी। एक या दो पीढ़ी पूर्व भाषण सभा के मत को उसी प्रकार नहीं बदलते थे जिस प्रकार कि वे आज नहीं बदल पाते। संसदीय शासन का आलोचक जो यह आशा नहीं रखता कि वे बदलें। इसको मानने का इसी प्रकार कोई कारण नहीं है जिस प्रकार कि यह मानने का कि कुछ प्रवचन ईसाइयों के एक समाज को उत्पन्न कर देंगे। वाद-विवाद की प्रक्रिया में आकस्मिक महापरिवर्तन की आशा रखना निर्मूल है और जो लोग सभा की इस आधार पर आलोचना करते हैं कि उसके भाषणों का दूरगामी प्रभाव नहीं होता वास्तव में वे बौद्धिक भ्रांति के शिकार हैं।

वास्तव में संसदीय वाद-विवाद एक ऐसी धारावाही प्रक्रिया का एक भाग है जिसका कोई एक भाग स्वयं में ही महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि उसका अविराम भाग गम्भीर और रचनात्मक ही हो। यदि कॉमन-सभा में निरन्तर उत्तेजना बनी रहे, तो यह अवश्यम्भावी है कि वह निरन्तर संक्रान्ति में रहेगी। वह साधारणतः इस बात का संकेत होता है कि सत्तारूढ़ सरकार अब पतन की ओर पैर बढ़ा रही है। महत्त्व आकस्मिक महान् वाद-विवाद का उतना नहीं है जितना इस बात का है कि संपूर्ण संसद का प्रतिबिम्ब निर्वाचकों की राय के ऊपर क्या प्रभाव डालता है। इस दृष्टि से वाद-विवादों का असीमित महत्त्व है। वे सूत्र हैं और उनके क्रम में सदस्यों, नेताओं और भाषणों में जो कुछ किया और कहा जाता है वही वह सजीव सामग्री है जिसके आधार पर मतदाता की पसन्द बनती है। वाद-विवादों के द्वारा ही श्री ग्लैडस्टन ने ब्रिटिश जनता के हृदय में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। वाद-विवाद के द्वारा ही श्री एटली राष्ट्रीय नेता होने के अपने दावे की स्थापना करते हैं। श्री ईडन अपनी विदेश-नीति के पक्ष में जो कुछ कहते हैं उसके एक-एक शब्द का विश्लेषण कर लिया जाता है और उसके एक-एक संभव और असंभव अर्थ को समझा लिया जाता है। लोकमत बोले हुए शब्द से और उन बोले हुए शब्द के बारे में जो कुछ प्रकाशित होता है, उससे जीवित रहता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कोई बड़ा अवसर इस प्रतिबिम्ब का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र होता है। हम यह विश्वास रख सकते हैं कि एडवर्ड अष्टम के अवसर पर दिया गया श्री बाल्डविन का भाषण उनके सम्बन्ध में दिए गए भावी निर्णय की बुनियादों में से एक होगा। किन्तु बड़ा अवसर केवल एक सूत्र है। संसद् महान् अवसरों के आधार पर ही नहीं चलती।

मेरे विचार से यह भी महत्त्वपूर्ण नहीं है कि समस्त सामान्य परिस्थितियों में वाद विवाद का परिणाम विचार-विमर्श के पूर्व ही ज्ञात रहता है। यही तो दल-पद्धति का उद्देश्य है। यदि सरकारी पक्ष और विरोधी पक्ष समान रूप से अपने-अपने अनुयाइयों के मतों पर निर्भर न रह सकें तो यह मानना होगा कि सदस्यों का निश्चय बहुत अस्थिर है। नीति की प्रवृत्तियों में कुछ तो एकसूत्रता रहनी ही चाहिए यदि सदस्य सरकार को हर बार पद-च्युत करने की ठान लें तो हमारी स्थिति बड़ी खराब हो जायगी। सदस्य अपने विश्वासों के विरुद्ध मत नहीं देते। वे यही कहते हैं जो शायद हम सब कहेंगे कि यद्यपि वे इस विशेष विधेयक की इस विशेष धारा को पसन्द नहीं करते अथवा वे नीति के इस विशेष मुद्दे के प्रतिकूल हैं फिर भी वे सरकार बदलने की अपेक्षा अपने द्वारा समर्थित सरकार को ही सत्तारूढ़ रखना पसन्द करते क्योंकि हो सकता है कि वे दूसरी सरकार के विरुद्ध और भी अधिक बार मत दें।

यह भी नहीं भूलना चाहिए कि स्वतन्त्र मतदान का सिद्धान्त वास्तव में सही नहीं है। सरकार कुछ सीमाओं से परे अपने बहुमत को खींचने का साहस नहीं कर सकती क्योंकि ऐसा करने पर उसे अपने बहुमत को खोने का भय रहता है। श्री बैल्डविन को सर सैमुअल होर का त्याग करना पड़ा था श्री चेम्बरलेन को अपने राष्ट्रीय प्रतिरक्षा अंशदान ( National Defence Contribution ) का मूल स्वरूप छोड़ना पड़ा था। १९२३ में 'एक्स पर्टि ओ' ब्रिएन (Ex parte O Brien) के सम्बन्ध में श्री विजमैन की भूल के पश्चात यह प्रस्ताव किया गया था कि क्षतिपूर्ति का एक विधेयक पास किया जाय जिसमें सभी गिरफ्तार किए गए व्यक्तियों को प्रतिकार के उनके कानूनी अधिकार से वंचित कर दिया जाय। सम्पूर्ण सभा ने इस सिद्धांत का विरोध किया और उसे न्याय का उल्लंघन बतलाया। सरकार को सभा की राय के आगे झुकना पड़ा था। वास्तविकता यह है कि स्वतन्त्र वाद-विवाद का तर्क निरी मूर्खता है। यह उन लम्बी बातचीतों को जो दलों द्वारा नीति-निर्धारण के पूर्व चलती हैं तथ्यों के मूल्यांकन मतों के प्रकाशन और सम्बद्ध हितों के प्रकाशन को भूल जाता है। वह इस बात को भी भूल जाता है कि दल अपने समर्थकों की रायों और भावनाओं को ज्ञात करने के लिए निरन्तर व्यग्र रहते हैं और कॉमन-सभा में श्रेष्ठ नेतृत्व की कसौटी यह समझने की योग्यता है कि नेता अपने अनुयाइयों को किस सीमा तक अपने साथ ले चल सकता है। वाद-विवाद सरकारों को सामान्यतः इसलिए नहीं पलट देते क्योंकि सरकार का मुख्य कार्य अपने समर्थकों के आशानुरूप कार्य करना है। जब कोई नेता यह करने में इस सीमा तक असफल रहता है कि अनुयाइयों में असंतोष उत्पन्न हो जाय तो फल यह होता है कि वह १८४६ में पील की तरह या १९१२ में श्री मकडॉनल्ड की तरह अपने अनुयाइयों द्वारा त्याग दिया जाता है। सभा कक्ष में मत-विभाजन का यह रहस्य नहीं है जैसा कि श्री रैमज़े म्योर का विचार है कि सरकार के हाथ में सभा का विघटन करने की धमकी रहती है। यह सरकार को इस धमकी के अलावा और किसी तरह रह ही नहीं सकती शीघ्र ही सरकार नहीं रहेगी।

कॉमन-सभा का प्रमुख कार्य उसके समस्त कार्यों में सबसे अधिक रहस्यपूर्ण है।

इसकी कीमियागिरी का वर्णन उसकी व्याख्या की अपेक्षा अधिक सुगम है। सभा में प्रतिष्ठा का निर्माण सीधे योग्यता का फल नहीं होता। सर चार्ल्स जैसेज जैसे बहुत से प्रथम कोटि के मेधावी व्यक्ति कॉमन-सभा में असफल रहे। उसके ऊपर केवल भाषण देने की प्रतिभा या वाद-विवाद की शक्ति का ही प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ वह योग्यता जिसके महत्त्व का ज्ञान कॉमन-सभा के बाहर ही था कभी प्रभावित नहीं हुई। चरित्र की प्रतिष्ठा सदस्य को सभा में अमित महत्त्व दे सकती है चाहे उसकी मानसिक शक्ति साधारण ही क्यों न हो। लार्ड एल्थोर्प और श्री वाल्टर लोंग दोनों ही इस प्रतिष्ठा के उदाहरण हैं। यदि सभा किसी सदस्य की प्रशंसा करती है तो यह आवश्यक नहीं है कि वह उसका आदर भी करती हो। वह आदर और प्रशंसा में भेद करती है और कोई भी व्यक्ति इस भेद को समझे बिना सभा की कार्यवाही को नहीं समझ सकता। सभा उस धाराप्रवाही वक्ता की अपेक्षा जो अपना नाम लाभ के लिए बोल रहा हो उस वास्तव वक्ता को कहीं अधिक ध्यान से सुनती जो एक एक कर अपनी हार्दिक भावनाओं के अनुसार बोल रहा हो या ऐसी कोई जानकारी दे रहा हो जिसे वह महत्त्वपूर्ण समझता हो। वह उस बुद्धिमान व्यक्ति पर अविश्वास करती है जो अपना आतंक जमाने की चेष्टा करता है। वह उस उपदेशक वक्ता को भी पसन्द नहीं करती जो सदस्यों को उनकी भलाई के लिए प्रवचन देता मालूम पड़े। यदि कोई व्यक्ति बाहर से प्रतिष्ठा लेकर सभा में प्रवेश करता है तो सभा उसे सन्देह की दृष्टि से ही देखती है। वह उस व्यक्ति से घृणा करती है जो मित्रता को एक विलासिता के रूप में प्रयुक्त करता है। लेकिन यदि किसी व्यक्ति का भाषण उसकी किसी गहरी मार्मिक अनुभूति के ऊपर आधारित है तो सभा उसके प्रति बड़ा नम्र व्यवहार दिखाएगी।

इस सबके वर्णन करने का सरल ढंग यह है कि कॉमन-सभा एक आकर्षक संस्था है और उसमें इस संस्था की सब विशेषताएँ पायी जाती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह सरल नहीं भी है क्योंकि वे व्यक्ति जिन्हें वर्षों तक साथ-साथ रहना और साथ-साथ काम करना पड़ता है अत्यन्त संघर्ष की आकस्मिक परिस्थितियों में भी एक दूसरे के प्रति सहयोग और मित्रता की आदतें विकसित किए बिना नहीं रह सकते। ये आदतें महत्त्वपूर्ण भी हैं क्योंकि उनसे समझौते का वह आवश्यक वातावरण तैयार होता है जो संसदीय शासन का सार है। यदि सरकारी पक्ष विरोधी पक्ष के सामने अधिक की मुद्रा से खड़ा हो तो यह स्पष्ट है कि वाद-विवाद कठिन हो जायगा एवं शान्ति असंभव हो जायगी।

इन आदतों से एक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्देश्य पूर्ण होता है। सभा के ऊपर सदस्य का प्रभाव मन्त्रि-पद के लिए उसकी योग्यता को जाँचने का एक स्पष्ट उपाय (यद्यपि यह एकमात्र उपाय नहीं है) होता है। उस व्यक्ति में जिसे एक विभाग का शासन करना है वे गुण आवश्यक हैं जिनसे वह कॉमन-सभा के लिए स्वीकार्य हो सके। वह कॉमन सभा के लिए इस प्रकार स्वीकार्य है इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह एक श्रेष्ठ मंत्री होगा लेकिन यदि वह कॉमन सभा के लिए स्वीकार्य न हो तो इसका यह अभिप्राय अवश्य होता है कि वह सफल मंत्री न हो सकेगा। जैसा कि एक प्राचीन यूनानी कहावत

में कहा गया है केवल यही सही नहीं है कि यह व्यक्ति को प्रकट कर देता है। इससे भी अधिक सही यह है कि सभा का ध्यान को आकृष्ट करने की योग्यता कुछ अर्थों में शक्ति प्राप्त करने की पात्रता का प्रमाण है। यह मनुष्यों को सम्हालने की उस कला का एक भाग है जो नेतृत्व का केन्द्र बिन्दु है। इससे व्यक्ति के चरित्र की पूर्ण परीक्षा हो जाती है। यदि किसी सरकार की आलोचना नहीं होती तो वह जिसको चाहे अपना सदस्य बना सकती है। नपोलियन कहा करता था कि मेरे की स्थिति में एक मूर्ख भी शासन कर सकता है। लेकिन वह सरकार जिसके सदस्य निरन्तर आलोचना की आग में हों जो इस आलोचना के आगे बुद्धिमत्ता का भाव बनाए रक्खें जो क्रोध से बचते रहें, जो उदारता तथा संयम से काम लें जो यह समझते हों कि कभी-कभी किसी प्रश्न के उत्तर में केवल भाषण कला और पुनरावृत्ति से ही काम नहीं चलता है कठिन से कठिन परिस्थिति में भी अपने मस्तिष्क को शांति रक्खेगी।

मेरे विचार में यह सही है कि सभा अपने सदस्यों को जो प्रतिष्ठा देती है उससे यह भली भांति ज्ञात हो जाता है कि कौन व्यक्ति मन्त्रि-पद के योग्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह गलतियां करती है लेकिन वह खराब गलतियां नहीं करती। जिन व्यक्तियों को वह रोचक और उद्योगशील पाती है वे अधिकतर रोचक और उद्योगशील होते हैं सभा इन व्यक्तियों को अपने इन गुणों को प्रदर्शित करने के लिए प्रेरित करती है क्योंकि इसकी मान्यता के पारितोषिक बहुत बड़े हैं। कहने का सार यह है कि सभा अपने वातावरण द्वारा व्यक्ति में से उसके उन सर्वोत्कृष्ट गुणों को निकाल लेती है जो कि दलपद्धति में शासन के लिए आवश्यक होते हैं। हमारे समय में लार्ड बाल्डविन ने यह अच्छी तरह प्रकट कर दिया है। जिन गुणों के कारण उन्होंने सभा के ऊपर इतना आश्चर्यजनक प्रभाव जमा लिया था उन्हीं गुणों के कारण उन्होंने बाद में राष्ट्र के ऊपर इतना प्रभाव जमा लिया था। मेरे विचार से एडवर्ड सप्तम् के सिंहासन-त्याग जैसी भूचालकारी घटना इस प्रभाव के बिना इतनी सफलता से नहीं हो सकती थी। इस अतुल प्रभाव के रहस्य का वर्णन करना कठिन है लेकिन मेरे विचार से इस रहस्य का मूल लोगों के हृदय में ऐसा विश्वास प्राप्त कर लेना है जो सम्भवतः मतभेदों के पार चला जाता है। लार्ड एस्क्वीथ में यही गुण था और सर एडवर्ड ग्रे के सदस्यों के ऊपर प्रचण्ड अधिकार का भी यही कारण है। यह विश्वास सभा के इस प्रतिमान पर निर्भर रहता है कि अमुक मंत्री उसका और उसके द्वारा उन धारणाओं का जिनके ऊपर वह आश्रित है आदर करता है। १९१८-२२ की संसद् एक खराब संसद् थी क्योंकि उसमें इस प्रकार के विश्वास का अभाव था। इसी प्रकार १९३१ की संसद् भी एक खराब संसद् थी क्योंकि उन परिस्थितियों ने जिनमें उसका निर्वाचन हुआ था इस विश्वास को असंभव कर दिया था।

इस विश्वास के संचालन के लिए दो वस्तुएं आवश्यक हैं। इनमें से पहली वस्तु एक लम्बे समय तक सदन की सदस्यता है। वे सदस्य जो एक दूसरे को काफी समय से नहीं जानते एक दूसरे पर विश्वास नहीं कर सकते एक दूसरे के व्यक्तित्व को नहीं पहचान सकते आपस में सहयोग और समभाव की भावना का बड़े उद्देश्यों के लिए

मिल जुल कर काम करने की प्रवृत्ति का विकास नहीं कर सकती। अमरीका में सैद्धान्तिक दृष्टि से तो सीनेट और प्रतिनिधि सभा की शक्तियां समान हैं लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से सीनेट की शक्तियां प्रतिनिधि सभा की शक्तियों से अधिक हैं। इसका कारण यह नहीं है कि सीनेट के सदस्य लम्बी-लम्बी अवधि के लिये निर्वाचित होते हैं। यदि कोई व्यक्ति यह याद रखे कि श्री ग्लैडस्टन कॉमन-सभा में साठ वर्षों से अधिक और श्री डिज़रैली चालीस वर्षों से अधिक समय तक रहे थे श्री एस्क्विथ पचास वर्षों से कुछ कम समय तक सदस्य रहे थे और श्री लायड जार्ज ने अपने जीवन का आधा से अधिक समय वहाँ व्यतीत किया है यद्यपि श्री चैम्बरलिन प्रधान-मन्त्री तो संयोग से ही हो गए थे वे अपने प्रधान-मन्त्रित्व के समय पन्द्रह वर्ष से संसद के सदस्य रहे थे और बीच के कुछ काल को छोड़ कर श्री मैकडानल्ड अठारह वर्ष से संसद के सदस्य रहे थे तो वह इन सबका महत्त्व समझ लेगा। यदि कोई व्यक्ति काफी समय तक कुछ बड़ी-बड़ी घटनाओं के बीच में रहता है तो उस पर भी उन घटनाओं का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। उनका सफल प्रशासन के वातावरण से परिचय होता है। वे मिल-जुलकर काम करने निर्णय करने और फिर विचारोपरान्त कार्य में प्रवृत्त होने के गुण सीखते हैं। वे समझ लेते हैं कि विचार-विमर्श की व्यवस्था में निरीक्षण का अभिप्राय केवल आलोचना का ही प्रश्न नहीं है प्रत्युत यह ऐसा प्रश्न है जिसकी सार्वजनिक आलोचना से रक्षा करनी पड़ेगी। कहने का सार यह है कि जितनी ही शीघ्र वे इस वातावरण से परिचित हो जायेंगे उतनी ही अधिक इस बात की सम्भावना रहेगी कि वे उस पर अधिकार पाने में समर्थ होंगे। यही कारण है कि एक व्यापारी की अपेक्षा जो प्रौढ़ावस्था में कॉमन-सभा में प्रवेश करता है एक उत्तम अधिवक्ता अधिक सफल मंत्री होगा। यही कारण है कि श्रमिक पक्ष की ओर भी कुछ अपवादों को छोड़कर एक वृद्ध श्रमिक संघ अधिकारी शायद ही कॉमन-सभा का सफल सदस्य हो सके। यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यवसाय में काफी समय तक काम कर चुका हो तो उसकी आदतें उन आदतों से जिनकी राजनीतिक क्षेत्र में आवश्यकता होती है भिन्न हो जाती हैं।

मेरे विचार से इस विधान के संचालन के लिए यह कहना सामान्य रूप से ही सही है कि विरोधी दल का सरकार सक्षम रखने के लिए संख्या और गुण दोनों की दृष्टि से काफी शक्तिशाली होना चाहिए। संख्या की दृष्टि से इसका शक्तिशाली होना कई कारणों से आवश्यक है। वह सभा जिसमें विरोधी दल लघुसमुदाय होता है शिथिल हो जाती है। उसमें उपस्थिति अनियमित हो जाती है। सरकारी पक्ष और विरोधी पक्ष की सदस्य संख्या में अंतर इतना अधिक होता है कि लोग परिश्रम नहीं करते। एक दूसरे को समझने की प्रेरणा पर्याप्त मात्रा में नहीं रहती। सरकार के विरुद्ध बोलने वाले प्रतिनिधि सदस्यों के ऊपर इतना अधिक भार रहता है कि वे अपना कार्य भी ठीक नहीं कर पाते। विरोधी दल का गुण की दृष्टि से भी शक्तिशाली होना कई कारणों से आवश्यक है। सामर्थ्यवान मनुष्य के अभाव में विरोधी दल की स्थिति दुर्बल रहती है। सरकार की आलोचना करने का प्रभावशाली कार्य ठीक से नहीं हो पाता। चूँकि वह इस कार्य को ठीक से नहीं कर पाता अतः देश सभा की कार्यवाहियों की ओर कोई ध्यान नहीं देता एवं

वाद-विवादों का शिक्षणात्मक महत्त्व नष्ट हो जाता है। यही नहीं। दुर्बल विरोधी दल का स्वयं अपने ऊपर विश्वास कम होने लगता है और वह सार्वजनिक रूप से अपनी आलोचना आप करने लगता है। फल यह होता है कि वह अपने पद के दायित्वों का निर्वहन करने के स्थान पर अपने आभ्यन्तरिक मतभेदों में अन्तग्रस्त व्यक्तियों की छोटी-छोटी समस्याओं में उलझ कर रह जाता है। वह निराश और अनुत्तरदायी हो जाता है। वह अवसर आने पर आक्रामक रुख धारण करने की सामर्थ्य जो संसदीय पद्धति में अत्यन्त आवश्यक होती है खो देता है। यदि कोई विरोधी दल अपनी सरकार बनाना चाहता है तो उसे दो चरणों में से होकर निकलना पड़ता। पहला चरण तो यह है कि वह सत्तारूढ़ दल के विरुद्ध अपनी स्थिति बनाने की चेष्टा करता है। कुछ समय पश्चात् इस प्रकार की स्थिति सामने आ ही जाती है। दूसरा चरण यह होता है कि विरोधी दल को जनता के मन में यह विश्वास बैठाना पड़ता है कि न केवल सत्तारूढ़ सरकार खराब ही है प्रत्युत देश के हित में यह नितान्त आवश्यक है कि विरोधी दल उसका स्थान ग्रहण करे। कोई विरोधी दल यह विश्वास उस समय तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि उसके नेता-वर्ग में व्यापक और उचित आधारों पर सरकार के ऊपर आक्रमण करने की योग्यता न हो।

जब मैं वर्तमान कॉमन-सभा में राजनीतिक दलों के स्वरूप पर विचार करूँगा तब इस दृष्टिकोण के निष्कर्षों पर भी प्रकाश डालूँगा। यहाँ यह कहना ही अलम् होगा कि सरकार के ऊपर आक्रमण करने का सिद्धान्त संसदीय शासन का मर्मस्थल है। चूँकि संसदीय शासन दल-पद्धति पर निर्भर है अतः सभा में दलों की लड़ाई ही वह प्रमुख राजनीतिक साधन है जिसके द्वारा विजय का सेहरा कभी एक पक्ष के सिर पर बंधता है कभी दूसरे के। यह एकमात्र उपाय नहीं है। १९२६ की आम हड़ताल के समान बड़ी-बड़ी औद्योगिक घटनाएँ भी निर्वाचकों के मन पर व्यापक प्रभाव डाल देती हैं। लेकिन उनका भी उपयोग तत्कालीन सरकार द्वारा लिये गए एक निर्णय में होता है चाहे वह निर्णय निषेधात्मक हो या विध्यात्मक। वह निर्णय विरोधी दल के सामने एक प्रश्न रखता है और विरोधी दल उस प्रश्न के माध्यम से विचारधारा का कितना प्रचार प्रसार कर सकता है, यही उसकी मान्यता का वास्तविक मापदण्ड है। दलगत युद्ध में आक्रामक दृष्टिकोण धारण करने की उसकी शक्ति का प्रभाव है। श्री ग्लैडस्टन और श्री लायड जार्ज की यही कला थी। एक का मिडलोथियन आन्दोलन और दूसरे के लाइमहाउस व्याख्यान इस आक्रामक रुख को ग्रहण करने के स्पष्ट उदाहरण थे। प्रत्येक अपने कुशल नेतृत्व द्वारा निर्वाचकों के मन को उन घटनाओं पर केंद्रित करने में समर्थ था जिनका वह विवेचन करना चाहता था। प्रत्येक अपने आलोचकों को उस दृष्टिकोण से वाद-विवाद करने से रोक देता था जिससे उन्हें लाभ होता था। फलतः निर्वाचकों के बहुमत को इस बात का विश्वास दिला देता था कि जिस पक्ष का वह प्रतिनिधित्व करता है उसकी विजय के लिए शक्ति हथियाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह सभा का महत्त्वपूर्ण कृत्य है कि वह दलों का नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथ में दे जो अपने दलों की यह सेवा कर सकें। युद्ध की समाप्ति तक यह कार्य खूब अच्छी तरह होता था।

युद्ध के बाद से यह कार्य दक्षिण पक्ष की अपेक्षा वामपक्ष की ओर अच्छा हुआ है। कॉमन सभा के दलगत संगठन पर विचार करते समय हम इसके कारणों का भी विवेचन करेंगे।

साधारण प्रश्नों में सबसे अंतिम प्रश्न जिसका विवेचन यहां आवश्यक है सभा के संगठन में व्यक्तिगत सदस्य का स्थान है। आजकल आलोचकों के लिए इसके पद की अवनति के बारे में आंसू बहाना एक फैशन बन गया है। वह प्रश्न पूछ सकता है वाद-विवाद कर सकता है छोटे विधेयक और प्रस्ताव पुरोस्थापित कर सकता है उस समय तक जब तक कि उनसे कुछ विशेष परिणाम निकलने की संभावना न हो। लेकिन दल ने मंत्रि-मंडल को स्वामी बना रखा है और यदि वह दल के आदेशों को नहीं मानता तो वह दल की सदस्यता से वंचित कर दिया जायेगा। अनुदारदलीय निर्वाचनक्षेत्र ऐसे किसी व्यक्ति को जो बार बार दल के विरुद्ध मत दे अपना प्रत्याशी नहीं चुनेगा। श्रमिक दल का अपने सदस्यों के ऊपर और भी कठोर नियन्त्रण है। उसके नियमों के अनुसार यदि कोई सदस्य समझे कि अमुक मतदान में उसकी अन्तरात्मा निहित है तो वह मतदान में अनुपस्थित रह सकता है। लेकिन यदि किसी विषय में दल ने एक निर्णय कर लिया हो तो मतदान में उस निर्णय के विरुद्ध मत देने का अर्थ यह होगा कि वह अपनी दलगत सदस्यता को खतरे में डालेगा। गम्भीर मामलों में मतदान के अवसर पर व्यक्तिगत सदस्य को केवल एक ऐसी निर्जीव इकाई समझा जाता है जिसका न अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व हो और न कोई स्वतन्त्र कर्तव्य।

मेरे विचार से यह शोकोद्गार बिल्कुल व्यर्थ है। यह आधुनिक कामन-सभा के कार्यों को नहीं समझता यह आधुनिक राज्य में सभा के प्रयोजन को नहीं समझता यह हमारे इतिहास के उस युग की एक विरासत है जिसमें राजनीति कुछ श्रीमानों के मनोरंजन का साधन थी और जिसमें सरकार का कार्यक्षेत्र अत्यन्त सीमित था। व्यक्तिगत सदस्य को उस प्रतिष्ठा को देने का जो उसे अस्सी या पचासी वर्ष पूर्व प्राप्त थी एकमात्र उपाय उन ऐतिहासिक परिस्थितियों की ओर वापस लौटना है जिन्होंने यह सभा संभव की थी। इतिहास हमें ऐसे दिवा-स्वप्नों में मग्न होने की अनुमति नहीं देता।

आधुनिक शासन की समस्या समय की समस्या है। यही वह मूल कारण है जिसकी वजह से पास करने का अवसर व्यक्तिगत सदस्य के हाथ से जाता रहा है। यदि कोई मामला इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसे विधेयक का रूप दिया जाय तो उसके पास करवाने का उत्तरदायित्व सरकार के पास रहना उचित ही है। सभा किसी विषय पर उस समय तक विचार नहीं करेगी जब तक कि सरकार उसका अनुमोदन न कर दे। और यदि सरकार किसी मामले को पुरोस्थापित करने के लिए तय्यार नहीं होती तो इस बात की सम्भावना बहुत कम है कि कामन-सभा उसके ऊपर अपना थोड़ा सा समय भी खर्च करना ठीक समझेगी। मैं नहीं समझता कि यह निष्कर्ष इस तथ्य से खण्डित हो जाता है कि एक व्यक्तिगत सदस्य श्री ए० पी० हर्बर्ट ने अपने उत्साह से विवाह विच्छेद विधान-सुधार का कुछ अंश पास करवा लिया है। चूंकि उनका विधेयक सरकारी विधेयक नहीं था अतः उन्हें उसमें

ऐसे व्यापक संशोधन स्वीकार करने पड़े जिन्होंने उसके क्षेत्र को सीमित कर दिया और इस प्रकार विधान का जो अंतिम रूप सामने आया है वह शायद आज के कई वर्षों तक विवाहविच्छेद के वैज्ञानिकीकरण को रोकेगा। श्री हर्बर्ट के अनुभव से तो यही शिक्षा मिलती है कि जब किसी बड़े विषय को विधान का रूप देना हो तो केवल सरकार को ही उसे ऐसा रूप देने का आवश्यक अधिकार प्राप्त है।

इसलिए, यदि हम यह मान लें कि विधान के अंदर पहल का कार्य सरकार के हाथ में रहना चाहिए, तो फिर व्यक्तिगत सदस्य के लिए क्या रह जाता है? शिकायतों को सामने लाना, सूचना प्राप्त करना, प्रशासनिक प्रक्रिया की आलोचना करना, वाद-विवाद में भाग लेना। इसके अतिरिक्त वह व्यक्तिगत सदस्य के प्रस्तावों में उन बड़े सिद्धांतों की चर्चा चला सकता है जो लोकमत में प्रवाह की जांच करते हैं। वह जांच समितियों में काम कर सकता है। मैं नहीं समझता कि यह कोई छोटा काम है। लेकिन मैं यह अच्छी तरह समझता हूं कि सरकारी पक्ष के स्फूर्ति-चित्त व्यक्ति के लिए यह पर्याप्त कार्य क्षेत्र नहीं है। इसलिए मेरा सुझाव यह है कि विधान प्रारम्भ करने के सरकार के अधिकार में हस्तक्षेप किए बिना इस क्षेत्र को विस्तृत करना चाहिए। यह बड़ी सुगमता से किया जा सकता है यदि हम एक बार यह मान लें कि सभा का कार्य व्यक्तिगत नागरिक के रक्षक के रूप में प्रशासन की प्रक्रिया का निरीक्षण करना है। प्रदत्त विधान के परीक्षण, विश्लेषण तथा आलोचना द्वारा विधायी कार्य के सुधार, जांच-सम्बन्धी प्रवर समितियों के विस्तार आदि विषय ऐसे हैं जिनका हम वर्तमान काल में पूरा लाभ नहीं उठाते। मैं आगे चलकर उन उपायों पर विचार करूंगा जिनके द्वारा यह किया जा सकता है।

लेकिन इस प्रकार के विस्तार का परिणाम यह नहीं होना चाहिए कि उससे मंत्रि-मंडल के संसदीय गतिविधियों के नियंत्रण के मूल प्रवाह में कोई विघ्न उपस्थित हो। यदि ऐसा हुआ तो नीति की एकसूत्रता और उसके साथ ही उत्तरदायित्व की भावना तुरन्त नष्ट हो जायगी। सच तो यह है कि हमारे शासन की सफलता का मूल उत्तरदायित्व के ठीक निर्धारण में ही विद्यमान है। जब कभी भूल हो जाय तो यह जानना सदैव हितकर है कि भूल के लिए कौन दोषी है। यदि कोई व्यक्ति अमरीका की शासन-पद्धति से हमारी शासन-पद्धति की तुलना करके देखे तो वह समझ लेगा कि स्थिति ऐसी ही है। प्रायः ही राष्ट्रपति को इस बात के लिए दोष देना कि वह अपने इच्छित विधेयक को पास न करा सका अनुचित ही होता है। उसे अपने इस हित को कभी कभी इस प्रकार उत्सर्ग करना पड़ता है कि लोकमत उसके इस रहस्य का अनुसंधान नहीं कर पाता। कांग्रेस को भी सर्वदा दोष देना ठीक नहीं है। यदि वह शक्तियों के पृथक्करण के अन्तर्गत राष्ट्रपति की अधीनता स्वीकार कर लेती है तो फिर वह विधान-सभा नहीं रह पाती। यहां एक बार व्यक्तिगत सदस्य के ऊपर मंत्रि-मंडल की शक्ति शिथिल हुई, हमारे पास सार्वजनिक सभा का शासन रह जायगा। चूंकि वस्तुतः नेतृत्व मंत्रि-मंडल में निहित है इसी का यह फल है कि सभा ऐसे स्थापित स्वार्थों का जो सरकार द्वारा अपनी वृद्धि और रक्षा के लिए संघर्ष कर रहे हों समर्थक नहीं दिखाई देती। जो लोग यह

कहना है कि मंत्रिमंडल का नियंत्रण काफ़ी हद तक कम हो जाय तो वास्तव में ऐसी बात बढ़ेगी जिसका परिणाम मंत्रीय उत्तरदायित्व का विनाश होगा।

मैं यह विश्वास नहीं कर सकता कि इससे हमारी शासन-व्यवस्था को लाभ पहुँचेगा। इसके परिणामस्वरूप जो विधान सामने आयेगा वह किसी सिद्धांत के ऊपर आधारित नहीं होगा। सभी निरन्तर ही एक सुसंगठित हित के पश्चात् दूसरे सुसंगठित हित के लिए निरन्तर ही इसका त्याग करते रहेंगे। यह प्रत्यक्ष शासन के लिए एक बुरी वस्तु है कि वह पहले तो ऐसे कानून सामने रखे फिर उस पर आग्रह करे जिनमें स्वयं उसका विश्वास न हो लेकिन जिन्हें वह पराजय की धमकी के कारण स्वीकार करे। श्री रैमजे म्योर ने यह तर्क किया है कि इसके परिणामस्वरूप 'नरम कानून' पास होंगे क्योंकि मंत्रि-मंडल के नियंत्रण में कमी आ जाने से व्यक्तिगत सदस्य को अपनी मानसिक स्वतंत्रता दिखाने का अधिक अवसर मिलेगा।

मेरे विचार से यह बहुत ही भोला दृष्टिकोण है। यह कॉमन-सभा के दृष्टिकोण को ठीक नहीं समझता। प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के औपचारिक तथ्य के पीछे जिसके लिए अभी तक कोई सुविधाजनक स्थानापन्न नहीं पाया जा सका है, कॉमन-सभा मूलतः एक व्यावसायिक संस्था है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सदस्य डेवनपोर्ट तथा डोवर लन्दन और मैनिंगट्री के लिए ही निर्वाचित होते हैं। लेकिन इससे यह तथ्य नहीं छिप जाता कि वे वकील, व्यापारी, अवकाशप्राप्त सैनिक और नाविक, बैंकर, रेल-निदेशक तथा श्रमिक संघ के अधिकारी आदि हैं। उनमें से प्रत्येक यह देखता है कि विधान का उस व्यवसाय पर जिससे उसका सम्बन्ध है, क्या प्रभाव पड़ता है। हम सब यह जानते हैं कि कोयले के खदानों का स्वामी राष्ट्रीयकरण की भावना में विनिमय मूल्य के प्रति एक खनिक से बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण ग्रहण करेगा। हम जानते हैं कि सभा में खनिक श्रमिकों के काम करने के घंटे और उनकी उचित सीमाओं के बारे में मार्वन-निर्वाचन-क्षेत्र के सदस्यों से बिल्कुल भिन्न विचार रखेंगे। मंत्रि-मंडल का नियंत्रण जितना शिथिल होगा उतना ही हम उस व्यवस्था के निकट पहुँचेंगे जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों के 'प्राइवेट एनक्लोज़र एक्ट्स' हैं। अमरीकी सीनेट का सदस्य अभिमानी भक्ति से कुछ इस तरह स्वीकार करता है कि देश के कुछ आलोचक इसे वांछनीय समझते हैं। मेरे विचार में इस स्वतंत्रता के कारण ही उन सभा-कक्षों की जो अमरीकी शासन का एक दूषण है, शक्ति इतनी बढ़ी हुई है। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि हमारे इस देश में सभाकक्ष ( Lobbies ) नहीं हैं। इंपीरियल ट्रस्टों, नौपरिवहन, लोहा, फौलाद और वस्त्र आदि स्वार्थों की शक्ति सर्वविदित है। दूसरी ओर श्रमिक संघों का सदस्यों के ऊपर व्यापक प्रभाव है। लेकिन मंत्रिमंडल के नियंत्रण के कारण इस देश में व्यक्तिगत सदस्य के ऊपर सभाकक्षों का आधिपत्य दो महत्वपूर्ण कारणों से घट जाता है। इनमें से एक कारण तो यह है कि सिविल सर्विस सभा-कक्षों की अविश्वसनीयता के विरुद्ध मंत्री को परामर्श देती है। दूसरा कारण यह है कि सदस्य दल के नियंत्रण में रहता है क्योंकि मंत्रि-मंडल सत्तारूढ़ दल के साथ समीकृत रहता है। पहले का फल यह होता है कि प्रत्येक अवसर पर सहायता के लिए सभा-कक्षों के

आवेदन का स्वतंत्र परीक्षण होता है। दूसरे का फल यह होता है कि जो सदस्य समावस के आगे झुक जाता है वह कॉमन-सभा में अपने स्थान को खतरे में डालता है और कुछ सदस्यों का गुट जो इस झुकाव से सरकार के स्थायित्व को धमकी देता है सभा के विघटन का पथ प्रशस्त करता है।

बैजहॉट ने लिखा था "सभा में निपुणता के लिए बड़ दलों के ठोस पुंज की आवश्यकता है। बैजहॉट के कथन में हम यह और जोड़ सकते हैं कि यह ठोस पुंज खराब से खराब अत्याचार से बचने का प्रमुख उपाय है। यह ठोस पुंज दण्भाव विघटन से प्राप्त होता है और हमें नहीं मालूम कि अन्य कोई वस्तु इसका स्थान ले सकती है। इसका विकल्प स्वामी द्वारा संविधान की गई वह सरकार है जिसमें सरकारी उत्तरदायी को स्पष्ट करने की समस्या कभी ठीक से नहीं सुलझती। यह ठीक है कि सभा को विघटन करने की शक्ति एक बहुत बड़ी शक्ति है। इसके अभाव में जो विकल्प सामने आता है वह हम अमरीका तथा फ्रांस में देखते हैं। एक में तो राष्ट्रपति अपनी मनचाही 'संरक्षण' ( patronage ) के द्वारा करता है और जहां तक वह इस शक्ति का प्रयोग करता है इसके दुष्परिणाम दूरगामी होते हैं। दूसरे में चूंकि सदस्य यह जानते हैं कि विघटन अविचारणीय है, अतः उनमें उत्तरदायित्व की भावना बहुत ही कम होती है। अपरंच बिना किसी दंड के सरकार को पलट देने का अभिप्राय यह होता है कि बहुत से बड़े बड़े निर्णय सरकार की राय पर ध्यान दिए बिना ही किए जाते हैं। देश तो एक सदस्य के लिए मत देता है लेकिन सदन बाहरी दबाव के फलस्वरूप किसी अन्य व्यक्ति की सरकार को पाता है। व्यक्तिगत सदस्य के ऊपर मंत्रिमंडल के नियंत्रण से हम कम से कम इस प्रकार की विकृट विकृतियों से बच जाते हैं।

मुझे इस प्रसंग में एक अंतिम बात और कहनी है। हमारी पद्धति में मंत्रि-मंडल का सदस्य अपनी समस्त दुर्बलताओं के होते हुए भी लम्बी अवधि तक प्रशिक्षण का समय बिता चुकता है जिससे उसके अन्दर उत्तरदायित्व का भाव आ जाता है। इस सम्बन्ध में सभा का प्रभुत्व कार्य भी कुछ मदद देता है। जिस ढंग से प्रत्याशी चुना जाता है उस से तो हमें उत्तरदायित्व का कोई आश्वासन नहीं मिलता। अनुदार दल अपना प्रत्याशी मुख्य रूप से ऐसे लोगों को बनाता है जो अभिजात हो व्यापारी हो बैरिस्टर हों। दूसरी ओर श्रमिक दल अपने अधिकारियों को बिना इस बात का परीक्षण किए कि वे सभा की सदस्यता के उपयुक्त हैं या नहीं सभा में भेज देते हैं। जितना ही हम प्रत्याशियों को चुनने की अपनी पद्धतियों पर विचार करते हैं उतना ही अधिक मंत्रि-मंडल का दल का उनके ऊपर नियंत्रण हमें यथोचित मालूम पड़ता है। इससे उत्तरदायित्व का भार यथास्थान रहता है। जब मंत्रि-मंडल का कार्यकाल समाप्त होता है उसके क्रिया-कलापों का सही मूल्यांकन करने में सुविधा होती है। इस के फलस्वरूप कॉमन-सभा का जो स्वरूप सामने आता है उससे हमें निर्वाचकों की विचारधारा का ठीक से अनुमान हो जाता है। दलगत नियंत्रण से यह निश्चित हो जाता है कि सामान्यतः व्यक्तिगत सदस्य वही करेगा जिसे करने के लिए उसे वेस्टमिनस्टर भेजा जाता है। यदि वह अपने स्थान पर अपने निर्वाचकों द्वारा रक्खा जाता है तो वह अपने विचारों को प्रकट करने में

पूर्ण रूप से स्वतंत्र होता है। परिणाम एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें अपनी समस्त दुर्बलताओं के होते हुए भी स्पष्ट दिशा-निर्देश और इस दिशा-निर्देश का पूरा विवेचन रहता है। ये विशेषताएं ऐसी हैं जिनकी वास्तविक महत्ता उनकी अनुपस्थिति में ही ज्ञात होती है।

(२)

मंत्रिमंडल उस दल या दलों की एक समिति है जिसका कॉमन-सभा में बहुमत रहता है। मैं बाद के अध्याय में उसके संगठन और सञ्चालन की पद्धतियों पर विचार करूँगा। यहाँ तो मैं ऊपर कहे हुए इस दृष्टिकोण के निष्कर्षों पर ही विचार करूँगा कि संसदीय सफलता का मूल कारण मंत्रिमंडल द्वारा कॉमन-सभा का नियंत्रण है। मंत्रिमंडल का सबसे प्रमुख कार्य एक सुसंगत कार्यक्रम को कार्यान्वित करना और उसके लिए संविधान के अनुसार संसद की औपचारिक कानूनी सहमति प्राप्त करना है। मंत्रिमंडल की सचमुच यह सहमति पाने की उसकी सामर्थ्य पर ही हमारे सम्पूर्ण शासनतंत्र की सफलता निर्भर है।

इस पद्धति का सम्पूर्ण सार उन शर्तों में निहित है जिनके अनुसार यह नियंत्रण संचालित होता है। मंत्रिमंडल को यह सहमति निरन्तर पानी है, वह इसे मान नहीं सकता। यह अन्तर हमारी व्यवस्था में आधारभूत है। मंत्रिमंडल को अपना काम जनता की आँखों के सामने करना पड़ता है। सभा के अन्दर और बाहर दोनों ही स्थानों पर उसकी निरन्तर आलोचना होती रहती है। उसकी समस्या यह है कि वह इस आलोचना के बावजूद भी अपने समर्थकों की अपने प्रति निष्ठा कायम रखे। यह काम इतना आसान नहीं है जितना कि मालूम पड़ता है। मंत्रिमंडल को अपने समर्थकों के मत का प्रवाह जानना पड़ता है कि प्रत्येक नीति के निर्धारण में ऐसी कुछ सीमाएँ हैं जिनके पार नहीं जा सकता। जरा सी भूल उसके बहुमत की बुनियाद को हिला सकती है। यदि वहाँ निर्वाचकों की राय उसके विरुद्ध हो गई तो सभा में विद्रोह की ऐसी भावना उत्पन्न हो सकती है कि उसके सम्मुख अधिक से अधिक शक्तिशाली सरकार को भी झुकना पड़ता है। बहुमत का बनाए रखना कोई सुगम और सीधा कार्य नहीं है। दल-समर्थकों का अनुशासन व्यक्तिगत सिपाहियों का अपने सेनानायकों के प्रति आज्ञापालन नहीं है। इस अनुशासन के निर्माण में कई ऐसे सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तत्त्व सम्मिलित हो जाते हैं जिनका ठीक-ठीक मूल्यांकन मंत्रिमंडल के जीवन के लिए आवश्यक होता है। सभा का कठोरता से संचालन खतरनाक होता है। अत्यधिक गोपनीयता, असंगत व्यवहार या विपक्ष की अवहेलना अथवा बाहर मूक लोकमत को शान्त करने की असमर्थता—ये सब बातें ऐसी हैं जो सदैव विद्रोह पैदा करती हैं। मंत्रिमंडल उसी सीमा तक नियंत्रण रखता है जिस सीमा तक वह सभा द्वारा समर्थित नीति के विरुद्ध नहीं जाता। उसे यह जानना चाहिए कि कब झुकना उचित है और शान के साथ झुकना महत्त्वपूर्ण होता है। जो मंत्रिमंडल अपनी नीति को मनमाने ढंग से कार्यान्वित करना चाहता है, सदैव पतनोन्मुख होता है।

कहने का सार यह है कि मंत्रिमंडल की सफलता इस बात पर निर्भर है कि वह

लोकमत के प्रति यहाँ तक संवेदनशील है। यदि कोई मन्त्रिमंडल लोकमत के प्रति संवेदनशील नहीं है तो चाहे उसके पास कितना अधिक बहुमत हो उसकी विफलता अवश्यम्भावी है। १९३४ में श्री मैकडॉनल्ड को विशाल बहुमत के होते हुए भी 'अनएम्प्लायमेंट एसिस्टेंस रेगुलेशन्स' के प्रश्न पर झुकना पड़ा था। पुनश्च श्री बाल्डविन को १९३५ में अबीसीनिया-संकट में सर सैमुअल होर का त्याग करना पड़ा था। श्री चैम्बरलेन को विशाल बहुमत के होते हुए भी १९३७ के अपने 'नेशनल डिफेंस कंट्रीब्यूशन' के प्रश्न पर झुकना पड़ा था। लोकमत की विरोधी नीति सदैव ऐसा भय उत्पन्न कर देती है कि कहीं वह आगामी साधारण निर्वाचनों में पराजय न दिलवादे और कोई सदस्य ऐसे मन्त्रिमंडल की अधीनता में जो यह न समझता हो कि वह उन्हें पराजय की ओर ले जा रहा है काम करना पसंद नहीं कर सकता। सर सैमुअल होर ने त्याग पत्र [illegible] के अवसर पर कहा था "यह एक कठोर सत्य है कि मैंने इस देश में विशाल बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं किया है और मैं समझता हूँ कि अन्य किसी मंत्री की अपेक्षा विदेशी मंत्री के लिए यह अधिक आवश्यक है कि उसके पीछे उसके देशवासियों का सामान्य समर्थन हो। यदि श्री बाल्डविन अबीसीनिया के प्रश्न पर मन्त्रिमंडल के प्रस्तावों को वापिस लेना अस्वीकार कर देते तो यह निश्चित है कि उनके अधिकांश साथी उनके विरुद्ध मत देते और त्यागपत्र अथवा विघटन अवश्यम्भावी होता। सर सैमुअल होर का अवकाश-ग्रहण वह शान्तिकारी बलिदान था जो उन्हें करना पड़ा।

संवेदनशीलता की यह आवश्यकता उस समय और भी बढ़ जाती है जबकि सभा में मन्त्रिमंडल का अल्पमत हो। तीसरे दल की प्रवृत्ति सदैव अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए उसे रियायतें देने को बाधित करने की होती है। वह देश को यह बताना चाहता है कि मन्त्रिमंडल उसकी दया के कारण जीवित है। यही कारण है कि अल्पसंख्यक सरकार सदैव दुर्बल और अल्पजीवी होती है। एक सीमा ऐसी आ जाती है जहाँ वे रियायतें नहीं दे सकती क्योंकि इसका अभिप्राय फिर यह हो जाता है कि वे शासन करने के अधिकार से वंचित हो जाय। वे अपना काफी समय विपक्ष के लिए किसी अच्छे बहाने की खोज में लगाती हैं। श्री [illegible] के शब्दों में तीसरा दल १९२४ की संसद् में उदार दल की भाँति यह समझता है कि उसने मन्त्रि-मंडल को 'विभेदात्मक समर्थन' ( Discriminating support) दिया है। लेकिन जो वस्तु मन्त्रिमंडल को ठीक रखने की एक चेष्टा मालूम पड़ती है वही वस्तु मन्त्रिमण्डल के लिए डिमाक्लीज की तलवार है जो सरकार की प्रतिष्ठा को चोट पहुँचाती है मन्त्रिमंडल सुगमतापूर्वक जितनी शीघ्र हो सकता है इस स्थिति से बचने की चेष्टा करता है।

सामान्यतः आजकल बहुमत की सरकार बनती है। १८६८ के पश्चात् हमारे देश में दो बार अल्पसंख्यक सरकारें बनी और वे दोनों बार असफल हुईं। सामान्य स्थिति में जैसा कि मैं कह चुका हूँ मन्त्रिमंडल सभा का विश्वास बनाए रखने की अपनी योग्यता द्वारा जीवित रहता है। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं होता कि वह पराजय से बच सकता है। १८४१ में सर राबर्ट पील सम्राट के भाषण से सम्बन्धित एक संशोधन के प्रश्न पर पराजित हो गए थे। १९१४ के पश्चात् छः वर्षों में मैकडोनेल्ड

सरकार को पराजित होना पड़ा। एबरडीन सरकार १८५३ में एक सप्ताह के भीतर ही तीन बार पराजित हुई। श्री बल्फोर १९०३ में सम्भरण समिति में पराजित हो गए। श्री मैकडॉनल्ड की सरकार १८२४ के जनवरी और अगस्त मास के मध्य दस बार पराजित हुई थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सरकार की प्रत्येक पराजय उसकी प्रतिष्ठा पर एक चोट होती है और इससे जनता में उसकी आलोचना निरन्तर बढ़ती चली जाती है। लेकिन इस बात का निर्णेता मंत्रि-मंडल ही है कि वह अपनी किस पराजय को त्यागपत्र या विघटन का सूचक माने। यह ठीक है कि अविश्वास का सीधा प्रस्ताव या मंत्रि-मंडल की नीति के किसी महत्वपूर्ण पहलू पर सरकार की पराजय घातक ही समझी जायेगी। लेकिन यह संसदीय शासन की विशेषता है कि इन दो अपवादों को छोड़कर इस बात का निश्चय सरकार ही करती है कि वह कब जनता पर छोड़े।

इस स्थिति का अर्थ यह है कि यह सारी प्रक्रिया कुछ इस तरह से सञ्चालित होती है कि वह आगामी साधारण निर्वाचन के लिए एक बड़ी तय्यारी मालूम पड़ती है। सामान्य परिस्थितियों में विरोधी दल सभा में मंत्रि-मंडल को उस समय तक पराजित नहीं कर सकता जब तक कि १८६६ की भांति मंत्रि-मंडल की नीति उसके अपने अनुयायियों में ही भेद पैदा न कर दे। इस प्रकार के भेद का अभिप्राय यह होगा कि स्वयं मंत्रि-मंडल के अन्दर ही फूट है। यह होमरूल अथवा १९११ के आर्थिक संकट की भांति आधारभूत समझे जाने वाले मामलों के ऊपर अवलम्बित हो सकता है। या यह १८९४-९५ के रोजबेरी मंत्रि-मंडल की भांति ऐसी मनोवैज्ञानिक असंगतियों का परिणाम हो सकता है जिसके कारण मंत्रि-मंडल में मिलजुल कर काम करने की वह भावना उत्पन्न न हो सके जो सुचारु कार्य संचालन के लिए आवश्यक होती है। सामान्य स्थिति यह है कि बहुमत होने पर मंत्रि-मंडल उस समय तक सत्तारूढ़ रह सकता है जब तक कि वह यह न समझ ले कि अब निर्वाचन-क्षेत्रों का सफलतापूर्वक सामना करने का समय आ गया है। उसकी सफलता का काफी अंश इस बात पर निर्भर है कि वह उपयुक्त क्षण का कहाँ तक चुन पाता है।

श्री बाल्डविन ने १९२३ में काफी बहुमत होने पर इस प्रकार का खतरा मोल लिया था। परिणाम यह हुआ कि उनकी पराजय हो गई। १९२४ में उन्होंने पुनः समय दुबारा फिर चुना। उस समय विरोधी दल में आभ्यन्तरिक फूट थी। परिणाम यह हुआ कि उन्हें आशातीत सफलता मिली। विरोधी दल के काम का वास्तविक महत्व सभा का विघटन करने के निश्चय में निहित है। वह निर्वाचक-मण्डल का सरकार में विश्वास भंग करने की भरसक चेष्टा करता है। वह सरकार की प्रत्येक भूल से लाभ उठाता है और इस प्रकार सफलता के महत्व को कम करने का प्रयास करता है। वह संसदीय पद्धति द्वारा निर्वाचकों को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न करता है कि वह अपने प्रतिद्वन्द्वी की अपेक्षा शासन करने के अधिक योग्य है। इस सफलता को पाने के लिए उसे भी ठीक उन्हीं विशेषताओं की आवश्यकता होती है जिनकी कि स्वयं सरकार को आवश्यकता होती है। यह आवश्यक है कि विरोधी दल के सदस्य

अपने नेताओं को पूरा समर्थन दें। यदि विरोधी दल के अन्दर भी नीति के प्रश्नों पर कुछ मतभेद हो जाते हैं तो इससे उसकी शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि वह उपयुक्त अवसर आने पर सरकार हथियाने के योग्य नहीं रहता। एक अलोकप्रिय सरकार जब कि उसके विरोधी आपस में विभक्त हों न केवल काफी समय तक सत्तारूढ़ ही रह सकती है प्रत्युत वह चतुराई द्वारा निर्वाचन भी जीत सकती है। यदि विरोधी दल उस कार्यक्रम के ऊपर जिसे वह देश के सामने रखता है, एकमत नहीं है, तो इस बात की प्रबल सम्भावना है कि देश उसकी बात को बिल्कुल नहीं समझता। ऐसी परिस्थितियों में यह स्वाभाविक सा ही है कि सरकार पुनः विजय प्राप्त करे क्योंकि निर्वाचक यह नहीं समझ सकते कि उसके प्रतिद्वन्द्वियों की विजय का यह अर्थ होगा कि वे अपनी विजय का सफलतापूर्वक उपयोग कर सकें।

१८३२ के पश्चात् से राजनीतिक दलों का इतिहास यह बताता है कि इस संबंध में कुछ ऐसा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहा है जिसकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। संसदीय पद्धति में दल का जीवन साधारणतः इस बात पर निर्भर रहा है कि वह उचित समय में निर्वाचकों का बहुमत कहाँ तक प्राप्त कर पाता है। १८३२ के पश्चात् से कोई भी दल दस वर्ष से अधिक समय तक सत्तारूढ़ नहीं रहा है। यह महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसका अर्थ यह है कि चूंकि दलों को इस बात का विश्वास होता है कि वे शीघ्र ही सत्तारूढ़ होने वाले हैं अतः वे योग्य व्यक्तियों को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ होते हैं। दल उनकी महत्त्वाकांक्षा इस विश्वास के आधार पर पूरी कर सकता है कि निष्ठा का पुरस्कार अवश्य ही मिलेगा। इस पद्धति की सफलता का आधार सत्तारूढ़ होने की सम्भावना है। यदि किसी दल को इस प्रकार की सम्भावना न हो तो उसके बने रहने में संदेह है। मनुष्य सामान्यतः उन्हीं स्वार्थों और व्यवसायों की ओर आकृष्ट होते हैं जो उन्हें सफल जीवन की आशा दिखाते हैं।

मेरे विचार से यह निश्चित है कि दल-पद्धति के इस पहलू का निर्माण इस आधार पर हुआ था कि राज्य के दोनों दल एक ही बुनियादों पर निर्भर थे और सम्पत्ति-विषयक उनके विचारों में बहुत कुछ समानता थी। उनमें से [redacted] कोई दूसरे का बिना अधिक अशान्ति किए ही मन्त्रि-मण्डल का निर्माण कर सकता था क्योंकि यह आशा की जाती थी कि अधिक से अधिक एक या दो निर्वाचनों के पश्चात् दूसरा उसका स्थान ग्रहण कर लेगा। एक दूसरे का उत्तराधिकारी हो सकता था क्योंकि एक ही धुरी के चारों ओर चक्कर लगाते रहने के कारण उनकी नीति का क्षेत्र सीमित हो जाता था। एक व्यक्ति के लिए जैसा कि श्री चर्चिल का जीवन प्रकट करता है यह भी संभव था कि वह अपने मौलिक सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन किए बिना ही एक दल को छोड़कर दूसरे दल में सम्मिलित हो जाए और फिर दुबारा अपने पुराने दल में वापिस आ जाये। श्री चर्चिल उदार दल के मन्त्रि-मण्डल में इतने ही प्रकृत और स्वाभाविक ढंग से शोभते थे जितने कि अनुदारदल के मन्त्रि-मण्डल में। १८३२ के पश्चात् से मन्त्रि-मण्डल के नियन्त्रण को केवल एक ही बार १९१२–१४ में अल्स्टर के प्रश्न पर अनुदार दल ने चुनौती दी थी।

मन्त्रि-मण्डल का नियन्त्रण सफल दल का पारितोषिक है। यह इसलिए स्वीकार किया जाता है क्योंकि उसके निर्णय विरोधी दल को अधिक असह्य नहीं करते। मोटे तौर पर वह उनकी परम्परागत प्रत्याशाओं को नष्ट नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि मन्त्री जिस आधार पर अपने निर्वाचकीय वचनों को पूरा करते हैं, वह उनके अपने आधार से भिन्न नहीं है। अब तक निर्वाचक दो विभिन्न दलों के बीच चुनाव करने की अपेक्षा एक ही दल के दो पक्षों के बीच चुनाव करते रहे थे। उनके बीच विभाजन की रेखा गुणात्मक न होकर परिमाणात्मक थी।

जहाँ तक युद्ध के पूर्ववर्ती समाजवाद के इतिहास का प्रश्न है दलों का यह स्वरूप यथाविधि बना रहा। ब्रिटिश समाजवाद का दृष्टिकोण फेबियन था और यद्यपि फेबियन हमारी आर्थिक व्यवस्था के भविष्य के बारे में उदारवादियों अथवा अनुदार वादियों से भिन्न दृष्टिकोण रखते थे वे इस व्यवस्था के आधारों को बिना किसी कठिनाई के स्वीकार करते थे। वे यह मानते थे कि पूंजीवाद का वास्तविक आधार —सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त अकाट्य है। वे वर्ग संघर्ष के मार्क्सवादी सिद्धान्त का प्रतिवाद करते थे। दक्षिण अफ्रीकी युद्ध के बीच में उन्होंने जो अपना प्रसिद्ध घोषणा पत्र प्रकाशित किया था उसमें उन्होंने पूंजीवाद की समस्त धारणाओं को सत्य मान लिया था। उनका विचार था कि शक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय मतदान-पेटी है। वे अपना एक पृथक राजनीतिक दल न बना कर वर्तमान राजनीतिक दलों में ही प्रवेश का प्रयास करते थे। यदि उनके सिद्धान्त कॉमन-सभा में बहुमत को प्राप्त कर सके तो भी उनका विश्वास था कि उन्हें दूसरे पक्ष की सहमति के बिना कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। फेबियन युद्ध के पूर्व उदारवादी तथा अनुदारवादी दलों में इसी प्रकार सम्मिलित हुए जिस प्रकार की उनमें से कुछ युद्ध के पूर्व श्रमिक दल में सम्मिलित हुए थे।

इस दर्शन का महत्त्व युद्धपूर्व श्रमिक दल की स्थिति से समझा जा सकता है। श्रमिक संघों ने उसकी स्थापना १९  में किसी सामान्य सिद्धान्त के आधार पर नहीं प्रत्युत कॉमन-सभा में अपने लिए अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के विचार से की थी। उसको अपनी पहली सफलता किसी सामान्य सिद्धान्त के फलस्वरूप नहीं प्रत्युत इस कारण मिली कि १९ १ के टैफ वेल निर्णय ने श्रमिक संघ आन्दोलन की सुरक्षा को खतरा पहुँचाया था। १९ ६ से १ १४ तक यह उदारवादी दल का उग्र पक्ष था और पूंजीवाद से कुछ ऐसी रियायतें मांगता था जिन्हें देने के लिए पुराने दल तय्यार नहीं थे। लेकिन सैद्धान्तिक दृष्टि से यह भी लॉयड जार्ज जैसे उग्रवादियों से भिन्न नहीं था। यह ज्ञात ही है कि १९११ तक भी लायड जार्ज ऐसी पुनर्गठित उदार वादी सरकार के बारे में जिसमें श्रमिक दल के सदस्य भी अपना स्थान ग्रहण करते सोच रहे थे और श्री मकडोनल्ड इस सम्बन्ध में उनसे बातचीत करने के लिए तय्यार थे। सर आस्टिन चेम्बरलेन के कुछ वाक्यों से यह संकेत मिलता है कि उस वर्ष सर्व दलीय सरकार के निर्माण की संभावना थी कुछ तो जर्मन सैनिकवाद से निबटने के लिए और कुछ लार्ड-सभा तथा अलस्टर जैसे कठिन प्रश्नों को हल करने के लिए।— कोई एक दल इन प्रश्नों को हल नहीं कर सकता था।

मेरे कहने का आशय केवल इतना ही है कि इस सिद्धान्त पर कि मंत्रिमंडल कॉमन-सभा का नियंत्रण करता है आधारित संसदीय शासन इसलिए अच्छा रहा क्योंकि सभी दल उस आर्थिक व्यवस्था को स्वीकार करते थे जिसकी वह अभिव्यक्ति था। मनुष्य एक पक्ष से दूसरे पक्ष की ओर खिंच सकते थे लेकिन वे अपने विचारों द्वारा स्वयं को सत्ता से सदैव के लिए निष्कासित नहीं करते थे। दलगत संघर्ष इस विश्वास के ऊपर संचालित होता था कि देर-सवेर प्रत्येक पक्ष विजय पायेगा और उसका विरोधी प्रसन्नतापूर्वक परिणाम स्वीकार करेगा। वह ऐसा इसलिए करेगा क्योंकि उसका सफल प्रतिद्वंद्वी कभी इतना क्षुब्ध नहीं करेगा जिससे प्रतीत हो कि वह विजय का अत्यधिक दुरुपयोग कर रहा है।

बैजहॉट ने लिखा था "हमारी शासन-व्यवस्था दलगत शासन को उदार बनाकर उसे अधिक से अधिक स्थायी और व्यावहारिक बनाती है।" उदारता से उसके दो अभिप्राय हैं। पहला तो यह कि दल अपने सिद्धान्तों में अति तक नहीं पहुँचते और दूसरे यह कि मंत्री सत्तारूढ़ होने पर मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हैं। मध्यम मार्ग यथासम्भव विरोधी दल के अनुकूल होता है परन्तु साथ ही साथ वह उन भौतिक तथ्यों के भी अनुकूल होता है जो उसकी अनिवार्यता सिद्ध करते हैं। लेकिन 'उदार शासन' से बैजहॉट का वास्तविक अभिप्राय वह नीति है जिसे प्रभुवर्ग स्वीकार करते हैं। वह अपने इस आग्रह से यह स्पष्ट कर देता है कि संसदीय शासन विशुद्ध लोकतंत्रात्मक शासन के प्रतिकूल है। उसका कहना था कि सार्वभौम मताधिकार का अभिप्राय यह है कि धनिक और बुद्धिमान् व्यक्तियों को कानून के जोर से निर्धन और मूर्ख व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक मत नहीं मिलेंगे। बैजहॉट को विश्वास था कि इससे संसदीय शासन नष्ट हो जायगा। उसने लिखा था "यदि यह सही है कि संसदीय शासन केवल तभी सम्भव है जबकि प्रतिनिधियों का अधिकांश बहुमत उदार हो उसमें अधिक भिन्नताएँ न हों वह अत्यन्त पक्षपाती से मुक्त हो तो वह विशुद्ध लोकतंत्रात्मक संसद उस शासन को नहीं बनाए रख सकेगी। उसमें प्रत्येक वर्ग अपनी ही भाषा बोलेगा प्रत्येक दूसरे के लिए दुर्बोध होगा और एकमात्र विजयी वर्ग उन अनैतिक प्रतिनिधियों का होगा जो कुत्सित षड्यन्त्रों से चुने गए थे और जो व्यापार एवं उद्योग में लगाई गई पूँजी पर काफी मुनाफा कमाएँगे।"

यहाँ बैजहॉट तीन बातें कह रहा है। संसद के सदस्यों को चाहे उनकी दलगत विचार धाराएँ कैसी भी हों मौलिकतया एक ही मत रखने चाहिएँ अन्यथा वे एक दूसरे के साथ समझौता न कर सकेंगे। सार्वभौम मताधिकार की स्थापना होने पर वे एक तरह के मत नहीं रख सकेंगे। उस समय समझौता असंभव हो जायगा तथा संसदीय पद्धति नष्ट हो जाएगी। वे परिस्थितियाँ जिनको उसने आवश्यक समझा था मोटे तौर से १९१८ तक बनी रही थीं। उस समय तक सार्वभौम वयस्क पुरुष मताधिकार नहीं था और इस प्रकार का स्त्री मताधिकार उसके दस वर्ष बाद तक स्थापित नहीं हुआ। उस समय तक श्रमिक दल को भी कॉमन-सभा की सदस्य-संख्या के पचासवें भाग से अधिक पर अधिकार नहीं मिला था। दोनों पुराने दलों के अधिकांश सदस्य एक ही जन-

समाज से सम्बन्ध रखते थे। अभिजात व्यापारी और वकील प्रत्येक दल में थे। बैजहॉट के शब्दों में वे एक ही भाषा बोलते थे और एक दूसरे को समझने में समर्थ थे। ऐसी स्थिति में वे राज्य की शक्ति का एक से उद्देश्यों की सिद्धि के लिए प्रयोग करते थे। चाहे कोई दल शासनारूढ़ होता एक से हित सत्तारूढ़ रहते थे क्योंकि उनको दोनों दलों में समान रूप से प्रतिनिधित्व मिलता था। फलत. वे मन्त्रिमण्डल का निर्णय स्वीकार करते थे क्योंकि मन्त्रिमण्डल जो निर्देश देता था वह ऐसा नहीं होता था जिससे कि उसमें से किसी को घोर असंतोष होगा। बैजहॉट के शब्दों में मन्त्रिमण्डल अपने निर्वाचकों की भक्ति पा लेता था। उसके सामान्य निर्णय राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ राय समझे जाते थे। युद्ध के पश्चात् की परिवर्तित परिस्थितियों ने इस सिद्धान्त के ऊपर क्या प्रभाव डाला, हमें इस पर विचार करना है।

( २ )

संसदीय शासन का समस्त अन्तर्भूत सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि राज्य समाज में एक तटस्थ तत्त्व है। लम्बत संघर्ष के अनियम ऊहापोह में कभी एक दल और कभी दूसरा दल सरकार बनाता है तथा इस प्रकार अपने अधिकार के प्रयोग का अधिकारी हो जाता है। चूंकि दोनों दलों के उद्देश्य एक से हैं अतः दोनों दल एक दूसरे की विजय को स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि उसके परिणाम एक ही ध्येय की सिद्धि में लगते हैं। उस सामान्य कल्याण की जिसके लिए दोनों दल प्रयत्नशील होते हैं, वे व्याख्या भिन्न-भिन्न रीतियों से कर सकते हैं लेकिन यह व्याख्या इतनी भिन्न कभी नहीं होगी कि एक दूसरे की व्याख्या की वैधता को इस सीमा तक अस्वीकार कर दे कि दूसरा उसकी अस्वीकृति पर अवैधानिक कार्यवाही करने तक को प्रस्तुत हो जावे। उदारवादी कह सकते थे कि अनुदारवादी सरकार देश का विनाश कर रही है अनुदारवादी महारानी विक्टोरिया की भांति ही ग्लेडस्टन के बारे में यह राय रखते थे कि केन केन प्रकारेण इस 'भयंकर वृद्ध पुरुष' से छुटकारा मिलना चाहिए। लेकिन हर कोई जानता था कि इस प्रकार के कथनों को गम्भीरता से स्वीकार करने की आवश्यकता न थी। सामान्य कल्याण के लिए वे जो भी कुछ कर सकते थे उनको यह मान्यता थी कि उन्हें वह सुचारु रूप से करना चाहिए। जब श्रमिक दल कामन सभा में उन कारणों से जिनकी मैं व्याख्या कर चुका हूँ एक स्वतन्त्र दल बन गया उसने भी वह सिद्धान्त स्वीकार किया जिसके ऊपर यह व्यवस्था आधारित थी।

वह ढाँचा जिसके भीतर यह सिद्धान्त काम करता था और जो सम्पूर्ण व्यवस्था का उपरोक्त पुरस्सर है बैजहॉट के "मध्यम मार्ग" सूत्र में निहित है। यह सूत्र उस नीति का द्योतक है जो चाहे उसका तत्त्व कुछ भी हो व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वामित्व में हस्तक्षेप नहीं करता। दल इस बात पर विचार कर सकते हैं कि सम्पत्ति के अधिकारों में इस तत्त्व को प्रधानता दी जाए या उस तत्त्व को लेकिन वे स्वयं सम्पत्ति के अधिकारों के विषय में विचार करना संभव नहीं मानते। संसदीय शासन की सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ कामन-सभा की समस्त विशेषताएँ जिनकी मैंने चर्चा की है इस बात पर निर्भर है कि इस विचार को प्रसंग के क्षेत्र से बाहर रखा जावे। सदस्यों का तथा

समर्थकों का अपनी शर्तों में विश्वास सहज ही इस मान्यता के ऊपर आधारित था कि समाज की अंतिम आर्थिक रचना के बारे में कभी प्रश्न नहीं उठाए जायेंगे। राष्ट्र एक ऐसी व्यापारिक संस्था थी जिसने इस प्रश्न के ऊपर भाग्य के साथ अंतिम सौदेबाजी कर ली थी।

यही बैजहॉट के इस कथन का कि "संसद के अधिकांश सदस्य उदार भावनाओं के होने चाहिएँ नहीं तो वे उग्र मंत्रालय को चुनेंगे और उग्र कानून बनाएँगे" अर्थ है। "उदार" तथा "उग्र" से उसका मतलब उन कानूनों से है जो छठे दशक के उदारचित्त और शान्तचित्त अर्थशास्त्री के अनुसार सुनिश्चित राष्ट्र के "सर्वश्रेष्ठ मत" द्वारा अर्थात् "निर्धन तथा मूर्खों" के मत के प्रतिकूल "धनिकों तथा बुद्धिमानों" के मत द्वारा अनुमोदित हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि राज्य का एक दल जो स्वयं वैकल्पिक सरकार है पूँजीवादी समाज की बुनियादों पर संदेह करता है तो बैजहॉट इसे "सर्वश्रेष्ठ" मत के प्रतिकूल समझता। यदि कोई मंत्रालय ऐसा करता तो बैजहॉट कहता कि वह उग्र व्यक्तियों से मिल कर बना है। जिन प्रस्तावों के लिए वह अपने को उत्तरदायी बनाने को तय्यार होता उन्हें बैजहॉट उग्र प्रस्ताव बताता। वह उनका मूल निर्धन तथा मूर्ख जनता को दिए गए मताधिकार में निकालता। वह मकॉले की भांति ही यह तर्क करता कि सार्वभौम मताधिकार तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों में कोई साम्य नहीं है। वह सोचता कि यह मार्ग तो शीघ्र संसदीय शासन के विनाश की ओर ले जाता है।

यही वह मार्ग है जिस पर हमने अपने चरण रख दिए हैं और हमारे लिए दलों के सिद्धान्तों के उन परिवर्तनों पर विचार करना आवश्यक है जिनका कॉमन-सभा के संचालन पर प्रभाव पड़ेगा। मुख्य रूप से परिवर्तन दो हैं। पहला परिवर्तन तो यह है कि उदार दल अब अनुदार दल में विलीन हो गया है और दोनों का सम्मिलित रूप वह दल है जो उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व का समर्थन करता है। दूसरा परिवर्तन यह है कि श्रमिक दल जो अब राज्य में वैकल्पिक सरकार है उत्पादन के साधनों के सार्वजनिक प्रभुत्व के सिद्धान्त का सबल रूप से प्रतिपादन करता है। इन परिवर्तनों का संसदीय शासन की उन विशेषताओं पर जो उसकी सफलता का रहस्य हैं क्या प्रभाव पड़ेगा?

यह स्पष्ट ही है कि अब अनुदार दल अपनी उस विचार भूमि से जिसे बैजहॉट अपने समय में सुरक्षित समझता था काफी दूर हट गया है। चाहे अच्छा हो या बुरा हम एक समतावादी समाज में रह रहे हैं और सार्वभौम मताधिकार पर आधारित संसदीय शासन में यह मान्यता प्राथमिक महत्व की है कि उस दल को भी जो पूँजीवाद की रक्षा करने के लिए है राज्य की शक्ति का प्रयोग सामाजिक और आर्थिक असमानता के परिणामों को दूर करने के लिए करना होगा। आज सम्पत्तिवादी दल जितनी रियायतें दे रहा है वे बैजहॉट की कल्पना से कहीं अधिक हैं। धनी और बुद्धिमान व्यक्तियों के सर्वश्रेष्ठ मत ने जो १८६७ में संभव समझा था वह समाज के उसी वर्ग द्वारा १९३७ में संभव समझे काम से बहुत भिन्न है।

लेकिन अनुदार दल उन सीमाओं से बहुत पीछे रह जाता है जहाँ कि श्रमिक दल का निवास है। उन सीमाओं का अभिप्राय यह है कि श्रमिक दल संसदीय बहुमत के प्रयोग द्वारा उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है। युद्ध के पश्चात् श्रमिक दल की विचारधारा में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। उसके १९१८ के कार्यक्रम में कहा गया है "हम श्रमिक दल के वर्तमान विश्व संकट में यदि सभ्यता का अंत नहीं तो कम से कम विशिष्ट औद्योगिक सभ्यता का जिसे श्रमिक फिर से बनाने की चेष्टा नहीं करेंगे चरमोत्कर्ष और विनाश देखते हैं।" युद्ध समाप्त होने के बाद से यह विचार श्रमिक दल के मन में बराबर विद्यमान रहा है। वास्तव में यह कोई ऐसा आधार नहीं था जिसके ऊपर दल ने उक्त विचार के निष्कर्षों के अनुकूल किसी नए दर्शन की रूपरेखा बनाने का प्रयास किया हो। शायद ही उसके कुछ नेता पूंजीवाद की प्राणशक्ति में सन्देह करते हों या युद्ध और पूंजीवाद का सम्बन्ध समझते हों। शायद ही उनके दो-एक नेताओं विशेषकर दल के सदस्यों में यह समझा हो कि फासीवाद राजनीतिक लोकतन्त्र के दबाव से पूंजीवाद के उद्धार का मार्ग है। केवल एक ही ऐसा व्यक्ति था जिसने यह संदेह किया कि पूंजीवादी समाज के पुनर्निर्माण को *अस्वीकार करने का अभिप्राय संसदीय पद्धति को चुनौती देना हो सकता है।* श्रमिक दल के अधिकांश सदस्य वेब दम्पति के शब्दों में "धन धन" वाद की अटल अपरिहार्यता में विश्वास रखते थे। उनका विचार था कि कॉमन-सभा में बहुमत होने पर श्रमिक दल अपनी सरकार का निर्माण करेगा। तब वह धीरे-धीरे समाजवादी विधान को पुरोस्थापित करेगा। चूंकि यह जनता की इच्छानुसार होगा अतः उनका विश्वास था कि इसे दूसरा दल भी स्वीकार कर लेगा। यह सम्भावना कि संसदीय शासन के सिद्धान्त इन उद्देश्यों के लिए अव्यावहारिक हों ये धूमिल रूप से ही उनके मन में आती थी।

यथार्थ यह है कि श्रमिक दल और अनुदार दल की विचारधाराओं के बीच अब इतनी चौड़ी खाई पैदा हो गई है कि उसे पाटा नहीं जा सकता। अभी तक यह अंतर दो कारणों से छिपा रहा था। पहला कारण तो यह है कि श्रमिक दल अब तक दो बार शासनसत्ता पर चुका है और उन दोनों में से एक भी बार समाजवादी साधनों को कार्यान्वित करने का प्रयास नहीं किया। दूसरा कारण यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध श्रमिक दल का असंतोष केवल नैतिक विद्रोह मात्र था। उसके पास पूंजीवादियों से पृथक कोई आर्थिक दर्शन नहीं था। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि फैबियनवादी परम्परागत अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को स्वीकार करते थे। उनका मुख्य तर्क यह था कि पूंजीवाद के अन्तर्गत मनुष्यों के साथ न्याय न हो सकेगा। वे व्यावहारिक पूंजीवाद के कई दोष दिखला सकते थे। उनका विश्वास था कि मजदूर ज्यों ज्यों इन दोषों से परिचित होंगे वे उनके निवारण की माँग करेंगे। तब वे निर्वाचनों में श्रमिक दल को इन दोषों के निवारण की शक्ति देंगे और संसद श्रमिक दल की छत्रछाया में धीरे-धीरे समाजवादी राज्य की ओर बढ़ चलेगी।

*इस दृष्टिकोण का अन्तर्गत सिद्धान्त यह था कि पूंजीवाद जिसके पतन की श्रमिक* दल स्वयं घोषणा करता था अपने पतन-काल में भी अपनी प्रवृत्तियाँ नहीं त्यागेगा।

दल का सम्पूर्ण मन संसदीय प्रक्रिया पर इस तरह केन्द्रीभूत था कि ज्ञात होता था मानो उसे यह विश्वास है कि राजनीतिक लोकतन्त्र उस आर्थिक ढाँचे से जिसके भीतर उसे काम करना पड़ता है स्वतन्त्र है। उसने यह नहीं देखा कि पूँजीवाद के अन्दर एक गतिशीलता है जो उसके दर्शन को अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल शासन की प्रेरणा देती है। पूँजीवाद मुनाफे के बल पर जीता था। उसने समाज के आचरण और प्रवृत्तियों को मुनाफा कमाने की अपनी योग्यता द्वारा संगठित किया था। उसने राजकीय शक्ति का प्रयोग ऐसी परिस्थितियों के निर्माण में किया जिससे कि इस मुनाफे की प्राप्ति निरन्तर होती रहे। वेतन क्रम काम के घंटों और सामाजिक सेवाओं के स्तर इन सबको पूँजीवाद की इस आधारभूत आवश्यकता के अनुसार ढाला गया कि मुनाफा बराबर मिलता रहे। पूँजीवादी समाज की यह तर्कसिद्ध और स्वाभाविक प्रवृत्ति थी कि वह राजकीय शक्ति का प्रयोग उन बाधाओं को दूर करने में करे जो मुनाफा कमाने के मार्ग में खड़ी होती थीं। यही राज्य का प्रयोजन था और पूँजीवाद के अच्छे तथा बुरे, बुद्धिमान् तथा मूर्ख सम्बन्धी विचार राज्य के इस प्रयोजन के संदर्भ में ही निश्चित होते थे। व्यक्तिगत उद्यम को उन बाधाओं से मुक्त करना जो मुनाफा कमाने के अधिकार पर चोट करती हों पूँजीवादी समाज का अन्त-र्भूत सिद्धान्त है और यही सिद्धान्त उसे राजकीय शक्ति को इस प्रयोजन की प्राप्ति का एक साधन मानने को विवश करता है।

यह सब श्रमिक दल से छिपा रहा है क्योंकि उसने परम्परागत अर्थशास्त्र को और राज्य के परम्परागत सिद्धान्त को स्वीकार किया है। अपरंच उसने राज्य को समाज में ऐसा तटस्थ तत्त्व माना जो संसद में बहुमत प्राप्त करने वालों के लिए प्राप्य था। उसने अनुदारवादी तथा उदारवादी सरकारों के प्रति राज्य को तटस्थ और उत्तरदायी दोनों रूपों में देखा था और उसके पास यह मानने का कोई कारण नहीं था कि सरकार का निर्माण करने पर उसे भी यह अनुभव प्राप्त नहीं होगा। वह यह समझने में विफल रहा कि उदारवादियों तथा अनुदारवादियों के बीच राज्य की तटस्थता का कारण यह था कि दोनों ही दलों के उद्देश्य एक से थे। दोनों ही पूँजीवादी समाज के औचित्य में विश्वास रखते थे। दोनों ही उस समाज में पूँजीवादी व्यवस्था को इस तरह चलाना चाहते थे कि वह समाज अक्षत बना रहे। किन्तु श्रमिक दल ने उन उद्देश्यों को और उस औचित्य को अस्वीकार कर दिया। उसने संसदीय पद्धति का पूँजीवादी उद्देश्यों के लिए नहीं प्रत्युत इनसे उल्टे उद्देश्यों के लिए संचालन करना चाहा। प्रयोजन के इस वैपरीत्य का परिणाम श्रमिक दल के सामने है। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि श्रमिक दल ने ऐसा करना प्रारम्भ कर दिया है।

म यह कह चुका हूँ कि संकटकाल में पूँजीवाद सामाजिक मानदंडों को उन परि-स्थितियों के अनुकूल ढालने के लिए बाध्य है जिनमें कि वह मुनाफा कमाता रहे। उसने न केवल अपने उपासकों के ही मन में प्रत्युत जनता के एक बहुत बड़े भाग के मन में यह बात बठा दी है कि सामाजिक बुद्धिमत्ता उन परिस्थितियों का निर्माण है। उसके विधि और व्यवस्था सम्बन्धी विचार पूर्णतः इन परिस्थितियों के अनुकूल

है। चाहे कोई भी सरकार सत्तारूढ़ हो खराब वाणिज्य का अर्थ वेतनों में कमी और अच्छे वाणिज्य का अर्थ वेतनों में वृद्धि रहा है। औद्योगिक संघर्ष के कालों में उदाहरण के लिए १९२९ का संकट ले लीजिए व्यापारियों ने सदैव सरकार से यह माँग की है कि वह सामाजिक उत्थान का कोई काम न करे। श्रमिक दल की विचारधारा इन सिद्धान्तों से भिन्न है। उसका कार्यक्रम उन सिद्धान्तों की स्वीकृति की माँग करता है जिन्हें व्यापारी अव्यावहारिक बतलाते हैं। श्रमिक दल इन सिद्धान्तों को संसदीय शासन के रूप में कार्यान्वित करने के अपने अधिकार पर बल देकर वास्तव में पूँजीपतियों को स्वयं अपने विनाश में सहयोग देने के लिए आमन्त्रित करता है। इसी बात को पूँजीपतियों की दृष्टि से देखा जाये तो कहा जा सकता है कि श्रमिक दल पूँजीपतियों को उन के आर्थिक विनाश में सहयोग देने के लिए आमन्त्रित करता है।

और इस आमन्त्रण का आधार संसदीय कार्यक्रम में शासन करने वाले बहुमत का सम्मानित अधिकार है। यह आशा की जाती है कि श्रमिक दल को सरकार बनाने की अनुमति इस अनुमान पर दी जायगी मानो वह अपने पूर्ववर्ती के काम को आगे बढ़ाने के लिए बिल्कुल तय्यार हो। उसके विरोधियों को यथापूर्व अपनी शिकायत सामने *लाने की अनुमति होगी जैसा यथापूर्व संसदीय वाद-विवाद की प्रक्रिया द्वारा निश्चित* हुआ और पाँच वर्ष व्यतीत होने पर उन से फिर एक बार श्रमिक दल तथा उसके प्रतिद्वंद्वी के बीच में से चुनाव करने के लिए कहा जायेगा। श्री एटली का कहना है कि और कोई वस्तु असंभव है क्योंकि वे प्रमुख राजनैतिक दल "जिन्होंने वर्षों तक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा राजनीतिक लोकतन्त्र का अनुभव किया हो" साम्यवाद अथवा फासिज़्म को अपने मनोनुकूल नहीं पायगा। श्री एटली के इस विश्वास का आधार हमारा राष्ट्रीय चरित्र तथा शान्ति की यह लम्बी परम्परा है जो अभी हाल तक हमारी आर्थिक पद्धति की सफलता के कारण संभव हो सकी है।

लेकिन संसदीय पद्धति द्वारा समाजवादी समाज के संस्थापन का अभिप्राय केवल यही नहीं होगा कि स्थायी आदेशों तथा संविधान के अभिसमयों का पालन हो ही सके। इसका अभिप्राय यह भी है कि व्यापारियों को जिनका नई व्यवस्था में विश्वास नहीं है अपने ऊपर संयम रख कर इस प्रकार आचरण करना होगा मानो उन्हें विश्वास हो। इसका अभिप्राय यह है कि परिवर्तन के लिए आवश्यक सहमति का वातावरण उन व्यक्तियों की ओर से आता रहेगा जिन्होंने अब तक अपनी समस्त संभावनाओं को उसका मार्ग अवरुद्ध करने में लगाया है। इसका अभिप्राय यह है कि श्रमिक सरकार द्वारा कार्यान्वित की गई प्रत्येक नीति उस दिशा में एक कदम होगा जो उनके विचार से न तो शुभ ही होगा और न सफल। इस प्रकार का आत्मसंयम इतिहास के किसी काल में कभी नहीं दिखाया है। श्री टॉनी ने लिखा है, "हमारे शासक-वर्ग की यह विशेषता है कि वह बाद में दयालु, परन्तु दुर्भाग्य से धनी पक्ष-पोषक और प्रफुल्ल होने के लिए प्रस्तुत है यह सर्वप्रथम इस बात के लिए दृढ़ संकल्प है कि उसके पास सुन्दर और शिष्ट जीवन व्यतीत करने के लिए काफी रुपया हो और इस रुपये के लिए वह कानून और व्यवस्था के नाम पर अपने शासितों के दरवाजों में आग लगा देना तक पसंद

देगा, जंगली तहखानों में उससे काम करवाएगा, उसकी हत्या कर देगा, उन्हें फांसी देगा, उन्हें डुबा, जला और नष्ट कर देगा।"

उक्त उदाहरण की भाषा शक्तिशाली है लेकिन वह तथ्यों से अधिक शक्तिशाली नहीं है। कॉमन-सभा की समस्त विशेषताएँ इस सिद्धान्त पर आधारित हैं कि दलों के मतभेद अंतिम विश्लेषण में इतने छोटे हैं कि मनुष्य उनके सम्बन्ध में लड़ने के स्थान पर उनके सम्बन्ध में समझौते की बातचीत और समझौते कर सकते हैं। १६८९ के पश्चात् से राजनीतिक शक्ति मुख्य रूप से एक ही वर्ग के हाथों में रही है और वह वर्ग है उत्पादन के साधनों का स्वामी। कानून का एक मात्र उद्देश्य इस स्वामित्व के परिणामों को प्रभावी करना रहा है। कानून की प्रत्येक शाखा में ऐसे विचार भरे पड़े हैं जिनका उद्गम यही उद्देश्य है और कुछ नहीं। कोई भी व्यक्ति इस उद्देश्य को एक शताब्दी में १७९९ के कम्बिनेशन एक्ट में तथा दूसरी शताब्दी में १९२७ के ट्रेड यूनियन्स एमेंडमेंट एक्ट में देख सकता है। यह १८३५ में लवलेस तथा उनके साथियों की निन्दा और १९१७ में माइकेल केन तथा उसके साथियों की निन्दा का कारण स्पष्ट करता है। चूंकि एक प्रकरण सौ वर्ष पुराना है अतः शासक वर्ग लॉर्ड मेलबोर्न तथा उनके साथियों की कठोरता पर हमारी तरह रोष व्यक्त कर सकता है लेकिन उसने उस समय इस पर इससे अधिक रोष नहीं किया था जितना आज का शासक वर्ग माइकेल केन की गिरफ्तारी से सहानुभूति रखता है। शासक वर्ग वैधानिक नैतिकता के सिद्धान्तों का मूल्यांकन अपनी परिस्थितियों के सन्दर्भ में करता है और यदि वह उन्हें अपनी सुरक्षा के लिए खतरा समझता है तो वह उन्हें बिना किसी पश्चात्ताप के तिरस्कृत करने के लिए प्रस्तुत रहता है।

सचाई यह है कि जब श्रमिक दल विरोध में है तब संसदीय पद्धति के सचालन का आदर एक बात है और जब श्रमिक दल को सरकार के रूप में काम करने का अधिकार हो तो उस समय उसका आदर दूसरी बात है। एक स्थिति में तो परम्परागत नियमन में कोई विक्षेप उत्पन्न नहीं होता लेकिन दूसरी स्थिति में एक आधारभूत विकल्प उत्पन्न होता है। श्रमिक दल का दर्शन यह मानता है कि यह मतभेद महत्वहीन है। वह यह मानता है कि उन व्यक्तियों को निष्पक्ष न्याय मिलेगा जिन्होंने सत्ता प्राप्त करने के लिए, जिसका अब वे उपयोग करते हैं क्रान्ति तथा गृहयुद्ध का मंत्र फूंका था। वह यह मानता है कि न्याय तथा अधिकार के सिद्धान्त उस समाज की सीमाओं से परे हैं जिसमें उनका प्रयोग होता है। मनुष्य उनके अर्थों के बारे में उस समय भी एकमत हो सकते हैं जब कि उन्होंने बैजहॉट के शब्दों में एक ही भाषा में बातचीत करना बन्द कर दिया हो। वह व्यक्ति जो हमारे साम्राज्य के इतिहास उदाहरणार्थ पूर्वी अफ्रीका की भूमि-व्यवस्था के बारे में तोड़ी गई प्रतिज्ञाओं को अथवा भारत के शिशु श्रमिक संघवाद या कांग्रेस आन्दोलन को दबाने के लिए प्रयुक्त अन्यायपूर्ण कानूनों को जानता है यह समझ लेगा कि वे व्यक्ति जो अपने विशेषाधिकारों को संकटापन्न देखते हैं उनकी रक्षा के लिए युद्ध करेंगे। श्रमिक दल यह जानता है कि यदि वह संसद् का प्रयोग रोमन

कंपनियों को उनकी आर्थिक स्वतंत्रता से वंचित करने के लिए करे, तो चाहे उसके पीछे निर्वाचकों का बहुमत हो उसके इस कृत्य का प्रतिरोध होगा। लेकिन वह यह नहीं मान सकता कि यह निर्णय उन व्यक्तियों द्वारा किया जा सकता है जिनके लिए सम्पत्ति-यम इतना प्रिय है कि उसने उन्हें प्रत्येक सामाजिक संस्था को अपनी सेवा में लगाने के लिए सारे संसार के सम्पत्ति की प्रेरणा दी हो।

कम से कम एक दृष्टि से यह वर्तमान व्यवस्था का रक्षक है। श्रमिक संघों की भांति श्रमिक दल भी उसके दायरे के भीतर ही बना है। युद्धान्तर काल के समस्त बड़े-बड़े संकटों में उसका सिद्धान्त यह रहा है कि पूंजीवादी शक्ति को चुनौती देने की अपेक्षा उसके साथ समझौता करना श्रेयस्कर है। किसी भी श्रमिक सरकार ने समाजवादी कानून के निर्माण का साहस नहीं किया उसने सामाजिक सुधार की संभावनाओं पर निर्भर रहना अधिक अच्छा समझा। यह तर्क कि अल्पसंख्यक सरकार होने के नाते उसे समाजवादी कानूनों के निर्माण का अधिकार नहीं था इस तथ्य को भूल जाता है कि उसे इन्हें पुरःस्थापित करने का तो अधिकार था ही और यदि वह कॉमन-सभा में पराजित हो जाती तो अपने प्रयास की अभिपुष्टि के लिए नए निर्वाचन करवा सकती थी। श्रमिक संघों ने बिना किसी तैयारी के आम हड़ताल की। यदि यह हड़ताल सरकार के लिए चुनौती नहीं थी तो फिर इसका कोई अभिप्राय ही नहीं था। श्रमिक संघ की संगठन-शक्ति के इस विशाल प्रदर्शन में यदि उन्होंने कोई सबक सीखा तो वह यही था कि यह एक निष्फल साधन है। मॉन्टमोर सम्मेलन में उन्होंने इस बात की चेष्टा की कि नियोक्ताओं के साथ-साथ उन्हें भी मुनाफे के अवशिष्ट भाग्य का पद मिल जाये। उन्होंने अपनी असफलता से यह निष्कर्ष नहीं निकाला कि पूंजीवादी समाज के नाम अधिकारी अपने पद का त्याग के लिए प्रस्तुत नहीं है। श्री स्नोडेन ने युद्धोत्तर युग के बारे में लिखा है, "श्रमिकों के संगठन ने श्रमिकों की शक्ति का प्रयोग कभी भी उन वायदों के बदले के लिए नहीं किया जिन्हें संकट की घड़ी बीतते ही शासक पूंजीपतियों ने पूर्णतः विस्मृत कर दिया।" इस प्रवृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण यही है कि श्री लॉयड जार्ज ने खानों के राष्ट्रीयकरण विषयक सॅंकी प्रतिवेदन के अक्षरशः कार्यान्वित करने का वचन दिया था लेकिन बाद में उसका पैरों से दुकरा दिया था। श्रमिक दल की मनोदशा को समझने के लिए हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जहाँ तो उसने १९२० में रूस में ब्रिटिश हस्तक्षेप का प्रचंड विरोध किया था और वहाँ उसने १९३६-३७ में स्पेन में हस्तक्षेप न करने का अत्यंत दुर्बल और क्षीण प्रतिरोध किया था। दोनों स्थितियों में कितना वैषम्य है?

आर्थिक संकट के वर्षों ने श्रमिक दल में एक ऐसा द्विविध दृष्टिकोण उत्पन्न कर दिया है जो संसदीय पद्धति के अनुशीलन के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। ये वर्ष ऐसे रहे हैं जिनमें श्रमिक दल की घोषणाओं और कार्यों में व्यापक अंतर रहा है। एक ओर तो यह घोषणा की गई है कि समाज के पूंजीवादी आधार को अस्वीकार कर दिया जायगा और इस अस्वीकृति के परिणामों को मूर्त रूप देने के लिए एक निश्चित कार्यक्रम पर आचरण किया जायगा। दूसरी ओर इस बात की निरन्तर चेष्टा रही है कि

पूंजीवाद के साथ समझौता करने की शर्तों की अधिक से अधिक खोज की जाये। इस रीति से हम यह समझ सकते हैं कि फासीवाद के संकट में भी श्रमिक दल ने साम्यवादी दल के साथ मेल करना अस्वीकार कर दिया है तथा अपने सदस्यों का प्लेटफार्म पर साम्यवादी सदस्यों के साथ प्रकट होने की अनुमति नहीं दी है। इसी रीति से हम इस प्रकार के कार्य समझ सकते हैं जैसे कि १९३७ में 'ट्रांसपोर्ट एंड जनरल वर्कर्स यूनियन' ने अपने कुछ नेताओं को अपनी सदस्यता से केवल इस आधार पर वंचित कर दिया था कि हड़ताल के दिनों में उनका उसके प्रति अत्यधिक अनुराग था यद्यपि इस हड़ताल को यूनियन का समर्थन प्राप्त था तथा उसका संचालन उसकी कार्यकारिणी ने किया था। ग्लासगो परिषद जैसे स्थानों पर कुछ सभा का साम्यवादियों को अपने संगठन के राष्ट्रीय सम्मेलनों का सदस्य न होने देना यदि साम्यवादी फासीवाद के पीड़ित व्यक्तियों की सहायता के लिए स्थापित किसी संगठन के सदस्य हों तो भी उन्हें उसमें भाग लेने से रोक देना और दल के समस्त प्रभाव को शक्ति के कौशल के विवेचन में लगा देना आदि बातें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

उनका आधार इंगलैण्ड में एक ऐसे लोकतन्त्रात्मक समाज के अस्तित्व का विश्वास है जो उस पूंजीवादी समाज से जिसके बीच वह रहता है व्यवहार में पृथक रहने में समर्थ है। इससे श्रमिक दल के नेताओं को यह निष्कर्ष निकलता मालूम पड़ता है कि जब तक वे इस लोकतंत्रात्मक समाज में अपना विश्वास बनाए रख सकते हैं वे अपने विरोधियों को यह विश्वास भली प्रकार दिला सकते हैं कि सवर्ष उचित नहीं होगा। वे यह कहते मालूम पड़ते हैं कि हम मुख्य बुद्धिमान व्यक्ति हैं। राजनीतिक दृष्टि से हम ऐसे व्यक्तियों को अपने दल में लेना अस्वीकार करते हैं जो हमारी तरह अपने को समाजवादी तो कहते हैं किन्तु वे इसमें सन्देह करते हैं कि समाजवाद को शान्ति पूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि हम उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण का समर्थन करते हैं, हम वर्तमान स्वामियों को पर्याप्त प्रतिकर देने के पक्ष में हैं। औद्योगिक क्षेत्र में हम अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ समझौते की चेष्टा करते हैं। हम गैर-अधिकारी हड़तालों को अनुत्साहित करते हैं। हम उन श्रमिक सदस्यों को प्रत्येक संगठन में जहां तक हमारा बस चलता है, दंड देते हैं। हमारे राजनीतिक और औद्योगिक तथा ब्रिटिश फासीवाद के विरुद्ध श्रमिक आन्दोलन को दबाने के लिए आपस में मिल तक गए हैं। हम कानून और व्यवस्था का पूर्ण रूप से समर्थन करते हैं। हम यह मान लेते हैं कि हमारे विरोधी भी हमारी तरह ही लोकतंत्रात्मक प्रक्रिया की पूर्ण रूप से रक्षा करने के पक्षपाती हैं। हम यह विचार उस समय तक रक्खेंगे जब तक कि उनके कार्य हमें यह न दिखा दें कि हम गलती पर हैं।

मेरा विचार है कि श्रमिक दल की परम्परागत स्थिति का यह सच्चा विवरण है। इसकी मूल दुर्बलता स्पष्ट ही है। यह बिलकुल झूठ है कि श्रमिक दल के विरोधी भी उसके समान ही लोकतंत्र की रक्षा करने के पक्ष में हैं। यदि लोकतन्त्र समाजवादी नीति को कार्यान्वित करने का एक साधन हो जाता है तो श्रमिक दल के विरोधी उसकी रक्षा करने की परवाह नहीं करते। श्रमिक दल की मूल दुर्बलता उसका यह न

समझता हूँ कि राज्य समाज में उस वर्ग के हाथों का एक उपकरण है जिसका उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण है और वह राज्य को उस समय तक जब तक उस दल के हाथ में उत्पादन के साधन हैं अपने उद्देश्य की सिद्धि में प्रयुक्त नहीं कर सकता। श्रमिक दल इस कल्पनालोक में रहता है कि यदि उसे निर्वाचन में बहुमत मिला तो उसके विरोधी उसको पूँजीवाद की मौलिक भित्ति को तोड़ मूक बन सिर माथे चढ़ा लेंगे। वह यह नहीं समझता कि सामूहिक रूप में मनुष्य के सामान्य सिद्धान्त इस प्रकार के बौद्धिक विचार नहीं होते। सामूहिक रूप में मनुष्य के विश्वास उसके वर्ग-गत स्वार्थ से तथा समाज की इस योग्यता से कि वह उसकी वर्गगत स्थिति पर आधारित परम्परागत प्रत्याशाओं को कहाँ तक पूरा करता है उत्पन्न होते हैं। हम अपने मूल विचारों को इसलिए नहीं बदलते, क्योंकि एक साधारण निर्वाचन का परिणाम हमारे प्रतिकूल गया है। यह हम तभी करते हैं जब कि इन दो बातों में से एक हो—या तो यह सिद्ध हो कि हमारी धारणाएं निर्मूल थीं या हमें अपनी प्रत्याशाओं में निश्चित सुधार मालूम पड़ना चाहिए। सर एडवर्ड कार्सन और उनके मित्रों ने १९१० के दो साधारण निर्वाचनों से यह निष्कर्ष नहीं निकाला था कि उन्हें निर्वाचकों की अनवरत इच्छा स्वीकार कर लेनी चाहिए। उनका तो विश्वास था कि वे उसकी पूर्ति उसके प्रयोग के विरुद्ध लड़कर रोक सकते थे। समय ने उसको सत्य प्रमाणित किया।

बैजहॉट का यह कहना ठीक ही था कि सत्तारूढ़ व्यक्ति अपने उत्तरदायित्वों को जब वे विरोधी दल में होते हैं पहले से भिन्न दृष्टि से देखते हैं। संसदीय शासन की यह विशेषता है कि वह बहुमत को जहाँ तक उससे हो सकता है विजय की शक्ति का दुरुपयोग करने से रोकता है। १९११ के संसदीय अधिनियम के प्रश्न पर जो संकट पैदा हो गया था उसके सम्बन्ध में नहीं हुआ था। उदारवादी दल लॉर्ड सभा का उन्मूलन करने में अपने अधिकार का प्रयोग कर सकता था। होमरूल के बाद विवाद के सम्बन्ध में भी नहीं हुआ था। यदि किसी सरकार को क्षति की सीमा तक पहुँचने के उपक्रम में पृथक्करण की सम्भावना का खतरा हो, तो वह कोई भी अंतिम निश्चय करने के पूर्व समझौते की समस्त सम्भावनाओं पर अवश्य विचार करेगी। कॉमन-सभा की रचना में हमें इसका विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त मनोवैज्ञानिक तत्त्व हैं। सत्तारूढ़ दल और विरोधी दल के नेता सदैव आपस में लड़ते नहीं रहते। वे वैयक्तिक मित्र होते हैं और उनकी मित्रता से व्यवहार काफी हद तक समाप्त हो जाता है। वे इस विचार के अभ्यस्त हो गए हैं कि सत्तामात्र पा लेना ही अपने में एक सफलता है। श्री रैमजे म्योर ने १९२४ की श्रमिक सरकार को 'एक चमत्कार' बताया था। क्या राजनीतिज्ञ जिनके लिए पद स्वयं ही अन्त-पारितोषिक है उसकी प्राप्ति को अपनी विजय के अवसर पर ही कुंठित करेंगे? उनकी प्रकृति ऐसी नहीं है।

यह समझने के लिए किसी विशेष अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता नहीं है कि श्रमिक सरकार को अपनी विजय के प्रयोग में सचेत रखने के लिए कितनी शक्तियाँ

काम में आयेंगी। दलगत मतभेदों की तीव्रता को दूर करने के लिए राजमुकुट की विपुल शक्ति का प्रयोग होगा जिस प्रकार कि उसका भूतकाल में प्रयोग हुआ है। समाचार-पत्रों तथा चर्चों की शक्ति भी इस कार्य में लगेगी। विभाग मुक्त की मधुरता समय की आवश्यकता और मूठ कदम के विस्फोटक स्वरूप पर बल देंगे। मंत्रि-मंडल को यह याद रखना पड़ेगा कि देश के आतंक में बुरे परिणाम हो सकते हैं। लार्ड-सभा प्रत्येक क्रान्तिकारी कानून के विरुद्ध जमकर मोर्चा लेगी और आभ्यन्तरिक संकट के फलस्वरूप विकट अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें खड़ी हो सकती हैं। जो व्यक्ति यह समझते हैं कि हम आग से खेल रहे हैं उनमें हिचकिचाहट होना स्वाभाविक है। जहाँ उन्होंने अपनी विजय को एक बार कार्यान्वित करना प्रारम्भ किया फिर पीछे लौटना नहीं हो सकता। उनको यह ज्ञात होगा ही कि इससे उग्र विरोध उत्पन्न होगा। उन्हें उस भावपूर्ण अव्यवस्था की याद होगी ही जिसने १९३१ में उनके पूर्ववर्तियों को विफल मनोरथ कर दिया था। उनके लिए यह समझना आवश्यक है कि यदि वे स्वयं को अवसर के अनुकूल सिद्ध नहीं करते तो वे अपने दल के विनाश का खतरा मोल ले लेते हैं। यह सम्भावना उस समय और भी अधिक होगी जब कि वे पतनशील वाणिज्य काल में सत्तारूढ़ हों। ऐसी परिस्थितियों में समय को गुजार देने का प्रलोभन भी बहुत अधिक होता है।

मेरा निवेदन यही है कि जब तक श्रमिक सरकार ऊँची कोटि के संकट का सामना करने के लिए तय्यार नहीं है वे शक्तियाँ जो उसके सामने आयेंगी उसे पूँजीवादी व्यवस्था के परिवर्तन के स्थान पर उसी के संचालन के लिए प्रेरित करेंगी। सामाजिक सुधार के क्षेत्र में जिसके लिए वह समाजवादी कार्यक्रम पर आचरण किए बिना ही प्रयास कर सकती है इतना अधिक काम है कि उसके लिए सामाजिक सुधार पर ही निर्भर रहने का प्रलोभन बहुत अधिक होगा। मंत्रि-मंडल के उदार सदस्य कहेंगे "हमको दृढ़ करना चाहिए। हमें अपने पीछे ऐसा शक्तिशाली लोकमत रखना चाहिए जो इस बात से कि हमारे प्रथम कदमों से उसे लाभ होगा हमारा समर्थन करे। बहुत से व्यक्ति बेरोजगार हैं। हम उनकी दशा सुधार सकते हैं। वृद्ध और अपाहिज हैं हम उनको अधिक सुविधाएं दे सकते हैं। हम आवास तथा शिक्षा सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा मनोरंजन सम्बन्धी सुविधाएं बढ़ा सकते हैं। हम राष्ट्रसंघ के पुनरुत्थान द्वारा विदेश नीति के क्रम को बदल सकते हैं। हम मजदूरों को अधिकार दे सकते हैं तथा १९२७ के ट्रेड यूनियन का एमेंडमेंट एक्ट को रद्द कर सकते हैं। लोग हमसे इन वस्तुओं की आशा रखते हैं, वे उनका स्वागत करेंगे। जब हम इस प्रकार के कार्यों से जनता का पर्याप्त समर्थन प्राप्त कर लेंगे हम समाजवाद की दिशा में ठोस कदम उठा सकेंगे। पूर्वकथित श्रमिक सरकार यह कदापि नहीं कहेगी कि सभा के कार्य में अधिक भी प्रबल काम से यह सब कार्य पदावधि के प्रथम दो वर्षों के भीतर ही किया जा सकता है। समस्त विषयों से सम्बन्धित सभी कानून संसदीय अधिनियम के अन्तर्गत संविधि-पुस्तक तक पहुँच सकते हैं। तब फिर नया समर्थन तथा मन्त्रियों

द्वारा अपने विभागों के संचालन में जैसा अनुभव था वैसे पर मंत्रिमंडल अपने कुछ दुष्कर कार्यों को पूरा करने में अग्रसर हो सकता है।

यह निश्चित है कि वर्तमान संघर्ष का स्वरूप श्रमिक दल को इस दृष्टिकोण की ओर प्रेरित कर देगा और उसका राज्य विषयक सिद्धान्त यह संदेह और पुष्ट कर देगा कि यह एक बुद्धिमत्तापूर्ण कदम है। इसके साथ-साथ दिखाने के लिए 'बैंक ऑफ इंग्लैण्ड का' राष्ट्रीयकरण भी हो सकता है जिसकी वजह से जैसा कि मि० कीन्स हमें चेतावनी देते हैं एक भी पूँजीपति को अपनी रात्रि की नींद न छोड़नी पड़ेगी। इस नीति का फल क्या होगा?

यह तो निर्विवाद ही है कि श्रमिक दल के विरोधी इस नीति का पहले-पहल सहर्ष स्वागत करेंगे। मंत्रिमंडल को उसके यथार्थवाद पर उसके व्यापक दृष्टिकोण पर बधाई दी जायेगी। लेकिन यह स्थिति केवल कुछ ही समय तक रहेगी। यह दो कारणों से शीघ्र ही समाप्त हो जायेगी। पहला कारण तो यह है कि जैसे ही अनुदार दल को श्रमिक सरकार की सफलता के खतरे का भान होगा वह कॉमनसभा में श्रमिक सरकार का तीव्र विरोध करने लगेगा। यदि श्रमिक सरकार अपना कार्य प्रभाव नहीं दे करती गई तो परिणाम यह होगा कि अनुदार दल को आगामी निर्वाचनों में पराजय मिलेगी और वह देर-सबेर श्रमिक सरकार के अपव्यय वाणिज्य तथा उद्योग पर उसके अत्यधिक भार आदि की कटु आलोचना प्रारम्भ कर देगी। यदि श्रमिक सरकार अपने कार्यक्रम पर वाणिज्य के विस्तार-काल में आचरण नहीं करती तो इसका नैसर्गिक परिणाम यह होगा कि व्यापारिक विश्वास को चोट पहुँचेगी। व्यापारी लोग उन योजनाओं के फलस्वरूप जिनमें उनकी आस्था नहीं होती बढ़ने वाले कर-भार को कदापि पसंद नहीं करते। इसके दो खतरे हो सकते हैं : एक तो यह कि बजट में अस्थिरता का भाव और दूसरे यह कि ऐसा तनाव संघर्ष प्रारम्भ हो जावे जिसमें अनुदार दल अनुकूल अवसर पर लार्ड-सभा की शक्ति का आश्रय ले। दूसरा कारण यह है कि इससे स्वयं श्रमिक दल के अन्दर ही कॉमन-सभा के भीतर भी और बाहर भी फूट पड़ सकती है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि श्रमिक मंत्रिमंडल चाहे कुछ भी प्रस्ताव करे, श्रमिक दल का एक महत्त्वपूर्ण अंग श्रमिक सरकार से यह आशा रखता है कि वह समाजवाद की दिशा में निश्चित और सीधी यात्रा करे। उनके विचार से इस प्रकार का सामाजिक सुधार श्रमिकों के मुख्य ध्येय की विवशांजलि है। वे इस प्रकार की चेष्टा को पतनोन्मुख पूँजीवाद के रक्षार्थ पैंतरेबाजी समझते हैं। इस प्रकार की नीति से जिसकी मैंने रूपरेखा दी है दल में फूट पड़ जायगी और हो सकता है कि इससे सरकार को नीचा तक देखना पड़े। इस 'पैबन्दनिम्नवाद' समझा जायगा तथा वामपंथी और नरमी के अंदर से इतना तीव्र संघर्ष उठ खड़ा होगा कि वह कॉमनसभा के ऊपर सरकार के प्रभाव को शिथिल कर देगा। यदि यह नीति श्रमिकों के पर्याप्त भाग को ही संतुष्ट नहीं कर सकती तो यह निश्चित है कि यह उसके शत्रुओं को संतुष्ट नहीं कर सकेगी। यह सरकार जिसकी वामपक्षावलम्बी और दक्षिणपक्षावलम्बी दोनों ही आलोचना करते हों स्वयं को शीघ्र ही विषम परिस्थिति में पायगी।

अब कोई श्रमिक सरकार ऐसी स्थिति में नहीं है कि वह तीसरी असफलता को सहन कर ले। इसका सीधा निष्कर्ष यह है कि पूंजीवादी समाज का संचालन अच्छी प्रकार तभी हो सकता है जब कि यह उन लोगों के ऊपर छोड़ दिया जाए जो कि उसमें आस्था रखते हैं। वे लोग जो कि समाजवाद की स्थापना से पूर्व उसके सिद्धान्तों का बनाए रखने का प्रयास करते हैं उसका सफलतापूर्वक संचालन नहीं कर सकते। यह कार्य उन व्यक्तियों द्वारा और भी कम सफलता से किया जा सकता है जो इस तथ्य की उपेक्षा कर देते हैं कि पूंजीवादी समाज में उन व्यक्तियों का विश्वास पा लेना जिनके हाथों में उत्पादन के साधनों का नियंत्रण और संचालन है सफल शासन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अनुदारवादी और उदारवादी इस विश्वास को पा सकते हैं क्योंकि वे उन नियमों का पालन करने के लिए जिन पर यह विश्वास अवलम्बित है प्रस्तुत हैं। समाजवादी अपने समाजवादी होने का दावा त्यागे बिना इस विश्वास को नहीं पा सकते। व्यापारियों के लिए यह स्वाभाविक ही है कि वे श्रमिकों को अपना समर्थन नहीं देते। श्रमिक दल समाज में आय का इस ढंग से पुनर्वितरण करना चाहता है जो पूंजीवादी अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। 'सामाजिक सुधार' सरकार के रूप में वह पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की समस्याओं को नैतिक भावना की भाषा में हल करने की पूर्णत: युक्तिहीन चेष्टा करती है। उसके नीति विषयक समस्त सिद्धान्त उन सिद्धान्तों से निःसृत होते हैं जो सम्पत्ति विषयक अधिकारों के पूंजीवादी सिद्धान्त का औचित्य अस्वीकार करते हैं। यह श्री मैक्डानेल्ड के मुक्ति-धन (Ransom) के सुप्रसिद्ध सिद्धान्त का ही प्रश्न नहीं है। यह एक क्रान्तिकारी के लिए जो पूंजीवादी विचारधारा के आधारों को स्वीकार करता है, एक सुबोध सिद्धान्त है। उस सिद्धान्त का निष्कर्ष जिसका वह प्रचार करता है टोरी लोकतन्त्रवादी द्वारा जो उन्हीं आधारों को उचित मानता है, प्रचारित सिद्धान्त के परिणाम से केवल परिमाणात्मक रूप से ही भिन्न है। लेकिन यह एक समाजवादी के हाथों में जो अधिकार का मूल सम्पत्ति को नहीं प्रत्युत व्यक्तित्व को मानता है और इसलिए जो कार्यरहित स्वामित्व को अधिकार नहीं देता तथा यह आग्रह करता है कि उत्पादन मुनाफे की दृष्टि से होना बोधगम्य नहीं रहता है।

इसलिए मेरा यह विश्वास है कि श्रमिक सरकार के द्वारा एक ऐसी नीति के संचालन की चेष्टा जो उसके विरोधियों का विश्वास प्राप्त कर सके निश्चय ही असफल होगी। यह नीति न तो उन्हें ही संतुष्ट करेगी और न स्वयं उसके अपने मित्रों को ही। यह नीति उद्योग के विस्तार काल में कुछ समय तक चल सकती है लेकिन अवपात के समय में निश्चय ही नष्ट हो जायेगी। इसके परिणाम स्वरूप उचित का प्रश्न पुनः एक बार मुंह फैला कर उठ खड़ा होगा। इससे या तो श्रमिक दल में १९३१ की तरह भेदिया उससे गहरी फूट पड़ जायगी या श्रमिक दल को निश्चित समाजवादी आधार पर अपनी नीति का पुनर्निर्माण करना होगा। श्रमिक दल अपने को समाजवादी कहता है लेकिन वह पूंजीवादी लोकतंत्र से कोई सम्बन्ध-विच्छेद नहीं करता। इस स्थिति का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि जो समस्याएँ आज हमारे

सामने है। वे भविष्य में उस समय और निकटता से उठेंगी जब श्रमिक दल के एक बार और सत्तारूढ़ रहने के पश्चात् यह सिद्ध हो जायगा कि उसका सुधारवादी लोकतंत्र से विच्छेद किसी प्रकार भी नहीं रुक सकता। वास्तव में श्रमिक दल का वर्तमान दृष्टिकोण कार्य के रूप में राज्य के स्वरूप तथा उस स्वरूप से निःसृत होने वाले राजनीतिक वादविवाद की समस्या का हल नहीं कर सकता उसे स्थगित ही कर सकता है।

श्रमिक दल के लिए निर्वाचकीय बहुमत की प्राप्ति स्वयं राजकीय शक्ति की प्राप्ति है। वह यह मान चुका है कि चूंकि उसे अपने मंत्रि-मंडल द्वारा कामन-सभा के संचालन का अधिकार मिला हुआ है तब वे समस्त उपकरण उसकी आज्ञा मानेंगे जिनके द्वारा राज्य अपने किसी विरोध को दबाने के लिये अपनी सत्ता का प्रयोग करता है। श्रमिक दल की इस धारणा मूल से कि विरोधी विचारधाराओं के बीच में राज्यशक्ति तटस्थ रहती है वह यह भ्रामक निष्कर्ष निकालता है कि लोकतंत्र चाहे उसे कैसे भी आर्थिक संगठन में क्यों न रहना पड़े सुरक्षित रहता है। लेकिन सम्पूर्ण इतिहास से यही सिद्ध होता है कि राज्य-शक्ति इतनी तटस्थ नहीं है। हमारे इतिहास में केवल एक ही बार ऐसा अवसर आया है जब कि राज्य-शक्ति को दो ऐसी विरोधी विचार धाराओं में से जिन्होंने समझौता अस्वीकार कर दिया था एक का चयन करना पड़ा था। उस समय संतुलन की स्थापना तभी हो सकती थी जब कि युद्धक्षेत्र और क्रान्ति ने यह निश्चित कर दिया था कि राज्य-शक्ति का प्रयोग किन प्रयोजनों के लिए होगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि इसके पश्चात् से राज्य-शक्ति में तटस्थता का प्रदर्शन किया है क्योंकि फिर उसे विरोधी विचारधाराओं के बीच चुनाव करने का जिन्होंने तब चुनने से इनकार कर दिया था कभी संयोग नहीं मिला है। अब जब कि पूंजीवादी लोकतंत्र का अस्थायी समझौता टूट रहा है राज्य-शक्ति की तटस्थता का प्रश्न ऐसे किसी कल्पित सिद्धान्त पर नहीं अपितु अनुभव द्वारा सिद्ध जीवन के कठोर तथ्यों पर आधारित है।

इसलिए, मेरा तर्क लार्ड बालफोर के उस कथन तक जाता है जिसे मैंने प्रारम्भ के एक अध्याय में उद्धृत किया था। उन्होंने लिखा था हमारा सम्पूर्ण राजनीतिक तंत्र पहले से ही इतने मतैक्य की जनता का अस्तित्व मानकर चलता है कि वह पारस्परिक विचार भेद को सुगमता से सह सकता है। उसे अपनी सहिष्णुता के विषय में इतना प्रगाढ़ विश्वास है कि वह राजनीतिक संघर्ष के अनन्त कोलाहल से कभी विचलित त्रस्त नहीं होता। उनके अनुसार यह विचार ठीक ही था क्योंकि हमारे वैकल्पिक मंत्रि-मंडल समाज की बुनियादों के बारे में कभी भिन्न मत नहीं रहे हैं। मैंने यहां यह निवेदन किया है कि यदि श्रमिक दल का कार्यक्रम सच्चा है तो अब राजनीतिक दलों में इन बुनियादों के बारे में मतभेद है। जहां उनमें एक बार इस तरह का मतभेद होता है फिर राष्ट्र में ऐसी कोई आधारभूत एकता नहीं रहती जो दलगत संघर्ष की पुरानी लीक पर चलती रह सके। इस आधारभूत एकता के विलोप के साथ साथ उस उदार मनोवृत्ति को बनाए रखने की योग्यता भी नष्ट हो जाती है

जो कि समझौते की क्षमता का रहस्य है और जब यह सोमना मतभेदों को पाटने की शक्ति के अभाव से विलुप्त हो जाती है तो वे समस्त पारस्परिक सद्भाव जिनसे संसदीय शासन चलता है स्थगित हो जाते हैं।

इस दृष्टि से कॉमन-सभा अपने परिचित रूप में उस युग में जिसमें वह अपने बारे में पूर्णतः आश्वस्त होती है पूंजीवादी लोकतन्त्र की परम्परागत अभिव्यक्ति बन कर सामने आती है। उसके राजनीतिक सम्बन्ध सामाजिक प्रवृत्तियाँ और प्रक्रिया का स्वरूप आदि इस तथ्य को व्यक्त करते हैं कि उसके सदस्य यह जानते हैं कि उनकी लड़ाइयाँ ऐसी मूठी लड़ाइयाँ हैं जिनमें किसी भी पक्ष के ऊपर घातक घाव नहीं हो सकते। एक अपवाद को छोड़ कर १८३२ के पश्चात् से सत्तारूढ़ होने वाला प्रत्येक दल यह जानता था कि वह चाहे जिस विधान को पास करे, उसे स्वीकार किया जायेगा। यह अपवाद १९१४ का होमरूल एक्ट था जिसे विरोधी दल ने अपने लिए एक घातक घाव समझा था और जिसने देश को गृहयुद्ध के द्वार तक पहुंचा दिया था। जो कुछ मैं यहाँ निवेदन कर रहा हूं वह अन्य देशों के पूंजीवादी लोकतन्त्रों के बारे में भी सही है। यह संयुक्त राज्य अमरीका के बारे में सही है जहाँ रिपब्लिकन और डैमोक्रेटिक दल समाज की बुनियादों के बारे में सदैव एकमत रहे हैं और अमरीकी संविधान को उसकी समस्त जटिलताओं के बावजूद भी चलाने में समर्थ हुए हैं। यह महत्त्वपूर्ण है कि अमरीका में दासता तथा देश-विच्छेद के ऊपर जहाँ एक बार मतभेद हुआ तो उसका परिणाम गृहयुद्ध था। यह फ्रांस के बारे में भी सही है। वहाँ तृतीय गणराज्य की स्थापना के बाद से किसी भी बुनियादी बात पर विवाद नहीं उठा है। लेकिन जब फ्रांस में समाजवादियों ने सम्पत्ति के अंतिम संगठन का प्रश्न खड़ा किया तो वहाँ फासीवाद का खतरा खड़ा हो गया और वह भी तब टला जबकि वाममार्गी दलों ने आपस में समझौता करके समाजवाद के प्रश्न को स्थगित कर देने का निश्चय किया। यह स्कैंडिनेविया की क्रमिक समाजवादी सरकारों के बारे में भी सही है। वे भी अपनी स्थिति को इसलिए बरकरार बनाए रख सकी हैं क्योंकि उन्होंने अपनी नीतियों द्वारा समाज की बुनियादों को चुनौती देने का कोई प्रयास नहीं किया है। इन देशों के प्रशासन सामाजिक सुधार की दृष्टि से काफी आगे बढ़े हुए हैं। यहाँ समाजवाद के युगांतर का संसदीय संस्थाओं पर क्या प्रभाव पड़ता है यह देखना अभी शेष है।

कॉमन-सभा की प्रवृत्तियों का मूल यह है कि यद्यपि दलों ने सरकार के कार्यों की अच्छाई या बुराई का तो डट कर विवेचन किया है, लेकिन उन्हें राज्य के मूल उद्देश्य पर विचार करने का कभी अवसर नहीं मिला है। इसे उन्होंने स्वयंसिद्ध मान रखा है। उनके सम्मुख जीवन के महान् उद्देश्य तथा इन महान् उद्देश्यों को प्राप्त करने के साधन रहे हैं। ये लोग जो राज्य के मूल उद्देश्य की रचना करते हैं मुख्यतः समाज के एक ही वर्ग-सम्पत्ति के स्वामियों के वर्ग-से आते हैं। वे एक दूसरे को जानते हैं क्योंकि उनकी विचारधाराएं एक सी रही हैं। उन्होंने एक ही विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त की है। उन जैसे व्यक्तियों में ही सिविल सर्विस सेनाओं पुलिस और

न्यायपालिका आदि का संचालन किया है। वे ही बैंकों रेलों तथा बीमा-कम्पनियों आदि के प्रधान रहे हैं। उनका वर्ग प्राचीन कुलीनों की भाँति एक वर्जनशील वर्ग नहीं था। लेकिन उनका वर्ग इस अर्थ में एक वर्जनशील वर्ग था कि उसकी सदस्यता केवल वही व्यक्ति प्राप्त कर सकते थे जो कि उनकी विचारधारा को स्वीकार करते हों। उन्होंने अपनी आस्था और आवश्यकताओं से सामाजिक मानदण्डों लोकाचारों और रीति-रिवाजों आदि को निश्चित किया है और उनकी आदतें तथा आवश्यकताएँ उत्पादन के सम्बन्धों और स्वामित्व से उत्पन्न हुई हैं। यदि हम उनके जीवन को इस उत्पादन-व्यवस्था से पृथक करें तो वह निस्सार प्रतीत होगा। अब वह अनुक्रम तथा वह बुनियाद जिस पर हमारा राजनीतिक ढाँचा खड़ा है चरमरा रहा है क्योंकि अब उत्पादन के वे सम्बन्ध टूट रहे हैं।

इन सम्बन्धों के टूटने का कारण यह है कि वे अब हमारी सभ्यता में उत्पादन की शक्तियों से पर्याप्त काम नहीं उठा सकते। फलतः शासक-वर्ग अब जनता को जो उसके ऊपर निर्भर है और जिसे संतुष्ट करने में वह असमर्थ है अपनी श्रमशक्ति बेचने के लिए विवश करता है। मोटे तौर पर औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात से यह जनता संगठन के तीन चरणों में से होकर गुजर चुकी है। पहला चरण यह था जब कि कारखानों का आधुनिक ढंग पर विकास होने लगा। उस समय श्रमिकों ने स्वयं को औद्योगिक क्षेत्र में अनुचित शोषण से बचाने के लिए श्रमिक संघों की स्थापना की। लेकिन उन्होंने शीघ्र ही यह पाया कि औद्योगिक क्षेत्र में जीवन की परिस्थितियों का निर्माण राज्य-शक्ति द्वारा प्रस्थापित नियमों द्वारा निश्चित होता है। फलतः उन्होंने अपने दूसरे चरण में धीरे-धीरे राजनीतिक रूप धारण करना प्रारम्भ किया। उन्होंने अपने मताधिकार के लिए संघर्ष किया और जब उन्हें यह मिल गया उन्होंने अपने मत द्वारा दलों पर यह प्रभाव डालने का प्रयास किया कि वे विधान द्वारा उनके काम की शर्तों में सुधार करें। कुछ समय बाद उन्होंने यह समझ लिया कि इस प्रकार के परोक्ष दबाव से कुछ नहीं होगा। इसलिए उन्होंने अपने एक स्वतंत्र दल का निर्माण किया जिस पर वे प्रत्यक्ष रीति से प्रभाव डाल सकते थे। जिस समय इस दल का निर्माण हुआ यह विश्वास बल पकड़ता जा रहा था कि राजनीतिक संस्थाओं के ऊपरी ढाँचे में कोई गलती नहीं है प्रत्युत उन आभ्यन्तरिक सिद्धान्तों में गलती है जिनके ऊपर यह ऊपरी ढाँचा टिका हुआ है। फलतः उनके दल ने अब तीसरे चरण में पदार्पण किया। आज हम इसी युगसन्धि पर खड़े हैं। हमारी पीढ़ी के सामने महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या उन राजनीतिक संस्थाओं का जो एक व्यवस्था के वर्ग सम्बन्धों को संतुष्ट करने के लिए उत्पन्न हुई थीं इस प्रकार सुधार हो सकता है कि उनसे बिल्कुल दूसरी व्यवस्था के वर्ग-सम्बन्धों को संतुष्ट किया जा सके।

मैंने यहाँ यह कहने का प्रयास नहीं किया है कि संसदीय पद्धति कॉमन-सभा जैसे अपने विशेष प्रतीकों के माध्यम से पूँजीवादी लोकतंत्र के प्रयोजनों के अनुकूल नहीं थी। मेरा कहना तो यह है कि आज जब पूँजीवाद वर्ग-सम्बन्धों की एक व्यवस्था के नाते उत्पादन की शक्तियों से पूरा काम नहीं उठा सकता उसका मुनाफा कमाने का

सिद्धान्त निश्चिततः ग्रोस्टर्वन के इससे बिल्कुल उल्टे सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। जब सामंतवाद का पतन होने लगा था और समाज नूतन सम्भावनाओं से पूरा लाभ उठाने के लिए नई उपयुक्त संस्थाओं की खोज में लगा था सामन्तवादी संस्थाएं बिल्कुल निकम्मी प्रमाणित हो गई थीं। ठीक इसी प्रकार आज जब कि पूंजीवाद धीरे-धीरे ह्रास की ओर ही बढ़ रहा है संसदीय संस्थाएं भी उसकी अभिव्यक्ति के लिए उचित साधन नहीं मालूम पड़तीं। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में मध्यम वर्ग ने यही किया था कि प्रभुत्व शक्ति का केन्द्र सम्राट् और विशेषकर कॉमन-सभा के पास स्थानान्तरित कर दिया था जिससे कि समाज की सर्वोच्च तथा प्रवर्ती शक्ति उसके अपने हाथों में रह सके। राजनीतिक संस्थाओं का सम्पूर्ण तन्त्र इस केन्द्रीय तथ्य के साथ गुम्फित कर दिया गया है कि उनके संचालन का उद्देश्य मध्यम वर्ग को सत्तारूढ़ बनाए रखना है। इस उद्देश्य के औचित्य पर उस समय तक कोई उंगली नहीं उठी जब तक कि श्रमिक वर्ग के इतिहास का तीसरा चरण दिखाई नहीं दिया। इस समय प्रभुत्व-शक्ति के आधार में इतना महत्त्वपूर्ण और इतना निर्णायक परिवर्तन हो गया है जितना कि उस समय हुआ था जब कि सामंतवादी अर्थ व्यवस्था ने पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था का रूप धारण किया था। विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या प्रभुत्व-शक्ति की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील नया वर्ग उस पुराने वर्ग की संस्थाओं का जिसे वह अपदस्थ करने की चेष्टा कर रहा है प्रभुत्व-शक्ति के आधार में परिवर्तन लाने के लिए प्रयुक्त कर सकता है? मैं पूछता हूँ कि क्या वह उस समय ऐसा कर सकता है जब कि अपदस्थ किए जाने वाले वर्ग की इस चेष्टा का मनोवैज्ञानिक परिणाम राजनीतिक बुद्धि और सामाजिक नैतिकता के उन समस्त मानदंडों का जिन्हें उसने शताब्दियों के उपरान्त धीरे धीरे बनाया है उल्लंघन मालूम पड़ता है। परम्परा ने इन मानदंडों को इस वर्ग की अवधारणा में समाविष्ट कर दिया है। इस परिवर्तन को लाने के लिए संसदीय शासन कहाँ तक समर्थ है, इस प्रसंग में हमारा विचार उक्त प्रश्न के उत्तर पर ही निर्भर है।

(४)

राजकीय शक्ति के प्रयोग के अधिकार के लिए होने वाले संघर्ष के परिणाम कॉमन-सभा के भविष्य को निश्चित करेंगे और उसके संगठन से सम्बद्ध समस्त समस्याएं इस मूल प्रश्न से साथ जुड़ी हुई हैं। अतः इस दृष्टि से उन कुछ सुझावों का जो कॉमन-सभा के सुधार के विषय में दिए गए हैं परीक्षण उचित प्रतीत होता है। निरीक्षकों के विचार से सभा के ऊपर काम का अत्यधिक भार पड़ता है। उन्हें इस बात का खेद है कि सभा में व्यक्तिगत सदस्य का महत्त्व कम होता जा रहा है। वे प्रशासन व्यवस्थापन की राज्य के विभागों को दी गई इस शक्ति की कि वे विनियमों के रूप में ऐसा विधान निकाल सकते हैं जिसे विधि का बल प्राप्त हो आलोचना करते हैं।

पहली कठिनाई के लिए प्रस्तावित उपचार किसी प्रकार का अवक्रमण (devolution) है। यद्यपि आस्ट्रेलिया और कनाडा में इंगलैण्ड से नहीं कम

जनसंख्या है फिर भी वहाँ क्रमशः सात और दस विधान-मंडल हैं। अमरीका की जनसंख्या इंगलैंड से तीन गुनी है फिर भी वहाँ उनचास विधान-मंडल हैं। हमारी संसद् की दुर्बलता का एक प्रधान कारण यह बताया जाता है कि उसे इतना अधिक विधान पास करना पड़ता है कि उसे सम्पूर्ण विधान पर ठीक से विचार करने का समय नहीं मिल पाता। यदि हम स्कॉटलैंड और वेल्स के लिए पृथक् विधान-मंडल बना दें तो हम संसद् के भार में कुछ कमी कर सकेंगे। उस समय यह सम्भव होगा कि हम वेस्टमिनिस्टर में केवल राष्ट्रीय महत्व के प्रश्नों पर ही विचार करेंगे।

यह समाधान देखने पर पहले-पहल तो बहुत आकर्षक मालूम पड़ता है लेकिन जब हम इसकी गहराई से परीक्षा करते हैं तो मालूम पड़ता है कि यह विशेष उपयोगी नहीं है। जिन विषयों का अवक्रमण नहीं किया जा सकता वे सभी विषय ऐसे हैं जिनके ऊपर संसद् का मुख्य समय खर्च होता है। वैदेशिक मामले, साम्राज्यीय सम्बन्ध, प्रतिरक्षा, यथार्थ प्रशुल्क दर, न्यायपालिका, उद्योग तथा वाणिज्य का नियमन आदि सभी विषयों के ऊपर प्रशासन की एकरूपता आधुनिक राज्य के लिए इतनी महत्वपूर्ण है कि स्थानीय सत्ताओं के ऊपर उनका अवक्रमण असम्भव है। कभी-कभी संघात्मक शासन हमारे सामने उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। लेकिन संघात्मक शासन की बहुत सी प्रशासनिक कठिनाइयाँ इसलिए उत्पन्न होती हैं क्योंकि संघात्मक विधान-मंडल उस विषय पर अवश्यम्भावी अधिक कानूनों पर निर्णय नहीं रख सकता जिसके सम्बन्ध में एकरूपता आवश्यक हो गई है। कृषि, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा और निर्धन-सहायता आदि जिन विषयों को अवक्रमित किया जा सकता है उन्हें उन व्यापक सिद्धान्तों के दायरे में काम करना होगा जिनके संचालन पर संसद् का वित्तीय नियंत्रण रहेगा। स्पष्ट है कि इन स्थानीय विधान-मंडलों को इच्छानुसार कर लगाने की अनुमति नहीं दी जा सकती। उन्हें जितना अधिकार दिया गया है उससे बाहर निकलने की भी अनुमति नहीं दी जायेगी। पहली नीति का तो परिणाम यह होगा कि सम्पूर्ण योजना का वित्तीय नियंत्रण वेस्टमिनिस्टर में होगा। दूसरी नीति का अभिप्राय यह होगा कि स्थानीय विधान-मंडल के अधिनियमों का न्यायिक पुनरीक्षण हुआ करेगा। फलतः स्थानीय विधान-मंडलों के वे सब अधिनियम अवैधानिक हो जायेंगे जो केन्द्रीय संसद् के प्रतिकूल होंगे। इसके अनुसार भी न्यायिक पुनरीक्षण का सिद्धान्त अपनाना आवश्यक हो जायेगा।

मैंने और मी० जे० एस० हडरसन ने अन्यत्र यह दिखाया है कि यदि अवक्रमण के ऊपर स्पीकर्स कॉन्फ्रेंस के प्रस्ताव स्वीकार कर लिए गए तो संसद् के समय में प्रायः आठ प्रतिशत की बचत होगी। यह खोज अब तेरह वर्ष पुरानी है। चूंकि अब उस समय से वैदेशिक मामलों और बेरोजगारी का महत्व बढ़ गया है इसलिए मेरा अनुमान है कि यदि संसद् का सत्र १९३१–३२ की तरह प्रतिनिधिक हुआ तो समय की बचत केवल पाँच प्रतिशत होगी। यदि हम यह मान लें कि विभिन्न सभाओं की विभिन्न वित्तीय नीतियों के परिणामस्वरूप उत्पन्न वाली कठिनाइयों के ऊपर भी विवेचन होगा—उदाहरणार्थ ऐसी स्थिति सामने आ सकती है जबकि कार्डिफ में तो समाजवादी विधान

मंडल हो और वेस्टमिनिस्टर में अलदारदलीय सरकार हो—तो मुझे इस बात में सन्देह है कि हम संसद् [illegible] समय में न्यूनतम भी बचत कर सकेंगे। संघात्मक राज्यों का अनुभव यह प्रकट करता है कि अधीनस्थ विधान-मंडलों के विधान वैधानिकता के लगातार ऐसे प्रश्न खड़े करते रहेंगे जिन पर केन्द्रीय संसद् में निर्णय और विवेचन की आवश्यकता हुआ करेगी। यदि श्री रैमजे म्योर के अनुसार नए विधान-मंडलों को शांति और व्यवस्था बनाए रखने का कार्य भी सौंप दिया जाता है, तो इससे सम्बन्धित प्रश्न भी केन्द्रीय संसद् के सामने निरन्तर आते रहेंगे। उदाहरणार्थ यदि श्रमिकों की हड़ताल के प्रति एक क्षेत्र में दूसरे क्षेत्र से भिन्न रुख ग्रहण किया गया तो निश्चयतः यह मांग उठ खड़ी होगी कि इस विषय पर सारे देश में एक ही नीति का पालन हो। यह स्पष्ट है कि यदि विभिन्न सरकारें ‘कर’ के सम्बन्ध में तीव्र अन्तर रखें तो देशान्तरगमन की कुछ ऐसी समस्याएं उठ खड़ी होंगी जिन्हें केवल केन्द्रीय सरकार ही सुलझा सकेगी।

तथ्य यह है कि यह योजना तो ‘मर्ज कुछ और दवा कुछ और’ उक्ति को चरितार्थ करती है। संसद के ऊपर कार्यभार बढ़ने का कारण यह है कि आधुनिक सरकारों का कार्यक्षेत्र पहले की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गया है। सरकारों का कार्यक्षेत्र बढ़ने के मूल में दो प्रवृत्तियां—सार्वभौम मताधिकार की स्थापना और आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण—काम कर रही हैं। पहली का परिणाम यह है कि जनता सरकार के सामने अधिक से अधिक मांगें रखती है और ये मांगें ऐसी होती हैं कि कोई स्थानीय सत्ता उनकी पूर्ति नहीं कर सकती। दूसरी का परिणाम यह है कि आधुनिक सरकार की नियामक शक्ति आधुनिक औद्योगिक संगठन के अनुरूप होनी चाहिए। संघात्मक शासन के अनुभव से स्पष्ट है कि इसका अभिप्राय एकरूपता है। आज सम्पूर्ण संसार में संघात्मक शासन का पतन हो रहा है क्योंकि शक्तियों का ऐसा वितरण जो महत्त्वपूर्ण विषयों को अधीनस्थ विधान-मंडलों के हाथ में रहने देता है संघात्मक शासन को दुर्बल कर देता है जिससे वह अपनी समस्याओं को ठीक से नहीं सुलझा पाता। यह सुझाव देना कि इंगलैण्ड को अर्द्ध-संघात्मक समाज बना देना उपयोगी होगा जब कि स्वयं संघवाद के सम्बन्ध में ही ऐसी तीव्र शंकाएं खड़ी हो रही हैं व्यंग्यात्मक है।

मैं यह मानता हूं कि इंगलैण्ड में स्थानीय शासन के क्षेत्रों के क्रांतिकारी पुनर्गठन के प्रकाश में उन्हें उपक्रम की आज से अधिक व्यापक शक्तियां देने के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। यह मूर्खतापूर्ण है कि उस प्रत्येक नगरपालिका को जो बचत बैंक चालू करना या परिवहन का साधन खरीदना या म्युनिसिपल लाड्री चलाना चाहती है इस सम्बन्ध में स्वीकृति प्राप्त करने के लिए वेस्टमिनिस्टर जाना पड़े। स्थानीय प्राधिकारियों को ऐसे कार्य करने की अनुमति देने के सम्बन्ध में एक अधिनियम का निर्माण जिसके लिए आंदोलन दस वर्षों से चलता आ रहा है सामान्य बुद्धि की वस्तु है। इस प्रस्ताव का विरोध केवल तीव्र और [illegible] हो रहा है। एक तो यह करदाताओं की ओर से हो रहा है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि सुविधा सम्पन्न व्यक्ति यह नहीं चाहते कि जिन सुविधाओं का वे स्वयं उपभोग करते हैं वे गरीबों को

भी मिलें। दूसरा यह स्थापित स्वार्थों की ओर से हो रहा है। इसका उदाहरण लंदन के सॉफ्ट्री उद्योग का कुलहम के म्युनिसिपल प्रयोग के विरुद्ध संघर्ष है। तीसरा वह उन संयुक्त-स्कन्ध बैंकों की ओर से हो रहा है जो यह नहीं चाहते कि बर्मिंघम के सफल प्रयोग की अन्य स्थानीय संस्थाओं में पुनरावृत्ति हो।

लेकिन यदि इस प्रकार का पुनर्गठन हो गया तो भी मूल समस्या तो जहाँ की तहाँ रहेगी। जिस प्रकार समस्त लोकतन्त्रात्मक राज्यों के विधान-मंडलों के ऊपर काम का बहुत अधिक बोझा है, इसी प्रकार संसद के ऊपर भी कार्य का बहुत अधिक बोझा है। इसका एकमात्र कारण यह है कि उसे अत्यन्त विस्तृत समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन समस्याओं के ऊपर होने वाले वाद-विवाद की गम्भीरता का कारण यह है कि वे राष्ट्र की केन्द्रीय समस्या के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। यदि कभी कोई आपात सामने आ जाये तो सम्भव उससे बड़ी शीघ्रतापूर्वक और बड़ी प्रवीणतापूर्वक निबटा सकती है। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण एडवर्ड अष्टम का सिंहासन-त्याग है। वाद विवाद लम्बा हो जाता है, समय का तत्त्व अत्यावश्यक हो जाता है क्योंकि प्रस्तावित साधनों के ऊपर मत की अत्यधिक भिन्नता रहती है। सामान्यतः अनुदारदलीय सरकार १९२७ के "ट्रेड यूनियन लॉ एमेंडमेंट एक्ट" अथवा १९३४ के "इंसाइटमेंट टु डिसेफेक्शन एक्ट" जैसे कानूनों को विरोधी दल के विरोध को कुचल कर आसानी से पास नहीं कर सकती। ठीक यही बात १९११ के पार्लियामेंट एक्ट तथा १९२४ के होमरूल एक्ट के बारे में उदारदलीय सरकार के ऊपर लागू होती है। संसदीय शासन का यह सार है कि सरकार के आलोचकों को अपनी बात कहने का पूरा अवसर मिलना चाहिए। जितने अधिक उनके सरकार से मतभेद होंगे अपनी बात कहने की वे उतनी ही अधिक माँग करेंगे। कॉमन-सभा के ऊपर काम का उतना ही अधिक बोझा होगा जितनी अधिक उसके सामने ये माँगें होंगी। जितनी अधिक हमारी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कठिनाइयाँ होंगी उतनी ही अधिक ये माँगें होंगी और इसलिए उतना ही अधिक यह बोझा होगा। हमारे समाज का स्वरूप इस बोझ को सहनशील होने की अनुमति नहीं देता। जहाँ प्रभुत्व-शक्ति का आधार होगा निश्चय वहीं समाधान पाने का प्रयास किया जायगा।

व्यक्तिगत सदस्य का उपक्रम बिलकुल भिन्न प्रकार के प्रश्न खड़े करता है। मैं यह दिखा चुका हूँ कि यदि उसकी पुनर्प्रतिष्ठा का अर्थ यह लगाया जाता है कि उसे महत्त्वपूर्ण विषयों में दल के नियन्त्रण से स्वतन्त्रता मिल जाये तो आधुनिक परिस्थितियों में उसका उपक्रम न तो संभव ही है और न वाञ्छनीय ही। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि आज व्यक्तिगत सदस्य को जो इतना शक्तिहीन कर दिया गया है [illegible] आवश्यक अथवा वाञ्छनीय है। सभा की प्रक्रिया द्वारा उसके लिए जो स्थान निर्दिष्ट किया गया है वह इस धारणा का प्रतिफल है कि सभा की सदस्यता उन व्यक्तियों के लिए जिनका मुख्य कार्य कॉमन-सभा के बाहर है नि:शुल्क उप-व्यवसाय है। अब जब संसद के सदस्यों को वेतन दिया जाता है और सभा का सत्र साल में आठ महीने तक चलता है, यह धारणा उचित नहीं है। सचाई यह है कि व्यक्तिगत सदस्य के

कार्य के सम्बन्ध में हमारा विचार अब भी विक्टोरिया-युग के "भद्र पुरुष" की मान्यता पर आधारित है। उसके सभा के संगठन के साथ सम्बन्ध को इस तथ्य के प्रकाश में कि भद्र पुरुष का विचार अब सक्रिय राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में उपयोगी नहीं है, कभी गम्भीरता से संशोधित नहीं किया गया है।

कम से कम तीन ऐसे महत्वपूर्ण काम हैं जिन्हें कॉमन-सभा के सदस्य कर सकते हैं तथा जिनकी अभी तक कोई व्यवस्था नहीं की गई है। इनमें से पहले कार्य की आवश्यकता के लिए "लार्ड चांसलर्स कमेटी आन मिनिस्टर्स पावर्स" ने प्रबल सिफारिश की है। यह वांछनीय है कि सदस्यों की एक परामर्शीय समिति राज्य के प्रत्येक विभाग के साथ संयुक्त कर दी जाये। यह प्रशासन की प्रक्रिया को देखेगी। नीति के सम्बन्ध में परिवर्तन के लिए सुझाव देगी और विधेयकों की सभा के सम्मुख पुरःस्थापना के पूर्व उनके सिद्धान्तों पर गुप्त रूप से गम्भीरतापूर्वक विचार करेगी। इस कार्य में संलग्न होने से सदस्यों का कितना अधिक प्रशिक्षण होगा इस पर कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। इससे कम से कम यह तो आश्वासन हो जायगा कि उन व्यक्तियों को जो विभिन्न विभागों के मंत्री बनेंगे यह अनुभव हो चुका होगा कि प्रशासन का क्या अर्थ होता है। मैं स्वयं यह चाहता हूँ कि कुछ सदस्य उस विभाग की जिसके साथ उनका संबंध रहा हो विकास-प्रक्रिया से सम्बद्ध हो जायें। इस पद्धति को इस प्रकार के तृतीय दल दल की प्रबल आवश्यकता है। मैं ऐसी समितियों के निर्माण का सुझाव नहीं दे रहा हूँ जिन्हें कि अधिशासी कृत्य करने पड़ें। मेरा सुझाव यह है कि इन समितियों को केवल परामर्शीय समितियाँ होना चाहिए और उन्हें मन्त्री के निर्णय के अधिकार में कभी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लेकिन यहाँ यह निश्चित प्राय है कि वे सूचना प्राप्त करने तथा नीति का विवेचन करने की अपनी शक्ति के कारण नौकरशाही के ऊपर अंकुश का काम करेंगी। दूसरे चूंकि वे विधेयकों की सभा में पुरःस्थापना के पूर्व उन पर गुप्त रूप से विचार-विनिमय कर लेंगी अतः इससे विधेयकों के ऊपर बहुत व्यर्थ का अनावश्यक वाद-विवाद रुक जायेगा तथा सदस्यों को समझने-बूझने के लिए काफी सामग्री मिलेगी। फल यह होगा कि जब विधेयक के ऊपर सार्वजनिक रूप से विचार-विनिमय होगा सार्वजनिक वाद-विवाद का स्तर काफी स्पष्ट रहेगा।

ऐसी समितियाँ संसद् द्वारा विभागों को दिए गए प्राधिकार के अन्तर्गत आदेश तथा नियम निकालने के सम्बन्ध में भी परामर्शीय क्षमता में कार्य कर सकती हैं। ऐसी उपस्थापना के ऊपर अधिकार तो कोई प्रश्न नहीं उठेगा। लेकिन व्यापारिक व्यवहार समिति को मंत्री तथा उसके अधिकारियों के लिए अत्यन्त मूल्यवान् कसौटी बना देंगे। लेकिन यदि हम प्रदत्त शक्तियों के संचालन के सम्बन्ध में पर्याप्त सजगता के साथ काम करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि सभा की एक स्थायी समिति हो जिसके पास सब प्रकार के आपातीय आदेश कार्यान्वित होने के पूर्व जावें। समिति के पास अपना एक सचिवालय होना चाहिए जो इस बात की जाँच करे कि क्या विनियम अपने वर्तमान रूप में स्वाभाविक मालूम पड़ते हैं। यदि इस विषय

पर कभी संदेह उत्पन्न हो तो समिति को यह अधिकार होना चाहिए कि वह सम्बद्ध विभाग से व्याख्या माँग सके और जब वह उचित समझे तब विभाग द्वारा प्रस्तावित किसी प्रक्रिया की ओर सभा का ध्यान आकृष्ट कर सके। चूंकि सभा मन्त्रियों को शक्ति देती है अतः उसे इस बात का पूरा आश्वासन मिलना चाहिए कि इन शक्तियों का दुरुपयोग नहीं होगा। इस प्रकार की समिति सभा के प्रहरी के रूप में कार्य कर सकती है और सभा का ध्यान इस ओर आकृष्ट कर सकती है कि उसके द्वारा दी गई शक्तियों का मंत्री किस प्रकार प्रयोग करते हैं। पुनश्च इस प्रकार की समिति विभागों की नौकरशाही प्रवृत्तियों के ऊपर एक अच्छे-खासे अंकुश का कार्य करेगी।

मेरे विचार से व्यक्तिगत सदस्यों को तीसरा कार्य यह मिलना चाहिए कि विधान के सम्बन्ध में उन्हें और अधिक अवसर मिले। इस समय जैसा कि सब को ज्ञात है व्यक्तिगत सदस्यों के विधेयकों पर अधिकांश समय नष्ट होता है। पिछली पीढ़ी में इस प्रकार के केवल दो ही महत्त्वपूर्ण विधेयक संविधि-पुस्तक तक पहुँच सके हैं। सभा में शुक्रवार का मध्याह्न प्रायः नीरस दृश्य होता है क्योंकि उस समय प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि वाद-विवाद में कोई वास्तविकता नहीं होगी। फलतः सदस्य या तो उस समय अनुपस्थित रहते हैं तथा इस अवसर को उत्सव सा मान लेते हैं। मैं चाहता हूँ कि यह व्यवस्था कुछ इस प्रकार से पुनर्गठित हो कि इसे अमरीका के विधान-मंडलों विशेषकर मैसाचुसेट्स के विधान-मंडल की भांति अच्छी सफलता मिल सके।

इस प्रकार की व्यवस्था होने पर व्यक्तिगत सदस्य अपने लिए निश्चित समय पर आज की ही तरह मत लेंगे। लेकिन उनके विधेयक 'टेन मिनिट्स रूल' के अन्तर्गत या या शुक्रवार को पुरःस्थापित किए जाने के स्थान पर, यदि उन्हें सभा के कुछ निश्चित सदस्यों का समर्थन मिल गया तो प्रतिवेदन तथा परीक्षण के लिए एक प्रवर-समिति के पास भेजे जायेंगे। यह समिति विधेयक के ऊपर, चाहे वो विधेयक मृत्यु-दंड के उन्मूलन निम्नतम वेतन की स्थापना अथवा विवाह-विधियों के सुधार के सम्बन्ध में हो मात्र मौखिक साक्ष्य लेगी और सभा विधेयक के ऊपर वाद-विवाद समिति के प्रतिवेदन की स्वीकृति या अस्वीकृति के पश्चात् करेगी। मेरे विचार में इस व्यवस्था में बहुत गुण हैं। यह व्यक्तिगत सदस्यों की एक विशाल संख्या को अत्यंत महत्त्वपूर्ण सामाजिक अनुसंधान में निरत रखती है। इससे उन्हें विधेयक के सम्बन्ध में लोकमत की प्रवृत्तियों का निरन्तर परिचय मिलता रहता है। इससे बहुत सी विचारधाराएँ और प्रवृत्तियाँ प्रकाश में आ जाती हैं तथा उन पर उचित विचार हो सकता है। जिन कार्यों ने १८५२ के "कम्पेन्सेशन एक्ट" अथवा हमारे समय में भारतीय वैधानिक सुधार के सम्बन्ध में प्रवर समितियों के कार्य का अनुमोदन किया है उन्हें उनकी उपयोगिता में कोई संदेह नहीं रह सकता। यदि अन्तर्ग्रस्त विषय सामग्री वास्तविक अर्थ में विवादमूलक भी हुई तब भी कम से कम इस प्रक्रिया के फलस्वरूप उस विषय के ऊपर काफी महत्त्वपूर्ण सामग्री एकत्रित हो जायेगी। मृत्युदंड जैसे विषयों

के ऊपर जहाँ कोई दलगत विवाद नहीं होगा वहाँ ऐसे अनुसंधान से इस प्रकार का लोकमत तय्यार होगा जो सरकार को इस दिशा में कुछ न कुछ काम करने के लिए बाध्य कर देगा। इस व्यवस्था का सब से बड़ा लाभ यह होगा कि व्यक्तिगत सदस्य को काम करने का पर्याप्त क्षेत्र मिलेगा और यदि यह सरकारी दल से सम्बन्धित हुआ तो उस मनबरत विक्षोभ से बचा रहेगा जो दलगत नियंत्रण का नैसर्गिक परिणाम है।

युद्धोपरान्त संसदीय प्रक्रिया की एक मुख्य विशेषता जिसका उद्गम तो काफी पुराना है, प्रदत्त व्यवस्थापन की वृद्धि है। संसद् के ऊपर कार्य का भार इतना अधिक है कि वह अधिनियम की केवल रूपरेखा मात्र बनाती है और विस्तार की समस्त बातें सम्बद्ध विभागों के ऊपर छोड़ देती है। आजकल संसद् वर्ष में औसतन १ संविधियाँ पास करती है और सम्बद्ध विभाग इससे पन्द्रह-बीस गुने अधिक विनियम बनाते है।

इस व्यवस्था की तीव्र आलोचना हुई है। हमें बताया जाता है कि यह संसद् के ऊपर नौकरशाही की विजय है। संसद् को इन विनियमों की छानबीन करने का अवसर नहीं मिलता और जब कभी उसके सामने कोई आक्षेप आता है सरकार अपने बहुमत के प्रयोग द्वारा मामले को जहाँ का तहाँ ठप्प कर देती है। कुछ विधेयकों में ऐसी धाराएं होती है जो वैधानिकता के प्रश्न पर न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र का भी अतिक्रमण करती है। ऐसी स्थितियों में विभाग प्रभुत्वसम्पन्न संस्थाओं का रूप धारण कर लेते है जिनके विरुद्ध अपील की कोई संभावना नहीं रहती। इंग्लैण्ड के एक लॉर्ड चीफ जस्टिस ने कहा है कि हम एक "नव अधिनायकवाद" की चक्की में है। श्री रैमजे म्योर का कहना है कि संसद् ने अपना प्राधिकार "उस नौकरशाही को सौंप दिया है जो आवरण के पीछे इतनी अधिक वास्तविक शक्ति का प्रयोग करती है।"

यहाँ दो प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। पहला तो यह है कि क्या विभागों ने वास्तव में शक्ति हथिया ली है? दूसरा यह है कि क्या यह व्यवस्था सिद्धान्ततः आपत्तिजनक है? पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि लॉर्ड चांसलर्स कमेटी ने लम्बी छान-बीन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला था कि इस व्यवस्था के बिना काम नहीं चल सकता और ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि इसने शक्ति को हथिया लिया हो। कुछ आकस्मिक आपातों को छोड़कर विनियम काफी सोच-विचार के उपरान्त बनाए जाते है और उनके निर्माण में समस्त सम्बद्ध हितों से परामर्श कर लिया जाता है। संसद् विनियमों को एक निश्चित अवधि के उपरान्त ही कार्यान्वित करती है और इस बीच में यदि सम्बद्ध हित चाहें तो उनके विरोध में आवाज उठा सकते हैं। वैधानिकता का प्रश्न उचित अधिक जटिल है और मैं उस पर बाद में न्यायपालिका की स्थिति तथा शक्ति का विवेचन करते समय विचार करूंगा। यहाँ यह कहना पर्याप्त होगा कि यद्यपि लॉर्ड चांसलर्स कमेटी ने कुछ छोटे-मोटे सुधारों का सुझाव दिया है, लेकिन उसने "नव अधिनायकवाद" जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं पाया है।

सिद्धान्त का प्रश्न कुछ अधिक रोचक विचार खड़े कर देता है। प्रदत्त व्यवस्थापन

या निरोध ऐसे किसी अधिशासी कृत्य को रोकने के सम्बन्ध में नहीं हो सकता जिसके ऊपर संसद् का कठोर नियंत्रण न हो क्योंकि जो लोग यह युक्ति उपस्थित करते हैं वे अधिशासी प्राधिकार के कुछ सर्वोच्च उदाहरणों यथा संधि या युद्ध घोषित करने के परमाधिकार के सम्बन्ध में यह नहीं कहते कि उन्हें राजमुकुट के हाथों से लेकर संसद् के हाथों में सौंप दिया जाए। यह दावा तक नहीं हो सकता कि जब संसद् विभागों को कोई शक्ति देती है तो विभाग स्वविवेक के अनुसार जो कार्य करेंगे उनके सम्बन्ध में संसद् को हर बार रिपोर्ट दें। पेंशन बेरोजगारी तथा स्वास्थ्य-इन्श्योरेंस-अधिनियम आदि के बारे में तो यह स्पष्टतया असंभव है। इस समस्या को सुलझाने का रास्ता कुछ इस प्रकार की युक्ति पर आधारित है कि जब संसद् कार्यपालिका को कोई स्वविवेकी शक्ति देती है तो उसे दो वस्तुओं का अधिकार रहता है। एक तो उसे प्राधिकार के अन्तर्गत बनाए गए किन्हीं भी साधारण विनियमों के सम्बन्ध में किए गए आक्षेप के बारे में पूरी जानकारी का अधिकार रहता है। दूसरे, यह आवश्यकता पड़ने पर विनियमों के प्रयोग के सम्बन्ध में किसी भी व्यक्तिगत प्रकरण की पूरी जानकारी पा सकती है। स्पष्ट है कि इस प्रयोजन के लिए कॉमन-सभा को एक ऐसी प्रक्रिया की आवश्यकता है जो यह संभव कर सके। संसद् के लिए उन सामान्य सिद्धान्तों के प्रयोगों और विस्तारों पर अलग अलग व्यवस्थापन करने में जिनके बारे में वह पहले ही व्यवस्थापन कर चुकी है अपना समय नष्ट करना मूर्खतापूर्ण है। उदाहरण के लिए यह कहना कि गृह-मंत्रालय औषधि-परिषद् की मन्त्रणा से उचित व्यवस्था के अन्तर्गत विष को विष घोषित करे, मंत्रिमण्डल द्वारा संसद् के प्रति की गई इस मांग से कहीं अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण यह है कि वह ऐसे प्रत्येक अवसर पर जब किसी रासायनिक पदार्थ को उसके विषाक्त होने के कारण विक्रय से रोके जाना वाञ्छनीय हो एक पृथक् कानून बनाए।

मेरे विचार से यह युक्ति प्रशासन के सम्पूर्ण क्षेत्र के ऊपर लागू होती है यद्यपि मेरी दृष्टि में किसी विभाग को ऐसे विनियम बनाने का प्राधिकार देना जिनसे उस विधान का विस्तार हो सके उचित नहीं है। इस प्रकार की शक्तियां इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि वे संसद् के पास ही रहनी चाहिएं। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत व्यवस्थापन द्वारा खड़ा किया गया एकमात्र वास्तविक प्रश्न उसके संभाव्य दुरुपयोग के विरुद्ध संरक्षण प्राप्त करने का है। यहां कोई बड़ी बाधाएं नहीं हैं। संसद् मन्त्रियों से प्रश्न पूछ सकती है और इस प्रकार जिस विषय पर चाहे सरकार से वांछित सूचना प्राप्त कर सकती है। सभा की कार्यवाहियों का सर्वेक्षण यह प्रकट कर देता है कि इस सम्बन्ध में दो-चार ही व्यक्ति या हित ऐसे निकलेंगे जो अपने मामले में जानकारी मांगने के लिए किसी सदस्य को न पा सकें। जहां तक स्वयं विनियमों के नियन्त्रण का प्रश्न है, वर्तमान काल के संरक्षण पर्याप्त नहीं हैं। यदि मेरे बताए हुए दो सुझावों पर आचरण किया जाए, तो वे बड़ी सुगमता से पर्याप्त हो सकते हैं। कॉमन-सभा की एक समिति बड़ी सुगमता से प्रत्येक आदेश अथवा विनियम का परीक्षण कर सकती है और सभा के पास इसकी रिपोर्ट भेज सकती है। समिति इस बात को भली प्रकार

देख सकती है कि विधान में कहीं कोई त्रुटि तो नहीं रह गई है और उसको प्रभावी करने के पूर्व काफी मन्त्रणा तो कर ली गई थी। विभाग की परामर्शीय समितियों के सम्स्य मन्त्रणा अथवा आलोचना के पूर्व प्रारूपों को अपने सामने रख सकते हैं। इस सम्पूर्ण व्यवस्था में एक आवश्यक बात यह है कि इसके संचालन का काफी प्रचार होना चाहिए और यह एक ऐसा मामला है जिसमें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं है।

( ५ )

जिन संशोधनों का मैंने ऊपर सुझाव दिया है यदि उनको कार्यान्वित कर लिया जाये तो मेरा विचार है कि कॉमन-सभा अपने कार्य को करने के लिए एक बहुत ही उपयुक्त संस्था है। यह ठीक है कि कुछ और भी संशोधन वाञ्छनीय हैं। उदाहरणार्थ यह कहा जा सकता है कि स्थायी समितियों का और अधिक उपयोग होना चाहिए। यदि उसमें स्थानीय संस्थाओं की इसी प्रकार की समितियों की भाँति सम्बद्ध अधिकारियों के उपस्थित होने और आवश्यकता पड़ने पर ब्योरे की बातें समझाने की व्यवस्था हो जाये तो उनकी उपादेयता और बढ़ जायेगी। लेकिन मैं यह पुनः जोर दे कर कहता हूँ कि संसदीय शासन की आधारभूत विशेषताएँ—विशेष कर मन्त्रिमंडल के नियंत्रण द्वारा दलगत नियंत्रण में उसका आधार संसदीय शासन की सफलता के लिए अब भी उतना ही आवश्यक है जितना कि यह वैजहॉट के समय में था। यदि ये विशेषताएँ नष्ट हो जाती हैं और मेरा विचार है कि वे या तो दलों की वृद्धि द्वारा या सानुपात प्रतिनिधित्व की पद्धति द्वारा नष्ट हो जायेंगी तो शासन-संचालन आज की अपेक्षा कम संतोषप्रद रह जायेगा।

लेकिन यह याद रखना आवश्यक है और इस बात को इस अध्याय में बार-बार कहा गया है कि दलगत मतभेदों के पीछे एक सामान्य दर्शन का अभिगमन है और यही इस बात का रहस्य रहा है कि संघर्ष के बिना भी मतभेद रह सके हैं। मैंने यहाँ यह निवेदन किया है कि अब यह सामान्य दर्शन विद्यमान नहीं है। वह तो पूँजीवाद की उसके विस्तार-काल में अभिव्यक्ति था और उसके विरोध के साथ-साथ दलों की यह क्षमता भी काफी सन्देहास्पद हो गई है कि वे सभा को लोकतन्त्र के एक उपकरण के रूप में प्रयुक्त कर सकेगा। मैंने यहाँ यह दिखाने का प्रयास किया है जहाँ एक बार स्थापित बुनियादी आर्थिक रचना के मामलों में मतभेद उत्पन्न करते हैं, वहीं दलगत संघर्ष भी उग्र रूप धारण कर लेता है। इसके फलस्वरूप नीति विषयक अविच्छिन्नता भी असम्भव हो जाती है। जहाँ यह एक बार हुआ वह शर्तें जिन पर एक सरकार अपने पूर्ववर्ती निर्णयों को स्वीकार करती है स्थगित हो जाती हैं। मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि यही वह आधार है जिसके भीतर रह कर मनुष्य वैधानिक कार्यवाही के बारे में अपने विचारों का निर्माण करता है। ये विचार एक निश्चित सिद्धान्त तो कम ही होते हैं वे इस तथ्य की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति ही अधिक होते हैं कि जीवन के महान उद्देश्य एक से हैं। अभी तक यही वह मूक केन्द्र रहा है जिसने कि सम्पूर्ण यंत्र का संचालन किया है।

मैंने यह विशेष रूप से निवेदन किया है कि इसी बात की अधिक सम्भावना है। चाहे तो श्रमिक सरकार सीधे ही समाजवादी विधान की दिशा में अग्रसर हो और चाहे वह सामाजिक सुधार के बड़े-बड़े प्रयासों द्वारा पहले विश्वास के संचारण की चेष्टा करे। मेरा कहना है कि एक-न-एक स्तर पर ये दोनों ही रास्ते पूंजीवादी अर्थशास्त्र की अन्तर्भूत आवश्यकताओं के लिए असंगत सिद्ध होंगे। वे ऐसी परिस्थितियों का निर्माण कर देंगे जिन्होंने हमारे लिए तो १९३१ का आर्थिक संकट उत्पन्न किया और रूस में एक भिन्न धरातल पर भी क्रम को अस्तव्यस्त कर दिया था। वे यह प्रकट करेंगे कि राज्य सम्पूर्ण समाज का एक उपकरण नहीं प्रत्युत उस वर्ग का एक उपकरण है जिसके हाथ में आर्थिक शक्ति है। मैंने यह तर्क किया है कि सम्भवतः श्रमिक दल राज्य शक्ति पर अधिकार किए बिना कॉमन-सभा का समाजवादी प्रयोजनों के लिए प्रयोग नहीं कर सकता और मैंने इस बात को अस्वीकृत किया है कि केवल निर्वाचकीय बहुमत को प्राप्त कर लेना राज्य-शक्ति को प्राप्त कर लेने के समान है। मैं यह अस्वीकार नहीं करता कि यह इस उद्देश्य के मार्ग पर एक महत्त्वपूर्ण कदम आधुनिक परिस्थितियों में शायद सबसे महत्त्वपूर्ण कदम है। लेकिन इस अध्याय का प्रतिपाद्य विषय यह रहा है कि यह कदम अपने सम्पूर्ण महत्त्व के बावजूद भी निर्णय कारक नहीं है। संसदीय व्यवस्था में बहुमत का शासन इसी सिद्धान्त पर आधारित है कि अल्पमत उसके निर्णयों को स्वीकार करेगा। मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि वर्तमान परिस्थितियों में यह मान्यता कितनी सन्देहास्पद है। मैंने निवेदन किया है कि राजनीतिक लोकतन्त्र सदैव ही सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र होने का प्रयास करता है। राजनीतिक लोकतन्त्र जब तक पूंजीवाद के ढांचे में बन्द है वह सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र का रूप नहीं धारण कर सकता क्योंकि पूंजीवाद के आर्थिक सिद्धान्त कुछ ऐसे हैं जो सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं। चूंकि हमारी व्यवस्था के वर्ग सम्बन्धों के कारण राज्य-शक्ति पूंजीपतियों के हाथ में है और चूंकि उनकी सम्पूर्ण जीवन-रीति और इस जीवन-रीति से संयुक्त समस्त विशेषाधिकार उनके राज्य-शक्ति के अविच्छिन्न नियन्त्रण पर निर्भर हैं अतः यह मानने का कोई कारण नहीं है कि वे उसके त्याग में अपने विरोधियों के साथ सहयोग करेंगे। इस प्रकार के सहयोग के अभाव का अर्थ उन धारणाओं को बनाए रखने की अयोग्यता है जिनके ऊपर कि संसदीय पद्धति आधारित है। यहीं और केवल यहीं उसके भविष्य की सच्ची समस्या विद्यमान है।

यदि उक्त विवेचन सही है, तो वे समस्त प्रस्ताव जो राज्य-शक्ति की इस केन्द्रीय समस्या का समाधान पाए बिना एक शासनिक उपकरण के रूप में कॉमन-सभा के सुधार का प्रयास करते हैं वास्तव में हमारे समय के मुख्य प्रश्न के लिए तो अप्रासंगिक ही हैं। कॉमन-सभा अपने काम को उस समय तक ठीक-ठीक करती रहेगी जब तक पूंजीवाद जनता की मांगों को पूरा करने में समर्थ है। मेरे तर्क के अनुसार वह अब उन्हें पूरा करने में समर्थ नहीं है। यही आर्थिक संकट, युद्ध की आशंका, फासीवाद की वृद्धि और व्यापक सामाजिक संघर्षों का कारण है। इसलिए पूंजीवाद को या तो

त्याग करना है या रहना है। संभावना यह है कि पूंजीवाद रहेगा। प्रतिनिधित्व प्रणाली में परिवर्तन अथवा मन्त्रिमण्डल और कॉमन-सभा के सम्बन्धों के पुनर्गठन जैसे उपायों द्वारा इस गम्भीर संकट से छुटकारा पाने का प्रयास करना सर्वथा अपर्याप्त है। सानुपात प्रतिनिधित्व ने जर्मनी की रक्षा नहीं की है और व्यक्तिगत सदस्य की अपनी इच्छानुसार सरकार को अपदस्थ करने की शक्ति ने जैसा कि फ्रांस में है, उस प्रश्न की गम्भीरता को जो हमारे सामने खड़ा है, स्थगित नहीं किया है। यदि कोई समाधान है तो वह इस प्रकार की दिशाओं में नहीं मिलेगा। यदि कॉमन-सभा को अपने वर्तमान रूप में ही चलना है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि महत्व की समस्त बातों में आधारभूत समझौता हो। यदि हम इस बात की खोज कर लें कि किस प्रकार यह समझौता हो सकता है तभी हम उसकी भूतकालीन परम्पराओं की महत्ता को भविष्य में भी बनाए रख सकेंगे।

अध्याय ५

# मंत्रि-मंडल

## ( १ )

वस्तुतः मंत्रि-मंडल उस दल की या दलों के उस संयोग की जो कॉमन-सभा में बहुमत प्राप्त कर सकता है एक समिति है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार का विवरण व्यावहारिक होने की अपेक्षा वर्णनात्मक ही अधिक है। यह मंत्रि-मंडल की उन कुछ विशेषताओं पर प्रकाश नहीं डालता जिन्हें इतिहास और संस्कार समान रूप से महत्त्व देते हैं। मंत्रि-मंडल एक दृष्टि से यद्यपि अब उसका कोई महत्त्व नहीं रहा है सम्राट् की प्रिवी कौंसिल की जिसके पास राज्य-शक्ति का अधिशासी नियन्त्रण रहता है एक समिति है। एक दृष्टि से मंत्रि-मण्डल गुप्त समिति भी है। लेकिन इस तथ्य में अतिशयोक्ति का भय है। मंत्रि-मण्डल का वास्तविक कार्य उस दल या उन दलों के नाम पर जो उसे कॉमन-सभा में बहुमत प्रदान करते हैं, देश का शासन करना है।

इसलिए मंत्रि-मण्डल शासन की अधिशासी और विधायी शाखाओं को संयुक्त करने का एक साधन है। इस विषय का सर्वप्रथम बेजहॉट ने निरूपण किया था। मंत्रि-मण्डल एक ऐसा निकाय है जो शासन की विधायी शाखा को निर्देश देता है। यह संसद् को ऐसी नीति देता है जिसके ऊपर निर्णय किए जाते हैं। यह राज्य की प्रभु-संस्था से अनुमोदन लेने के पश्चात् अपनी नीति को कार्यरूप में परिणत करता है। लेकिन यह यह अनुमोदन प्राप्त करने में इसीलिए सफल होता है क्योंकि यह एक दलगत समिति है। इसके समर्थन का बोट निर्वाचकों का एक निर्णय है कि शासन का सूत्र व्यक्तियों के हाथों में नहीं प्रत्युत अनुशासनवादियों के हाथों में रहेगा। यह कॉमन-सभा को अपने प्रयोजनों के लिए अनुशासित करके अपना उद्देश्य पूरा करता है लेकिन सभा को अनुशासित करने के लिए यह आवश्यक है कि यह अपने को अनुशासित करे। यह कार्य उसकी दलगत रचना द्वारा सम्पन्न होता है। जिन विचारों को यह कार्यान्वित करता है, वे सुनिश्चित रूप से मर्यादित होते हैं। ये वे विचार होते हैं जिनके लिए उसके दलगत समर्थक उससे यह आशा करते हैं कि यह उन्हें कार्यान्वित करेगा। यह सदैव परम्परागत आशाओं की मर्यादा के अंदर कार्य करता है और यदि यह उनका उल्लंघन करता है तो यह आशंका रहती है कि कहीं यह अपने बहुमत को और इस प्रकार अपनी सत्ता को न खो दे।

दल की उक्त व्यवस्था ही मंत्रि-मंडल की सफलता का आधार है। अपनी नीति की समस्त प्रमुख बातों की सफलता के लिए यह अपने अनुयायियों के समर्थन पर निर्भर है। लेकिन मंत्रि-मंडल की सफलता का यह भी एक प्रमुख कारण है कि यह संसद का एक अभिन्न भाग है तथा उससे पृथक नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है

कि कॉमन-सभा मंत्रि-मंडल को जीवन देती है लेकिन सामान्यतः स्वयं कॉमन-सभा भी उसी समय तक जीवित रह सकती है जब तक कि वह मंत्रि-मण्डल को जीवन देने के लिए तय्यार है। कॉमन-सभा संसद् को आत्मनाश के मुख्य पर पहुँचा करती है। यदि मन्त्रि-मण्डल सभा में पराजित हो जाये तो इसके दो परिणाम निकलते हैं। या तो संसद् का विघटन हो जाता है या मन्त्रि-मण्डल को त्याग-पत्र देना पड़ता है। यदि मन्त्रि-मण्डल त्याग-पत्र देता है, तो मन्त्रि-मण्डल के त्याग-पत्र के कुछ समय के भीतर ही संसद् का विघटन अवश्यम्भावी है। १९३१ में यही हुआ था।

मन्त्रि-मण्डल विधान-मण्डल की एक समिति है यह उन दो-तीन प्रमुख सिद्धान्तों में से एक है जो हमारी पद्धति और अमरीका की पद्धति में भेद स्थापित करते हैं। हमारे लिए यह उचित है कि हम इस भेद के परिणामों पर जरा गौर विचार कर लें। इन दोनों पद्धतियों के भेद का मुख्य तत्त्व यह है कि हमारे यहाँ विधान-मण्डल का कार्यपालिका से पृथक कोई हित नहीं है, लेकिन अमरीका में उसका पृथक्करण विधान-मण्डल को एक पृथक हित दे देता है। इसलिए, हमारे यहाँ विधान-मण्डल को या तो अपने संचालक-मण्डल में विश्वास रखना चाहिए अन्यथा एक नया संचालक-मण्डल या एक नयी संसद् का निर्माण होगा। लेकिन अमरीका में कांग्रेस की रचना राष्ट्रपति और उसके मन्त्रि-मण्डल के साथियों से पृथक हो सकती है। वहाँ यह भी हो सकता है कि राष्ट्रपति का कांग्रेस के एक सदन में बहुमत हो दूसरे में न हो। यदि राष्ट्रपति का दोनों सदनों में बहुमत हो तब भी यह आवश्यक नहीं है कि सबकी मन चाही हो। वह किसी भी सदन को सीधे नियन्त्रित नहीं कर सकता। उसके पास सदन का विघटन करने की शक्ति नहीं है। वह समझा-बुझा सकता है, फुसला सकता है, धमका सकता है, रिश्वत दे सकता है। लेकिन अमरीकी विधान-मण्डल का जीवन उसकी अधीनता से स्वतन्त्र है। राष्ट्रपति कांग्रेस के पास अपने प्रस्ताव भेजता है। इस बात का निश्चय स्वयं कांग्रेस करती है कि वह इन प्रस्तावों का क्या करे। जहाँ तक नीति के निर्धारण का प्रश्न है, वैधानिक दृष्टि से कांग्रेस और राष्ट्रपति की शक्तियाँ समान हैं। यदि राष्ट्रपति उसके सदस्यों से अपना मनचाहा नहीं करवा सकता तो उसके पास ऐसा कोई उपाय नहीं है कि वह कांग्रेस के निर्णयों के विरुद्ध सीधा निर्वाचक-मण्डल से अपील कर सके। वह कांग्रेस को सन्देश दे सकता है, उसके साथ जबर्दस्ती नहीं कर सकता। बदले में कांग्रेस भी उसे उस समय तक बाध्य नहीं कर सकती जब तक कि उसके सदस्यों का दो-तिहाई बहुमत उसके द्वारा आरोपित किसी निषेधाधिकार का उल्लंघन करने के लिए प्रस्तुत न हो।

यदि राष्ट्रपति के दल का दोनों सदनों में बहुमत हो तब भी यह निश्चित नहीं है कि वह अपनी मनचाही कर सकेगा। उसकी पराजय से उसके दल में कोई संकट पैदा नहीं होगा। राष्ट्रपति की प्रतिष्ठा भंग होने से यह आवश्यक नहीं है कि उसके दल को कोई हानि पहुँचे। कांग्रेस अपने कार्य के लिए उसकी शक्ति से बिल्कुल स्वतंत्र होती है। वर्साय की सन्धि पर उसने राष्ट्रपति विल्सन को भग्नमनोरथ कर दिया था। १९३७ में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने सर्वोच्च न्यायालय के सुधार के लिए कुछ प्रस्ताव

रखते थे। कांग्रेस ने इन प्रस्तावों के द्वारा राष्ट्रपति को भारी पराजय दी थी। सच तो यह है कि कांग्रेस का संचालन करना कॉमन-सभा का संचालन करने से बिल्कुल भिन्न काम है। एक तो कार्यपालिका पर अविश्वास करती है और दूसरी विश्वास। इसी कारण से अमरीका में राष्ट्रपति के चुनाव तथा इंग्लैण्ड में दल के नेता के चुनाव की प्रक्रिया में अन्तर है। राष्ट्रपति के पद में स्थायित्व नहीं है। हरेक कोई यह जानता है कि अधिक से अधिक आठ वर्ष पश्चात् उसका कार्यकाल समाप्त हो जायगा। इसलिए, राष्ट्रपति जिन निष्ठाओं को जाग्रत कर सकता है वे उन निष्ठाओं से बिल्कुल भिन्न हैं जिन्हें इंग्लैण्ड में दल का नेता जाग्रत कर सकता है। राष्ट्रपति अपनी पराजय में दल को काफी प्रभावित कर सकता है। उसके मन्त्रि-मण्डल के कुछ सदस्य भी अपने व्यक्तिगत गुणों के कारण दल को प्रभावित कर सकते हैं। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि वे दल के नेता हों या दल के मामलों में उन्हें काफी अनुभव हो। कम यह होता है कि कांग्रेस में व्यक्तियों का एक ऐसा छोटा-सा समूह भी होता है जो वास्तव में एक प्रकार का वैकल्पिक मन्त्रि-मण्डल होता है। यह आवश्यक है कि नीति के निर्धारण में उनकी उपेक्षा न की जाय। इसी कारण एक असाधारण प्रतिभा का राष्ट्रपति ही कांग्रेस को अपने पक्ष में बनाए रख सकता है। कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के पृथक्करण से उत्तरदायित्व में भी अव्यवस्था आ जाती है। अमरीका में यह आवश्यक नहीं है कि नीति का निरूपण बिल्कुल स्पष्ट हो क्योंकि वहाँ कई भिन्न नीति के निर्माण के जिम्मेदार होते हैं। इस तथ्य का कि राष्ट्रपति को चुनने के लिए किस लिया जा सकता है अभिप्राय यह है कि स्वयं उसके दल में ही ऐसे कई तत्त्व हैं जो उसे चुनने के लिए विवश कर रहे हैं। सीनेट का एक सदस्य इस समिति का नियन्त्रण करता है, कांग्रेस का एक सदस्य उस समिति का नियन्त्रण करता है। राष्ट्रपति के लिए आवश्यक है कि वह दोनों के साथ समझौता करे। यह स्मरणीय है कि फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट जैसे प्रभावशाली राष्ट्रपति तक किसी विधेयक को कांग्रेस से ठीक उसी रूप में पास न करा सके जिस रूप में कि वह उसे पास कराना चाहते थे। उन्हें कांग्रेस के दो-चार प्रभावशाली सदस्यों की खातिर कभी एक धारा को हटाना पड़ा था कभी दूसरी धारा को नरम करना पड़ा था। चूंकि वह दल वाले मित्रों के विरुद्ध निर्णयों से अपील नहीं कर सकता अतः उसे उनके साथ किसी न किसी रूप में समझौता करना ही पड़ता है।

राष्ट्रपति के दूसरे कार्यकाल में उसको पहले कार्यकाल की अपेक्षा अधिक [illegible] बना है। उसका प्राधिकार शिथिल होने लगता है। जो उस का समर्थन करते हैं उन्हें यह ध्यान रहता है कि चार वर्ष पश्चात् व्हाइट हाउस में एक दूसरा व्यक्ति आ जायगा। यदि वह कुछ करता है, तो उसकी तीव्र आलोचना होती है। कांग्रेस का कोई प्रभावशाली सदस्य यह भलीभाँति सोच सकता है कि यदि वह इस आलोचना का नेतृत्व करे, तो संभव है कि उसे उत्तराधिकार का अवसर मिल जाये।

ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल उक्त समस्त कठिनाइयों और झंझटों से मुक्त है। वह यह जानता है कि वह जिस चीज़ को प्राप्त करना चाहे प्राप्त कर सकता है। इसके फल-

स्वरूप नीति और उत्तरदायित्व में एकरूपता तथा निश्चितता रहती है। जब तक कि मन्त्रि-मण्डल में कोई भयंकर भूल न कर जाती हो वह यह जानता है कि वह अपने निर्णयों का पालन कर सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ब्रिटिश कॉमन-सभा में भी कुछ मन्त्रणाएँ और षड्यन्त्र तो चलते ही रहते हैं और उनका समाधान भी आवश्यक है। उदाहरणार्थ श्री चर्चिल अपने प्रचंड साथियों सहित सरकार की भारत विषयक नीति पर आक्रमण करने के लिए सर्वथ प्रस्तुत रहते हैं। लेकिन यह बहुत कम ही होता है कि इस प्रकार की अभिसन्धियाँ मन्त्रि-मण्डल को अपदस्थ करना चाहे या कर सकती हो। इसका अच्छे से अच्छा परिणाम यह हो सकता है कि वह दूसरे पक्ष को सत्तारूढ़ कर दें। इसका बुरे से बुरा परिणाम यह हो सकता है कि उनके सदस्यों के स्थान आगामी साधारण निर्वाचनों में संकट में पड़ सकते हैं। इन विश्वसनीय व्यक्तियों को पसन्द करते हैं और आलोचना के क्षेत्र में श्री चर्चिल जैसे सिद्ध कलाकार तक को कलात्मक आत्माभिव्यक्ति की तृष्णा में विश्वसनीयता की अपनी प्रतिष्ठा खोनी पड़ती है। व्यक्तिगत सदस्य जब तक नीति की मोटी रूपरेखाओं से सन्तुष्ट है वह विस्तार की बातों के बारे में अपने को अधिक परेशान नहीं करेगा। लेकिन जब मन्त्रि-मण्डल निश्चित मर्यादाओं का अतिक्रमण करने लगता है व्यक्तिगत सदस्य उन्हें सत्ताहीन करने के लिए तैयार होता है।

इस पद्धति के विकल्प को खोज निकालना सुगम नहीं है। यदि हम इसका विकल्प खोजेंगे तो हमें अपनी पद्धति के मूल तक जाना होगा। शायद इसका अर्थ यह होगा कि दलों का स्थान छोटे-मोटे ग्रुप ले लें। इसका परिणाम एक ऐसी सभा होगी जो कॉमन-सभा के सदृश न होकर प्रतिनिधि-सभा (चैम्बर आफ डिप्टीज)[1] हो। इसमें कोई संदेह नहीं कि इससे मन्त्रि-मण्डल के मूल्य पर व्यक्तिगत सदस्य की शक्ति बढ़ जायेगी और इसका निश्चित अर्थ यह होगा कि सभा को विघटित करने का अधिकार सरकार के पास न रह जाएगा। मेरे विचार से इसका खतरा बहुत अधिक है। ऐसी दशा में पहली बात तो यह होगी कि फ्रांस की तरह ग्रुपों की दुरभिसन्धियों के ऊपर निर्वाचकों का कोई नियन्त्रण नहीं रहेगा। सरकारों का निर्माण निर्वाचकों के निर्णयों के आधार पर नहीं प्रत्युत सभा के अन्दर के छल-प्रपंचों के आधार पर हुआ करेगा। दूसरी बात यह होगी कि चूँकि व्यक्तिगत सदस्य की शक्ति बढ़ जायेगी अतः वह अवाञ्छनीय उपायों से अपने प्रभाव के विस्तार का प्रयत्न कर सकता है। जहाँ सरकार का जीवन अमरीकी कांग्रेस अथवा फ्रेंच चैम्बर की भाँति व्यक्तिगत सदस्य की इच्छा के ऊपर निर्भर रहता है वहाँ संसदीय भ्रष्टाचार का सदैव खतरा है। यह अमरीका के "सीनेटोरियल कर्टसी" जैसे उपाय के द्वारा हो सकता है। बड़े-बड़े स्वार्थ व्यक्तिगत सदस्य के पास पहुँच कर अपना काम निकाल सकते हैं। हमारी व्यवस्था में ऐसा होना कठिन है। हमारी मन्त्रि-मण्डलीय व्यवस्था में और चाहे कितनी दुर्बलताएँ हों उसमें इस प्रकार की त्रुटियाँ कम से कम हैं। जिस किसी व्यक्ति ने इस व्यवस्था के विकल्प का

---

१ फ्रेंच विधान-मण्डल का निम्न सदन।

देख लिया है वह इस काम को बहुत बड़ा मानेगा।

अमरीकी पद्धति से तुलना करने पर हमारी पद्धति में एक और गुण है जिस पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। यदि अमरीका का कोई प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ सीनेट का सदस्य है तो वह मन्त्रि-मण्डल की सदस्यता के लिए सीनेट की सदस्यता त्यागना पसन्द नहीं करेगा। कारण यह है कि वह सीनेट में काफ़ी हद तक स्वतन्त्र होता है और अपनी इच्छानुसार आचरण कर सकता है। मन्त्रि-मण्डल में वह राष्ट्रपति का अनुचर होता है और यदि वह किसी बात में राष्ट्रपति से सहमत न हो तो उसे अपना पद छोड़ना पड़ता है। फलतः अमरीकी मन्त्रि-मण्डल कठिनता से ही ऐसे चुने-चुनाए सार्वजनिक व्यक्तियों का एक निकाय होता है जो कि मिल-जुल कर एक टीम की तरह काम कर सकें। जब उनकी नियुक्तियों की घोषणा होती है तो उनमें से कुछ के नाम तो जनता के लिए बिल्कुल अपरिचित होते हैं और जब वे वाशिंगटन छोड़ते हैं तब फिर एक बार जनता के लिए अपरिचित हो जाते हैं। यदि राष्ट्रपति भी विल्सन या श्री रूजवेल्ट की भाँति शक्तिशाली हुआ तो उनमें से बहुत कम व्यक्तियों को अपनी नीति के विकास का अवसर मिलता है। चाहे जो स्थिति हो उनका उत्तरदायित्व आंशिक ही होता है। चूंकि वास्तविक उत्तरदायित्व राष्ट्रपति का होता है अतः जनता की दृष्टि में सारा श्रेय भी राष्ट्रपति को ही मिलता है। इस लिए अमरीका में मन्त्रि-पद देश के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों के लिए सर्वश्रेष्ठ पारितोषिक नहीं माना जाता। इसकी प्राप्ति जहाँ सार्वजनिक सेवा का पुरस्कार होती है, वहाँ वह व्यक्तिगत सम्बन्धों का संयोग भी कम नहीं है।

ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। वहाँ मन्त्रि-मण्डल की सदस्यता सामान्यतः संसद में की गई सेवा का पारितोषिक होती है। मन्त्रि-मण्डल का सदस्य वही व्यक्ति नियुक्त किया जाता है जो राजनीतिक क्षेत्र में काफ़ी समय तक काम कर चुका हो। मैं यह नहीं कहता कि मन्त्रि-मण्डल में असाधारण व्यक्ति होते हैं, लेकिन मैं यह अवश्य कहता हूँ कि स्थान की प्रतियोगिता, मनुष्य मस्तिष्क की कठोरता और पारितोषिक की महत्ता से राष्ट्र को यह विश्वास होता है कि मन्त्रि-मण्डल में कुछ असाधारण व्यक्ति अवश्य होंगे। जब उसका निर्माण होता है, वह एक टीम होती है—ऐसी टीम जैसी कि अमरीकी मन्त्रि-मण्डल शायद ही कभी हो पाये। उसके अधिकांश सदस्य ऐसे होते हैं जो एक दूसरे को वर्षों से जानते हैं और मिल-जुल कर काम करने के अभ्यस्त होते हैं। यही नहीं उनमें से कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें मन्त्रि-मण्डल के कार्य का पहले से अनुभव होता है। उनमें से अधिकांश ऐसे होते हैं जिन्हें जब वे विरोधी दल में थे विभिन्न समस्याओं के ऊपर नीति निर्धारित करनी पड़ी थी। अब मन्त्रि-मण्डल में होने पर उन्हें उन्हीं समस्याओं पर विचार करना पड़ता है। मन्त्रि-मण्डल तक पहुँचने के लिए उन्हें चरित्र व्यवहार-बुद्धि निर्णय तथा संसद का सामना करने की शक्ति आदि कुछ विशिष्ट गुणों का परिचय देना होता है क्योंकि यही ऐसे गुण हैं जिनके ऊपर सफल प्रशासन की नींव खड़ी होती है। यदि यह कहा जाये कि सिविल सर्विस की तुलना में जिनको वे नियन्त्रित करते

हैं वे अविशेषज्ञ हैं तो इस शंका के दो उत्तर हैं। पहली बात तो यह है कि किसी भी मन्त्री का अपने विभाग के कार्य में विशेषज्ञ होना बहुत ही अवांछनीय है क्योंकि इससे यह खतरा हो सकता है जैसा कि समस्त विशेषज्ञों के साथ होता है कि वह दृष्टिकोण की व्यापकता को त्याग दे और बाल की खाल निकालने के चक्कर में पड़ जाए। दूसरी बात यह है कि यदि वह मन्त्री है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह जरा-जरा सी बात पर माथा-पच्ची करे। मन्त्री होने के नाते उसका कर्तव्य तो यही है कि वह अपने विभाग को एक सुनिश्चित निर्देश दे। एक ओर तो वह अपने विभाग के कार्य में सन्तुलन रखता है और दूसरी ओर विभिन्न विभागों के कार्य में सन्तुलन लाने में सहायता देता है जिससे कि सम्पूर्ण मन्त्रि-मण्डल एक सफल नीति का निर्माण करने में समर्थ हो सके। राजनीतिज्ञ अपने कार्य को किसी विशेषज्ञ की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह कर सकता है क्योंकि उसके अन्दर लोकमत को राजी करने की अपूर्व क्षमता होती है। यही कारण है कि सिविल सर्वेण्ट्स सिपाही नाविक और व्यापारी अपना काम तो बहुत अच्छी तरह कर सकते हैं, लेकिन उनका सफल मन्त्री होना दुर्लभ है।

( २ )

मन्त्रिमण्डल का केन्द्र-बिन्दु प्रधान मन्त्री है। वह उसके निर्माण के लिए केन्द्रीय है, जीवन के लिए केन्द्रीय है, मरण के लिए केन्द्रीय है। मन्त्रिमण्डल के स्वरूप पर उसके व्यक्तित्व और कृतित्व का व्यापक प्रभाव पड़ता है। इसका यह आशय नहीं है कि वह अपने मन्त्रिमण्डल का उसी प्रकार स्वामी है जिस प्रकार कि अमरीकी राष्ट्रपति अपने साथियों का स्वामी होता है। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री "समकक्षों में प्रथम" से कुछ अधिक है लेकिन वह एक स्वेच्छाचारी से कुछ कम है। जैसा कि हम देखेंगे उसकी वैयक्तिक शक्तियाँ विपुल हैं लेकिन उनके उचित प्रयोग के लिए यह आवश्यक है कि वह दमन से नहीं प्रत्युत शान्ति से काम ले। वह शांति से कहाँ तक काम निकाल सकता है इसी बात पर उसकी सरकार की सफलता निर्भर है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह अपने किसी भी साथी को त्याग-पत्र देने के लिए विवश कर सकता है लेकिन १८५१ में लॉर्ड जॉन रसेल द्वारा लॉर्ड पामर्स्टन की पदच्युति यह अच्छी तरह प्रकट कर देती है कि प्रधानमन्त्री की बाध्यताएँ प्रधानमन्त्री के संकट हैं। यही नहीं है जैसाकि श्री लॉयड जार्ज ने कहा है कि शीर्ष पर सरलता नहीं होती। वहाँ सदैव ही कोई न कोई ऐसा व्यक्ति अवश्य होता है जो उसका स्थान ग्रहण करने के लिए तय्यार, तय्यार ही नहीं प्रत्युत अधीर रहता है। यह और भी अधिक सही है कि प्रधान मन्त्री अपने दल का नेतृत्व अपनी नीति की सफलता के द्वारा ही कायम रखता है। यदि मन्त्रि-मण्डल के सदस्य बार-बार त्यागपत्र देते हैं तो इससे नीति की सफलता को गहरा धक्का पहुँचता है।

सिद्धान्ततः प्रधानमंत्री का चुनाव सम्राट् की इच्छा पर निर्भर है, व्यवहारतः सम्राट् की इच्छा दलगत राजनीति की आवश्यकताओं के कारण अत्यधिक मर्यादित है। उदाहरणार्थ यदि कभी सरकार पराजित हो जाये और विरोधी दल का अपना नेता हो तो सम्राट् के पास इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही नहीं है कि वह

यह पद उसको प्रदान करे। या यह हो सकता है जैसा कि १९३७ में लॉर्ड बॉल्डविन के त्यागपत्र के समय हुआ था कि दल और लोकमत दोनों ही उचित उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में बिल्कुल स्पष्ट हों। ऐसी स्थिति में सम्राट् को इस विचार प्रवाह का अनुगमन करना ही पड़ता है। सम्राट् यह जानते हैं कि अन्य कोई व्यक्ति स्थायी सरकार का निर्माण करने में सफल न हो सकेगा। उदाहरणार्थ यदि सम्राट् ने १९३७ में प्रधान-मंत्रित्व सर जॉन साईमन को दिया होता और सर जॉन साइमन उसे स्वीकार भी कर लेते तो यह निश्चित है कि वे अपने अनुदारवादी साथियों को अपनी अधीनता में काम करने के लिए राजी न कर पाते। जहाँ दल की इच्छाएँ स्पष्ट और राजनीतिक परिस्थितियाँ सामान्य हों परम्परा के अनुसार सम्राट् के लिए यह आवश्यक है कि वह दल की इच्छाओं पर आचरण करे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रधान मन्त्री का चुनाव करने में सम्राट की इच्छा का दायरा बहुत सीमित है। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से प्रधानमन्त्री के लिए संसद की किसी भी एक सभा का सदस्य होना आवश्यक है और १९०२ में लॉर्ड सैल्सबरी के त्यागपत्र के समय से ऐसा ही होता रहा है लेकिन अब यह निश्चित मान्य है कि भविष्य में वह कॉमन-सभा का ही सदस्य होगा। १९२३ में जार्ज पंचम को लॉर्ड कर्जन और श्री बॉल्डविन में से एक व्यक्ति प्रधानमन्त्री पद के लिए चुनना था लेकिन चूंकि लॉर्ड सभा में विरोधी दल का प्रतिनिधित्व नहीं था अतः सम्राट् ने भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से परामर्श किया उन सभी ने यह राय दी कि अब कॉमन-सभा को प्रधानमन्त्री के नेतृत्व से वंचित रखना उचित नहीं है। यह ठीक है कि सम्राट् इस पूर्वदृष्टान्त से भविष्य में बंधा है लेकिन जब तक कि राजनीतिक परिस्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन न हो जाये यह निश्चित है कि इस दृष्टान्त का पालन होगा। कॉमन-सभा ही अब एकमात्र ऐसी सभा है जिसके प्रति मंत्रि-मंडल उत्तरदायी है। कॉमन-सभा में बहुमत संगठन को कायम रखना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सत्तारूढ़ दल का नेता होने के नाते प्रधानमन्त्री के लिए यह आवश्यक है कि वह सभा के साथ जहाँ महत्त्वपूर्ण निर्णय होते हैं निरन्तर निकट सम्पर्क बनाए रखे।

हमें दो स्थितियों पर और विचार करने की आवश्यकता है। प्रधानमन्त्री इस बात की स्पष्ट साक्ष्य छोड़े बिना कि दल किसको उत्तराधिकारी बनाना चाहता है त्याग-पत्र दे सकता है। १८९४ में श्री ग्लैडस्टन ने यही किया था। इस स्थिति में सम्राट् जैसा कि उस अवसर पर महारानी विक्टोरिया ने किया था कई संभव प्रत्याशियों में से किसी एक को प्रधानमंत्री चुन सकता है। ऐसा करने का उसका अधिकार सन्देहहीन है। लेकिन यह अधिकार ऐसा है जिसका सफल प्रयोग इस बात पर निर्भर है कि इस प्रकार चुना गया राजनीतिज्ञ शक्तिशाली सरकार का कहाँ तक निर्माण कर पाता है। उदाहरणार्थ १८८० में लॉर्ड हार्टिंगटन उदारवादी दल के कॉमन-सभा में नेता थे तथा ग्रानविल उसके लार्ड-सभा में नेता थे। लेकिन दल में श्री ग्लैडस्टन भी शामिल थे और यद्यपि उन्होंने १८७४ में दल के नेतृत्व से त्यागपत्र दे दिया था वे उस वर्ष की उदारवादी विजय के सर्जक ही अधिष्ठाता समझे जाते थे और जनता को आशा थी कि डिज़रैली के पश्चात् वही प्रधानमंत्री होंगे। महारानी ने जो उन्हें नापसन्द करती थीं और उन पर अविश्वास

करती थी इस चुनाव की आवश्यकता को टालना चाहा। उन्होंने बारी-बारी से हार्टिंगटन और ग्रेनविल्ले से प्रधानमंत्री बनने के लिए कहा। उन दोनों ने ही उनसे यह कह दिया कि हम श्री ग्लैडस्टन के बिना सरकार का निर्माण नहीं कर सकते श्री ग्लैडस्टन हमारी अधीनता में काम नहीं करेंगे और इन परिस्थितियों में एकमात्र वही संभव प्रधानमंत्री हैं। बाद में महारानी ने श्री ग्लैडस्टन को प्रधानमंत्रित्व दिया। उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया और सरकार का निर्माण किया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सम्राट् का निर्णय सामान्यतः बहुत दूर तक नहीं जाता। सम्भव प्रधान-मंत्रियों की संख्या किसी भी समय दल के अन्दर दल की राय तथा बाहर लोकमत के द्वारा सीमित ही होती है। सम्राट् इस सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकते। यदि वह ऐसा करते हैं तो उनके इस कृत्य का व्यापक विरोध होगा और यह कहा जाएगा कि वे उन परिसमयों को नष्ट कर रहे हैं जिनके ऊपर दल का शासन आधारित है। सम्राट् देखेंगे कि उनका मनोनीत व्यक्ति सरकार नहीं बना सकेगा और यदि उसने सरकार बना भी ली तो वह उसे अधिक समय तक कायम नहीं रख सकेगा। उसकी असफलता का अभिप्राय यह होगा कि सम्राट् के निर्णय की आलोचना होगी और सम्राट् के कार्यों के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि वे कुछ इस प्रकार के हों कि उस पर जनता आलोचना न कर सके।

दूसरी स्थिति जब कि सम्राट् अपने निर्णय का प्रयोग कर सकते हैं वह है जिसमें कि सभा में दल के रंग-ढंग कुछ ऐसे हों कि स्पष्ट सरकार का अनुमान न हो पाता हो। उदाहरणार्थ १८३२ के पश्चात से ११ अल्पसंख्यक सरकारें और ६ संयुक्त सरकारें बन चुकी हैं। यहाँ हम यूनियनिस्ट सरकार को जो १८९५ से १९०५ तक पदारूढ़ रही थी सामान्य बहुमत वाली सरकार मान लेते हैं। इन समस्त परिस्थितियों में ऐसे कई क्षण रहते हैं जिनके कारण सम्राट् अपने प्रभाव का उपयोग कर सकते हैं। लेकिन उनके लिए यह आवश्यक है कि वे सुनिश्चित परम्पराओं की सीमा के अन्दर रहते हुए काम करें। यदि पराजय होने पर सरकार त्याग-पत्र दे देती है, तो सम्राट् से यह आशा की जाती है कि वे विरोधी दल के नेता को बुलायें और उसे सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करें। डॉ. जेनिंग्स ने इसकी अच्छी प्रकार व्याख्या की है। उन्होंने लिखा है, 'सम्राट् का कार्य केवल सरकार का निर्माण करना है, उस सरकार का नहीं जिसका वे अनुमोदन करते हैं। यदि वे ऐसा करेंगे, तो दलगत राजनीति में फंस जायेंगे। यह आवश्यक है कि जनता का सम्राट् की निष्पक्षता में विश्वास बना रहे। इसके लिए सम्राट् को न केवल निष्पक्षता से काम ही करना चाहिए प्रत्युत उसे निष्पक्षता से काम करते हुए प्रतीत भी होना चाहिए। इसको स्पष्टतापूर्वक प्रदर्शित करने का एकमात्र उपाय विरोधी दल के नेता को सरकार बनाने के लिए तुरन्त आमंत्रित करना है।"

सच यह है कि १८३२ के पश्चात् से प्रत्येक अवसर पर यही किया गया है। १८९५ में जब लॉर्ड रोज़बरी ने त्याग-पत्र दिया था महारानी विक्टोरिया की श्री ग्लैडस्टन के प्रति घृणा ने उन्हें परम्परा से हटने की प्रेरणा दी। उन्होंने उन उदार वादियों के साथ जिनके बारे में उनका कहना था कि वे "सौम्य राजभक्त तथा वस्तुत

देशभक्त हैं और जिनके हृदय में साम्राज्य और सिंहासन की भलाई का भाव है और जो उन्हें विनाश से बचाना चाहते हैं काफ़ी समय तक पर्यंत जारी रक्खा था और जब उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिली थी तब कहीं जाकर उनका दिमाग ठिकाने आया था। सम्राट् को विरोधी दल के नेता को आमंत्रित करते समय अन्य किसी राजनीतिज्ञ के साथ मंत्रणा नहीं करनी चाहिए। लॉर्ड सैलसबरी ने १८८६ में महारानी को बिल्कुल भिन्न राय दी थी। लेकिन यह स्पष्ट ही है कि इस प्रकार की मंत्रणा यह संदेह उत्पन्न कर सकती है कि सम्राट् विरोधी दल के नेता के सरकार बनाने के अधिकार का अतिक्रमण कर रहे हैं। जब कभी सम्राट् ने किसी व्यक्ति के साथ विचार-विनिमय किया है जो विरोधी दल का मान्य नेता नहीं है तो वह व्यक्ति १८९१ के हर्टिंग्टन प्रकरण की भाँति लॉर्ड-सभा में विरोधी दल का नेता रहा है। अर्वाचीन प्रकरणों में भी यही हुआ है। १९२४ में श्री बॉल्डविन की पराजय और उनके त्याग-पत्र के पश्चात् सम्राट् ने श्री रैमजे मैकडॉनल्ड को आमंत्रित किया और १९३१ में भी रैमजे मैकडॉनल्ड और उनके मंत्रि-मंडल के त्याग-पत्र के पश्चात् श्री बॉल्डविन को तुरन्त आमंत्रित किया।

१९१६ और १९३१ की संयुक्त सरकारें कुछ रोचक प्रश्न खड़े कर देती हैं क्योंकि दोनों ही अवसरों पर सम्राट् के विचार-विमर्श के उपरान्त एक ऐसा प्रधान मन्त्री अवतरित हुआ जो या तो दल का नेता नहीं था या कम से कम उस समय दल का नेता नहीं था। यह निश्चित है कि १९१६ में परम्पराओं का पालन किया गया था। श्री एस्क्विथ के त्याग-पत्र के पश्चात् सम्राट् ने श्री बोनर लॉ को जो सभा में दूसरे सबसे बड़े दल के नेता थे, आमन्त्रित किया था और श्री लॉयड जार्ज को प्रधान-मन्त्रित्व उसी समय दिया था जब श्री बोनर लॉ ने उसे अस्वीकृत कर दिया था और सम्राट् ने श्री लॉयड जार्ज के नाम की सिफ़ारिश की थी। १९३१ की परिस्थितियाँ असाधारण हैं और उन पर अधिक विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है। यह हम स्वीकार करते हैं कि प्रामाणिक प्रलेखों के अभाव में हमें बहुत कुछ अनुमान का ही आश्रय लेना पड़ेगा। हम यह जानते हैं कि श्रमिक सरकार न आर्थिक कठिनाइयों का कोई समाधान न निकाल सकने के कारण प्रधान-मन्त्री श्री रैमजे मैकडॉनल्ड को यह अधिकार दे दिया था कि वे २१ अगस्त को त्याग-पत्र दे दें। हमें यह भी मालूम है कि सम्राट् ने प्रधान-मंत्री के परामर्श पर अनुदार दल के नेता श्री बॉल्डविन और उदारवादी दल के नेता श्री हर्बर्ट सैमुअल से उनके दलों की स्थिति के बारे में ज्ञान प्राप्त करने के लिए बातचीत की थी। हमारे पास ऐसी कोई सार्वजनिक सूचना नहीं है जिससे हम यह जान सकें कि इस बैठक का श्रमिक सरकार के त्याग-पत्र या नई सरकार के निर्माण से कोई सम्बन्ध था। जब २४ अगस्त को श्री मैकडॉनल्ड ने सम्राट् को अपने मंत्रि-मंडल का त्याग-पत्र दिया उस समय उन्होंने सम्राट् को पुनः यह परामर्श दिया था कि वे श्री बॉल्डविन और सर हर्बर्ट सैमुअल को आमंत्रित करें। हम नहीं जानते कि इस भेंट में जिसमें मालूम पड़ता है कि श्री मैकडॉनल्ड भी उपस्थित थे क्या हुआ। श्री सिडनी वेब ने श्री मैकडॉनल्ड के

मन्त्रि-मंडल में उपनिवेश-मंत्री थे लिखा है "यह कहा जाता है कि सम्राट् ने जिनके साथ प्रधान-मंत्री ने निरन्तर सम्पर्क बनाए रक्खा था लेकिन जो अपनी वैधानिक स्थिति से कभी बाहर नहीं गए थे उनसे इस बात की शक्तिशाली अपील की कि वे इस आर्थिक संकट के समय राष्ट्र के साथ रहें और अनुदार तथा उदार दलों के प्रमुख सदस्यों व श्रमिक दल के उन सदस्यों के साथ जो उनसे सहयोग करें, मिलकर एक संयुक्त राष्ट्रीय सरकार का निर्माण करें। विश्वास किया जाता है कि सम्राट् ने इसी प्रकार की एक शक्तिशाली अपील उदार तथा अनुदार दलों के नेताओं से भी की थी। प्रामाणिक रूप से हम केवल यही जानते हैं कि श्रमिक प्रधान-मंत्री के रूप में त्याग-पत्र देने के तुरन्त पश्चात् ही श्री रैमज़े मैकडोनल्ड को राष्ट्रीय सरकार के निर्माण का आदेश मिला था।

लेकिन कुछ और चीजें ज्ञात हैं (१) २१ अगस्त को श्रमिक मंत्रि-मंडल को यह नहीं मालूम था कि श्री रैमज़े मैकडोनल्ड उसके साथ विश्वासघात करने वाले हैं। शायद उन चार मंत्रियों को जो नए प्रशासन में शामिल हो गए थे यह मालूम हो। अब सब का तो यही विचार था कि चूंकि श्री मैकडोनल्ड त्याग-पत्र दे रहे हैं अतः श्री बैल्डविन प्रधान-मंत्री हो जायेंगे। (२) हमको यह मानना पड़ता है कि सम्राट् को यह ज्ञात था कि श्री मैकडोनल्ड का अधिकांश मंत्रि-मंडल और अधिकांश दल उनसे असहमत है और केवल चार मंत्री ही उनका साथ देंगे। (३) हमें यह मालूम है कि सम्राट् को श्री हैंडरसन के साथ मंत्रणा करने का परामर्श नहीं दिया गया। श्री हैंडरसन श्रमिक मंत्रि-मंडल में उन व्यक्तियों के नेता थे जो श्री मैकडोनल्ड से असंतुष्ट थे। श्री मैकडोनल्ड के दल से निष्कासन के उपरान्त वे ही दल के नेता चुने गए थे। (४) हमें यह मानना पड़ता है कि श्री मैकडोनल्ड के प्रधान-मंत्री बने रहने का सुझाव सम्राट् की ओर से आया था और श्री बैल्डविन तथा सर हर्बर्ट सैमुअल ने उसे स्वीकार कर लिया था। इसका कोई संकेत नहीं मिलता कि श्री मैकडोनल्ड के प्रधान-मंत्री पद पर कायम रहने का सुझाव श्री बैल्डविन या सर हर्बर्ट सैमुअल की ओर से आया था। न इसी बात का कोई संकेत मिलता है कि उनमें से किसी ने २४ अगस्त के पूर्व इस विचार को लेकर अपने दल के अन्य साथियों के साथ सलाह-मशवरा किया हो।

हमारे पास जो जानकारी है उसको देखते हुए इस अवसर पर श्री मैकडोनल्ड की नियुक्ति सम्राट् का वैयक्तिक मनोनयन मालूम पड़ता है। वह अपने दल के प्रतिनिधि होने के अर्थ में प्रधान-मंत्री नहीं थे। उनके लिए बहुमत सम्राट् ने दूसरे दलों के नेताओं से शक्तिशाली अपील करके प्राप्त किया था। उन्होंने जार्ज पंचम से श्रमिक दल का जिसे उन्होंने छोड़ दिया था मत जानने की कोई सिफारिश नहीं की। यह दृष्टव्य है कि यद्यपि उन्होंने सम्राट् तथा सर हर्बर्ट सैमुअल की भेंट की सिफारिश की थी उन्होंने सम्राट् तथा श्री हैंडरसन की भेंट का सुझाव नहीं दिया। संयुक्त सरकार के प्रधान-मंत्री के रूप में उनकी उपस्थिति उसी प्रकार की एक प्रासाद-क्रान्ति मालूम पड़ती है जैसी कि १७६२ में लॉर्ड ब्यूट के प्रधान-मंत्री बनने पर मालूम पड़ी थी। श्री

जेब और डा० जैनिंग्स दोनों का कहना है कि सम्राट का कार्य वैधानिक था। यह शब्द बड़ा लचीला है। यदि इसे इस दृष्टि से मान लिया जाये तो इसका अभिप्राय यह होगा कि सम्राट् उस समय तक जब तक कि उनका कार्य बाद के साधारण निर्वाचन द्वारा अनुमोदित होता रहे जिस किसी व्यक्ति को चाहें प्रधान मंत्री बना सकते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार तो एक दल के नेता को सम्राट की देशभक्ति के आदर्शों की अपील के नाम पर अपने साथियों को कोई सूचना दिये बिना विरोधी दल में सम्मिलित होने के लिए तय्यार किया जा सकता है। दल-पद्धति की सम्पूर्ण सामान्य प्रत्याशाओं की उपेक्षा की जा सकती है और इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली अव्यवस्था से नए गठबन्धन के लिए निर्वाचकीय बहुमत प्राप्त करने की दिशा में कदम उठाया जा सकता है। इस सिद्धान्त का आधार यह मालूम पड़ता है कि सम्राट् दलों से नहीं प्रत्युत मनुष्यों से उनकी व्यक्तिगत क्षमता में सम्बन्ध रखते हैं और यदि निर्वाचक बाद में उनके इस कार्य का अनुमोदन कर दें तो वे ऐसा करने के अधिकारी हैं। यदि ऐसा है तो यहाँ यह बताना आवश्यक हो जाता है कि ऐसे किसी राजनीतिक संकट में जहाँ कल्पनाओं की दिशा अनिश्चित हो सम्राट् को प्राथमिक महत्व का तत्त्व माना जाना चाहिए। मैं इस दृष्टिकोण के निष्कर्षों पर बाद में विचार करूँगा।

प्रधानमन्त्री चुने जाने के पश्चात् अपनी सरकार का निर्माण करता है। यहाँ भी उसके कार्य की सम्पन्नता में दल का तत्त्व आधारभूत है। समस्त साधारण परिस्थितियों में वह प्रधान-मन्त्री है क्योंकि वह दल का नेता है और यदि वह इस सम्बन्ध के अनुसार आचरण नहीं करेगा तो उसे कॉमन-सभा में बहुमत नहीं मिल सकेगा। उसके लिए आवश्यक है कि वह कुछ साथियों को चुने क्योंकि दल की सरकार में उनकी उपस्थिति की आशा है। उनमें से कुछ इतने महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं कि वे अपने वांछित विशिष्ट पद के लिए आग्रह कर सकें। यह सुविदित है कि १९२९ में श्री मैकडॉनल्ड श्री आर्थर हैंडरसन् को विदेश-मन्त्री नहीं बनाना चाहते थे लेकिन यह ज्ञात होने पर कि श्री हैंडरसन अन्य किसी क्षमता में मंत्रि-मण्डल में शामिल नहीं होंगे श्री मैकडानल्ड को विवश होकर उन्हें यह पद देना पड़ा था। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रधान-मन्त्री को कुछ न कुछ स्वाधीनता अवश्य रहती है लेकिन साधारण तौर पर यह उसी अनुपात में रहती है जिस अनुपात में उसका अपने अनुयायियों के ऊपर प्रभाव होता है। श्री बैल्डविन ने १९२५ में श्री चर्चिल को अर्थ-मंत्री बनाने का जो निर्णय किया उस पर संसार चकित हो गया था। उनके निर्णय के फलस्वरूप सर रॉबर्ट हार्न ने मंत्रि-मंडल में शामिल होना अस्वीकार कर दिया था। स्पष्ट है कि उन थोड़े से व्यक्तियों को छोड़ कर जो स्वयं को मनोनीत कर लेते हैं साथियों का चुनाव प्रत्येक प्रधान-मन्त्री के लिए काफ़ी सतर्कता का काम है और वे लोग जिन्हें वंचित रक्खा जाता है उन आधारों को शायद ही ठीक मानते हैं जिनके कारण कि दूसरों को तरजीह दी जाती है। प्रधान-मंत्री जो कुछ कर सकता है करता है। वह एक ऐसी संस्था के निर्माण का प्रयास करता है जिसके सदस्य एक दूसरे के कृत्यों के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी हों। सामान्य रूप से यदि वह कोई भयंकर भूल नहीं करता है, तो उस

अपने दल का पूरा समर्थन मिलेगा। यह समर्थन उसे उस समय तक मिलता रहेगा। जब तक कि मन्त्रि-मंडल बिलकुल दोषपूर्ण प्रतीत न हो तथा कॉमन-सभा में विरोधी दल की आलोचना के फलस्वरूप उसे और शक्तिशाली करने की आवश्यकता न मालूम पड़े।

प्रधान-मन्त्री को अपने निर्णयों के लिए सम्राट् का अनुमोदन प्राप्त कर लेना चाहिए। यदि वह शक्तिशाली व्यक्ति है और अपनी बात पर दृढ़ता से जमा रहता है तो उसे यह अनुमोदन अवश्य मिल जाता है। यदि सम्राट् उसके निर्णयों को मानने के लिए तय्यार न हो तो वह त्याग-पत्र दे सकता है और यह निश्चितप्राय है कि सम्राट् मामले को इस सीमा तक नहीं बढ़ायेंगे। यह नहीं है कि सम्राट् की राय का कोई वजन ही न होता हो। १८९२ में लार्ड ग्रे ने 'महारानी की सुविदित व्यक्तिगत भावनाओं के कारण लार्ड पामर्स्टन को विदेश-मंत्री नहीं बनाया था। महारानी १८६६ में भी गोसचेन को मन्त्रि-मंडल में रखने के विरुद्ध थीं और उन्होंने लार्ड रसेल को इस बात के लिए राजी कर लिया। १८९८ में उन्होंने लार्ड कार्नरवन को विदेश-मंत्री बनने से रोकने के लिए भगीरथ प्रयत्न किया था। १८८ में उन्होंने श्री चैम्बरलैन की नियुक्ति कुछ शर्तों के अधीन करने की चेष्टा की थी। १८८६ में उन्होंने मंत्रिमंडल के निर्माण के समय श्री ग्लैडस्टन से कह दिया था कि वे चार्ल्स डाइल्क का मनोनयन स्वीकार नहीं करेंगी। इसी मन्त्रि-मंडल में उन्होंने श्री लेबाउशेयर की नियुक्ति तथा लार्ड रिपन की इंडिया आफिस में नियुक्ति को रोकने में भी सफलता प्राप्त की थी। हमें बाद के दृष्टान्तों की कोई जानकारी नहीं है। इस साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि सम्राट् का नियुक्तियों की विवेचना का अधिकार आधारभूत है और इस विवेचना के अधिकार का कम से कम उस युग में जिसके कि दृष्टान्त उपलब्ध हैं पदों के वितरण में पर्याप्त प्रभाव रहता है।

सम्राट् की भांति प्रधान-मंत्री के प्रमुख साथी भी प्रभाव रखते हैं। यह ठीक है कि सिद्धान्ततः प्रधानमन्त्री सर्वेसर्वा होता है। १८८२ में श्री ग्लैडस्टन ने कहा था "मैं तो प्रकाशन के पूर्व नियुक्तियां घोषित कर देता हूँ और एक-दो विशेषकर द्वितीय सदन के नेताओं के साथ सलाह-मशवरा कर लेता हूँ। इससे अधिक कुछ नहीं" । मोटे तौर पर आज भी यही नियम है। १९२१ में श्रमिक दल की एक छोटी सी समिति ने जिसके सदस्य श्री स्नोडन श्री हेंडरसन मैकडानल्ड और श्री थे एक कॉमंस में प्रधान-मंत्री के साथ पदों के वितरण के सम्बन्ध में काफी विस्तार के साथ बातचीत की थी। सचाई यह है कि यद्यपि प्रधान-मन्त्री की स्वाधीनता व्यापक है फिर भी व्यक्तिगत सहयोगियों के साथ परामर्श करना अपरिहार्य है। उसे केवल एक टीम का निर्माण नहीं करना होता उसे ऐसी टीम का निर्माण करना होता है जो उन्हें संतुष्ट कर सके। यदि वह अपने विचारों को उनकी इच्छा के विरुद्ध उन पर लादना चाहे, तो उसे स्वेच्छाचारी होना पड़ेगा क्योंकि इस बात का सदैव खतरा है कि कहीं वे ऐसी स्थिति में उसकी अधीनता में काम न करें। उदाहरणार्थ साधारण निर्वाचनों के कुछ समय पूर्व श्री नैविल की आस्टिन चैम्बरलेन और लार्ड बर्केनहेड को विभाग-रहित मंत्रियों के रूप में

अपने मंत्रि-मंडल में रखना चाहते थे लेकिन जब उनके कुछ साथियों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया उन्होंने इस पर आचरण नहीं किया। जब संयुक्त मंत्रि-मंडल का निर्माण होता है प्रधान-मंत्री के लिए यह आवश्यक है कि वह दूसरे दल के नेता को संतुष्ट रक्खे। संविधान के अनुसार उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह लॉर्ड-सभा को अपने मंत्रि-मंडल में प्रतिनिधित्व दे। मोटे तौर पर यह कहना सही है कि प्रायः सारा मंत्रि-मंडल तो अपने सदस्यों के दल में महत्व के कारण स्वयं ही मनोनीत होता है और इनमें से प्रायः आधे सदस्य अपने मनचाहे पदों को पाने में समर्थ होते हैं। प्रधान-मंत्री को केवल शेष आधे के सम्बन्ध में ही स्वतंत्रता रहती है।

प्रधान-मंत्री सम्पूर्ण शासन-तंत्र का केन्द्र बिन्दु है। सामान्यतः, वह बहुमत प्राप्त दल का नेता और बजहॉट के शब्दों में कार्यपालिका के 'सजीव' भाग का प्रधान होता है। वह सम्राट् की स्वीकृति होने पर अपने किसी भी साथी से त्याग-पत्र की माँग कर सकता है। वह सम्पूर्ण महत्वपूर्ण राजकीय नियुक्तियों में निर्णायक आवाज रखता है। उसे समस्त विभागों के ऊपर विशेषकर वैदेशिक मामलों में सतर्क दृष्टि रखनी पड़ती है तथा नीति में सन्तुलन बनाए रखना होता है। वह कॉमन-सभा का नेता होता है तथा वहाँ सदस्य विशेष कर कठिनाइयों के समय में उसी की ओर निहारते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर साधारण मंत्रियों के विरुद्ध उसी से अपील करते हैं। अपरञ्च वह सम्राट् तथा मंत्रि-मंडल के बीच सम्पर्क बनाए रखने का साधन है। महारानी विक्टोरिया के पत्रों से यह मालूम पड़ता है कि यदि सम्राट् अपने कर्तव्यों के बारे में गम्भीर हैं तो यह कार्य भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

यह स्पष्ट है कि प्रधान-मंत्री का पद प्रधान-मंत्री के व्यक्तित्व के अनुसार होता है। श्री ग्लैडस्टन के अधिकार को शायद ही उनका कोई साथी चुनौती देता था। सर माइकेल हिक्स के विवरण के अनुसार लार्ड सैल्सबरी अपने साथियों को ठीक से नियंत्रित नहीं कर पाते थे और लार्ड रोजबरी तो अपने साथियों को नियंत्रित करने में बिल्कुल ही असमर्थ थे। योग्यता, रुचि-वैभिन्य कौशल, सतत कार्य की क्षमता, महत्वपूर्ण तथा महत्व-हीन का भेद पहचानना इन समस्त गुणों के अनुसार एक प्रधान-मंत्री तथा दूसरे प्रधान मंत्री के बीच काफी अन्तर हो जाता है। डिज़रैली के बारे में कहा जाता है कि यदि उनके एक साथी को छोड़ कर शेष समस्त साथी उनके विरुद्ध होते थे तब भी बात उन्हीं की रहती थी। पील समस्त विभागों पर दृष्टि रखने में शायद इसलिए समर्थ थे क्योंकि उनके समय में प्रशासन का क्षेत्र आज की अपेक्षा काफी सीमित था। श्री एस्क्विथ ने इस बात का प्रयास तक करना इस आधार पर अस्वीकार कर दिया था कि यह बिल्कुल अव्यावहारिक है। कहा जाता है कि युद्ध के समय वे मंत्रि-मंडल के विचार-विमर्शों में इतनी कम रुचि लेते थे कि जब मंत्रि-मंडल किसी विषय पर विचार करता होता था वे पत्र लिखा करते थे और जब मंत्रि-मंडल विचार बंद कर देता था तो वे समझ लेते थे कि समझौता हो गया और अब दूसरे प्रश्न पर विचार किया जा सकता है।

यह निश्चित है कि आज का प्रधान-मंत्री अधिक से अधिक नीति की मोटी रूप रेखाओं पर ही नियंत्रण रख सकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि उसका अधिकार पहले से कम है। आधुनिक लोकतंत्र में निर्वाचन के प्रश्न एक व्यक्ति से ही सम्बन्धित होते हैं और साधारण निर्वाचन सामान्यतः वैकल्पिक प्रधान-मंत्रियों के बीच जनमत संग्रह होता है। फलस्वरूप उसका राष्ट्रीय महत्व हो जाता है और जब तक वह प्रधान-मंत्री रहता है उसका कोई साथी उससे टक्कर नहीं ले सकता। उसके व्यक्तित्व के आधार पर ही दल का निर्णय होता है और जब तक उसका दल पर नियंत्रण रहता है अन्य कोई व्यक्ति उसके सामने सर नहीं उठा सकता। वह अपने साथियों को नियुक्त और पदच्युत करता है। मंत्री अपनी कठिनाइयां लेकर सबसे पहले उसी के पास जाते हैं। विदेश-नीति के निर्धारण में उसका निर्णायक भाग होता है। वह विभागों के मतभेदों को सुलझाता है और यदि उनका विवाद मंत्रि-मंडल का प्रश्न बन जाता है तो प्रधान-मंत्री की आवाज उसे सुलझाने में विशेष महत्व रखती है। वह साम्राज्यिक प्रतिरक्षा-समिति (Committee of Imperial Defence) का सभापति होता है। वह मंत्रि-मंडल की कार्यावलि निश्चित करता है। वह उपनिवेशों तथा राष्ट्र-संघ के सम्बन्ध में विशेष महत्व रखता है। कॉमन-सभा में उसका शब्द अंतिम शब्द होता है। इन सब बातों को देखते हुए उसके विरुद्ध विद्रोह काफी कठिन है। यह तभी हो सकता है जब कि उसने अपने काम को इतने खराब रूप से किया हो कि यह भावना व्यापक रूप से फैल जाये कि वह अपने पद के उपयुक्त नहीं है।

यह कहना तो अतिशयोक्ति ही होगी कि आधुनिक प्रधान-मंत्री की स्थिति अमरीकी राष्ट्रपति के समान है। श्री एस्क्विथ श्री लॉयड जार्ज और श्री रैमजे मैकडोनल्ड इन सबके जीवन यह प्रकट करते हैं कि उसके अधिकार का मूल जनमत संगठन में उसका प्रभाव है न कि यह कि उसे वैधानिक रूप से कुछ निश्चित शक्तियाँ प्राप्त हैं। मेरे विचार से अनुभव यह सिद्ध करता है कि प्रधान-मंत्री का अपने मंत्रि मंडल पर जितना दृढ़ नियंत्रण होगा उतने ही सुचारु रूप से शासन संचालित होगा। प्रधान-मंत्री के लिए यह आवश्यक है कि नीति के सम्बन्ध में उसके अपने कुछ विशिष्ट विचार हों। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने मंत्रियों के मन में यह बात बैठा दे कि वह उनकी कठिनाइयों में उनके लिए निश्चय कर सकता है। यह ठीक है कि अधिक हस्तक्षेप से उसकी शक्ति का ह्रास होता है और इससे उसके ऊपर दबाव भी बहुत अधिक पड़ सकता है, लेकिन उसका नेतृत्व सदैव संदेहातीत है। इस बात में तो कोई संदेह ही नहीं हो सकता कि यह भाव ही कि वह दल का नेतृत्व कर रहा है दल को ऐसी एकता और एकसूत्रता देता है जो उसे अन्य किसी प्रकार से नहीं मिल सकती। इससे दल में उसकी प्रतिष्ठा बनी रहती है और दल का संगठन कायम रहता है और दल अपना संगठन बनाए रखने से ही देश के ऊपर अपना नियंत्रण कायम रखने में समर्थ होता है।

यह सच है कि इस प्रकार के पद का भार बहुत अधिक है। सम्राट्, मंत्रि-मंडल कॉमन-सभा और दल—इन सबके साथ निबटना और इस दृष्टि से निबटना कि इन

उसके परिणामस्वरूप निर्वाचक-मंडल से सफलतापूर्वक निपटा जा सके कोई आसान काम नहीं है। इसके लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है वे किसी साधारण व्यक्ति में नहीं पाये जाते। मेरे विचार से दो अपवादों को छोड़कर वे कभी किसी साधारण व्यक्ति में नहीं पाये गए हैं। निर्वाचकों के मार्ग-दर्शन के लिए एक "सरल अंग्रेज" के रूप में लार्ड बैल्डविन की सान्द्र मुद्रा बनाई गई थी लेकिन उस सान्द्र मुद्रा के अन्दर यह यथेष्ट ठोका है कि कोई भी सरल व्यक्ति कभी इंग्लैण्ड का प्रधान-मंत्री नहीं हुआ। उसे पद की सम्पुष्टि प्राप्त करने के लिए जो प्रशिक्षण लेना पड़ता है अकेले वही इस बात की काफी गारण्टी है कि कोई साधारण व्यक्ति इस पद तक नहीं पहुँच सकता। विवेक कौशल मनुष्यों पर शासन करने की शक्ति विश्वसनीय व्यक्तियों की पहचान प्रभावशाली समन्वय [redacted] की क्षमता ऐसा प्रतिभासम्पन्न निर्णय कि वह दल तथा लोकमत से आगे तो अवश्य हो लेकिन इतना आगे न हो कि उसका सुगमतापूर्वक पालन न हो सके एक ऐसी महत्त्वाकांक्षा जो आगे तो बढ़ाए, पर साथ ही आत्मविश्वास के प्रदर्शन में सजग हो व्यक्तियों या कार्यों के बारे में तात्कालिक निर्णय के समय अपरिमित व्यग्रता—ये सब ऐसे गुण हैं जिनके बिना किसी प्रधान-मंत्री का काम नहीं चल सकता। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि प्रधान-मंत्री को नित्य ही माथा-पच्ची करनी पड़ती है। प्रधान-मंत्री के दायित्वों का निर्वाहन करना तलवार की धार पर चलना है। वह ऐसे किसी संकोचशील व्यक्ति के बस का नहीं है जिसके लिए प्रत्येक निर्णय यातना हो। समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता और वह व्यक्ति जो निर्णायक क्षण को नहीं भाँप सकता प्रधान-मंत्री के पद को नहीं सम्हाल सकता। समस्त निष्ठाएँ सफलता के द्वारा जीवित रहती हैं और वे प्रधान-मंत्री जिनके पास सफलता का रहस्य नहीं होता अधिक समय तक प्रधान-मंत्री नहीं रहते। राजनीतिज्ञ पद चाहते हैं और कोई भी आधुनिक प्रधान-मंत्री जो लगातार दो साधारण निर्वाचन हार चुका है दल का नेता नहीं रहता।

हमारी व्यवस्था ने अविच्छिन्न रूप से असाधारण प्रधान-मंत्रियों को उत्पन्न किया है यह मेरे विचार से कॉमन-सभा के प्रभुत्व महत्त्व का ही प्रताप है। १८६८ के पश्चात् से सर हेनरी कैम्पबेल-बैनरमैन को छोड़कर एक भी ऐसा व्यक्ति प्रधान-मंत्री नहीं हुआ है जिसमें कि असाधारण बौद्धिक प्रतिभा न रही हो लेकिन सर हेनरी की व्यवहार-बुद्धि और सत्य-निष्ठा इस क्षति की पूर्ति कर देती थी। इस सम्बन्ध में अमरीका के राष्ट्रपतियों से तुलना करना अत्यन्त विस्मयजनक है। वहाँ गृह-युद्ध के पश्चात् से ऐसे चौदह राष्ट्रपति हुए हैं जिनके बारे में यह कहना सही है कि यदि उन्हें उन्हीं शर्तों का पालन करना पड़ता जिनका कि ब्रिटिश प्रधान-मंत्री को करना पड़ता है तो यह निश्चित है कि उनमें से केवल चार ही डाउनिंग स्ट्रीट तक पहुँच पाते। प्रधान-मंत्री को जिन परीक्षाओं का सामना करना पड़ता है, वे अमरीकी राष्ट्रपति की परीक्षाओं से कहीं अधिक कठिन हैं। अमरीकी राष्ट्रपति को त्याग-पत्र देने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। वह अपने मंत्रि-मंडल का पूर्ण स्वामी होता है। उसे ऐसे किसी विरोधी दल के नेताओं का सामना नहीं करना पड़ता जिसे कि सम्पूर्ण देश

उसके शासन का विकल्प मानता हो। विदेश-नीति के सम्बन्ध में भी उसका कार्य काफ़ी सुगम होता है। इस दृष्टि से देखने पर यह भी नहीं मालूम पड़ता कि उसे अपने दल के भाग्य तथा निर्देशन के लिए ब्रिटिश प्रधान-मंत्री के उत्तरदायित्व का भार वहन करना पड़ता हो। अधिक से अधिक आठ वर्षों के पश्चात् शासन का सूत्र उसके हाथ से निकल कर दूसरों के हाथ में चला जाता है।

प्रधान-मंत्री के पद पर हमारा विचार करना उस समय तक अधूरा है जब तक कि हम यह न समझ लें कि उसका विकास संसदीय पद्धति की श्रेष्ठता का उत्तम प्रदर्शन है। वह अपेक्षित उत्तरदायित्व देता है लेकिन इसके साथ ही साथ उस उत्तरदायित्व के प्रयोग पर कुछ ऐसे नियंत्रण भी लगा देता है जिनका अब तक बड़ी कुशलता के साथ पालन हुआ है। उस प्रधान-मंत्री को जो अपने साथ अपनी टीम नहीं ले जा सकता लार्ड रोजबरी की भांति पद छोड़ना पड़ता है। उस प्रधान-मंत्री को जिसके बारे में गलत या सही यह समझा जाता है कि उसमें अपने कार्य के लिए उत्साह का अभाव है श्री एस्क्विथ की भांति अपदस्थ कर दिया जाता है। यह कहना शायद अनुचित नहीं है कि १९३५ के ग्रीष्म में श्री मैकडॉनल्ड के स्थान पर श्री बैल्डविन की स्थानापन्नता का मुख्य कारण यही था कि श्री मैकडॉनल्ड के नेतृत्व में राष्ट्रीय सरकार का भावी जीवन संकट में पड़ने की आशंका थी। कहने का सार यह है कि हमारी व्यवस्था में पद उसके धारक की इस कसौटी द्वारा परीक्षा कर लेता है कि वह जनता की मांगों को कहां तक सफलतापूर्वक पूरा कर सकता है। उस निष्ठा में जिसे प्रधान-मंत्री उद्बुद्ध कर सकता है कृत्रिमता अथवा विवशता नहीं होती। यह ठीक है कि उसके अपने समाचार-पत्र उसे अतिमानव बनाने की चेष्टा करते हैं लेकिन दूसरे पक्ष के समाचार-पत्र इस आदर्शीकरण को सुधार देते हैं। वह ऐसे वातावरण में सोचता बोलता और कार्य करता है जिसमें आलोचक को उसकी दुर्बलता प्रकट करने का प्रत्येक अवसर और कारण रहता है। उसके विरोधी जितने अच्छे ढंग से यह कार्य कर सकते हैं उतने ही अच्छे ढंग से न अपनी विजय की भूमि तय्यार करते हैं। लेकिन यह बात केवल उसके विरोधियों के साथ ही नहीं है। प्रधान-मंत्री की परीक्षा उसके अपने समर्थक भी काफ़ी निकटता से करते हैं। इस बात का कि वे उसकी सफलता द्वारा रहते हैं अभिप्राय यह है कि वह अपनी समस्त शक्तियाँ उनको टीम में जमाने के लिए विवश है। वह यह जानता है कि समस्त वैयक्तिक निष्ठाओं के बावजूद उसके अनुयाइयों में एक न एक ऐसा व्यक्ति अवश्य होता है जो उसका स्थान लेने के लिए तत्पर, तत्पर ही नहीं प्रत्युत उत्सुक रहता है। वह यह भी जानता है कि एक दृष्टि से उसके विक्षेप से वे महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी होंगी जो उसके सत्तारूढ़ रहने तक अवरुद्ध रहेंगी। लॉर्ड बैल्डविन के नेतृत्व के विरुद्ध बड़े-बड़े समाचार-पत्रों के स्वामियों का आंदोलन इस बात का एक उदाहरण है। कोई भी प्रधान-मंत्री क्लीमेंट सन्सम की भांति अपने पद के बारे में यह नहीं कह सकता—"चूंकि अब हमने पोपशाही को लिया है, अतः हमें उसका मजा लूटना चाहिए।" डाउनिंग स्ट्रीट में पहला दिन तो उसे इस बात का सन्तोष दे सकता है कि अभी आज हमारे जीवन की एक बड़ी महत्त्वाकांक्षा पूरी

हुई। लेकिन यह दिन उसकी मानसिक शांति का भी अंतिम दिन होता है। समष्टीय पद्धति का संचालन इस महत्वपूर्ण सिद्धांत के अनुसार होता है कि कोई भी व्यक्ति अपरिहार्य नहीं है और इसका दैनिक परिपालन प्रधान मंत्री को इस बात की निरन्तर याद दिलाता रहता है कि उसका भाग्य इस सत्य की पहचान पर ही निर्भर है।

( १ )

प्रधान-मंत्री के पश्चात् मंत्रि-मंडल में महत्त्व की दृष्टि से वित्त-मंत्री तथा विदेश-मंत्री का स्थान आता है। यह स्वाभाविक ही है। समस्त प्रशासनिक और विधायी कार्यक्रमों की कुंजी वित्त है और ब्रिटिश सिविल सर्विस की सफलता का सबसे रहस्य यह है कि प्रधान-मंत्री तथा मंत्रि-मंडल की अधीनता में काम करता हुआ वित्त-मंत्री कोषागार के माध्यम से समस्त विभागों के ऊपर पर्यवेक्षण रखता है। विदेश-मंत्री की विशेष स्थिति के अन्य कारण हैं। यह गोपनीयता की एक पुरानी और अस्पष्ट परम्परा का परिणाम है। अंशतः यह इस कारण भी है क्योंकि विदेश-मंत्री की कार्य-विधियों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक रहता है और विभागों के प्रधानों के लिए यह संभव नहीं है कि वे इन समस्त कार्यविधियों से स्वयं को परिचित रख सकें। वे केवल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिपत्रों के पढ़ने का ही समय निकाल पाते हैं। उन्हें इतना अवकाश ही नहीं है कि वे विदेश-मंत्री की नीति का विस्तृत पर्यवेक्षण कर सकें। पुनश्च विदेश-मंत्री को बहुधा तुरंत कार्यवाही करनी पड़ती है और मन्त्रियों के पास इसके अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं है कि वे अपने साथी के विवेक पर भरोसा रक्खें। हाँ यह आवश्यक है कि विदेश-मन्त्री को मन्त्रि-मंडल द्वारा निर्धारित नीति की चहारदीवारी के भीतर रहकर ही कार्य करना चाहिए। वे सदैव ऐसा नहीं करते। १८५१ में लार्ड पामर्स्टन का त्यागपत्र यह प्रकट करता है कि यदि शक्तिशाली व्यक्तित्व किसी बात पर अड़ जाये तो वह क्या कर सकता है। कभी कभी वे स्वीकार भी कर सकते हैं और बाद में फिर लोकमत के दबाव से उस स्वीकृति को तिलांजलि दे सकते हैं। १९३५ में सर सैमुअल होर का त्याग-पत्र इस प्रकार का एक उदाहरण है। लेकिन चूंकि विदेश-मंत्री प्रधान मंत्री के निकटतम सहयोग से कार्य करता है और नीति की मोटी रूपरेखाओं पर मंत्रि-मंडल में विचार-विमर्श होता रहता है अतः उसके साथी सामान्य रूप से यह जानते हैं कि विदेश-मंत्री क्या कर रहा है। इसके अतिरिक्त मन्त्रियों को विदेश-मंत्री से सूचना प्राप्त करने का तो अधिकार रहता ही रहता है यद्यपि जैसा कि भी लायड जार्ज ने कहा है कि विदेश-मन्त्री यह सूचना बड़ी हिचकिचाहट के साथ देता है।

वित्त-मन्त्री तथा विदेश-मन्त्री को छोड़कर मन्त्रि-मंडल के अन्य सदस्यों की स्थिति प्रायः एक सी होती है। यदि उनके प्रभाव में कुछ अन्तर होता भी है तो वह उनके पदों के कारण नहीं प्रत्युत उनके व्यक्तित्व के कारण होता है। मन्त्रि-मंडल में दो प्रकार के पद होते हैं। एक तो विभाग होते हैं जिनके प्रशासनिक कार्य अत्यन्त विस्तृत रहते हैं दूसरे प्रिवी सील और कौंसिल की प्रेसीडेंसी जैसे पद होते हैं जिनके ऊपर प्रशासन का विशेष भार नहीं होता। यदि मन्त्रि-मंडल में इस तरह के दो-तीन मन्त्री भी रहते हैं तो वह अधिक अच्छी तरह काम करता है। इससे मन्त्रि-मण्डल का उन

व्यक्तियों का परामर्श मिलता रहता है जो किसी कारणवश प्रशासनिक कर्त्तव्यों के भार से नहीं दबे रहना चाहते। वह उन्हें विधान-मण्डल में ऐसे किसी साथी की सहायता के लिए नियुक्त कर देते हैं जिसके ऊपर किसी विधेयक को पास करवाने का बोझा हो। वे मन्त्रि-मण्डल की समितियों और सामान्य विचार-विमर्शों में भी उपयोगी होते हैं क्योंकि प्रधान-मन्त्री की भांति वे भी मंत्रियों की अपेक्षा अधिक निष्पक्ष दृष्टिकोण ग्रहण कर सकते हैं क्योंकि मन्त्रियों के लिए अपने अधीनस्थ विभागों के हित को अधिक महत्व देना नैसर्गिक है।

मंत्रि-मण्डल प्रणाली के कुछ आलोचकों का यह कहना है कि मन्त्रि-मण्डल के सदस्य वे व्यक्ति होने चाहिए जिनका अधिकांश समय अपने-अपने विभागों के कार्य में लगता हो। कुछ लोगों ने यों लॉयड जार्ज के युद्धकालीन मन्त्रि-मंडल की पुनरावृत्ति का समर्थन किया है। युद्ध-काल में श्री लॉयड जार्ज ने मन्त्रि-मण्डल के सामान्य स्वरूप को स्थगित कर दिया था और उसके स्थान पर पांच सदस्यों का एक मन्त्रि मण्डल नियुक्त किया था जिसमें विभागीय कार्य अकेले वित्त-मंत्री के ही पास थे। यह कहा गया था कि साधारण मन्त्रि-मण्डल में बीस से लेकर पच्चीस तक सदस्य होते हैं। वह इतना बड़ा होता है कि उसमें शीघ्र निर्णय नहीं किए जा सकते जब कि युद्धकाल में शीघ्र निर्णय करने की प्रबल आवश्यकता होती है। विभागीय मन्त्री अपने कार्य में ही इतने अधिक व्यस्त रहते थे कि उनके लिए नीति की रूपरेखा पर विचार करना गौण कार्य रह जाता था और जब वे इस महत्वपूर्ण विषय पर विचार भी करते थे तो थकान मस्तिष्क लेकर। युद्धकालीन मन्त्रि-मण्डल के सदस्यों के विभागीय उत्तरदायित्व से मुक्त रहने से दो लाभ थे। पहला लाभ तो यह था कि वे तात्कालिक परामर्श के लिए हर समय मिल सकते थे और दूसरा लाभ यह था कि वे छोटे-मोटे कार्यों के उत्तेजनाप्रद दबाव से स्वतन्त्र रहते थे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्री लॉयड जार्ज की यह व्यवस्था युद्धकाल में उपयोगी होगी। लेकिन साक्ष्य से यह भी सिद्ध होता है कि उसकी व्यावहारिकता केवल ऐसे ही काल के लिए सीमित है। युद्धकाल में वह इसलिए चलता है क्योंकि उस समय अन्य प्रश्न पीछे रह जाते हैं तथा युद्ध में विजय प्राप्त करने का उद्देश्य ही सर्वोपरि रहता है और कॉमन-सभा में विरोधी दल अपनी गतिविधियां बहुत कुछ स्थगित कर देता है। शान्तिकाल में इस व्यवस्था की सफलता संदिग्ध है। यह इस सिद्धान्त पर आधारित है कि नीति को प्रशासन से पृथक किया जा सकता है। लेकिन यह सिद्धान्त युद्ध जैसी संकटकालीन स्थितियों को छोड़ कर अन्य कालों में अव्यावहारिक है। यदि विभागीय मन्त्रियों को अपने विभागों का सुचारु रूप से संचालन करना है, तो उनका महत्व गौण नहीं माना जा सकता क्योंकि इसका परिणाम उत्तरदायित्व की भावना पर बुरा होता है। मन्त्री जैसे महत्वपूर्ण व्यक्ति उस समय तक अपनी नीति ठीक से निर्धारित नहीं कर सकते जब तक कि उन्हें नीति के निर्धारण में भाग लेने का उचित अवसर नहीं मिलता। नीति की एकता जिसकी यह सिद्धान्त कल्पना करता है विलुप्त हो जाती है क्योंकि नीति उस गम्भीर विचार-विमर्श के संचय की अभिव्यक्ति है जिससे

अ-विभागीय मंत्री कोई सम्बन्ध नहीं रखता। परन्तु एक विभाग की नीति का दूसरे विभाग की नीति से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। फलतः शासन में सामंजस्य स्थापित करना मंत्रि-मण्डल के सफल संचालन के लिए अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। श्री लॉयड जार्ज के शासन-काल में प्रधान-मंत्री तथा विदेश मंत्री का संघर्ष इस प्रकार की कठिनाइयों को उचित रूप से व्यक्त करता है। उन दोनों में बिल्कुल नहीं पटती थी। फलतः इस देश में काफी समय तक दो विदेश नीतियाँ रहीं। एक तो प्रधान-मंत्री के नाते श्री लॉयड जार्ज के हाथों में थी और दूसरी विदेश-मन्त्री के नाते लार्ड कर्जन के हाथों में थी। एक नीति के बारे में दूसरे का पूरा ज्ञान नहीं रहता था और उनमें से प्रत्येक नीति को भिन्न भिन्न कर्मचारी वर्ग कार्यान्वित करता था। इसका परिणाम अनिवार्यतः ऐसा असामंजस्य था जिसके लिए कोई औचित्य उपस्थित नहीं किया जा सकता था।

इसलिए पुरानी पद्धति की ओर वापिस लौटना सिद्धान्त और अनुभव दोनों आधारों पर उचित था। जो लोग नीति के संचालन के लिए उत्तरदायी होते हैं उनके ऊपर ही नीति के निर्माण का उत्तरदायित्व होना चाहिए। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि छोटा मंत्रि-मंडल वांछनीय नहीं है या उसे प्राप्त करने के कुछ उपाय नहीं हैं। आधुनिक युद्ध की स्थिति को देखते हुए प्रतिरक्षा के एक पृथक मंत्रालय की आवश्यकता बिल्कुल स्पष्ट है। लेकिन इसकी अभी तक स्थापना न होने का कारण यह नहीं कि इसके पक्ष में युक्तियाँ नहीं हैं परन्तु यह है कि पृथक सचिवों व स्थापित स्वार्थों की परम्परा पर जय नहीं पाई जा सकी है। फ्लीट एयर आर्म के नियंत्रण को लेकर जो विवाद हुआ था वह इस कथन का जीवित प्रमाण है। यह भी सम्भव है कि प्रधान मंत्रियों ने इस प्रकार के एक मंत्रालय का निर्माण संदेह की दृष्टि से देखा है क्योंकि उसके प्रधान का व्यापक प्रशासनिक अधिकार मंत्रि-मंडल में उनकी सर्वव्यापी शक्ति के लिए एक चुनौती हो सकता है। यदि हम प्रतिरक्षा को छोड़ दें तो भी मंत्रि-मंडल के आकार को कम करने के कुछ उपाय हो सकते हैं। उदाहरणार्थ एक यातायात मंत्रालय का निर्माण किया जा सकता है और उसमें वाणिज्य-मंडल (बोर्ड ऑफ ट्रेड) तथा श्रम और कृषि-मंत्रालयों के कार्यों को संयुक्त किया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि यदि ऐसा एकीकरण किया जा सका तो फिर मंत्रि-मंडल के स्तर के एक स्वतन्त्र परिवहन-मंत्रालय की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। यदि ये परिवर्तन हो जायें तो मंत्रि-मंडल की सदस्य-संख्या अठारह रह जायेगी और फिर विभागीय कार्यों का अधिक अधिक युक्तिसम्पन्न पुनर्वितरण हो सकेगा।

छोटे मंत्रि-मंडल से जो लाभ बताए जाते हैं उनमें से अधिकांश वर्तमान व्यवस्था द्वारा भी प्राप्त हो जाते हैं। आधुनिक मंत्रि-मंडल विशेषकर युद्धोत्तर वर्षों में समितियों द्वारा काम करता है और शायद ही ऐसा कोई मंत्रि-मंडल हो जिसमें प्रधान मंत्री के इर्द-गिर्द ऐसे कुछ साथी न हों जो उसकी कार्यवाहियों पर विशेष प्रभाव न डाल पाते हों। समिति-व्यवस्था अत्यन्त मूल्यवान् है। इसमें किसी भी विषय समस्या को विशद और व्यापक परीक्षण के लिए थोड़े से मंत्रियों के पास भेज दिया जाता है। वे उस समस्या पर विस्तार से विचार कर सकते हैं साक्षियों का परीक्षण कर सकते हैं

और विशेषज्ञों आदि ऐसे अन्य व्यक्तियों की भी राय ले सकते हैं जिन्हें कि वे उपयुक्त समझते हों। इसके फलस्वरूप एक ऐसा प्रतिवेदन सामने आता है जिसे पूरा मंत्रि-मंडल बिना किसी विशेष कठिनाई के स्वीकार कर सकता है। समिति में दो-एक सदस्य ऐसे होते हैं जिनको समस्याएं अन्तर्ग्रस्त प्रश्न से सीधा सम्बन्ध रखती हैं और किसी समझौते तक पहुंचने की उनकी योग्यता ही उनके साथियों के लिए इस बात की सूचक होगी कि कोई उचित समझौता हो गया है।

"आभ्यन्तरिक मंत्रि-मंडल" के बारे में हमें अभिलेखों से कम ज्ञान मिलता है और औपचारिक अर्थों में उसका अस्तित्व नहीं है। लेकिन यह सही है कि प्रत्येक मंत्रि-मंडल में ऐसे पांच-छः मंत्री होते हैं जिनके ऊपर प्रधान-मंत्री विशेष विश्वास करता है। वे नीति पर औपचारिक रूप से नहीं प्रत्युत प्रधान-मंत्री के अंतरंगों के नाते अनौपचारिक रूप से विचार करते हैं। वे व्यापक विचार-विनिमय के लिए पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। वे उसे ऐसी एकता और सामर्थ्य प्रदान करते हैं जिसे उनके व्यक्तिगत सम्बन्धों के अलावा अन्य किसी रीति से प्राप्त करना काफी कठिन होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि मंत्रि-मंडल को सुचारु रूप से कार्य करना है तो इस प्रकार के वर्ग समूह का अस्तित्व आवश्यक है। श्री लॉयड जार्ज ने लिखा है 'प्रत्येक सरकार में ऐसे चार-पांच महत्त्वपूर्ण व्यक्ति अवश्य होते हैं जो अपनी असाधारण प्रतिभा अनुभव और व्यक्तित्व से उस आभ्यन्तरिक परिषद् का निर्माण करते हैं जो कि मंत्रालय की नीति का निर्देश देती है। यदि किसी प्रशासन के पास ऐसा वर्ग-समूह नहीं है तो वह शांति-काल में तो शायद बिना किसी बाधा के अपना काम चला ले जाये लेकिन संकट काल में वह कुछ भी न कर सकेगा।" सचाई यह है कि अधिकांश परिस्थितियों में इस प्रकार का वर्ग-समूह ही मंत्रों को मिलता नहीं प्रत्युत सोचता है और उसके कारण ही महत्त्वपूर्ण निर्णय अचानक कर लिए जाते हैं व यह विश्वास बना रहता है कि पूरे मंत्रि-मंडल की सहमति बाद में प्राप्त कर ली जायेगी। १९२९ में श्रमिक सरकार में एकता बने रहने का कारण शायद यही था कि प्रधान-मंत्री अपने मुख्य साथियों से प्रति सप्ताह ही मंत्रिमंडल के अलावा विभिन्न विषयों पर बातचीत करते रहते थे।

१९१७ के पश्चात् से मंत्रि-मंडल सचिवालय की स्थापना द्वारा मंत्रि-मंडल का कार्य काफी सुगम हो गया है। इसका श्रेय श्री लॉयड जार्ज को प्राप्त है। इसके सृजन के पूर्व न तो मंत्रिमंडल के कोई विवरण-पत्रक ही होते थे और न यह जानने का कोई उपाय था कि क्या निर्णय कर लिए गए हैं और यदि वे कर लिए गए हैं तो क्या उन पर आचरण भी हुआ है। मंत्रि-मंडल सचिवालय ने गोपनीयता और अनौपचारिकता की परम्परा को समाप्त कर दिया है। वे सब प्रलेख जिन्हें कोई मंत्री वितरित कराना चाहता है उसके पास पहुँचते हैं। सचिवालय इस बात का प्रबन्ध करता है कि प्रधान मंत्री की स्वीकृति होने पर तथा वित्त-मंत्री को सूचित करने के उपरान्त प्रत्येक बैठक की उपयुक्त कार्यावलि तय्यार हो। सचिवालय का प्रधान मंत्रि-मंडल के निर्णयों का विवरण लेने के लिए उसकी प्रत्येक बैठक में उपस्थित रहता है। वह इन निर्णयों को सम्बद्ध विभागों के पास भेज देता है। इस व्यवस्था के लाभ इतने स्पष्ट हैं कि उन पर

विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इसके अतिरिक्त यह नियम कि स्मृति-पत्र के वितरण तथा किसी विषय के कार्यावलि में उपस्थित होने के बीच पांच दिनों का व्यवधान अवश्य रहना चाहिए, उन अनुपचारिक मंत्रणाओं का अवसर प्रदान करता है जो प्रायः असहमति की सम्भावनाओं को दूर कर देती है। चूंकि कार्यावलि प्रधान-मंत्री के नियंत्रण में रहती है इसलिए वह ऐसे किसी प्रस्ताव पर जिसके बारे में उसे संदेह हो किसी भी मंत्री के साथ विचार-विनिमय कर सकता है। यदि वह चाहे तो मंत्रणा के प्रक्रम में अन्य साथियों को भी सम्मिलित कर सकता है।

मंत्रि-मंडल सचिवालय के बारे में किसी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता। जहां पहले अव्यवस्था रहती थी वहां अब व्यवस्था का मूल्य उस समय स्पष्ट हो जाता है जब हम यह स्मरण करते हैं कि आज मंत्रि-मंडल का कार्य पचास वर्ष पहले की अपेक्षा तीन-चार गुना अधिक हो गया है। यह समझ लिया जाना चाहिए कि सचिवालय का महत्व बहुत कुछ इसी बात पर निर्भर है कि उसका कार्य अभिकर्ता का है न कि परामर्शदाता का। यदि कहीं उसने परामर्श देना प्रारम्भ कर दिया तो वह सुचारु शासन के लिए एक संकट हो जायगा क्योंकि वह नीति का एक स्वतन्त्र तत्त्व बन कर विभागों के विवाद को और बढ़ा देगा।

दो और तत्त्व मंत्रि-मंडल के कार्य को काफी हद तक हल्का कर देते हैं। साम्राज्यिक प्रतिरक्षा-समिति (The Committee of Imperial Defence) जिसका सभापति प्रधान-मंत्री होता है मंत्रि-मंडल को केवल बड़े-बड़े सिद्धान्त छोड़कर अन्य सब बातों के विचार से मुक्त कर देता है। समिति के माध्यम से विस्तार की समस्याएँ सम्बद्ध मंत्रियों तथा उनके विशेषज्ञों द्वारा सुलझाई जा सकती हैं। सत्र के संसदीय कार्य पर निर्णय हो जाने के उपरान्त मंत्रि-मंडल की गृह-कार्य-समिति (The Home Affairs Committee of the Cabinet) विधेयकों के अधिकांश टेकनिकल ब्यौरों से निबट लेती है। पूर्वकालीन मंत्रि-मंडल इन टेकनिकल ब्यौरों से बहुत परेशान रहते थे।

मंत्रि-मंडलीय शासन का साहित्य इस विषय पर भरा पड़ा है कि इस व्यवस्था में मंत्रियों के ऊपर बहुत अधिक दबाव पड़ता है। यह कहना उचित होगा कि यह भार और उत्तरदायित्व में भेद नहीं करता। सामान्यतः मंत्रि-मंडल वर्ष में प्रायः पचास साठ बार समवेत होता है और उसकी एक बैठक लगभग दो घंटे तक चलती है। उसके सामने करीब पन्द्रह विषयों की कार्यावलि रहती है। इस कार्यावलि से सम्बद्ध स्मृति-पत्र प्रायः पचास पृष्ठों का होता है। नियम यह है कि व्यस्त राजनीतिज्ञ की सुविधा के लिए जिसके पास विस्तृत युक्तियाँ पढ़ने का समय नहीं है स्मृति-पत्र बड़ी होशियारी से सारांश तैयार कर लिया जाता है। यह निश्चित ही है कि या तो प्रमुख मंत्री प्रत्येक प्रस्ताव के तत्वों पर पहले से ही विचार कर लेते हैं या यदि वह सर्वथा नए विवादास्पद प्रश्न खड़े कर देता है, तो उसे रिपोर्ट के लिए समिति के पास भेज दिया जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि होम-मेकर प्रस्तावों को स्वीकार या अस्वीकार

करने अथवा १९२५ में खनिकों के लिए राजकीय सहायता स्वीकार कर उनकी हड़ताल को स्थगित कर देने का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। युद्ध जैसे कालों में तो इस प्रकार के निर्णय और भी अधिक लिए जाते हैं। इससे भी मंत्रि-मंडल के ऊपर काफी दबाव पड़ता है।

लेकिन मेरा विचार है कि मंत्रि-मंडल का असली कार्य यदि उसे विभागीय और संसदीय कार्यों से अलग कर लिया जाय तो अधिक नहीं रह जाता। राजनीतिक क्षेत्र के अनुभवी व्यक्ति जैसा जीवन-यापन करते हैं, उससे उन्हें सत्वर निर्णय का प्रशिक्षण मिलता है। जिस प्रकार की तत्काल आशाएं उन्हें पूरी करनी होती हैं उन्हीं के अनुसार उन्हें अपनी नीति का निर्माण करना होता है। उनके पास जो विषय-वस्तु आती है, विभाग के कर्मचारी उसका अच्छी तरह से विश्लेषण और परीक्षण कर लेते हैं। यदि उनके ऊपर दबाव पड़ता है तो इसका कारण निर्णय का महत्व होता है न कि वह विषय-वस्तु जिसके आधार पर निर्णय लिया जाता है। मंत्रि-मंडल बहुत कम असहमत होते हैं यह इस बात का प्रमाण है कि नीति की मोटी रूपरेखाओं को मंत्रिमंडल के सदस्य प्रायः मान ही लेते हैं। दबाव का कारण निर्णय करने की क्लांति या उनका विस्तार नहीं प्रत्युत यह ज्ञान है कि हमारी राजनीतिक व्यवस्था में प्रत्येक निर्णय नए विवाद का श्रीगणेश होता है तथा सदन के भीतर और बाहर के राजनीतिक संघर्ष बहुत थका देने वाले होते हैं। यह बिल्कुल सच है कि ४ अगस्त १९१४ या १९३६ के सिंहासन-त्याग जैसे अनुभव प्रधान-मंत्री के लिए बड़ी चिन्ता और व्यग्रता के कारण होते हैं। लेकिन यह तो वह निर्णयों की नैसर्गिक प्रकृति ही होती है कि वे अत्यधिक दबाव डालते हैं तथा मंत्रि-मंडल-प्रणाली के सम्बन्ध में यह मानने का कोई कारण नहीं है कि यह उस अनावश्यक रूप से बढ़ा देती है। मंत्रि-मंडल के कागजी काम को अधिक नहीं कहा जा सकता। मंत्रि-मंडल तथा मंत्रि-मंडल की समितियों की बैठकें भी लंदन काउंटी कौंसिल जैसी किसी बड़ी संस्था के अधिशासी प्रधान को करने वाली बैठकों से अधिक नहीं होती। मंत्रि-मंडल पर जो दबाव पड़ता है, वह उतना आन्तरिक नहीं होता जितना कि बाह्य होता है। दबाव का मूल कारण तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यही है कि मंत्रि-मंडल का जिस विषय-वस्तु से सम्पर्क रहता है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है।

यह मैं कह चुका कि मंत्रि-मंडल एक गोपनीय निकाय है और वह अपने निर्णयों के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। गोपनीयता के महत्व को सुगमता से अतिरंजित किया जा सकता है। सिद्धान्ततः उसकी तीन उपायों से रक्षा होती है। प्रिवी कौंसिलर्स की शपथ द्वारा आफीशल सिक्रेट्स एक्ट द्वारा और इस नियम द्वारा कि चूंकि मंत्रि-मंडल का निर्णय सम्राट् के प्रति परामर्श होता है अतः उसके प्रकाशन के पूर्व उस पर सम्राट् की स्वीकृति आवश्यक है। लेकिन इन सबसे महत्वपूर्ण यह है कि जिन व्यक्तियों को सामूहिक रूप से उत्तरदायी होकर जनता के सामने आना है, वे मिल-जुल कर कार्य कर सकें तथा स्वतंत्र विचार-विमर्शों के विश्वासों को अक्षत रख सकें। यदि कभी मंत्रि-मंडल में ऐसा गम्भीर मतभेद हो जाये कि एक

या दो मंत्रियों को त्याग-पत्र देना पड़े तो इस पर कामन-सभा में सदैव वाद-विवाद होता है और इस वाद-विवाद में मंत्रि-मण्डल के बहुत से रहस्य प्रकट हो जाते हैं। १९२१ में श्री मॉन्टेग्यू के त्याग-पत्र और १९३१ में श्रमिक सरकार के त्याग-पत्र के पश्चात् यही हुआ था। मंत्रियों और भूतपूर्व मंत्रियों ने सभा में मंत्रि-मंडल के रहस्य प्रकट करके एक दूसरे के सम्मान कीचड़ उछाली। यही नहीं। मंत्रि-मंडल की अविश्राम बैठकें ऐसी होती हैं जिनमें कि सार्वजनिक प्रेस का भी कुछ न कुछ भाग अवश्य रहता है। मंत्री और कभी कभी प्रधान-मंत्री समाचारपत्रों का इस प्रकार की खबरें दे देते हैं जिनका उद्देश्य लोकमत को उनकी वांछित दिशा में मोड़ देना होता है। कुछ ही मंत्रि-मंडल ऐसे हुए हैं जिनके सदस्यों के किसी न किसी प्रसिद्ध पत्रकार के साथ घनिष्ट सम्बन्ध न रहे हों। पुरातन मंत्री अपने संस्मरणों को प्रकाशित कर देते हैं और यद्यपि गोपनीयता की परम्परा अभी तक कायम है लेकिन महायुद्ध जैसे हाल के समय के शायद ही कुछ ऐसे विवादास्पद विषय हों जिनके हम अवगत न हों।

*सामूहिक उत्तरदायित्व एक भिन्न विषय है। लॉर्ड सैल्सबरी ने १८७८ में यह ठीक ही लिखा था "मंत्रि-मंडल में जो कुछ होता है, उसका प्रत्येक सदस्य ही उसके लिए निरपेक्ष रूप से उत्तरदायी है। उसे बाद में यह कहने का अधिकार नहीं है कि एक विषय में तो वह सहमत हो गया था और दूसरे में उसके साथियों ने उसे समझा बुझा कर राजी किया था।"* इसलिए मंत्री के लिए यह आवश्यक है कि या तो वह मंत्रि-मंडल का निर्णय माने या त्याग-पत्र दे। यदि वह त्याग-पत्र नहीं देता तो उसके लिए यह वांछनीय है कि वह मंत्रि-मंडल के निर्णय को अपना ही निर्णय समझे चाहे मंत्रि-मंडल की बैठक में उसने उसका विरोध भी किया हो। इसका अर्थ यह है कि उसे संसद् में उस निर्णय के पक्ष में मत देना चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर संसद् में अथवा जनता के सामने उसकी प्रतिरक्षा करनी चाहिए। श्री ग्लैडस्टन का तो यह विचार था कि यदि कोई मंत्री मत-विभाजन के समय अनुपस्थित हो, तो उसकी निन्दा की जानी चाहिए। यह बात उन जूनियर मंत्रियों के लिए भी सही है जो मंत्रि-मंडल में नहीं होते। यही नहीं। मंत्री के लिए यह आवश्यक है कि वह मंत्रि-मंडल की नीति के विरुद्ध कोई भाषण न दे और यदि वह देता है तो उसे १९०३ में श्री चैम्बरलेन की भांति त्याग-पत्र देना पड़ेगा। यदि वह किसी भाषण में नीति की ऐसी घोषणा कर दे जिस पर मंत्रि-मंडल ने निर्णय न लिया हो तो उसके सामने दो विकल्प रह जाते हैं। एक विकल्प तो यह है कि उसे मंत्रि-मंडल के कुछ महत्त्वपूर्ण साथियों का समर्थन प्राप्त हो जो सम्पूर्ण मंत्रि-मंडल की स्वीकृति बाद में दिलवा दें। इसका स्पष्ट उदाहरण श्री लॉयड जार्ज का १९११ का मैन्शन हाउस भाषण है। दूसरा विकल्प यह है कि यदि बाद में मंत्रि-मंडल उसकी किसी बात को अस्वीकार कर दे तो वह त्याग-पत्र देने के लिए प्रस्तुत रहेगा। इसका स्पष्ट उदाहरण १९२० में सर जॉनसन का वह भाषण है जिसमें उन्होंने मंत्रि-मंडल से परामर्श किए बिना ही यह कह दिया था कि देश में २१ वर्ष की स्त्रियों को मतदान का अधिकार मिल जायेगा। वस्तुतः मंत्रि-मंडल का प्रायःउत्तर

एकता है और सामूहिक उत्तरदायित्व ही वह साधन है जिसके द्वारा यह एकता प्राप्त की जा सकती है। यह नियम न केवल हितकर ही है, प्रत्युत आवश्यक भी है। इसके अतिरिक्त ऐसी अन्य कोई शर्त ही नहीं है जिसके अनुसार कि मंत्रि-मंडल का टीम-वर्क चल सके। सामूहिक उत्तरदायित्व से पारस्परिक विश्वास एवं आदान प्रदान का भाव उत्पन्न होता है। यह स्पष्ट है कि यदि कोई मन्त्री किसी बदनाम विषय के उत्तरदायित्व से स्वयं को पृथक कर ले, तो मन्त्रि-मण्डल चल नहीं सकता। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि किसी मन्त्री को वैदेशिक विषयों जैसे गम्भीर विषयों पर अलग-अलग नहीं बोलना चाहिए क्योंकि इससे उसके साथी कठिनाई में पड़ सकते हैं। यह नियम कितना आवश्यक है यह १९३२ की दुष्टतापूर्ण 'असहमति-संविदा' से प्रकट हो गया था। वह स्थिति कुछ ऐसी थी कि उसमें मन्त्रि-मंडल के शासन का सम्मत आधार नष्ट हो सकता था। यदि उन असाधारण परिस्थितियों को जिनके आधार पर लार्ड हेलशाम ने वैधानिक सिद्धान्त से अपना मतभेद उचित ठहराया था पूर्व दृष्टान्त मान लिया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि सरकार के समर्थकों को ठोस व संतुष्ट करने का कोई उपाय ही नहीं रहेगा। इसका फल यह होगा कि या तो ऐसी दुर्बल और अल्पजीवी सरकारें बनेंगी जो संसदीय संस्थाओं को बदनाम कर देंगी या ऐसे संयुक्त मन्त्रि-मंडल बनेंगे जिनमें कोई सैद्धान्तिक एकता नहीं होगी। डॉ जैनिंग्स ने यह ठीक ही कहा है कि इस रास्ते से तो लोग फासीवादी राज्य तक पहुँचते हैं। इसका अर्थ तो यह हुआ कि हम व्यक्तियों के सिद्धान्तों की ओर ध्यान दिए बिना ही विश्वास की माँग करते हैं। यह विश्वास ऐसा है जिसका दल-पद्धति निषेध करती है। यही कारण है कि जब कोई तानाशाह संसदीय शासन को नष्ट करता है तो वह सबसे पहले राजनीतिक दलों का विनाश कर देता है।

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि समस्त सामान्य परिस्थितियों में सामुदायिक उत्तरदायित्व का रहस्य यह तथ्य है कि मन्त्रिमण्डल का आधार दलगत शासन है। दलगत संगठन ही मंत्रि-मंडल को प्रयोजन की एकता देता है। दलगत संगठन ही ऐसे साधन प्रस्तुत करता है जिनसे प्रयोजन की एकता कायम रहती है। दल-पद्धति के कारण ही मन्त्रि-मण्डल में ऐसे व्यक्ति रहते हैं जिनकी एक सी विचारधारा होती है, एक से उद्देश्य रहते हैं और जो एक से दृष्टिकोण से सामने आई हुई समस्याओं पर विचार करते हैं। दल-पद्धति के कारण ही मन्त्रि-मंडल के लिए ऐसी नीति का अनुसरण करना संभव होता है जिसे कि लोकसभा में बहुमत का निरन्तर समर्थन मिलता रहता है। इसी कारण डिजरैली का यह कहना ठीक था कि इंगलैंड संयुक्त मन्त्रि-मंडलों को पसन्द नहीं करता। जब कभी संयुक्त मन्त्रि-मंडल का निर्माण होता है, हमारे राजनीतिक जीवन के सामान्य सिद्धान्तों को चोट पहुँचती है। यही कारण है कि हमारे देश में संयुक्त मन्त्रि-मंडल अधिक समय तक नहीं चलता। या तो वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और इस स्थिति में राजनीति का सामान्य क्रम पुनः चालू हो जाता है। यदि १९३१ की राष्ट्रीय सरकार की तरह संयुक्त मन्त्रि-मंडल काफी समय तक चलता है तो यह स्पष्ट

हो जाता है कि या तो दलों में एकतानता आए (इस स्थिति में संयुक्त मंत्रि-मंडल समाप्त हो जाता है) या दल नष्ट हो जायेंगे। लेकिन दलों को नष्ट करना प्रति निधिक शासन को नष्ट करना है क्योंकि दल उसके जीवन के सक्रिय सिद्धान्त हैं। इस दृष्टि से मंत्रि-मंडल का सामूहिक उत्तरदायित्व हमारी संसदीय व्यवस्था के सम्पूर्ण ढाँचे का मध्य बिन्दु हो जाता है। इसको चोट पहुँचाने का अर्थ सम्पूर्ण व्यवस्था को और प्रकारान्तर से इस व्यवस्था के कामों को चोट पहुँचाना होगा।

( ४ )

मैं आगे के एक अध्याय में अपनी शासन-व्यवस्था में सम्राट् की स्थिति पर विचार करूँगा। लेकिन यहाँ पर संक्षेप में मंत्रि-मंडल और राजमुकुट के सम्बन्ध का विश्लेषण कर देना उचित होगा। सिद्धान्ततः जिस प्रकार मंत्रि-मंडल कॉमन-सभा और देश के सम्मुख एक इकाई है तथा उनके प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है उसी प्रकार सामूहिक उत्तरदायित्व ही उसका राजमुकुट के साथ सम्बन्ध निश्चित करता है। लेकिन इस सम्बन्ध के संचालन में ऐसी कुछ कठिनाइयाँ और दुरूहताएँ हैं जिनके सम्बन्ध में कतिपय निश्चित नियम हैं।

यह स्पष्ट ही है कि सम्राट् को मंत्रि-मंडल के परामर्श के अनुसार काम करना चाहिए और यदि वह ऐसा नहीं करेंगे तो मंत्रि-मंडल त्याग-पत्र दे सकता है। कॉमन-सभा में पराजित न होने पर भी मंत्रि-मंडल के त्याग-पत्र देने का अर्थ यह होगा कि उसका समर्थ में सम्राट् अन्तर्ध्वंस है। यदि सम्राट् एक बार अपना विचार रख दें और मंत्रि-मंडल उसे न माने तो सम्राट् को अवश्य झुक जाना चाहिए।

लेकिन इन दो अतियों के बीच में भी काफी गुंजायश है। सम्राट् का नीति के समस्त महत्त्वपूर्ण पहलुओं के सम्बन्ध में प्रधान-मंत्री से निरन्तर सम्पर्क बना रहता है। वह अन्यान्य मंत्रियों से भी निरन्तर मिलते ही रहते हैं। मंत्रि-मंडल की समस्त कार्यवाहियाँ तथा प्रमुख सरकारी प्रलेख भी उनके पास रहते हैं। जिन प्रस्तावों पर मंत्रि-मंडल निर्णय लेता है उनका उन्हें पहले से ही ज्ञान रहता है। उन्हें उन पर टिप्पणी देने का तथा निर्णय के पूर्व मंत्रि-मंडल को अपने विचारों की पूरी जानकारी देने का अधिकार है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि सम्राट् चाहें तो शासन के प्रश्न में महत्त्वपूर्ण भाग ले सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि उनका यह प्रभाव बहुत कुछ उनकी बुद्धि तथा चरित्र पर निर्भर रहेगा। एडवर्ड सप्तम जैसे दीर्घसूत्री सम्राट् महारानी विक्टोरिया जैसी परिश्रमी साम्राज्ञी की अपेक्षा बहुत कम प्रभाव रख सकेंगे। लेकिन प्रलेखों से यह स्पष्ट है कि जार्ज चतुर्थ जैसे खराब सम्राट् और उनके उत्तराधिकारी जैसे मूर्ख सम्राट् भी मंत्रि-मंडल के शासन-क्रम में कुछ न कुछ प्रभाव तो रखते ही हैं।

मी ग्लैडस्टन का विचार था कि प्रधान-मंत्री को मंत्रि-मंडल के विचार-भेद की सम्राट् को सूचना नहीं देनी चाहिए। उनके विचार से प्रधान-मंत्री के लिए यह आवश्यक है कि वह मंत्रि-मंडल के प्रभाव को कम न करे, उसमें फूट न आने

तथा अपने साथियों को सम्राट् की दृष्टि में नीचा न गिराए। यदि वह इन नियमों के पालन से तनिक भी डगमगाता है या अपने महान् अवसरों का अपना प्रभाव बढ़ाने में या ऐसे कार्यों को करने में जिनसे उसके साथी सहमत न हों प्रयोग करता है तो यदि वह उन्हें अपदस्थ करने के लिए तय्यार नहीं है तो न केवल नियम ही भंग करता है प्रत्युत विश्वासघात तथा नीचता का भी काम करता है। यद्यपि श्री ग्लैडस्टन का यह कहना सही है लेकिन शायद उनके सिद्धान्त के प्रतिकूल ही पाता है। लॉर्ड मेलबोर्न लॉर्ड रसेल डिजरैली तथा सैल्सबरी महारानी विक्टोरिया को मन्त्रि-मंडल की सब बातें बता देते थे। १९ ९ के मासिक प्रस्तावों के सम्बन्ध में श्री एस्क्विथ ने भी यही किया था। अन्य अवसरों में भी कुछ विशिष्ट मन्त्रियों ने सम्राट् को ऐसी सूचना दी है जो उन्हें अन्य प्रकार से नहीं मिल सकती थी। लॉर्ड ग्रेनविल और लॉर्ड रोजबरी दोनों ही इस प्रकार कार्य करते थे और कम से कम एक अवसर पर तो लॉर्ड मार्ले तक ने ऐसा किया था। अपने इन व्यक्तिगत सम्बन्धों के कारण सम्राट् कई बार मन्त्रि-मंडल में एक पक्ष के विरुद्ध दूसरे पक्ष के ऊपर अपना प्रभाव डालने में समर्थ हुए हैं। श्रमिक सरकार के शासन-काल में १९२९ में एक अवसर पर सम्राट् जार्ज पंचम् ने विदेश-मंत्री से यह कह कर कि प्रधान-मंत्री उनके विचार से सहमत हैं मन्त्रि-मंडल के सम्मुख एक प्रस्ताव न रखने की अपील की थी।

यह स्पष्ट है कि श्री ग्लैडस्टन के दृष्टिकोण से तनिक भी हटने में खतरा यह है कि शक्तिशाली विचारों का सम्राट् मन्त्रि-मंडल के अन्दर षड्यन्त्र करने लग जायेगा। मैं आगे के एक अध्याय में यह दिखाऊंगा कि षड्यन्त्र की यह सम्भावना इस तथ्य से और भी बढ़ जाती है कि प्रत्येक सम्राट् के अपने ऐसे निजी और गोपनीय परामर्शदाता होते हैं जिनके अपने व्यक्तिगत राजनीतिक सम्पर्क होते हैं। इस प्रवृत्ति का एक परिणाम यह होता है कि सम्राट् विभिन्न मन्त्रियों के बीच भेद भाव करने लगते हैं। यह निश्चित है कि सम्राट् की विचार-क्रिया का ज्ञान मन्त्रि-मंडल के विशेषकर उस मन्त्रि-मंडल के जिसकी एकता संकटापन्न हो जाये को कठिन कर देता है। यहाँ यह अप्रासंगिक है कि सम्राट् का विचार सही हो सकता है। यहाँ मुख्य विषय यह है कि जैसे ही वह अपने विचार का समर्थक एक मत पा लेता है वह उस तटस्थता को तिलांजलि दे देता है जो उसकी स्थिति का सार है। मन्त्रि-मंडल के अन्दर षड्यन्त्र करने के बाद विरोधी दल के साथ षड्यन्त्र करना दूसरा कदम है। मैं आगे यह दिखाऊंगा कि महारानी विक्टोरिया यह कदम उठाते नहीं हिचकिचाईं थीं।

सम्राट् न केवल मन्त्रि-मंडल के प्रस्तावों की टीका ही कर सकते हैं, वे उसके सम्मुख विचार के लिए प्रश्न भी खड़े कर सकते हैं। उन्हें यह भी अधिकार है कि किसी विधेयक अथवा सार्वजनिक जाँच-पड़ताल की घोषणा के पूर्व उनकी राय ले ली जाये। महारानी विक्टोरिया इससे भी आगे बढ़ गईं थीं और (विरोधी दल के नेता लॉर्ड सैल्सबरी से परामर्श करने के उपरान्त) उन्होंने कहा था कि कोई भी मंत्री किसी भी बड़े प्रश्न पर उनसे विचार-विनिमय किए बिना नहीं बोल सकता। सम्राट् एडवर्ड सप्तम् को भी लॉर्ड चार्ल्स से इस बात की शिकायत थी कि वे लॉर्ड-सभा की बातों

बना करते हैं और स्त्री-मताधिकार के समर्थक हैं। सम्राट् का समस्त विभागों के महत्त्वपूर्ण प्रलेख देखने का और उनके ऊपर टीका करने का भी अधिकार है। एडवर्ड सप्तम् ने यह लिखा था 'सम्राट् ने मुझ यह बताने का निर्देश दिया है कि उन्हें समस्त महत्त्वपूर्ण प्रलेखों विशेषकर उन प्रलेखों को जो नीति-परिवर्तन से सम्बन्ध रखते हों देखने का अधिकार है। इस प्रकार के विषयों पर अंतिम निर्णय उन्हें प्रलेख दिखाने के उपरान्त ही किया जाना चाहिए। १९०९ में यह निश्चित हुआ था कि भारत मन्त्री की लंदन-स्थित इंडिया-कौंसिल में कुछ भारतीय सदस्य भी नियुक्त किए जाय। लॉर्ड मॉर्ले के संस्मरणों से हमें इस बात की अच्छी जानकारी मिलती है कि इस सम्बन्ध में एडवर्ड सप्तम् को राजी करने के लिए क्या-क्या प्रयत्न करने पड़े थे।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मन्त्रि-मंडल के सम्बन्ध में सम्राट् की शक्ति वास्तविक है। इसका प्रयोग सम्राट् तथा मन्त्रि-मंडल दोनों के चरित्र पर निर्भर है। डिजरैली ने सम्राट् को अपने उद्देश्य की सिद्धि का एक साधन-मात्र बना लिया था। कहने का सार यह है कि किसी भी स्थिति में सम्राट् का प्रभाव उपेक्षणीय नहीं है। दुर्बल प्रधान-मन्त्री होने पर वह खतरनाक हो सकता है मन्त्रि-मंडल की स्थिति अनिश्चित होने पर यह महत्त्वपूर्ण हो सकता है और दलों में दलों की शक्ति समान होने पर यह दूरगामी हो सकता है। यह प्रभाव उन लोगों तक पहुँच जाता है जो सत्तारूढ़ दल के विरुद्ध होते हैं। यह स्वाभाविक ही है कि इसका उन लोगों के ऊपर प्रभाव पड़ता है। हम चाहे किसी दृष्टि से देखें मंत्रि-मण्डल के सम्बन्ध में वैधानिक सम्राट् की स्थिति अत्यन्त कठिन और जटिल मान्यता है। जैसा कि मैं आगे चल कर दिखाऊँगा इसकी सफलता के कारण सम्राट् नहीं प्रत्युत मंत्री हैं।

( ९ )

श्री रैमजे म्योर ने लिखा है 'मन्त्रि-मंडल ने अधाधुंध अपने ऊपर ऐसे महान् उत्तरदायित्व के लिए हैं जिनका वह निर्वहन नहीं कर पाता जिन्हें वह संसद को नहीं उठाने देता और जो कभी पूरे नहीं किए जाते। हाँ थोड़े से दायित्व ऐसे अवश्य होते हैं जिन्हें मंत्रि-मंडल के सर्वप्रमुख के आवरण के पीछे नौकरशाही वहन कर लेती है।" उनके विचार से वे उत्तरदायित्व अधोलिखित हैं (१) "सम्पूर्ण प्रशासनिक तन्त्र का सर्वेक्षण" (२) "विभिन्न विभागों के कार्य में सामञ्जस्य लाना और विभागवाद के दोष दूर करना"। श्री म्योर के अनुसार इन उत्तरदायित्वों का मन्त्रि-मंडल के पास से संसद के पास हस्तांतरण संसदीय व्यवस्था के सुचारु संचालन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

प्रशासनिक प्रबन्ध के ऊपर मन्त्रि-मंडल का नियंत्रण इस कारण रहता है क्योंकि अधिकांश मंत्री जो विभागों के प्रधान होते हैं मन्त्रि-मंडल के सदस्य होते हैं और वे विभागीय मामलों के बारे में जो भी निर्णय करते हैं उनके पीछे मन्त्रि-मंडल की शक्ति रहती है। वे मंत्रि-मंडल के सामने ऐसा कोई भी प्रश्न ला सकते हैं जो उन के विचार से उसकी स्वीकृति लेने लायक होता है। उनसे यह आशा की जाती है कि वे मंत्रि-मंडल के सामने ऐसा कोई प्रश्न अवश्य लायेंगे जिसमें नीति-विषयक

जन्मदाता श्री रैमजे मैकडोनल्ड थे। इस निकाय का सभापति प्रधान-मंत्री था। उसके सदस्य भी निश्चित होते थे तथा उन्हें प्रधान-मंत्री चुनता था। इसका एक छोटा लेकिन स्थायी सचिवालय भी था। इसके सदस्यों में सर जोशिया स्टाम्प सर वाल्टर सिट्राइन तथा श्री बेविन जैसे प्रसिद्ध व्यापारी एवं प्रोफेसर पीगाओ तथा श्री जी डी एच कोल जैसे अर्थशास्त्री भी थे। यह दो तरह से कार्य करती थी। कुछ समस्याएँ तो पूरी समिति के पास तथा कुछ उसकी उप-समितियों के पास भेजदी जाती थीं। इन उप-समितियों के सदस्य विशेषज्ञ होते थे। इस समिति ने कई प्रतिवेदन प्रस्तुत किए तथा इसकी उप-समितियों का कुछ कार्य ऊँचे दर्जे का बताया जाता है। १९३१ के पश्चात् इसका प्रयोग बहुत कम होने लगा तथा ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि हाल के वर्षों में इसके पुनरुत्थान की कोई चेष्टा की गई हो।

मेरे विचार से यह स्पष्ट है कि आर्थिक परामर्शीय परिषद् श्री मैकडोनल्ड के प्रयोजनों की सिद्धि के लिए उपयुक्त नहीं थी। एक मिले-जुले बड़े निकाय से यह आशा करना कि वह उन विवाद-ग्रस्त साधारण प्रश्नों के ऊपर जिनके मूलाधारों तक के बारे में वह सहमत न हो कोई सर्वसम्मत निष्कर्ष निकाल सकेगा व्यर्थ ही था। अपरञ्च इस प्रकार के एक साधारण परामर्शीय निकाय को जिसका अपनी सलाहों के लिए कोई प्रशासनिक उत्तरदायित्व नहीं था उस सिविल सर्विस के ऊपर रखना जो कई विभागों में पहले से ही अपना निरूपित कार्य कर रही थी एक भूल थी। न तो परिषद् और उसकी समितियों में ही और न परिषद् एवं विभागों में ही कभी घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हुआ। वास्तव में यह एक ऐसे स्थायी राजकीय आयोग की तरह थी जिसके सदस्य सब तरह के लोग थे और इसलिए जो किन्हीं भी आधारभूत मामलों पर सहमत नहीं हो सकते थे। पुनश्च जब कभी उसे रिपोर्ट देनी होती थी वह ऐसा परामर्श देती थी जिसके लिए आवश्यक था कि मन्त्रि-मंडल के सम्मुख उपस्थित किए जाने के पूर्व उसका विभागों में प्रशासनिक दृष्टि से परीक्षण हो। यह संरक्षणात्मक शुल्क जैसी समस्या की छान-बीन के लिए जो १९३१ में महत्त्वपूर्ण हो गई थी एक आदर्श निकाय थी। यह तथ्य कि मन्त्रि-मंडल ने यह समस्या परिषद् के सामने कभी नहीं रक्खी इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि उसने हमारी प्रशासनिक पद्धति में कभी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं किया।

हाल में सर विलियम बेवरिज ने इस समस्या को एक 'आर्थिक सामान्य कर्मचारी मंडल' (Economic General Staff) के उपाय द्वारा सुलझाने का प्रयास किया है। इस उपाय को मूलतः श्री एच० डी० हेंडरसन ने सामने रक्खा था। यह कहा जाता है कि जिस प्रकार साम्राज्यीय सामान्य कर्मचारी-मंडल (Imperial General Staff) युद्ध के संकट की समस्याओं का शान्तिकाल में समाधान करता है उसी प्रकार हमें अर्थशास्त्रियों के एक ऐसे निकाय की आवश्यकता है जो सरकार के लिए उन बड़ी समस्याओं का समाधान कर सके जिनका समाधान करने के लिए न तो मन्त्रि-मंडल के पास ही और न विभागीय अधिकारियों के पास ही समय होता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि आर्थिक सामान्य कर्मचारी-मंडल स्थायी अधिकारियों का एक ऐसा निकाय

है जिसके विभागीय कर्तव्य नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि यह लम्बे समय के लिए नियोजन और गवेषणा करने के लिए स्वतंत्र है। यह ठीक है कि यह एक परामर्शीय निकाय है लेकिन उसके पास इस बात का पर्याप्त अधिकार रहेगा कि वह अपनी खोजों के प्रति सरकार का ध्यान आकृष्ट कर सके। इस प्रकार हमें यह मान लेना है कि सरकार उन सब विधायक भौतिक परिवर्तनों उदाहरणार्थ जन्मार्थ (Birth rate) की गिरावट से उत्पन्न समस्याओं से परिचित हो जायेगी। इस समय न तो सरकार ही और न उसके परामर्शदाता ही इस प्रकार की समस्याओं की ओर पर्याप्त ध्यान दे पाते हैं।

ऊपर से देखने पर तो यह चीज आकर्षक मालूम पड़ती है लेकिन यह कठिनता से ही कहा जा सकता है कि उसके प्रवर्तकों ने अन्तर्ग्रस्त प्रशासनिक समस्याओं के बारे में गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। क्या इस बात का निश्चय आर्थिक सामान्य कर्मचारी-मंडल को करना है कि वह किन प्रश्नों के बारे में छान-बीन करेगा या उसे उन प्रश्नों पर विचार करना है जो मंत्रिमंडल उसके पास भेजेगा। दोनों ही स्थितियों में यह स्पष्ट है कि उसकी खोजों का मूल्य इस बात पर निर्भर रहेगा कि मंत्रि-मंडल उनकी व्यावहारिकता के सम्बन्ध में क्या दृष्टिकोण रखता है। यह कुछ तो मंत्रि-मंडल की तात्कालिक आवश्यकता और कुछ सत्तारूढ़ सरकार के राजनीतिक गठन पर निर्भर है। जब विभिन्न विभाग इस बात का परीक्षण करते हैं कि इन खोजों का स्वयं उनके ऊपर क्या प्रभाव पड़ सकता है तो उनकी व्यावहारिकता के सम्बन्ध में ज्ञान हो सकता है। उदाहरणार्थ जन्मार्थ के पतन का एक दृष्टि से तो यह अभिप्राय हो सकता है कि कम विद्यालयों और कम अध्यापकों से काम चल सकता है। एक अन्य दृष्टि से इसका अभिप्राय यह हो सकता है कि यदि प्रत्येक कक्षा में कम विद्यार्थी रहें, तो अध्यापकों की वर्तमान संख्या को बनाए रखने से काम चल सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आर्थिक सामान्य कर्मचारी-मंडल की खोजों के सम्बन्ध में निर्णय उन वित्तीय और सामाजिक विचारों के ऊपर आधारित होने चाहिएँ जिनके सम्बन्ध में आर्थिक सामान्य कर्मचारी-मंडल की राय बहुत कुछ अप्रासंगिक हो। सच तो यह है कि इस प्रकार की सामान्य खोजें सिविल सर्विस के भीतर और बाहर, राज्य के बिना किसी अर्द्ध-विभाग की सृष्टि के अर्थशास्त्री नित्य प्रति ही कर रहे हैं। हमारी समस्या ज्ञान के नए अनुसंधान की नहीं प्रत्युत इस नए ज्ञान को सरकारी कार्य के लिए उचित रूप देने की है।

यह समझना कठिन है कि सर विलियम बेवरिज ने इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की चेष्टा की है। उनकी योजना में यह कहीं नहीं बताया गया है कि आर्थिक सामान्य कर्मचारी-मंडल के उपयुक्त सरकारी विभागों के साथ कैसे सम्बन्ध होंगे। वह जो भी सिफारिश करेगी उसमें उनके भी विचार अन्तर्ग्रस्त होंगे और यह समझना कठिन है कि उसकी सिफारिशें राजकीय आयोग की सिफारिशों से किस प्रकार अधिक उपयोगी हो सकती हैं। मेरी समझ में नहीं आता है कि आर्थिक सामान्य कर्मचारी-मंडल को अपनी खोजों के प्रति ध्यान आकृष्ट

करने का अधिकार किस प्रकार मिल सकता है। यदि वह एक सामान्य सरकारी विभाग है तो उसे मंत्री के प्रति जो विभाग का प्रधान होता है, परामर्शीय ही होना चाहिए। वह उसे अपने विचारों पर कार्य करने के लिए उसी प्रकार विवश नहीं कर सकता जिस प्रकार कि अधिकारियों का कोई निकाय मंत्री को ऐसा करने के लिए विवश नहीं कर सकता। उसके सदस्यों की स्थिति ऐसी ही। यह बात सिविल सर्विस की निष्पक्षता के विचार के प्रतिकूल पड़ती है। यदि वह "स्टेट्यूटरी अनएम्प्लॉयमेंट इन्श्योरेंस कमेटी" जैसी एक संस्था होती है जिसकी स्थिति अर्द्ध स्वतंत्र हो तथा जिसे अपनी खोजों को प्रकाशित कराने का अधिकार हो तो यह स्पष्ट है कि अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करने की उसकी शक्ति कुछ तो सार्वजनिक समर्थन पर तथा कुछ सत्तारूढ़ दल के विचारों की साम्यता के ऊपर निर्भर रहेगी। उदाहरणार्थ आर्थिक सामान्य कर्मचारी-मंडल १९२५-२६ के समुवल कमीशन की भांति कोयला-उद्योग के पुनर्गठन के लिए अच्छे सुझाव दे सकता है। वह चाहे कितनी अच्छी रिपोर्ट दे इस बात की गारण्टी न तो है और न हो ही सकती है कि वर्तमान सरकार उसकी खोजें स्वीकार कर लेगी। यदि आर्थिक विशेषज्ञ किसी बात पर सर्वसम्मत हों तो उनकी गोष्ठी तक इस बात की अधिकारी नहीं हो जाती कि राज्य की प्रभुत्व-शक्ति उनके हाथों में सौंप दी जाये।

सचाई यह है कि "आर्थिक सामान्य कर्मचारी-मंडल" (Economic General Staff) की "साम्राज्यिक सामान्य कर्मचारी-मंडल" (Imperial General Staff) से तुलना नहीं की जा सकती। दूसरे विचार तथा प्रशासन के सम्बन्ध में उसकी धारणा बिल्कुल गलत है। साम्राज्यिक सामान्य कर्मचारी-मंडल अथवा 'साम्राज्यिक प्रतिरक्षा-समिति' (Imperial Defence Committee) के सामने कुछ निश्चित और यथार्थ समस्याएं होती हैं। उन्हें यह बता दिया जाता है कि हमारे विदेश नीति के ये-ये उद्देश्य हैं, *उनकी पूर्ति के लिए हमें इतने प्रतिरक्षा-बलों की आवश्यकता है* जिससे यदि कभी उनके विरुद्ध शक्तियों का गठबंधन हो तो उनकी रक्षा की जा सके तथा इन प्रतिरक्षा-बलों को सर्विसों की विभिन्न शाखाओं के बीच किस प्रकार सर्वोत्तम रीति से बांटा जा सकता है। युद्ध की समस्या के बारे में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विदेश-नीति के उद्देश्य सेना के संगठन और आकार आदि को निश्चित कर देते हैं। नौसैनिक विशेषज्ञ साम्राज्यिक उपकरणों तथा नौसेना के लिए आवश्यक अस्त्रशस्त्रों के संधारण के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालते हैं। निश्चित आकार के भीतर ही भीतर व प्रत्येक प्रकार के जहाजों की संख्या के बारे में जो वांछित फल प्राप्त कर सकें सिफारिशें करते हैं। सेना तथा वायु-बल के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। वस्तुतः यह असम्भव नहीं है कि सामान्य कर्मचारी-मंडल ने विशेषज्ञ अपनी सिफारिशों के आर्थिक निष्कर्षों के अनुमान में अधिकारयुक्त होते हैं। यह एक ऐसा प्रश्न है जो उनके प्रशिक्षण के बारे में रोचक प्रश्न खड़े कर देता है। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यदि उनकी सिफारिशें सर्वसम्मत भी हों—और जो दुर्लभ है—तो भी मंत्रि-मंडल को एक ओर उनके व्यय का मूल्यांकन करना पड़ता है और दूसरी ओर उनके सामा-

तिक व आर्थिक परिणामों पर विचार करना पड़ता है। जब तक मंत्रि-मंडल उनके बारे में कुछ निश्चित नहीं कर लेता वे सिफारिशें ही रहती हैं। यदि ऐसा न हो तो मेरा देश भी उसी प्रकार नियत्रित हो जाये जैसी कि वह जापान और जर्मनी में है।

स्पष्टत: इस प्रकार के काम में और सर विलियम बेवरिज द्वारा प्रतिपादित आर्थिक सामान्य कर्मचारी-मंडल के कार्य में बहुत कम समानता है। आर्थिक सामान्य कर्मचारी मंडल का कार्य उन प्रश्नों के बारे में जिनका व्यापक परीक्षण यदि उन्हें कार्यान्वित करना है तो विभाग करते हैं कुछ प्रारम्भिक बातें तय करना है। यदि प्रस्तावित सामान्य कर्मचारी-मंडल विस्तृत परीक्षण का प्रयास करेगा तो उस या तो बहुत से कर्मचारियों की आवश्यकता होगी या उसे विभिन्न विभागों के गुप्तवार्ता-उपविभागों के ऊपर निर्भर रहना पड़ेगा। दोनों ही स्थितियों में परिणाम समय तथा कार्य का अनावश्यक द्विगुणन होगा। सर विलियम बेवरिज के मन में जिस प्रकार की गवेषणा है, निस्सन्देह वह बहुत ऊंची कोटि की है। लेकिन वह उस प्रकार की निश्चितता नहीं है जैसी कि साम्राज्यिक प्रतिरक्षा कर्मचारी-मंडल अथवा साम्राज्यिक प्रतिरक्षा-समिति द्वारा की जाती है। वह मूर्त नहीं है वह निश्चित नहीं है वह नीति के निर्माण के लिए भूमिका-मात्र है। उसके विचार उत्तरदायित्व से विहीन होकर शून्य में बनते हैं क्योंकि कर्म उन व्यक्तियों के कार्य को जिन्हें निश्चय करने होते हैं प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट कर देता है। उसकी भूल यह है कि वह सरकारी अनुसंधान को विशुद्ध बौद्धिक तर्क-वितर्क मान लेती है। पहले कार्य के महत्व पर बल देने की आवश्यकता नहीं है। उदाहरणार्थ लिवरपूल विश्वविद्यालय ने मर्सीसाइड सम्बन्धी अपनी रिपोर्ट में लंदन स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स एंड पोलिटिकल साइंस ने लंदन के जीवन तथा श्रम-सम्बन्धी अपने सर्वेक्षण में तथा मैनचेस्टर विश्वविद्यालय ने बालकों के श्रम-सम्बन्धी परीक्षण में जो कार्य किया है वह सर्वोच्च महत्व का है और जितना ही अधिक यह किया जायेगा उतना ही विस्तृत उस ज्ञान का आधार होगा जिसके ऊपर नीति निर्मित होती है। लेकिन इस सारे कार्य का सार यह है कि वह नीति की भूमिका है स्वयं नीति नहीं। ऐसी रिपोर्टों को पाने वाली सरकार के पास इस प्रकार की सामग्री रहती है जिसके आधार पर कि कार्य किया जा सके। उसे इस सामग्री की ऐसी अन्य व्यावहारिक बातों से भी संगति बैठानी पड़ती है जिन पर बौद्धिक शोधक विचार नहीं करते हैं क्योंकि उन्हें ऐसा करने की आवश्यकता ही नहीं है। लेकिन ये बातें ही सरकारी नीति के निर्धारण में महत्वपूर्ण होती हैं।

एक छोटा सा उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देगा। साम्राज्यिक सामान्य कर्मचारी-मंडल सेना की भरती में कमी देखते हुए चिंतित हो सकता है। वह अपनी चिंता उपयुक्त माध्यमों से मंत्रि-मंडल के सामने व्यक्त करता है और व्यक्तियों की भरती बढ़ाने के संभव उपायों पर प्रकाश डालता है। वह अनिवार्य भरती का सुझाव दे सकता है वह रंगरूटों के लिए सेवा की अच्छी शर्तों का सुझाव दे सकता है वह प्रादेशिक सेना में अनिवार्य भरती का सुझाव दे सकता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि इन समस्त सुझावों के बाद भी मंत्रि-मंडल के लिए यह विचार करना रह जाता है

कि इन सुझावों को कार्यान्वित करने के सामाजिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक परिणाम क्या होंगे। मंत्रि-मंडल का कार्य केवल यह नहीं है कि वह विशेषज्ञों की कोई रिपोर्ट ले ले और उस पर तुरन्त हाँ या न कर दे। पहले तो उसे उन आधारों के बारे में जिनके ऊपर निष्कर्ष निर्भर होते हैं कुछ निश्चय करना होता है फिर उसे उनके परिणामों पर अपनी राजनीतिक नीति के प्रकाश में विचार करना होता है और तदनन्तर जहाँ तक उससे हो सकता है उसे इस बात का निश्चय करना होता है कि प्रस्तावित निष्कर्षों द्वारा इस प्रकार निर्मित उसकी नीति का लोकमत के ऊपर क्या प्रभाव पड़ेगा। पुनश्च यह भी हो सकता है कि सभी विशेषज्ञों की राय एक ही न हो। श्री जे० ए० स्पेण्डर ने लिखा है "युद्ध के दौरान में मंत्रियों के सामने यह कठिनाई रहती थी कि वे विभिन्न विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी सैनिक योजनाओं के बीच में किसको स्वीकार करें और स्वीकृत योजना का मित्र-राष्ट्रों की नीति के साथ किस प्रकार सामञ्जस्य स्थापित करें। प्रत्येक सैनिक योजना के पीछे उच्च कोटि की विशेषज्ञ-सत्ता रहती थी। मंत्रि-मंडल में चाहे जिस प्रकार के परिवर्तन हों यह नहीं माना जा सकता था कि वे सक्रिय और प्रमुख व्यक्ति जो परिणामों का उत्तरदायित्व स्वीकार करते हैं, स्वयं के दर्शक-मात्र ही रहेंगे या अपने कुछ विचारों को व्यक्त करने में रह जायेंगे।

कहने का सार यह है कि सर विलियम बेवरिज बर्क की इस प्रसिद्ध उक्ति का महत्व भूल गए हैं 'राजनीति की आधार-रेखाएँ गणित की आदर्श रेखाओं की भाँति नहीं होतीं। वे लम्बी होने के साथ साथ चौड़ी और गहरी भी होती हैं।' फलतः उनसे विचार तथा प्रशासन के सम्बन्ध को समझने में गलती हो गई है। राजनीति के क्षेत्र में ऐसे कोई तथ्य नहीं होते जो निश्चिततः किन्हीं अटल निष्कर्षों की ओर संकेत करते हों। उनमें सदैव ही ऐसे 'यदि' और 'परन्तु' अवश्य रहते हैं जिनकी बाहर से पूर्ति करनी होती है ताकि उनका मूल्यांकन हो सके। आर्थिक सामान्य कर्मचारी मंडल उसी सीमा तक मूल्यवान् हो सकता है जिस सीमा तक कि वह इस प्रकार के 'यदि' और 'परन्तु' का सुचारु रूप से विवेचन और मूल्यांकन करे। लेकिन वह यह सुचारु रूप से तभी कर सकता है जब कि उसमें ऐसे व्यक्ति हों जो कि इस विवेचन और मूल्यांकन के लिए उत्तरदायी हों। फलतः उसमें उन मंत्रियों तथा विभागीय प्रधानों को रखना पड़ेगा जो प्राप्त होने वाले तथ्यों के आधार पर निर्णय करें। जिस प्रकार युद्ध में राजनीति के सिद्धान्तों को उन हथकंडों से भिन्न नहीं किया जा सकता जो उन्हें बल देते हैं ठीक इसी प्रकार शासन के प्रबन्ध में विचार को कर्म के उत्तरदायित्व से पृथक नहीं किया जा सकता।

आर्थिक सामान्य कर्मचारी-मंडल की कल्पना के मूल में न्यायमूर्ति होम्स के अनुसार 'दो प्रमुख अस्पष्ट विचार' हैं। सर विलियम बेवरिज ने इन दोनों में से किसी का भी ठीक से परीक्षण नहीं किया है। पहला विचार तो यह है कि ऐसा कुछ विशेष ज्ञान है जिसे राजनीतिक उपयोग के लिए प्राप्य होना चाहिए। दूसरा विचार यह है कि राजनीतिज्ञ इस विशेष ज्ञान का महत्व उस समय तक नहीं समझ

सकता जब तक कि उसका अर्थ एक विशेष प्रकार के शोधक द्वारा उसके सामने इस प्रकार स्पष्ट न किया जाये जिससे कि वह उसके निष्कर्षों को टाल न सके। पर विलियम बेवरिज की दृष्टि में वह शोधक ऐसे वस्तुपरक सत्य पा लेता है जिनकी वैधता पक्षों के ज्ञान की मान्यता के आशय में कर्म के लिए बाध्य करती है। इनमें से कोई भी विचार सचिव अर्थ-सचिवों से अधिक नहीं है। सामाजिक क्षेत्र का ज्ञान प्राकृतिक क्षेत्र के ज्ञान से बिल्कुल भिन्न होता है। उदाहरणार्थ जनसंख्या सम्बन्धी नीति के निर्धारण में हम जिन बातों का ध्यान रखते हैं वे उन सिद्धान्तों से भिन्न होती हैं जो पुल के फौलादी शहतीर के गरदन के सम्बन्ध में प्रयुक्त होते हैं। सामाजिक ज्ञान के क्षेत्र में विशेषज्ञता हमें बहुत दूर तक नहीं ले जाती। उसका अर्थ तो विशेषज्ञता की प्राप्ति की अपेक्षा हृदय और मस्तिष्क के उस गुण द्वारा कहीं अधिक समझा जाता है जिसे मैं विवेक कहता हूँ। यही कारण है कि लार्ड हाल्डेन एक महान् युद्ध-मन्त्री थे और लार्ड किचनर नहीं थे। लार्ड हाल्डेन में विवेक का अनिर्वचनीय गुण था। लार्ड किचनर इससे वंचित थे। सामाजिक ज्ञान के वस्तुपरक सत्य भी नीति के निर्धारण में हमारी अधिक सहायता नहीं करते। वे कुछ सिद्धांतों पर आधारित होते हैं और उन सिद्धांतों की चहारदीवारी में ही उनका विकास किया जाता है। उनकी वैधता उन सिद्धान्तों के समान ही होती है उनसे अधिक नहीं जिसके ऊपर कि वे आधारित रहते हैं। जनसंख्या की समस्याओं का अध्येता यह दिखा सकता है कि यदि इंग्लैण्ड में यही स्थिति कायम रही तो एक शताब्दी के पश्चात् देश की जनसंख्या आधी रह जायेगी। लेकिन यह गणना इस कल्पना पर आधारित है कि वर्तमान परिस्थितियाँ कायम रहेंगी। स्पष्ट है कि यह मानने का कोई कारण नहीं है कि ये परिस्थितियाँ कायम रहेंगी।

यहाँ मेरे कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि सामाजिक जीवन के परिणामों को मन्त्रि-मण्डल के सामने लाना महत्वहीन है। निश्चयतः यह महत्वपूर्ण है। जितना ही अधिक अर्थ-मन्त्री को श्री कीन्स के नवीन विचारों का या स्वास्थ्य-मन्त्री को डा० कुक्वीस्की की खोजों का ज्ञान होगा उतना ही अधिक वे लोग इस बात का प्रयास करेंगे कि नीति का निर्धारण उनके निष्कर्षों पर विचार कर लेने के उपरान्त हो। इस स्थिति का समर्थन करना एक बात है और यह कहना कि यह प्रयोजन सर विलियम बेवरिज द्वारा प्रतिपादित संस्था द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, दूसरी बात है। सर विलियम बेवेरिज द्वारा प्रतिपादित संस्था इसलिए अनुपयुक्त है क्योंकि वह उत्तरदायित्व की भावना से वंचित है। यदि वह जिन समस्याओं पर विचार करना चाहे उन पर स्वतंत्रतापूर्वक निर्णय करे तो यह निश्चित है कि यदि वे समस्याएँ तात्कालिक महत्व की नहीं हुईं तो वह स्वयं को मुख्य प्रयोजन से विच्छिन्न कर लेगी। यदि ये समस्याएँ महत्व की हुईं तो भी वह अपनी उत्तरदायित्वहीनता के कारण पहले से ही वर्तमान शोध-संस्थाओं की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण मानी जायेगी। यदि वह मन्त्रि-मण्डल द्वारा दी गई समस्याओं पर अनुसंधान करती है तो उसे कारगर होने के लिए विभागों के साथ और विभागों के माध्यम से काम करना पड़ेगा। उन

समय उसे पता चलेगा कि यदि वह अपनी बात को उचित वजन दिलाना चाहती है तो उसके लिए आवश्यक है कि वह विभागों के कर्मचारियों को अपने पास रक्खे। यह स्मरणीय है कि जहाँ एक बार अधिकारियों ने इस प्रकार की संस्था में अपना घर जमाए, वह भी अपनी एक ऐसी नीति का विकास कर लेगी जो अपने दायरे से बाहर की भिन्न रायों को तुलना तक पसन्द न करें। जिस प्रकार युद्धोत्तर वर्षों में इंगलैण्ड का अर्थ-विभाग भी कौंसिल वार्ड द्वारा प्रतिपादित सार्वजनिक कार्यों की बड़ी बड़ी योजनाओं के विरुद्ध रहा है ठीक इसी प्रकार आर्थिक सामान्य कर्मचारी-मण्डल यदि वह सरकारी विभाग की भाँति संगठित किया गया स्वयं अपने "वाद" विकसित कर लेगा तथा उन दूसरे "वादों" के विरुद्ध हो जायेगा जो उसके अपने दृष्टिकोण से भिन्न होंगे। इस दृष्टि से जितना प्रसिद्ध उसका कर्मचारी-मण्डल होगा उतनी ही अधिक कठिनाई वह उन नूतन विचारों के लिए खड़ी कर देगी जो मन्त्रि-मण्डल के पास पहुँचने चाहिए क्योंकि नए सिद्धान्तों का दमन करने के लिए अपने प्राधिकार का प्रयोग करने का उसका प्रलोभन अधिक होगा। दूसरी ओर, यदि वह अपने विचारों को मन्त्रि-मण्डल के सामने रखने के लिए स्वतन्त्र नहीं होगी तो उसकी स्थिति वैसी ही हो जायेगी जैसी कि प्रतिरक्षा-मन्त्रालय में है जहाँ मन्त्रि-मण्डल को विशेषज्ञों के विरोधी विचारों के बीच चुनाव करना होता है। स्पष्ट है कि वह कोई नवीनता नहीं होगी। लेकिन यह समझना कठिन है कि इसके परिणाम वही हैं जो कि आर्थिक सामान्य कर्मचारी-मण्डल के समर्थकों के मन में हैं।

सचाई यह है कि विचारों का नीति से सम्बन्ध उससे कहीं भिन्न और अधिक जटिल है जैसा कि सर विलियम बेवरिज न समझा मालूम पड़ता है। सामाजिक एवं नीति के क्षेत्र में नए सिद्धान्त उस प्रकार सफल नहीं होते जिस प्रकार वे प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में होते हैं। उदाहरणार्थ यदि श्री आईंस्टीन कोई खोज करते हैं तो उसका अपना तात्कालिक महत्व ही कुछ ऐसा होता है कि अन्यान्य भौतिक शास्त्री उस पर विचार करने के लिए तुरन्त तत्पर हो जाते हैं। श्री एडम स्मिथ की किसी पुस्तक या श्री कीन्स के बजट सम्बन्धी सिद्धान्त की बात दूसरी है। उसे राजनीतिक महत्व प्राप्त करने के पूर्व एक भिन्न दुनिया से होकर गुजरना पड़ता है। आईंस्टीन के सिद्धान्त की बात भी वस्तुजगत के व्यवहार को समझने का एक प्रयास है लेकिन आईंस्टीन के सिद्धान्त के प्रतिकूल सरकार द्वारा उसकी स्वीकारोक्ति के लिए यह आवश्यक है कि सरकार उसमें अपनी नीति के अनुकूल परिवर्तन कर सके। इस प्रकार के विचारों को स्वीकार करते समय जिन बातों का ध्यान रखा जाता है वे उन बातों से भिन्न होती हैं जो प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में लागू होती हैं। संसदीय पद्धति में सरकार ऐसी तानाशाह नहीं होती या अपने आदेशों को लोकमत की ओर रत्तीभर भी ध्यान दिए बिना कार्यान्वित करने के लिए तत्पर हो जाये। उसे अपने प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के लिए समर्थन प्राप्त करना पड़ता है। उसे यह समझना पड़ता है कि यदि उसे वह समर्थन प्राप्त करना है तो उसे अपने दल की आकांक्षा को पूरा करना पड़ेगा। उसके लिए महत्वपूर्ण मामलों के सम्बन्ध में यह कहना कि दल की आकांक्षाएँ पूरी नहीं होंगी

बड़ी कठिन बात है। सरकार के सामने दो ही विकल्प रहते हैं। या तो वह अपने समर्थकों को अपने विचारों के अनुकूल बनाए या वह अन्तर्ग्रस्त समस्या को त्याग दे। यदि समस्या तात्कालिक महत्त्व की है तो उसके विवेचन से विरोधियों को यह दावा करने का अवसर मिल जायेगा कि सरकार का इस समस्या के समाधान में असफल होना इस बात का प्रमाण है कि सरकार अपने पद के अयोग्य है। इस दावे के फलस्वरूप ऐसा सार्वजनिक विचार-विमर्श उठ खड़ा होगा जो विवाद ग्रस्त प्रश्न को इस महत्त्व का बना देगा जहाँ विचार नीति का रूप धारण कर लेता है। सामाजिक संगठन के समस्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के सम्बन्ध में चाहे वे शुल्क या चकार्य औद्योगिक नियमन या मद्य-निरोध की समस्याओं से सम्बन्ध रखते हों यही हुआ है। उनका अवतरण जिस प्रकार का विचार-मंडल उत्पन्न कर देता है वह ऐसा होना चाहिए जो सरकार के ऊपर इसके पूर्व कि वह उनकी कटु वास्तविकता के बारे में विलियम जेम्स के अनुसार "तीव्र भाव" रखे, निर्णय की आवश्यकता आरोपित कर दे।

यह स्मरण रखना सबसे अधिक आवश्यक है कि सामाजिक नीति का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जिसमें विशेषज्ञों के पास ऐसे कुछ गोपनीय सत्य हों जिन्हें राजनीतिज्ञ न समझ पाते हों या यदि समझ भी पाते हों तो दलगत हितों की आवश्यकताओं के कारण दबा देते हों। अधिकांश विशेषज्ञों का विचार है कि उनके पास हमारे सामाजिक रोगों के ऐसे उपचार होते हैं जिन्हें सामाजिक सरकार ठीक से नहीं समझ पाती। उनमें से अधिकांश यह सोचते हैं कि यदि वे उन्हें मन्त्रि-मंडल की दृष्टि में ला सकें या यदि वे स्वयं ही मंत्री होकर उनका उपयोग कर सकें तो संसार की दशा काफी सुधर जाये। वस्तुतः ऐसा कोई गोपनीय सत्य नहीं है और वह विशेषज्ञ जो इस बात का आग्रह करता है कि सरकार को "विचार" की सहायता की आवश्यकता है सामान्यतः यह मानता है कि राजनीतिज्ञ विचारों को उतना महत्त्व नहीं देते जितना कि वह उन्हें देता है। लेकिन जहाँ वह यह निर्णय करता है, वह विशेषज्ञ नहीं रहता। उस समय वह विचारों के मूल्य का एक अनुक्रम तय्यार करने लगता है तथा यह एक ऐसा मामला है जिसमें विशेषज्ञता नहीं प्रत्युत विवेक अधिक काम आता है। हमारे सब तीव्र शासन का यह मुख्य तत्त्व है कि विचारों के मूल्य के इस अनुक्रम का उत्तरदायित्व मन्त्रि-मंडल के पास रहे। इसका विकल्प इस शासन-व्यवस्था को नष्ट कर देगा क्योंकि यह अंततोगत्वा कार्य का उत्तरदायित्व उस स्थल पर रख देगा जहाँ कि वह संसद् तथा निर्वाचक-मण्डल द्वारा नियंत्रित न हो सकेगा। इसका अंतिम परिणाम "अधिनायकवाद" होता है चाहे वह कितना ही प्रबुद्ध क्यों न हो। क्योंकि उसका आधार यह धारणा है कि लोकमत चाहे कुछ भी हो उसे उनकी भलाई के लिए विशेषज्ञ के निश्चय को स्वीकार करना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस विचार के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है लेकिन यह विचार उन परम्पराओं के प्रतिकूल है जिनके ऊपर इस देश की शासन-पद्धति निर्भर है।

1 मेरा अपना विचार है कि मन्त्रि-मंडल के संचालन की इन आलोचनाओं में जो

कुछ सम्भाव्य है उसे इन विकल्पों में से किसी की अपेक्षा जिनका हम परीक्षण कर चुके हैं "कमेटी ऑन सिविल रिसर्च" जैसी किसी युक्ति द्वारा अधिक आसानी से ठीक किया जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार के प्रयोग का मूल्य प्रधान मंत्री की इच्छा तथा समिति के ऊपर निर्भर है। लेकिन यह बात अन्य दोनों प्रयोगों के ऊपर भी तो लागू होती है। उसके समिति के सभापति होने से इस बात का आश्वासन रहता है कि यदि वह समिति की जाँचों से प्रभावित हो जाये तो मंत्रि-मंडल उसके परिणाम पर उचित रीति से विचार कर लेगा। प्रधान-मंत्री के सभापतित्व से दो महत्त्वपूर्ण बातों की गारंटी रहती है। पहली बात तो यह है कि समिति साधारणतः उन्हीं समस्याओं पर विचार करती है जिनका नीति से सीधा सम्बन्ध होता है। दूसरी बात यह है कि बाहर के विशेषज्ञों के अलावा जिन लोगों को मंत्रणा के लिए आमंत्रित किया जाता है वे ही अपने मंत्रियों की अधीनता में रहते हुए समिति के निष्कर्षों को कार्यान्वित करने के लिए उत्तरदायी होते हैं। १९२९ में लॉर्ड बैल्फर ने जो प्रस्ताव उपस्थित किया था वह प्रशासनिक दृष्टि से अब तक प्रस्तुत किए गए अन्य समस्त प्रस्तावों से अच्छा था। *लार्ड बैल्फर द्वारा प्रस्तावित समिति ऐसे* किसी संकट से मुक्त होगी जो श्री मैकडोनल्ड की आर्थिक परामर्शीय समिति (Economic Advisory Council) के अन्दर है तथा उसके लिए घातक है। इसका कारण यह है कि वह परिषद् तो एक ऐसा प्रकीर्ण सा निकाय है जो सीधी गवेषणा करने में असमर्थ है तथा यदि वह गवेषणा कर भी ले तो उसकी रचना कुछ ऐसी है कि वह उस गवेषण के मूल्यांकन के बारे में किसी समझौते पर नहीं पहुँच सकती। वह आर्थिक सामान्य कर्मचारी-मंडल की दुर्बलता से भी बची रहेगी क्योंकि वह गवेषणा तथा प्रशासन को एक दूसरे से विलग नहीं रखेगी। जिन माध्यमों से उसके परिणाम मंत्रि-मंडल के पास पहुँचेंगे वे माध्यम ऐसे हैं जो उनके तत्त्व को उचित महत्त्व दे सकते हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात कहनी और आवश्यक है। इस प्रकार की संस्था अपना काम उस समय तक ठीक से नहीं कर सकती जब तक कि सरकार विभागों के भीतर और बाहर गवेषणा के प्रति उचित उदार दृष्टिकोण न रखे। आधुनिक इतिहास में सरकार का दृष्टिकोण ऐसा नहीं है। यह स्पष्ट है कि बहुत-सा महत्त्वपूर्ण कार्य विशेष कर आंकड़े एकत्रित करने का कार्य उन विधियों से नहीं हो सकता जो कि सामाजिक परीक्षण के लिए वर्तमान समय में उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ ज्ञात हुआ है कि सरकार की जीवन-मूल्य देयता बिलकुल पुरानी पड़ गई थी फिर भी उसका संशोधन करने के निश्चय में एक पीढ़ी लग गई। हमें इस क्षेत्र में "औषधीय अनुसंधान-परिषद्" (Council of Medical Research) जैसी संस्था की आवश्यकता है जो ऐसी गवेषणा-संस्थाओं को जो इस समय अर्थाभाव के कारण बड़ी-बड़ी योजनाओं को विशेष कर "लन्दन के सर्वेक्षण" जैसी योजनाओं को जिन्हें कोई अकेला व्यक्ति पूरा नहीं कर सकता अपने हाथ में नहीं ले सकतीं प्रतिवर्ष विस्तृत अनुदान दे। यदि ऐसी समिति को प्रतिवर्ष पाँच लाख पाउंड का अनुदान मिल जाये और वह "कमेटी ऑन सिविल रिसर्च" के सहयोग से पाँच या दस वर्ष कार्यक्रम के अनुसार योजनाबद्ध गवेषणा करे, तो इस

बात में कोई सन्देह नहीं है कि यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण फल प्राप्त कर लेगी तथा सरकार का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ होगी। आवास, जनसंख्या, श्रमिकों के प्रशिक्षण और कृषि के पुनर्स्थापन आदि की बहुत-सी समस्याएँ ऐसी हैं जिनके बारे में हमें बहुत कम ज्ञान है और जिनके बारे में अभी हमें और अधिक जानने की आवश्यकता है। हमारी अवहेलना का कारण यह है कि यद्यपि अन्य क्षेत्रों में राज्य का हमारे ऊपर हस्तक्षेप दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है, गवेषणा के क्षेत्र में अभी तक हम 'यदभाव्य नीति" (Laissez faire) के पुजारी हैं। हम समझते हैं कि गवेषणा तो कुछ ऐसे शौकिया लोगों का काम है जो अनासक्त भाव से ज्ञान के अनुसंधान में रत होते हैं। हम उसे राज्य के कार्यक्षेत्र का एक अभिन्न अंग नहीं मानते। कुछ अंश तक यह भी सही है कि हमारे दोषकों में बड़ी अराजकता और अव्यवस्था फैली हुई है। आज हमें इस भावना का अभाव दिखाई देता है कि यदि ज्ञान को कारगर बनाना है तो उसे सामाजिक प्रयोजनों के साथ संयुक्त करना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण यह तथ्य है कि हमारी कानूनी संस्थाओं के दायरे में ऐसा कोई निकाय नहीं है जिसका कार्य कानून के प्रचालन के परिणामों पर तथा इन परिणामों के सन्दर्भ में उसके सुधार पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना हो। इंग्लैण्ड जैसे देश में स्थानीय स्वराज्य-शासन और क्षेत्र-शासन का अभाव इस बात का अच्छी तरह से सूचक है कि हमारी आवश्यकताओं तथा उनकी पूर्ति के साधनों के बीच कितनी चौड़ी सांस्कृतिक खाई है। जब तक हम इस प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास नहीं करते जो कि विध्यात्मक राज्य के सिद्धान्त में अन्तर्हित हैं, मंत्रिमंडल प्रस्तुत समस्याओं का सफलतापूर्वक समाधान नहीं कर सकता।

( १ )

श्री रैमजे म्योर ने मंत्रि-मंडल की जो आलोचना की है, उसके दूसरे अंश में यह कहा गया है कि मंत्रि-मंडल विभागीय समन्वय स्थापित करने में तथा "विभागवाद के दोष" को दूर करने में असमर्थ है। वास्तव में यह एक आम दोषारोपण है। हमें बताया जाता है कि जब मंत्री अपने विभागों में आते हैं उन्हें उनके बारे में बहुत कम ज्ञान होता है। वे नौकरशाह-सेवकों (civil servants) द्वारा शासित होते हैं और उनके हाथों में खिलौने बन जाते हैं। फलतः नीति की मोटी रूप-रेखाओं के भीतर मंत्री वही करते हैं जो कि अधिकारी उनसे करने के लिए कहते हैं। मंत्री अपने विभाग में केवल कुछ ही वर्षों तक रहता है। वह अविशेषज्ञ होता है जब कि अधिकारी अपने अपने क्षेत्र में पारंगत होते हैं। मंत्री इस बात के लिए भी उत्सुक होता है कि वह गलतियाँ न करे और यदि वह गलतियों से बचना चाहता है तो उसके लिए अधिकारियों पर निर्भर होना आवश्यक हो जाता है। इसका परिणाम अधिकतर में यह होता है कि जिस नीति को वह स्वीकार करता है वह वास्तव में उनकी नीति होती है। सभी अर्थ-मंत्री अर्थ-विभाग के दृष्टिकोण से अनुप्राणित हो जाते हैं और सभी नौ-सेना-मंत्री नौ-सेना के विचारों को अपना लेते हैं। श्री म्योर ने लिखा है, "अधिकांश स्थितियों में मंत्री को अपने जटिल और व्यापक कार्य का कोई विशद ज्ञान नहीं होता।

उसे उन अधिकारियों से निपटना पड़ता है जो उससे कहीं अधिक योग्य होते हैं और अपना सारा समय दफ्तर की समस्याओं के शांतिपूर्ण अनुशीलन में देते हैं जबकि मंत्री या तो समाज में अपना स्थान बनाने में या प्लेटफार्म पर जोशीले भाषण देने में संलग्न होता है। य मंत्री के सामने ऐसी सर्वाधिक जटिल समस्याएँ लाते हैं जिनके बारे में वह कुछ भी नहीं जानता। वे उसके सामने अकाट्य युक्तियों तथा तथ्यों से समर्थित सुझाव रखते हैं। क्या यह स्पष्ट नहीं है कि जब तक या तो वह अपनी योग्यता के बारे में बहुत अधिक गलतफहमी न रखता हो या असाधारण प्रतिभा बुद्धि और साहस का व्यक्ति न हो (और सफल राजनीतिज्ञों में य दोनों ही कोटिया असामान्य होती हैं) वह सौ में से निन्यानवे स्थितियो में उनके विचार को स्वीकार कर लेगा तथा अंकित रेखा पर हस्ताक्षर कर देगा? संक्षेप में प्राय सर्वत्र ही 'दफ्तर' की नीति की जय होती है। उसकी शांतिपूर्वक उद्योग करने तथा चुपचाप बाधा डालने की शक्तियाँ तथा समस्त तथ्यो पर उसका अधिकार असाधारण शक्ति के व्यक्ति को छोड़कर अन्य सबके लिए अप्रतिहत होता है।"

ऊपरी तौर पर यह दृष्टिकोण विचारणीय मालूम पड़ता है। लेकिन इसके पूर्व कि मैं इस पर उस दृष्टि से विचार करूँ जिससे इस अध्याय का सम्बन्ध है एक बात कह देना उचित होगा। श्री म्योर ने नौकरशाही शक्ति के इस संकट का जो उपचार बताया है वह यह है कि मंत्रि-मंडल के ऊपर संसद् की शक्ति पुन स्थापित की जाये। लेकिन यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यदि कॉमन्स-सभा का शक्तिशाली प्रवृत्त्य-प्रक्रम (selective process) ऐसे पर्याप्त व्यक्तियों को सामने नहीं लाता जो अधिकारी-वर्ग को नियंत्रण में रखने की क्षमता रखते हों (चाहे उन्हें वह औपचारिक शक्ति मिली हो) तो सभा के शेष सदस्य जिन्हें नेतृत्व के लिए नहीं चुना गया है क्योंकि वे अपन दल को यह विश्वास नहीं दिला सके है कि उनमें ये गुण हैं इन गुणों का प्रदर्शन नहीं करेंगे। यदि श्री रैमज़ म्योर की युक्ति सच है तो इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि या तो हम ऐसी अवस्था को पार कर गए हैं जहाँ कि कोई व्यक्ति सिविल सर्विस पर नियंत्रण रख सके या उस पर नियंत्रण एसे लोग रक्खें जिनमें नियंत्रण रखने के आवश्यक गुण हों। कहने का सार यह है कि या तो मंत्रि-मंडल सिविल सर्विस के ऊपर सांगोपांग नियंत्रण रक्खे या बिल्कुल ही नियंत्रण न रक्खे।

हमारे सामने यह संकट नहीं आयेगा क्योंकि जिस रूप में श्री रैमज़ म्योर ने उसे रक्खा है, वह तथ्यों से बहुत दूर है। उनके कथन में कुछ सत्य अवश्य है। अधिकांश विभागों की अपनी एक नीति होती है जो वर्षों के अनुभव के उपरांत निसर्गत विक-सित होती है ठीक उसी प्रकार जैसे कि कलाकार अपनी शैली अभिनेता अपनी भाव-भंगिमा तथा चिकित्सक अनुकूल औषधि का निर्माण कर लेते हैं। योग्य व्यक्ति और श्री रैमज़े म्योर के विचार से अधिकांश अधिकारी योग्य व्यक्ति होते हैं। वर्षों तक एक विषय पर काम करते रहने के फलस्वरूप उसके अच्छे से अच्छे संचालन के सम्बन्ध में निसर्गत अपने कुछ विचार बना लेते हैं। साथ ही यह भी सही है कि प्रत्येक मंत्रि मंडल में एसे कुछ मंत्री अवश्य होते हैं जो या तो विशेष योग्य नहीं होते या उनके मन

में ऐसी कोई निश्चित दिशा नहीं होती जिसकी ओर वे अपनी नीति को ले जाना चाहें। दोनों प्रकार के मंत्रियों में ही यह प्रलोभन कि वे अधिकारियों के सुझाव पर निर्भर रहें बहुत अधिक होता है। जहाँ ऐसे मंत्री विभागों के प्रधान होते हैं सिविल सर्विस के अधिकारियों का प्रभाव बढ़ जाना नैसर्गिक है।

यह स्पष्ट है कि वास्तविक अन्तर्ग्रस्त प्रश्न को तनिक दूसरा रूप देना आवश्यक है। मुख्यतः इस प्रश्न के दो पहलू हैं। क्या कोई मंत्रिमंडल जो कोई नीति कार्यान्वित करना चाहता है और जिसे कॉमन्स-सभा तथा देश में आवश्यक समर्थन भी प्राप्त है वांछित नीति को संविधि-पुस्तक तक पहुँचा सकता है? दूसरे, क्या कोई मंत्री जिसने यह निश्चय कर लिया है कि उसे क्या करना है अपने विभागीय अधिकारियों के ऊपर अपना व्यक्तित्व आरोपित कर सकता है? मैं पहले दूसरे प्रश्न पर विचार करूँगा क्योंकि इसका उत्तर सरल और सीधा है। मेरे विचार से ब्रिटिश प्रशासन के इतिहास में यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यदि किसी मंत्री ने किसी काम को करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है और उसके पास संकल्प-शक्ति है, तो वह अपने अधिकारियों का नियन्ता बनने में समर्थ हुआ है। स्वयं हमारे समय में लॉर्ड हाल्डेन तथा श्री लॉयड जार्ज चर्चिल और श्री व्हीटले सर किंग्सले वुड और श्री हर्बर्ट मोरीसन आदि के बारे में यह बिल्कुल सही है। मोटे तौर पर मंत्रियों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है। कुछ तो मंत्री ऐसे होते हैं जो पद सम्हालते समय अपने मन में एक निश्चित नीति रखते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो कोई विशेष नीति नहीं रखते प्रत्युत मंत्रियों के रूप में नाम कमाना चाहते हैं। तीसरे वर्ग में वे लोग आते हैं जो स्वयं को मंत्रिमंडल में पाकर आश्चर्य चकित हो जाते हैं तथा बिना किसी साहसिकता के प्रदर्शन के जैसे-तैसे अपने दिन पूरे कर लेना चाहते हैं।

पहले वर्ग के मैंने उदाहरण दिए हैं। श्री आर्थर हेंडरसन का विदेश मंत्रित्व भी इस क्रम का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। इनमें से प्रत्येक स्थिति में ऐसा कोई प्रश्न नहीं उठा है कि मंत्री ने अपने अधिकारियों को नियंत्रित करने की चेष्टा की हो। मंत्री यह जानता था कि वह क्या पाना चाहता है और जो वह पाना चाहता है उसे किस प्रकार पा सकता है। अंतिम तीन स्थितियों में संबद्ध मंत्री को अधिकारियों की ओर से "हठ और बाधा" का जिसकी श्री म्योर चर्चा करते हैं, सामना करना पड़ा था लेकिन उसे उन पर जय पाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। लॉर्ड हाल्डेन का मामला विशेष रूप से प्रसिद्ध है। उन्होंने अपने शासन-काल (१९०६-११) में अपने अधीनस्थ युद्ध-विभाग की अस्त्रशस्त्र बदल दी। पहले यह विभाग ऐसे व्यक्तियों से भरा हुआ था जो मुख्यतः व्यावसायिक परम्परा से अनुप्राणित थे। इस प्रकार के व्यक्तियों को बदलना सबसे कठिन होता है। लेकिन लॉर्ड हाल्डेन न इन व्यक्तियों को उन नई प्रवृत्तियों के जिनके अनुसार उन्होंने विभाग का पुनर्गठन किया था अनुकूल करने में सफलता प्राप्त की। विदेश मंत्रालय का प्रधान शायद ही कभी कोई ऐसा व्यक्ति रहा हो जो उसकी पुरानी परम्पराओं से श्री हेंडरसन की भांति भिन्न हो। श्री हेंडरसन जो कुछ प्राप्त करना चाहते थे उसका अधिकांश उनके विभाग की नीति के प्रतिकूल पड़ता था।

लेकिन यह सुविदित है कि श्री हेंडरसन ने अपने पद को इतनी प्रतिष्ठापूर्वक निभाया कि वे हाल के वर्षों के और कुछ लोगों के मत से तो आधुनिक इतिहास के सर्वश्रेष्ठ विदेशमंत्री सिद्ध हुए हैं। मैंने श्री रॉबर्ट मोरन्ट को यह कहते सुना है कि किसी विभाग में श्री चर्चिल की उपस्थिति मात्र ही अधिकारियों की अन्तरात्मा को बदल देती थी। उनकी उपस्थिति से शक्ति का एक नया आभास होता था तथा यह उत्सुक भावना फैल जाती थी कि कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य करना है। श्री ब्लीटले के बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने भी स्वास्थ्य हाल के अपने संक्षिप्त कार्यकाल में विभाग को इसी प्रकार की नई उत्प्रेरणा दी थी। यदि कोई व्यक्ति डाक-विभाग में श्री किंग्सले वुड के रिकार्ड की उनके पूर्ववर्तियों के रिकार्डों से तुलना करके देखे तो वह समझ लेगा कि न तो हठ ही और न बाधा ही किसी उत्साही मंत्री को जिसने कुछ निश्चय कर लिया है, अवरुद्ध कर सकती है।

हाँ यह सच है कि इस प्रकार के मंत्री राजनीतिक क्षेत्र में दुर्लभ ही हैं। यह बात आश्चर्यजनक नहीं है क्योंकि किसी भी राजनीतिक पद्धति में इस प्रकार अद्भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति कम ही होते हैं। मैंने मंत्रियों के जिन वर्गों का उल्लेख किया है उनमें दूसरे वर्ग के मंत्री काफी मिलते हैं। इस प्रकार का मंत्री कुछ करना अवश्य चाहता है लेकिन वह इस बारे में बिल्कुल स्पष्ट नहीं होता कि वह ठीक-ठीक क्या चाहता है। यदि वह कुछ सफलता चाहता है तो यह स्पष्ट है कि उसकी नीति का अधिकांश भाग विभागीय परम्परा के अनुसार निश्चित होना चाहिए। प्रत्येक योग्य विभाग के पास ऐसे कुछ कार्यक्रम होते हैं जिन्हें वह पूरा करना चाहता है। वह यह समझता है और ठीक ही समझता है कि उसका प्रशासनिक कार्य इन कार्यक्रमों के बिना सुचारु रूप से नहीं चल सकता। अधिकारियों के लिए यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि वे अपनी इच्छा नए मंत्री के सामने प्रकट करें और नए मंत्री के लिए बिल्कुल स्वाभाविक है कि यदि वह अपनी प्रतिष्ठा चाहता है तो वह विभाग की नीति को अपनी नीति कहकर स्वीकार कर ले तथा उसे संविधि-पुस्तक तक पहुँचाने का प्रयास करे। उदाहरणार्थ यह कहा जाता है कि गृह-मन्त्रालय ने युद्धोत्तर वर्षों में क्रमानुगत मंत्रियों से "फैक्टरी-एक्ट्स" के संशोधन की प्रार्थना की है। गृह-मन्त्रालय के लिए ऐसा करना बिल्कुल सही है और यह गृह-मंत्री जो इस सुधार का महत्त्व नहीं समझ सकता यह नहीं समझ सकता कि इस सुधार से लोगों को कितना लाभ पहुँचेगा सचमुच ही बुद्धिहीन व्यक्ति है। विभाग की नीति के लिए मंत्रियों का समर्थन प्राप्त करना अधिकारियों का दायित्व है। सिविल सर्विस के अधिकारी का यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह अपने राजनीतिक प्रधान का ध्यान उन शक्तियों के अभाव की ओर दिला दे जिन्हें वह प्रशासनिक प्रक्रम के सुचारु संचालन के लिए आवश्यक समझता है। यदि वह नौकरशाही है, तो ऐसा कोई राज्य नहीं है जो उसके बिना चल सके।

इस प्रकार का मंत्री जो अधिकांशतः या पूर्णतः अपने अधिकारियों के हाथ में रहता है, प्रत्येक मंत्रि-मंडल में होता है। वह मंत्रि-मंडल में इसलिए हो सकता है क्योंकि प्रधान-मंत्री ने उसे चुना है। वह एक "प्रतिनिधिक" व्यक्ति हो सकता है क्योंकि

प्रमिक प्रधान-मंत्री किसी वृद्ध श्रमिक संघ अधिकारी को इस आधार पर चुन सकता है कि उस व्यक्ति को सरकारी मान्यता मिलनी चाहिए और मंत्रि-पद से नीचे का पद वह व्यक्ति स्वीकार नहीं करेगा। यदि अनुदारवादी सरकार सत्तारूढ़ हुई तो ऐसा व्यक्ति किसी प्रख्यात घराने का सदस्य हो सकता है और सरकार उसे मंत्रि-मंडल में स्थान देकर श्रमिक दल के प्रभाव को बढ़ा सकती है। यह स्पष्ट है कि प्रत्येक प्रधान-मंत्री एक ऐसी टीम बनाने का प्रयास करता है जो एक इकाई की तरह कार्य कर सके। यदि मंत्रि-मंडल में सभी व्यक्ति एक से हों और शक्तिशाली हों तो मंत्रि-मण्डल सुचारु रूप से कार्य नहीं कर सकता। लॉर्ड रोजबरी के १८९४ के मंत्रि-मण्डल के साथ यही कठिनाई थी। वहाँ एक बार भी ग्लैडस्टन का शक्तिशाली हाथ अलग हुआ प्रधान-मंत्री का प्राधिकार अपने पद के अनुकूल सिद्ध न हो सका। फलतः प्रधान-मंत्री की वास्तविक समस्या केवल ऐसे व्यक्तियों को प्राप्त कर लेना नहीं है जो राज्य के प्रत्येक विभाग में एक विशाल कार्यक्रम लागू करना चाहते हों। जनता की पाचन-शक्ति तथा कॉमन-सभा का काल-विभाग इसे सहन न कर सकेगा। उसे कुछ तो ऐसे साथी चाहिएँ जो बड़ी-बड़ी योजनाओं को सोच सकें और उन्हें कार्यान्वित कर सकें ताकि उसका समर्थन बना रहे तथा कुछ ऐसे साथी चाहिएँ जो अपेक्षाकृत गौण स्थिति से सन्तुष्ट हों तथा अपने विभागों को सामान्यतया सुचारु रूप से चला सकें। मंत्रि-मण्डल को उनकी महत्त्वपूर्ण देन यह होती है कि उनमें व्यवहार-बुद्धि होती है तथा वे अपने साथियों के सामने ऐसे निर्णय रख सकते हैं जो प्रकाशित होने पर लोकमत तथा विशेषकर दल के विचारों के अनुकूल सिद्ध हों। यदि किसी मंत्रि-मण्डल में आधे दर्जन ऐसे व्यक्ति न हों तो उसमें सन्तुलन का अभाव रहेगा तथा शीघ्र ही उसका ऐसे मत से सम्पर्क छिन्न जायगा जो उसके लिए आवश्यक है। असाधारण व्यक्तियों के मंत्रि-मण्डल में इस बात का सदैव खतरा रहता है कि चूंकि उसके सदस्य असाधारण हैं अतः वह जनसाधारण के विचारों को समझने में असफल हो सकते हैं। वे जनसाधारण के विचार-क्षितिज से दूर जा पड़ते हैं। चूंकि वे अपने ही विचारों में अत्यधिक मग्न रहते हैं अतः वे यह नहीं समझ पाते कि दूसरे लोग उनके बारे में क्या सोचते हैं और क्या कहते हैं। शान्ति-कालों में मध्यवर्ती पद्धति को ऐसे गौण व्यक्तियों की विशेष आवश्यकता है जिससे कि मंत्रि-मण्डल अपने निर्वाचक-वर्ग को जिसके ऊपर कि वह निर्भर है संतुष्ट रख सके तथा उसके आगे न बढ़ जाये।

ब्रिटिश मंत्रि-मण्डलों में इस प्रकार के कई उदाहरण मिलते हैं। लॉर्ड एस्थार्प श्री वाल्टर लॉग लॉर्ड क्रिमसन व मब इसके श्रेष्ठ उदाहरण थे। इनमें से किसी का नाम वे मतिशील पुरुष नहीं थे जिन्हें हम ग्लैडस्टन या डिजरैली श्री जोसेफ चाव या श्री बर्किन के साथ संयुक्त करते हैं। इनमें से प्रत्येक की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह अपनी पीढ़ी में औसत कॉमन-सभा का सर्वश्रेष्ठ रूप था। उसमें व्यवहार बुद्धि थी चतुराई थी तथा महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधिक क्षमता थी। वह जो कुछ कहता या करता था उसका अपना कोई महत्त्व नहीं था लेकिन वह अपने अधिक मतिशील

साथियों की गतिशील नीतियों के बारे में जो कुछ कहता या करता था वह बहुत कम सभा की भावना की टीकाओं के अनुसार होता था। कोई भी प्रधान-मन्त्री ऐसे व्यक्तियों की उपेक्षा नहीं कर सकता।

यह स्मर्तव्य है कि हमारे इतिहास में सबसे अधिक सफल मन्त्रि-मंडल वे हुए हैं जिनमें गतिशील व्यक्तियों तथा मौन व्यक्तियों का इस प्रकार का संतुलन रहा है। श्री ग्लैडस्टन के पास लार्ड हार्टिंगटन थे श्री डिजरैली के पास क्रास थे। युद्ध के पूर्व श्री ऐस्क्विथ लार्ड और श्री [illegible] का जोड़ उतना ही उपयोगी था जितना कि १९१७ के पश्चात् श्री लॉयड जार्ज तथा श्री बोनर लॉ का। यही कारण है कि साधारण युग में सबसे अधिक सफल प्रधान-मन्त्री वह नहीं होगा जो असाधारण प्रतिभाशाली हो जो कि सामान्य रायों का असामान्य व्यक्ति हो। बैजहॉट के समकालीन लार्ड पैल्मर्स्टन इस कथन के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। संसदीय व्यवस्था में सरकारी विभाग की नीति ऐसी नहीं होती जिसकी मौलिक रूपरेखाएँ प्रत्येक नए मन्त्री की नियुक्ति के साथ नए सिरे से बनाई जायें। उसकी आधारभूत धारणा सामान्य सिद्धान्त की अविच्छिन्नता है। फलतः ऐसे प्रत्येक विभाग में जिसमें कोई क्रान्तिकारी सुधार न करने [illegible] ऐसे मौन व्यक्तियों की ही आवश्यकता है जिनकी श्री म्योर जैसे आलोचक इतनी भर्त्सना करते हैं।

सर विलियम हारकोर्ट के एक महान् कथन का जिसकी ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है यही वास्तविक अर्थ है। उन्होंने कहा था विभागों के राजनीतिक प्रधान सिविल सर्विस को यह बताने के लिए कि जनता इसे सहन नहीं करेगी, आवश्यक हैं। साधारणतः यह वह कार्य है जिसे बाल्फूर लार्ड और बिरकैनहेड जैसे व्यक्ति बड़ी कुशलता से करते हैं। वे स्वयं विचारों के बोझ से दबे नहीं होते। लेकिन वे अपनी शिक्षा स्थिति और अनुभव से दूसरे व्यक्तियों के विचारों पर निर्णय देने और उनके बारे में आदेश देने के अभ्यस्त हो जाते हैं। सत्ता का प्रयोग उनके लिए आराम की वस्तु नहीं है। उनमें गम्भीरता और चतुरता होती है। नौकरशाही के दोष उनके ऊपर छा नहीं सकते। उन्हें कामों से निपटने का खूब अभ्यास होता है। वे यह भली भांति जानते हैं कि व्यक्ति जीवन में एक दूसरे के साथ कैसे व्यवहार करते हैं। मैं यह नहीं समझता कि उन्हें आसानी से वश में किया जा सकता है। उन्हें अधिकारियों की 'भुकुर्त' स्पष्टता का अभाव तथा अधिकारियों का आग्रह एक प्रकार की धृष्टता मालूम पड़ सकती है जिसका दमन किया जाना आवश्यक है। मैं नहीं समझता कि उस व्यक्ति ने जिसने लॉर्ड बिरकैनहेड का अधिकारियों के प्रति व्यवहार देखा हो, उन्हें सर्वश्रेष्ठ अधिकारियों के मानसिक वर्ग में समझा हो लेकिन मैं यह भी नहीं समझता कि किसी व्यक्ति को इस बात का सन्देह रहा हो कि यदि उन्होंने किसी बात को करने का निश्चय कर लिया हो तो वे यह जानते थे कि किस प्रकार अपना आदेश पालन करवाया जावे।

मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि आलोचक मंत्रि-मण्डल शासन तथा उसके परिणामों के मुख्याधारों के संबंध में ही गलत धारणा रखते हैं और इसलिए वे उसके बारे में जो भी निष्कर्ष निकालते हैं वे भ्रान्तिजन्य होते हैं। वे मान लेते हैं कि मंत्री को भी अपने

विभाग के बारे में यदि उसे उसका अच्छी तरह पालन करना है। उतना ही विशेषज्ञ होना चाहिए जितना कि वे अधिकारी होते हैं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन उस विभाग में व्यतीत किया है। यह बात ठीक नहीं है। वास्तव में सर्वश्रेष्ठ मंत्री संसार का वह बुद्धिमान व्यक्ति होता है जो अपने सम्मुख प्रस्तुत अनेकमुखी प्रश्नों के बारे में शीघ्रता से तथा समझदारी से विचार कर सकता है। उसका पहला गुण तो व्यवहार बुद्धि है और दूसरा गुण मनुष्यों को परखने की क्षमता है। उसे यह ज्ञात होना चाहिए कि किस प्रकार आदेश दिए जायें तथा उनका किस प्रकार पालन कराया जाये। राजनीतिक शक्ति के लिए जितना कठिन संघर्ष चलता है उससे हमें इस बात का विश्वास है कि अधिकांश मंत्रियों में ये गुण रहते हैं और जब कभी अवसर आता है वे स्वयं को किसी भी महान विभाग के संचालन कार्य के अनुकूल कर लेते हैं। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि प्रत्येक मंत्रि-मंडल में ऐसे गुणों से हीन व्यक्ति नहीं होते। सच तो यह है कि कुछ मंत्रि-मंडलों में वज्रमूर्ख भी पाये जाते हैं। लेकिन यह अपवाद-मात्र है। स्वर्गीय लॉर्ड बेन्टफोर्ड इसके एक उदाहरण हैं। इन व्यक्तियों में ऐसे गुण नहीं होते जिनकी ऐसे कार्यों के लिए आवश्यकता है। और तो और जब कोई नया वर्ग उदाहरणार्थ श्रमिक वर्ग ऊँचा राजनीतिक पद प्राप्त करता है उसके सदस्य भी अपने श्रमिक संघों स्थानीय परिषदों तथा बच्चों के शासन में जो इंगलैंड में वास्तविक महत्व का विषय है मूल्यवान प्रशिक्षण प्राप्त किए होते हैं।

आलोचकों की दूसरी धारणा यह मालूम पड़ती है कि इस देश में सिविल सर्विस के अधिकारी असाधारण प्रतिभा के व्यक्ति हैं, वे अपने-अपने क्षेत्रों के विशेषज्ञ हैं और अत्यधिक सत्तालोलुप हैं। उन्हें भोले-भाले राजनीतिज्ञों से व्यवहार पड़ता है ये राजनीतिज्ञ इन बातों में निपट कोरे होते हैं और सिविल सर्विस के अधिकारी उनके सामने जो प्रस्ताव रख देते हैं उन्हें आँख मूँद कर मान लेते हैं। यह कथन सचाई से बहुत दूर है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सिविल सर्विस के कुछ अधिकारी असाधारण रूप से महत्वाकांक्षी होते हैं तथा उनमें सत्ता प्राप्त करने की इच्छा इतनी बलवती होती है कि वे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में कोई कसर नहीं रखते। इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि कुछ राजनीतिज्ञ भी इतने आलसी और अयोग्य होते हैं कि वे सिविल सर्विस के अधिकारी उनके सामने जो कुछ रख देते हैं, उसे वेदवाक्य की तरह स्वीकार लेते हैं। लेकिन ये दोनों ही प्रकार के व्यक्ति अपवादस्वरूप हैं। विभागों के प्रधान जिनके साथ राजनीतिज्ञों को निबटना पड़ता है इस अर्थ में विशेषज्ञ नहीं होते जिस अर्थ में कि कोई महान् भौतिक शास्त्री महान् सर्जन या महान् चमत्कार विशेषज्ञ होता है। वे ऐसे क्षेत्र में नहीं रहते जहाँ कि साधारण व्यक्ति प्रवेश ही न कर सकता हो। उनका जीवन ऐसे प्रश्नों के व्यवस्थित ब्योरे तय्यार करने में व्यतीत होता है जिनकी मोटी रूप-रेखाएँ नित्य ही कॉमन-सभा में प्रत्येक महत्त्वपूर्ण राजनीतिज्ञ के हाथ में रहती हैं। उनका गम्भीर विस्तार की बातों में प्रवेश उनका गुण है। आवश्यकता पड़ने पर राजनीतिज्ञ इन विस्तार की बातों का बड़ी सुगमता से ज्ञान प्राप्त कर सकता है। सर्वश्रेष्ठ तुलना प्रथम कोटि के बैरिस्टर के साथ है। जिस किसी व्यक्ति ने हमारी पीढ़ी में सर

जॉन साइमन या सर स्टैफोर्ड क्रिप्स जैसे अधिवक्ताओं को देखा है जो कठिन से कठिन अभियोगों को हस्तामलकवत् हल करने में सिद्ध हैं, वह इस बात को भली प्रकार समझ सकता है कि ऐसे लोगों को सिविल सर्विस के स्मृति-पत्रों से निबटने में कोई कठिनाई नहीं होगी। शीघ्र निर्णय, गुण-दोष परखने की दृष्टि, उस प्रभाव को अनुभूत करने की योग्यता जो यह सब बाहर की दुनिया पर डालेगा क्योंकि यही दुनिया न्यायाधीश है, ये वे गुण हैं जिनकी मंत्री को अपने विभाग के संबंध में आवश्यकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन गुणों का उपयुक्त रीति से प्रदर्शन एक महान् कला है। लेकिन यह कोई ऐसा रहस्य नहीं है जिसमें साधारण जन प्रवेश नहीं कर सकता। यदि साधारण जन को भी ऐसा अनुभव मिल जाये जो उसे इसके प्रयोग के लिए शिक्षित करे, तो वह बड़ी सुगमता से इसे कर सकता है।

और हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि वह राजनीतिज्ञ जो मंत्री बन जाता है निरा अनभिज्ञ नहीं होता। मंत्री बनने के पूर्व वह कई वर्ष कॉमन-सभा में व्यतीत कर चुका है और वहाँ राजनीतिक समस्याओं की मोटी रूपरेखाओं के बारे में व्यस्त रहता है। मंत्री बनने पर उसे उनके बारे में बहुत कुछ उसी ढंग से विचार करना पड़ता है जिस ढंग से कि वह अपनी सदस्यता के काल में करता था। यह भी असंभव नहीं है कि वह विरोधी दल की अग्रिम पंक्ति का सदस्य रह चुका हो और इस समय में उसने अपने साथियों के साथ मिल कर ऐसी नीति के निर्माण का प्रयास किया हो जिसे वे मंत्रि-मंडल के निर्णयों के विकल्प के रूप में प्रस्तुत करें। वह संसद् के बाहर के उन हितों के निरन्तर सम्पर्क में रह चुका होता है जो संसद् में अपने विचारों की अभिव्यक्ति चाहते हैं विशेषकर उस समय जब कि वे सत्तारूढ़ सरकार के विरुद्ध होते हैं। सच तो यह है कि वह उन तथ्यों तथा विचारों से भली प्रकार परिचित होता है जिनके सम्बन्ध में उसे सार्वजनिक प्रयोजनों के लिए बहुत कुछ मंत्री की भाँति ही निर्णय करने होते हैं। मैं यह नहीं कह रहा कि अनुभव से उस ज्ञान की क्षतिपूर्ति हो जाती है जिसे एक व्यक्ति किसी बड़े राजनीतिक विभाग के प्रधान के नाते प्राप्त करता है। मेरे कहने का आशय यह है कि जब राजनीतिज्ञ मंत्री बन जाता है, प्रशासनिक मामलों में वह अच्छी तरह से अनुभवी होता है और ये मामले उसके लिए निर्णय की ऐसी पद्धति का निर्माण कर देते हैं जो तुलनात्मक दृष्टि से उसी प्रकार की होती है जिसकी उसे मंत्रि-मंडल का सदस्य बनने पर आवश्यकता होगी।

यहाँ एक बात कह देना और आवश्यक मालूम पड़ता है। मंत्रि-मंडलीय पद्धति के आलोचकों ने यह मान लिया जान पड़ता है कि कॉमन-सभा में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है उनमें तथा राज्य के किसी विभाग को सुचारु रूप से चलाने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है उनमें बहुत कम सम्बन्ध है। श्री रैमजे म्योर ने लिखा है "नव-नियुक्त मंत्री ने अपने इस पद को राजनीति के सामान्य क्षेत्र में अपनी सफलताओं के कारण प्राप्त किया है इस कारण प्राप्त किया है क्योंकि वह अच्छा प्रचारक है या अच्छा दलबंदीय नेता है या प्रमुख भक्तिमय संघ अधिकारी है या समाज में उसका प्रभाव है।" हमें यह तर्क करने की आवश्यकता

नहीं है कि इनमें से कोई गुण प्रशासनिक क्षमता की गारन्टी है। लेकिन यह आग्रह करना भी समान महत्व का है कि न केवल न उसकी प्राप्ति के प्रतिकूल ही नहीं है प्रत्युत उनके लिए यह विश्वास दिलाना भी असंभव नहीं है कि उनके प्राप्तिकर्ता में प्रशासनिक क्षमता की उचित आशा की जा सकती है। एक व्यक्ति कामन-सभा में श्रेष्ठ वक्ता उस समय तक नहीं बनता जब तक कि उसके पास कुछ कहने के लिए न हो। यही नहीं। प्रभावशाली सम्पदीय वक्ता की निर्णय तथा आलोचना-शक्ति की सदैव परीक्षा होती रहती है। यह मंत्री के रूप में उसके पश्चात्वर्ती कार्य के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण तय्यारी हो जाती है। किसी महत्वपूर्ण धार्मिक संघ अधिकारी के बारे में भी यही सही है। राजनीतिक पद सम्हालने के पूर्व उसका अभिप्राय आम लोगों को समझाने-बुझाने का तथा अपनी बात को इस तरह कहने का होता है जिससे लोकमत के ऊपर सफल प्रभाव पड़ सके। व यह सफलता प्राप्त करने की अपनी योग्यता द्वारा ही रहते हैं। मुझे सन्देह है कि आलोचक यह भूल जाते हैं कि यह कला लोकतंत्रात्मक व्यवस्था के सञ्चालन के लिए आवश्यक है। यह दृष्टिकोण कि यह एक अनहता है और हमें प्रारम्भ से ही मंत्री की योग्यता पर सन्देह करना चाहिए क्योंकि वह उन परीक्षाओं में सफल निकला है जिनका राजनीतिज्ञ को सामना करना ही पड़ता है एक दृष्टिकोण है जो स्वयं लोकतन्त्र को ही नकारता है। क्योंकि इसका अर्थ तो यह हो जाता है कि वे गुण जो किसी व्यक्ति को सफल राजनीतिक नेता बनाते हैं सफल शासन के लिए अनर्हता है। मैं ऐसे किसी साक्ष्य को नहीं जानता जो इस विचार का समर्थन करता हो।

और यह तनिक ध्यान देने की बात है कि हमारा सिविल सर्विस के प्रशासनिक वर्ग विश्वास जिन बातों के ऊपर आश्रित है वे उन गुणों से बहुत भिन्न नहीं है जिनमें हम राजनीतिज्ञों को परखते हैं। हम वित्त-विभाग में व्यक्तियों का इसलिए भरते है क्योंकि उनका दृष्टिकोण व्यापक होता है इसलिए नहीं भेजते कि वे शिक्षित अर्थशास्त्री होते है। यही बात कृषि-मंत्रालय तथा शिक्षा-मंत्रालय के बारे में सही है। प्रशासकों के रूप में उनका महत्व इसलिए नहीं है कि उन्हें किसी टेकनिकल विषय का विशेष ज्ञान है प्रत्युत इसलिए है कि उनकी शिक्षा उन्हें निर्णय तथा उपक्रम के ऐसे गुण प्रदान करती है जिनके बिना कोई भी सरकार सफलतापूर्वक नहीं चल सकती। लेकिन ठीक इन्हीं गुणों की एक राजनीतिज्ञ को यदि उसे पद प्राप्त करने के संघर्ष में सफल होना है आवश्यकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसे इनका प्रयोग एक भिन्न धरातल पर करना होता है। उसे सिविल सर्विस के अधिकारियों के विचारों को उस दिशा में सम्बद्ध करना पड़ता है जिसमें वह (तथा उसका दल) देश को ले जाना चाहते हैं। सर विलियम हारकोर्ट के उस वाक्यांश का जिसको मैंने पहले उद्धृत किया था यही अर्थ है। अधिकारी के निर्णय और उपक्रम पर उसके राजनीतिक प्रधान के निर्णय और उपक्रम का अधिकार रहता है। राजनीतिक प्रधान सफल भी हो सकता है और असफल भी लेकिन हमारी शासन-पद्धति उसे इस बात के लिए बाध्य करती है कि वह दोनों का प्रयोग करे। वह उससे इस बात का प्रमाण मांग कर कि उसे पद प्राप्त

करने की शर्त के रूप में ये गुण प्राप्त हैं उसे इस प्रवीण की शिक्षा देती है। वह उसे भूलों के लिए दंड देती है और उससे यदि कोई बड़ी भूल हो जाये तो उसका (श्री ई. एस मांटेग्यू की भांति) सारा जीवन नष्ट हो सकता है। यह ठीक है कि राजनीतिज्ञ शायद ही महान् व्यक्ति हो। लेकिन वे जो राजनीतिक शिक्षण प्राप्त करते हैं उससे इस बात का आश्वासन मिलता है कि वे उस कार्य को अच्छी तरह से कर सकेंगे जिसे उनसे करने के लिए कहा जाता है।

मेरे कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि मैं सिविल सर्विस के अधिकारियों का प्रभाव अस्वीकार करता हूँ। मैं केवल यही कहना चाहता हूँ कि उसे उचित सदर्भ में देखना चाहिए। जहाँ यह अधिक होता है उसके ऐसा होने के कई ठोस कारण होते हैं। (१) मंत्री के सामने प्रस्तुत की गई नीति ऐसी हो सकती है जिसको कार्यान्वित करने के लिए सर्विस के व्यापक प्रभाव की आवश्यकता हो। (२) प्रस्तुत की गई नीति चाहे वह विध्यात्मक हो या निषेधात्मक ऐसी हो सकती है जिसके बारे में सम्बद्ध मंत्री या उसके अन्य साथियों का कोई विशेष दृष्टिकोण न हो। यदि वे सिविल सर्विस के अधिकारियों की युक्तियों से सन्तुष्ट हो तो वे प्रस्तुत किए गए निर्णय को बदलने का कोई कारण नहीं देखते। (३) प्रस्तुत नीति स्वीकार करली जाती है इसलिए नहीं कि मंत्री उसका हृदय से समर्थन करता है प्रत्युत इसलिए कि वह अन्य किसी विकल्प के लिए तय्यार नहीं होता। वह विकल्प बहुत अधिक व्ययसाध्य हो सकता है, वह विरोध के ऐसे संकट खड़े कर सकता है जिनके लिए वह तय्यार न हो वह उसस से अधिक समय की माग कर सकता है जिसके लिए उसके साथी असहमत हों। इसमें सबसे अधिक जिस वस्तु की आवश्यकता है वह यह है कि मंत्री को स्वयं अपने मस्तिष्क का ज्ञान होना चाहिए। जहाँ उसे एक बार अपने मस्तिष्क का ज्ञान हो जाता है वह अपने अधिकारियों को नियंत्रित कर सकता है। यदि वह अनिश्चित होता है तो या तो उसे सिविल सर्विस के अधिकारियों के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है या उसे कुछ ऐसी जानकारी एकत्रित करनी पड़ती है जिससे कि उसे कुछ ऐसे आधार मिल जायें जिनके अनुसार कि वह अधिकारियों से भिन्न निश्चय कर सके।

लेकिन ये दो बातें हो गई। इसका पहला अर्थ तो यह है कि मंत्रि-मंडल को पद ग्रहण करते समय यह ज्ञात होना चाहिए कि वह क्या करना चाहता है और उसके प्रधान-मंत्री को पदों का वितरण इस प्रकार करना चाहिए जिससे कि एसी टीम बन सके जो इस प्रयोजन को सिद्ध करने में समर्थ हो। इस सम्बन्ध में मंत्रि-मंडल की दुर्बलता का कारण यह है कि या तो मंत्रि-मंडल इस बात का दृढ़ निश्चय नहीं कर पाता कि उसे क्या करना है या जो कुछ वह करना चाहता है उसका ऐसा तीव्र विरोध होता है कि मंत्रि-मंडल को अपना विचार बदलना पड़ता है। इस प्रकार मुख्यः यह प्रश्न मंत्रि मंडल तथा ससदीय लोकतन्त्र के बलवत आधार से सम्बन्ध रखता है। यदि किसी सत्तारूढ़ दल ने यह निश्चय नहीं कर लिया है कि उसे क्या-क्या करना है तथा वह अपने इस कार्य क्रम को किन उपायों से पूरा कर सकता है तो यह बिल्कुल भी आश्चर्यजनक नहीं है कि उसके मंत्री अपने अधिकारियों के सर्वश्रेष्ठ परामर्श को मान लेंगे। या यदि १९२९ के

आधिक मंत्रि-मंडल के बहुत से मंत्रियों की भांति न यह देखें कि वे अपनी वचनबद्ध नीति को कार्यान्वित करने के बारे उत्साह से हिचकते तो यह स्वाभाविक है कि इस नीति का स्थान अधिकारियों द्वारा प्रस्तुत की गई नीति ले ले। उदाहरणार्थ यदि किसी गृह-मंत्री ने जेल सम्बन्धी सुधारों के बारे में कभी चिंतन नहीं किया है तो यह नैसर्गिक है कि जनता की ओर से उसके संचालन की कोई महत्त्वपूर्ण मांग न होने पर वह यही मान लेगा कि हमारी जेलों की पुरानी परम्पराओं को ही आगे चलाया जा सकता है।

कहने का सार यह है कि मंत्री को यह ज्ञात होना चाहिए कि वह कहाँ जाना चाहता है यदि वह सिविल सर्विस से यह आशा करता है कि वह उसके मनोरथों के साथ वहाँ जाने में सहयोग करे। और यह दूसरे विचार को जन्म देता है जिसे ध्यान में रखना आवश्यक है। मंत्री दल के निर्णय होने पर या अपनी दृढ़ व्यक्तिगत नीति होने पर उन परिवर्तनों का संकेत दे सकता है जिन्हें वह करना चाहे। यह अधिकारियों का काम है कि वे मंत्री को उन समस्त परिणामों से अवगत करा दें जो ऐसी नीति को कार्यान्वित करने से सामने आ सकते हैं। यह विचार डारह मैलीथ आयोग की रिपोर्ट में बहुत अच्छी तरह व्यक्त किया गया है। उसमें कहा गया है "अधिकारी का कर्तव्य त्याग-पत्र देना नहीं है अपितु अपने विभाग के प्रधान को तथा आवश्यकता पड़ने पर मंत्रालय के दूसरे सदस्यों को अपने विचारों से अवगत करा देना है। तब फिर यदि पर्याप्त सोच-विचार के पश्चात् इन विचारों को न माना जाये तो उसे सरकार की नीति को कार्यान्वित करने का अधिक से अधिक प्रयास करना चाहिए चाहे वह स्वयं व्यक्तिगत रूप से उस नीति से सहमत न हो। आवश्यकता से अधिक राजभक्ति विचार-स्वातन्त्र्य को नष्ट कर देती है और विभिन्न विभागों के संसदीय प्रधानों को उस स्वस्थ सहायता से वंचित कर देती है जिसकी आशा रखना उनका अधिकार है और जो कभी कभी अनुशासन के ऊपर आधारित वाली समझौते से नहीं प्रत्युत युक्तिसंगत तथा शिष्ट विरोध से अधिक मिलती है।

यदि मंत्री तथा उसके अधिकारियों में गुणात्मक बौद्धिक सहयोग होता है तो मेरा विचार है कि यह तर्क अकाट्य है और हमारी व्यवस्था के सर्वश्रेष्ठ परिणाम इस तथ्य के परिणाम रहे हैं कि योग्य मंत्री तथा सर्वश्रेष्ठ अधिकारियों के बीच इसी प्रकार का सम्बन्ध रहा है। उदाहरणार्थ स्वर्गीय सर रॉबर्ट मारन्ट तथा सर आर्थर बाबे अपने विचारों को पूरी शक्तिमत्ता से अपने राजनीतिक प्रधानों के सामने रखने में कभी नहीं हिचकिचाते थे। लेकिन इससे एक दूसरा प्रश्न भी उठ खड़ा होता है जिसका उत्तर मेरा विचार है कि आलोचकों को अपने पक्ष के समर्थन में बहुत सामग्री मिल जाती है। दो स्थितियाँ ऐसी हैं जिनमें कि मंत्री को अपने विभाग से निःसन्देह कठिनाई का सामना करना पड़ता है। पहली स्थिति उस समय सामने आती है जब कि वह किसी नवीन कार्यक्रम को विशाल पैमाने पर बड़ी शीघ्रतापूर्वक पूरा करना चाहे। दूसरी स्थिति उस समय सामने आती है जब वह किसी ऐसी नीति पर आचरण करना चाहे जो उसके अधीनस्थ विभाग की परम्परा के प्रतिकूल हो। इस समय

कठिनाई और भी बढ़ जाती है जब कि ये दोनों स्थितियाँ किसी अवसर पर एक में मिल जायें।

आइये ! हम उन पर अलग अलग विचार करें। यदि किसी नूतन कार्यक्रम को विशाल पैमाने पर शीघ्रतापूर्वक लागू करना है तो इसके लिए योजना की विस्तृत रूपरेखा आवश्यक होगी। यह आवश्यक है कि प्रस्ताव आर्थिक और प्रशासनिक दृष्टि से ठीक हो। उस प्रस्ताव पर प्रत्येक दृष्टि से मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी विचार करना पड़ता है। विभाग को यह ज्ञात होता है कि जब नीति विधेयक का रूप धारण करती है और उसमें कुछ त्रुटियाँ रह जाती हैं तो उसकी प्रतिष्ठा को गहरा धक्का पहुँचने की आशंका होती है। फलतः, वह विधेयक को सामने लाने में देर करता है जिससे कि जब विधेयक सामने आये तो जहाँ तक हो सके वह सर्वांगपूर्ण हो। वह सामग्री की छान-बीन करना चाहता है, वह प्रभावित होनेवाले हितों की राय ले लेने का प्रयास करता है, उसे प्रारूप तय्यार करने का कौशलिक काम करना पड़ता है। मन्त्रिमण्डल की दृष्टि में यह विलम्ब बड़ा कष्टदायक हो सकता है। वह अपने 'आत्मसमय' युग के लाभों से वंचित हो सकता है। यह युग किसी भी सरकार के लिए विशेषकर वामपक्षी सरकार के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। विलम्ब से विरोधी दल को तथा उन अर्द्ध-राजनीतिक हितों को जो विधेयक के विरुद्ध होते हैं विधेयक के ऊपर आक्रमण संगठित करने का समय मिल जाता है। केवलमात्र विलम्ब का तथ्य ही समस्त कार्यक्रम में विधेयक के महत्त्व को क्षीण कर देता है। यह सुविदित है कि १९२९ की श्रमिक सरकार द्वारा इन आधारों पर शिक्षा-विधेयक का स्थगन उसकी असफलता का प्रधान कारण था। सरकार उसकी पुरःस्थापना को स्थगित करने के लिए तय्यार हो गई इसके परिणामस्वरूप उत्प्रेरणा में कमी आ गई। जब दूसरे वर्ष वह सामने आया उसके विरोधियों को उसके प्रति अपना विरोध संगठित करने लिए पर्याप्त समय मिल चुका था।

इस कठिनाई से बचने का केवल एक ही उपाय है और वह यह है कि जब दल सत्ता पदारूढ़ हो उसके प्रस्ताव बिल्कुल तय्यार होने चाहिएं जिससे कि इस प्रकार के विलम्ब का कोई प्रश्न ही नहीं उठे। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। यदि किसी श्रमिक सरकार को आवास का कोई विशाल कार्यक्रम शीघ्रता से पूरा करना है तो यह आवश्यक है कि जब वह पदारूढ़ हो उसके पास न केवल सामान्य सिद्धान्त ही हों प्रत्युत नीति के सारे ब्योरे भी तय्यार रहने चाहिएं जिससे कि प्रारूप तय्यार करने का कार्य तुरन्त ही प्रारम्भ किया जा सके। उसे उन आर्थिक सीमाओं के बारे में निश्चय करना पड़ेगा जिनके दायरे में रह कर वह काम करने के लिए तय्यार है। उसे यह भी समझना पड़ेगा कि वह स्थानीय अधिकारियों के समर्थन पर कहाँ तक निर्भर रह सकती है। उसे स्वयं अपने मन में भूमि के अनिवार्य विक्रय, निर्माण-श्रमिक संघों से अपने सम्बन्धों तथा निर्माण-सामग्री के सम्बन्ध में अपनी मूल्य-नीति आदि के बारे में भी तय करना पड़ेगा। यदि मन्त्रिमण्डल इनमें से प्रत्येक विषय पर बिना किसी निश्चित विचारों के पद ग्रहण करता है तो इसका अर्थ यह होगा कि पद-ग्रहण करने

के उपरान्त सिविल सर्विस की सुदृढ़ नीति निर्माण करने की शक्ति पर विश्वास किया जाये। इसका फल यह होता है कि नीति-निर्माण का कार्य विभागों के ऊपर आ पड़ता है और विभागों को काफी माथा-पच्ची करने और समय लगाने के उपरान्त ऐसे साधना की खोज करनी पड़ती है जो नवीन नीति को ठोस शब्दों में आच्छादित कर सके।

यहाँ यह स्पष्ट है कि संसदीय व्यवस्था में दल के संगठन का मंत्रिमण्डल के विभागों के उचित निर्देशन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह निर्देशन उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि सम्राट् के भाषण के पीछे न केवल इरादों की घोषणा तथा भावित उद्देश्यों की पवित्र इच्छा हो प्रत्युत पहले से ही की गई ठोस छान-बीन भी हो जिसके परिणामस्वरूप कि मंत्रिमंडल अपनी यात्रा आरम्भ करने के लिए हर तरह से सन्निद्ध हो। इससे यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक राजनीतिक दल के पास स्वयं अपनी सिविल सर्विस जैसी कोई वस्तु रहनी चाहिए। उनके पास स्वभावतः ऐसे ही व्यक्ति नहीं होने चाहिएं जो कि जोरदार प्रभावात्मक लेख लिख सकें। उदाहरणार्थ यदि उसे खानों में सुधार करना है तो उसके पास न केवल सुप्रसिद्ध हॉगहाउस-बोल्डे रिपोर्ट का ही ज्ञान होना चाहिए, प्रत्युत उसके पास कुछ ऐसे वास्तविक प्रस्ताव भी होने चाहिएं जिनका वह गृह-मंत्री द्वारा पालन किया जाना चाहे। कहने का सार यह है कि मंत्री के मन में न केवल एक योजना ही होनी चाहिए, प्रत्युत उसे उससे अनुप्राणित होना चाहिए, उसे उसके परिणामों पर इस सर्वांगीण दृष्टि से विचार करना चाहिए कि वह उसके सम्बन्ध में सिविल सर्विस के समस्त सन्देहों का सफलतापूर्वक समाधान कर सके। इसका अर्थ यह है कि उसे परीक्षण के लिए नहीं प्रत्युत कार्य के लिए तय्यार होना चाहिए। उसके पास ऐसी योजना होनी चाहिए जिसकी कि आलोचना हो सके। उसके पास ऐसा निर्देश नहीं होना चाहिए जिसका कि अनुसन्धान करना पड़े।

पहली स्थिति का यह विवेचन दूसरी स्थिति की समस्याओं से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। प्रत्येक योग्य विभाग के पास अपनी एक नीति होती है। योग्य व्यक्ति जब किसी प्रशासनिक प्रश्न का बहुत समय तक अध्ययन करते हैं वे उसके संचालन के बारे में एक विशिष्ट दृष्टिकोण का निर्माण कर ही लेते हैं जैसा कि हाल्डेनलीज आयोग की रिपोर्ट में कहा गया है, कि वे मंत्री के सम्मुख अपने विचारों का महत्व स्पष्ट कर दें उसे मुक्त भाव से बता दें कि यदि उसने उन विचारों को स्वीकार नहीं किया तो उसके सामने ये खतरे और कठिनाइयाँ आ सकती हैं। लेकिन उन्हें इस बात का भी ध्यान रखना इतना ही महत्वपूर्ण और आवश्यक है कि इस प्रकार के निर्देशन के मूल में कुछ ऐसे भी सिद्धान्त हो सकते हैं जो परीक्षण होने पर उन विचारों के प्रतिकूल हों जिन्हें मंत्री के आगे आरोपित करना उनका कर्तव्य है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि ब्रिटिश परम्परा में ऐसे कुछ विभाग अवश्य हैं जिन्होंने हाल्डेनलीज रिपोर्ट का पालन करते हुए भी मंत्रियों को अपने राजनीतिक विचार के सिद्धान्तों के अनुकूल करने में अपूर्व क्षमता का परिचय दिया है। यह विदेश मंत्रालय वित्त-मंत्रालय और प्रतिरक्षा-मंत्रालय के सम्बन्ध में विशेष रूप से सत्य है। इसका कारण कुछ तो यह है कि इन विभागों को जिन समस्याओं का सामना

करना पड़ता है, वे विशेष दुरूह होती हैं और कुछ यह है कि इन विभागों के सामने जो सामग्री आती है वह काफी जटिल होती है। पिछले सौ वर्षों से इंगलैंड का अर्थ-विभाग अपने परम्परानिष्ठ विचारों को नवागन्तुक वित्त-मंत्रियों के ऊपर जिस ढंग से आरोपित करने में समर्थ रहा है, वह आधुनिक प्रशासनिक इतिहास की एक अद्भुत घटना है। इसका कारण यह नहीं रहा है कि वित्त-मंत्रियों का व्यक्तित्व उन अधिकारियों के उत्साह तथा आग्रह की तुलना में जिनके साथ उन्हें निबटना पड़ता है, दुर्बल रहा हो।

यह समझना सुगम है कि किस प्रकार परम्परा आरोपित की जा सकती है। नया मंत्री उत्तराधिकार में 'क्लीन स्लेट' नहीं पाता। पद-ग्रहण के दिन से ही उसे उन नीतियों पर निर्णय करने पड़ते हैं जो पहले से ही संचालित हो रही हैं। इनमें से बहुत सी नीतियाँ ऐसे विषयों से सबन्ध रखती हैं जिनके बारे में उसे कोई जानकारी नहीं होती या जिनके बारे में उसके बहुत सामान्य विचार होते हैं और वे विचार महत्त्वपूर्ण अभिलेखों के बिना सम्बन्ध के निर्मित होते हैं। उसे ये निर्णय शीघ्रतापूर्वक करने होते हैं और जैसा कि मैं कह चुका हूँ वह इन निर्णयों को उन योग्य व्यक्तियों के साथ विचार-विमर्श करने के उपरान्त करता है जिन्हें अपनी दिशा-निर्देश का पूरा विश्वास होता है क्योंकि वे सम्बद्ध समस्याओं से काफी लम्बे समय से परिचित होते हैं। यदि उसका मन उनके साथ-साथ चलता है तो उसकी समस्या काफी आसान हो जाती है। यदि उसके निर्णय की नुक्ताचीनी की जाती है तो वह संसद् में उसकी उस समस्त प्रक्रिया तथा शक्ति से रक्षा कर सकता है जिसे सिविल सर्विस के अधिकारी उसकी सेवा में प्रस्तुत कर सकते हैं। यदि सिविल सर्विस अधिकारियों का यह विचार हो कि मंत्री जो निर्णय करना चाहता है उसमें खतरे हैं तथा वह देश के लिए घातक है तो मंत्री की स्थिति काफी कठिन हो जायेगी। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में मंत्री को अपने बारे में काफी विश्वस्त होने की आवश्यकता है। उसे केवल भावना के आवेग में नहीं बहना चाहिए। राजनीति के क्षेत्र में विनाश के अनेकमुखी मार्ग हैं और कोई भी मंत्री किसी नूतन कार्यक्रम को विशाल पैमाने पर कार्यान्वित करने का उस समय तक अधिकारी नहीं है जब तक कि वह अपने आधार के बारे में पूर्ण रूप से आश्वस्त न हो।

एक उदाहरण पर्याप्त होगा। मान लीजिए कि जिस समय कोई विदेश-मंत्री पद ग्रहण करता है उसके सामने एसी कोई समस्या आती है जैसी कि १९३१ में सर जॉन साइमन के सामने जापान द्वारा मंचूरिया पर आक्रमण की आई थी। उसे राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र में विश्वास है और वह हृदय से यह चाहता है कि इस घोषणा पत्र के अन्तर्गत उसके देश ने जो दायित्व उठाए हैं, वह उन्हें पूरा करे। वह सुदूर पूर्व की राजनीति का विशेषज्ञ नहीं है। उसको बताया जाता है कि यदि वह घोषणा पत्र के अनुच्छेद १६ के अनुसार चीन की सहायता देता है तो इसके परिणाम स्वरूप इंगलैण्ड की जापान के साथ लड़ाई छिड़ सकती है। उससे जोर देकर कहा जाता है कि इस लड़ाई से सुदूरपूर्व में इंगलैण्ड के महत्त्वपूर्ण हितों को यह हानि पहुँच सकती है। नाविक और सैनिक समस्याओं की सम्पूर्ण जटिलता उसके

सामने काफी बारीकी से रख दी जाती है। वह योग्यता से समझ लेता है कि यह युद्ध विश्व युद्ध का रूप धारण कर सकता है तथा इसके पश्चात् क्रांति और न जाने क्या क्या हो सकता है। यदि वह चाहे तो जिनेवा में पूरी शक्ति से नेतृत्व कर सकता है। उसे इस बात का विश्वास नहीं हो सकता कि राष्ट्र-संघ उसके नेतृत्व का दबाव सहन कर सकता है। उससे कहा जाता है कि वह सुदूर पूर्व के सब से शक्तिशाली राज्य का दुर्भाव अर्जित कर लेगा और इससे उसके अपने देश को कोई लाभ नहीं होगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस प्रश्न पर राष्ट्र-संघ की दृष्टि से भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। लेकिन यह तो बहुत कड़ी दुविधा है जिसमें विदेश-मंत्रियों को यथार्थवादी होना पड़ता है। मंत्री को बता दिया जाता है कि राष्ट्र-संघ की नीति अपनाने के खतरे बहुत अधिक हैं। इस समय तनिक-सा यथार्थवाद लड़ाई को रोक सकता है। वह उन ब्रिटिश हितों के सम्बन्ध में जिन्हें चोट पहुँचाना खतरनाक है जापान का सद्भाव प्राप्त कर लेगा। यह सर्वथा अनिश्चित है कि ब्रिटिश जनता चीन की ओर से की गई इस कार्यवाही का जिसमें ब्रिटिश जन-धन की हानि हो समर्थन करेगी। अधिकांश कठिनाई का कारण जापान नहीं प्रत्युत चीन की अराजकता है। यह भी माना जा सकता है कि मंचूरिया में शक्तिशाली सरकार की स्थापना ब्रिटिश वाणिज्य के लिए हितकर हो सकती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी न किसी दिन संमोहनों (Sanctions) की नीति का परीक्षण अवश्य होना चाहिए। लेकिन क्या इस परीक्षण के लिए ऐसा कोई प्रकरण चुनना उचित नहीं होगा जो सम्पूर्ण लोकमत को सरकार के पीछे खड़ा कर दे ठीक उसी दृढ़ता से जिससे कि १९१४ में बेल्जियम के प्रश्न के ऊपर सारा लोकमत एस्क्विथ सरकार के पीछे खड़ा था। विदेश-मंत्री को यह याद आयेगा कि जैसे ही बेल्जियम की तटस्थता के प्रश्न पर विचार-विमर्श होना आरम्भ हुआ तटस्थता की भावना जो चुनाई के दिनों में इतनी शक्तिशाली थी किस प्रकार समाप्त हो गई। मंत्री को बताया जाता है कि क्या यह वह सच्चा आदर्श नहीं है जो उसे समझना चाहिए? क्या राष्ट्र-संघ के अन्दर विश्वास रखने का यह अभिप्राय है कि इन भयंकर आपदाओं की संभावना से मुँह मोड़ लिया जाये। क्या इस प्रकार की विशेष परिस्थिति में दयाकथित लेकिन अमितबुद्धि राष्ट्र-संघ की नीति के खतरों का निवारण करना बुद्धिमत्ता नहीं होगी?

यह ठीक है कि मैंने एक काल्पनिक युक्ति का आश्रय लिया है। लेकिन यह समझना बड़ा सुगम है कि इस प्रकार का आग्रह होने पर एक विदेश-मंत्री यह बात बड़ी नम्रता से मान लेगा कि हाँ यह समय उसके विश्वास के परीक्षण का नहीं है। उसे यह व्यथ संदेह हो सकता है कि वह गलती पर है और दूरदृष्टि से काम नहीं ले रहा। वह सोचने लगेगा कि विभागीय सिफारिश के विरुद्ध जो सुझाव रखे जा रहे हैं क्या उनमें भी इतना ही बल और आग्रह है। ब्रिटेन राजनीति में यह परम्परा है कि जब कोई नया मंत्री पद सम्हालता है वह अपने साथ अपने दल के अथवा अपने विचारों के कुछ ऐसे घनिष्ठ मित्र अवश्य लाता है जिनके बारे में उसका विश्वास होता है कि उन्हें उसके विभाग की समस्याओं का विशेष ज्ञान होता है। ये व्यक्ति सरकारी

अधिकारियों की श्रेणी से अलग होते हैं और मंत्री उनके साथ विभिन्न समस्याओं का मुक्त भाव से विवेचन कर सकता है। मेरा विचार है कि इंगलैंड में भी इस पद्धति का अपनाना उपयोगी होगा। इस प्रकार का संबंध इस देश में मंत्री तथा उसके व्यक्तिगत सचिव के बीच अवश्य विकसित हुआ है। उदाहरणार्थ श्री एस्क्विथ तथा सर वाउघन नैश या विस्काउंट ग्रे तथा सर टिरेल के बीच इसी प्रकार का सम्बन्ध था। लेकिन मेरे विचार से इस प्रकार का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण श्री आर्थर हेंडर्सन के विदेश-मंत्रित्व का है। उन्होंने १९२९ में जब विदेश-मंत्री का पद सम्हाला उनके सामने कुछ निश्चित उद्देश्य थे और उन्हें इस बात का भी स्पष्ट ज्ञान था कि वे इन उद्देश्यों को किस प्रकार प्राप्त करेंगे। उन्हें यह भी मालूम था कि उनके अपने सिद्धान्तों तथा उनके अधीनस्थ विभाग के सिद्धान्तों के बीच काफी अन्तर है। उन्होंने यह भी समझ लिया था कि यदि वे विभाग में अकेले रहे तो अपने सिद्धान्तों की रक्षा न कर सकेंगे। फलतः वे अपने साथ विभाग में ऐसे तीन व्यक्ति ले गए जिन्होंने न केवल वैदेशिक मामलों का गम्भीर अध्ययन ही किया था प्रत्युत जो जैसा कि उन्हें दीर्घ घनिष्ठता से ज्ञात था उनके से ही विचार रखते थे। वे उनके उद्देश्य की पूर्ति में अमूल्य सहायक हुए। उन्होंने उन्हें न केवल उनकी सामान्य नीति के बारे में आश्वासन ही दिया प्रत्युत वे अधिकारियों के सुझावों को स्वयं अधिकारियों की सी क्षमता से ही जाँचने में भी समर्थ थे। उन्होंने विस्तार की उन बातों के बीच में जिनमें एक विदेश मंत्री बड़ी सुगमता से खो सकता था एक सामान्य नीति का स्थापन संभव कर दिखाया। यह सुविदित है कि श्री हेंडर्सन ने विदेश-मंत्री के पद पर कार्य करते हुए असाधारण सफलता प्राप्त की। इसमें कोई संदेह नहीं कि इसका बहुत कुछ श्रेय उनकी अपनी अटल निष्ठा और श्रेष्ठ व्यवहार-बुद्धि को है फिर यह वे स्वयं स्वीकार करते थे कि उनका विशेष सचिवालय उनकी सफलता के लिए अपरिहार्य था।

मेरा विचार है कि इस प्रकार की पद्धति मंत्री के लिए उस भूल-भुलय्या में से अपना अभीष्ट मार्ग खोज निकालने के लिए जिसका उसे सामना करना पड़ता है हर प्रकार से उपयोगी है। हो सकता है कि ग्लैडस्टोन जैसे एक-दो मंत्रियों को इसकी आवश्यकता न हो लेकिन किसी औसत मंत्री को इससे सदैव ही सहायता पहुँचेगी। यह ठीक है कि इसमें कुछ कठिनाइयाँ भी हैं। इसकी परम्परा नहीं रही है और अधिकारीगण इसे अविश्वास तथा सन्देह की दृष्टि से देखेंगे। इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक नवीन बात के साथ ही प्रारम्भ में ऐसा होता है। प्राचीन परम्परानिष्ठ सिपाहियों ने साम्राज्यीय प्रतिरक्षा-समिति को नापसंद किया था। सिविल सर्विस के प्राचीन परम्परानिष्ठ अधिकारियों ने मंत्रि-मंडलीय सचिवालय की आलोचना की थी। इस योजना का यह मन्तव्य कदापि नहीं है कि हम सिविल सर्विस के वर्तमान अधिकारियों की क्षमता में अविश्वास करते हों। इसका मंतव्य तो केवल यही है कि मंत्री के पास कुछ ऐसे व्यक्ति रहें जो अधिकारियों की सिफारिशों और युक्तियों पर विभाग की दृष्टि से नहीं प्रत्युत मंत्री की दृष्टि से विचार कर सकें। फ्रांस में इस पद्धति को

जो सफलता मिली है उससे हमें यह मानने का पूरा अधिकार हो जाता है कि इस पद्धति को यहाँ भी सफलता मिलेगी। वास्तव में विभागीय प्रस्तावों की योग्यता का तथ्य ही इसके अपनाने का एक बहुत बड़ा कारण हो जाता है। इससे मंत्री को काफी सहारा मिलता है। इससे मंत्री को अधिकारियों के दायरे के अलावा भी जिसमें उसे मग्न रहना पड़ता है एक ऐसा संगठन मिल जाता है जो जैसा कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट जैसे व्यक्तियों के अनुभव ने बताया है आधुनिक परिस्थितियों में अत्यन्त आवश्यक है। इसके द्वारा मंत्री तथा दल के अन्तर्सम्बन्ध जो अधिकारी-वर्ग के माध्यम से सुचारु रूप से संचालित नहीं हो सकते ठीक बने रहते हैं। इससे यह भरोसा हो जाता है कि मंत्री जो भी काम करेगा उसे उसके समस्त परिणामों पर विचार करने के उपरान्त करेगा। अब मैं पुनः अपने काल्पनिक उदाहरण पर लौटता हूँ। सर जॉन साइमन अपनी जापान-विषयक नीति को कोई सेसिल की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् अपनाते जैसा कि श्री हेण्डर्सन के शासन-काल में अवश्य होता तो इस बात का विश्वास हो सकता था जो अन्य किसी से संभव नहीं था कि उसे स्वतन्त्र दृष्टि से कठोर विश्लेषण के उपरान्त ही अपनाया गया है। मेरा विचार है कि विभागीय नीति का इस प्रकार से विश्लेषण करना मंत्री तथा अधिकारियों दोनों के लिए उपयोगी है। वास्तव में यह हमारे शासन की एक बहुत बड़ी दुर्बलता है कि उसमें इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं है।

मेरा विचार है कि उक्त युक्तियों के अनुसार मंत्रि-मण्डलीय व्यवस्था की समस्त आलोचनाओं का समाधान किया जा सकता है। मेरे कहने का यह आशय नहीं है कि मंत्रि-पद केवल असाधारण व्यक्तियों को छोड़ कर अन्य किसी के लिए अत्यधिक बोझा नहीं रहेगा। पील से लेकर कोई नैविल तक जिस-जिस व्यक्ति ने यह पद धारण किया है, उन सभी का अनुभव यह स्पष्ट कर देता है कि अब कोई निष्कर्ष संभव ही नहीं है। अन्तिम सीधा-सादा उत्तर यह है कि जिन व्यापक हितों का मंत्रियों को शासन करना पड़ता है उनका अन्य कोई परिणाम हो ही नहीं सकता। जब युद्ध या शान्ति उनके निर्णयों पर निर्भर रहती है, जब कोई विधेयक ऐसे सामाजिक परिवर्तन कर सकता है जैसे कि उदाहरणार्थ "बेरोजगारी इंश्योरेंस अधिनियम" (Unemployment Insurance Act) ने कर दिए थे जब मंत्रि-मण्डल को आम हड़ताल जैसे विकट प्रश्न का समाधान खोजना पड़ता है, बोल्मेनस्टुअर्ट की यह प्रसिद्ध उक्ति कि "मनुष्यों के शासन में टांग अड़ाने की अपेक्षा चरवाहा होना तथा अपनी भेड़ें चराना अधिक श्रेयस्कर है" तुरन्त ध्यान में आ जाती है। ऐसी कोई संस्थागत युक्तियाँ नहीं हैं जो मंत्री को आफिस में सम्मिलित हो ऐसी नीति पर विचार करने का अवसर दे सकें जिसे कि उसे आफिस के बाहर ही तय कर लेना चाहिए था। ऐसी भी कोई युक्ति नहीं है जो जितने की हम आशा करते हैं, उससे आगे न अधिक प्रशासनिक सामंजस्य को प्राप्त कर सकें। हमारी समस्याओं की व्यापकता और जटिलता ही कुछ ऐसी है कि वह हमारी समस्याओं को हमसे कम अवकाशपूर्ण विचार करने की अनुमति नहीं देती। उत्तरदायित्व के साथ मनुष्यों का

शासन करना सदैव ही थकाने वाला कार्य है और जितना ही अधिक भावुक एक मन्त्री होगा उतना ही अधिक वह उस व्यवधान से परिचित होगा जो उसकी आशाओं को उसकी सफलता से पृथक करता है।

आलोचकों ने मन्त्रि-मण्डलीय व्यवस्था की जो दुर्बलताएँ बताई हैं जैसे निवेदन किया है कि वे ऐसी कम हैं जिन्हें सरलतापूर्वक युक्तियों से दूर किया जा सके। वे तो वास्तव में ऐसी कठिनाइयाँ हैं जो मनुष्यों का शासन करने की कठिन कला में निहित हैं। इस पद्धति में कार्यों का निर्देशन श्री ग्राहम वालास के शब्दों में "अनुपस्थित तथा अस्थायी राजनीतिज्ञों के एक निकाय तथा स्वार्थी और विद्याभिमानी नौकरशाही के बीच" इस प्रकार विभाजित नहीं है जैसा कि बहुत से आलोचकों ने मान रखा है। अपनी समस्त दुर्बलताओं के बावजूद भी अधिकांश राजनीतिज्ञ अपने विश्वास के अनुसार लोक-कल्याण की चेष्टा ही नहीं करते हैं प्रत्युत इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिए बराबर कठिन परिश्रम भी करते हैं। सिविल सर्विस की परम्परा कुछ ऐसी है कि जितना ही अधिक उसका अनुभव किया जाये उतनी ही अधिक उसकी प्रशंसा करनी पड़ेगी। मंत्रि-मंडल को गम्भीर चिंतन का समय नहीं मिलता इसका प्रारम्भ मनस्वी की दुर्बलता "विभागवाद के दोषों" की इस दुर्बलता के कारण से अधिक नहीं है। हम अधिक से अधिक इसी बात की व्यवस्था कर सकते हैं कि जब मंत्रि-मंडल अपना पद सम्भाले वह यथा सम्भव इस बात से परिचित हो कि वह क्या करना चाहता है तथा उसके तत्विषयक निर्णय व्यापकतम बौद्धिक आधार पर निर्मित हों। लेकिन एक बार नीति निश्चित कर लेने के उपरान्त साहसपूर्वक उसका पालन करना भी इससे कम महत्वपूर्ण नहीं है। संसदीय लोकतंत्र अन्य बहुत-सी वस्तुओं का सामना कर सकता है लेकिन यदि उसके शासकों में साहस का अभाव है तो वह अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता। साहस उन समस्त संस्थाओं में जिनके द्वारा संसदीय लोकतन्त्र जीवित रहता है ऐसी शक्ति तथा प्रेम-निष्ठा फूंक देता है जिससे सम्पूर्ण राष्ट्र का नैतिक धरातल ऊंचा हो जाता है। श्रेष्ठ सरकार सदैव ही साहसी सरकार होगी है। लेकिन शासन में साहस केवल यह इच्छा करने का ही मामला नहीं है कि क्या सही है, वह यह भी जानने का मामला है कि किसकी इच्छा करना सही है।

जिस रूप में हमने संसदीय पद्धति को प्राप्त किया है उस रूप में वह कम से कम उस आधार को तो प्रदान करती ही है, जिसके ऊपर कि इस ज्ञान को पुख्ता बनाया जा सकता है। दल के सदर्भ में स्थित होने पर वह धारणा के क्षेत्र से कर्म के क्षेत्र में प्रवेश करता है। इस पद्धति की रूपरेखा को देखते हुए अन्य कोई सदर्भ उचित रूप से उसका स्थान नहीं ले सकता। यदि हम प्रतिनिधिक शासन के वर्तमान संगठन की समस्त दुर्बलताओं को स्वीकार कर लें तब भी ऐसा नहीं लगता कि ऐसे संगठन की व्यवस्था कर सकता है जो वरीयताओं के संयोग (articulation of preferences) की अनुमति दे सकता है। कहने का सार यह है कि वह न केवल सिद्धान्तों को कर्म से संयुक्त करता है, प्रत्युत ऐसे सिद्धान्तों को कर्म से सम्बद्ध करता है जिनके पीछे सत्ता की प्रेरक शक्ति रहती है। मंत्रि-मंडल

इस प्रबन्ध समिति का ट्रस्टी है। उसकी ट्रस्टीशिप का विश्वास ही वह आधार है जिसके ऊपर यह मंत्रिमंडल बनता है और मुख्यतः उसकी शासन करने की शक्ति इस विश्वास के बने रहने से ही निर्धारित होती है। यहाँ भी जैसा कि संसदीय प्रक्रिया के प्रत्येक अंग के सम्बन्ध में सही है विश्वास का रहस्य उस सीमा पर निर्भर है जहाँ तक दलों का पारस्परिक विश्वास बना रहता है। जैसा कि मैं कह चुका हूँ उनके लिए यह आवश्यक है कि वे एक सी भाषा बोलें। अपरंच मंत्रि-मंडल के रूप में उन्हें वही भाषा बोलनी चाहिए जो कि उनकी सिविल सर्विस के अधिकारी बोलते हैं। पारस्परिक सहयोग के इस ताने-बाने के ऊपर ही पद्धति की अपने विभिन्न भागों के बीच वह सद्भाव बनाए रखने की शक्ति जिसके बिना उसका काम नहीं चल सकता निर्भर है।

अब तक मोटे तौर पर यह सद्भाव बना रहा है। लेकिन अब उसके सामने कुछ ऐसे खतरे हैं जो उसकी अविच्छिन्नता को सन्देहास्पद कर देते हैं। इन खतरों को अस्वीकार करना मूर्खता है। मैंने निवेदन किया है कि ये खतरे स्वयं शासन तन्त्र के अन्दर नहीं हैं। यह बात बिलकुल निराधार है कि मुख्यतः मंत्रि-मंडल तथा कॉमन-सभा का सम्बन्ध गलत है या मंत्रि-मंडल तथा सिपाही का सम्बन्ध गलत है। पद्धति में सुधार सम्भव है और वे वांछनीय भी हैं लेकिन वे ऐसे सुधार नहीं हैं जो किसी भी स्थल पर पद्धति के मेरुदण्ड को स्पर्श करते हों। मैंने यह विशेष रूप से निवेदन किया है कि मंत्रि-मंडल का संसद के ऊपर जो नियन्त्रण है उसे समाप्त करने के पक्ष में कुछ नहीं कहा जा सकता। यह कहना भी बिलकुल निराधार है कि मंत्री अपने अधिकारियों के हाथों में कठपुतली मात्र बन कर रह गया है। ये दोनों ही युक्तियाँ हमारे वातावरण से बिलकुल भिन्न वातावरण की ओर लौट चलने की अचेतन इच्छा पर आधारित हैं। यदि हम इन दोनों युक्तियों को मान लेते हैं तथा उनका प्रयोग करते हैं तो इसके परिणामस्वरूप हमारी व्यवस्था नष्ट भ्रष्ट हो जायेगी। आधुनिक मंत्रिमंडल को मुख्य खतरा यह है कि दलों के बीच अब तक जो सद्भाव बना रहा है वह अब उनके उद्देश्यों की भिन्नता के कारण संकटापन्न हो गया है। मैं इस बात को फिर कहता हूँ कि इस खाई को आनुपातिक प्रतिनिधित्व जैसी निर्वाचकीय युक्तियों से नहीं पाटा जा सकता। इसका कारण वह भेदभाव है जो उत्पादन की शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्धों की विषमता ने हमारे समाज में उत्पन्न कर दिया है। जब तक यह विषमता समाप्त नहीं होती संसदीय लोकतन्त्र के अन्तर्गत यह भेदभाव भी समाप्त नहीं हो सकता। इसका समाधान जैसा कि बैजहॉट ने कहा था केवल उदार व्यक्तियों के मंत्रि-मंडलों की रचना से नहीं होगा। इस सिद्धान्त का खतरा यह है कि यह मंत्रियों को ऐसे कार्यों के निष्पादन का भार सौंप देता है जिन्हें वे अपने सिद्धान्तों के अनुसार करने के लिए बाध्य हैं। इस प्रकार की नीति में यह आशा रहती है कि शायद ऐसे कार्यों की तिलांजलि से सामाजिक शांति का कोई सूत्र खोजा जा सके। इस प्रकार का सिद्धान्त केवल आर्थिक विस्तार के ही युगों में जब कि पूँजीवादी विश्वास जनता के लिए रियायतों की वृद्धि की अनुमति देता है सफल हो सकता है। जहाँ

शासन करना सदैव ही थकाने वाला कार्य है और जितना ही अधिक भावुक एक मंत्री होगा उतना ही अधिक वह उस व्यवधान से परिचित होगा जो उसकी आशाओं को उसकी सफलता से पृथक् करता है।

आलोचकों ने मंत्रि-मंडलीय व्यवस्था की जो दुर्बलताएँ बताई हैं मैंने निवेदन किया है कि वे ऐसी कम हैं जिन्हें संस्थागत युक्तियों से दूर किया जा सके। वे तो वास्तव में ऐसी कठिनाइयाँ हैं जो मनुष्यों का शासन करने की कठिन कला में निहित हैं। इस पद्धति में कार्यों का निर्देशन भी ग्राहम वालास के शब्दों में "अनुभविहीन तथा अस्थायी राजनीतिज्ञों के एक निकाय तथा स्थायी और विद्याभिमानी नौकरशाही के बीच" इस प्रकार विभाजित नहीं है जैसा कि बहुत से आलोचकों ने मान रखा है। अपनी समस्त दुर्बलताओं के बावजूद भी अधिकांश राजनीतिज्ञ अपने विश्वास के अनुसार लोक-कल्याण की चेष्टा ही नहीं करते हैं प्रत्युत इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिए बराबर कठिन परिश्रम भी करते हैं। सिविल सर्विस की परम्परा कुछ ऐसी है कि जितना ही अधिक उसका अनुभव किया जाये उतनी ही अधिक उसकी प्रशंसा करनी पड़ेगी। मंत्रि-मंडल को गम्भीर चिंतन का समय नहीं मिलता इसका कारण मनुष्यों की दुर्बलता "विभागवाद के दोषों" की इस दुर्बलता के कारण से अधिक नहीं है। हम अधिक से अधिक इसी बात की व्यवस्था कर सकते हैं कि जब मंत्रि-मंडल अपना पद सम्भाले वह यथा सम्भव इस बात से परिचित हो कि वह क्या करना चाहता है तथा उसके तद्विषयक निर्णय व्यापकतम नैतिक आधार पर निर्मित हों। लेकिन एक बार नीति निश्चित कर लेने के उपरान्त साहसपूर्वक उसका पालन करना भी इससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। संसदीय लोकतंत्र अन्य बहुत-सी वस्तुओं का सामना कर सकता है, लेकिन यदि उसके शासकों में साहस का अभाव है तो वह अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता। साहस उन समस्त संस्थाओं में जिनके द्वारा संसदीय लोकतन्त्र जीवित रहता है ऐसी शक्ति तथा ध्येय-निष्ठा फूंक देता है जिससे सम्पूर्ण राष्ट्र का नैतिक धरातल ऊँचा हो जाता है। श्रेष्ठ सरकार सदैव ही साहसी सरकार होती है। लेकिन शासन में साहस केवल यह इच्छा करने का ही मामला नहीं है कि क्या सही है वह यह भी जानने का मामला है कि किसकी इच्छा करना सही है।

जिस रूप में हमने संसदीय पद्धति को प्राप्त किया है उस रूप में वह कम से कम उस आधार को तो प्रदान करती ही है जिसके ऊपर कि इस ज्ञान को सुलभ बनाया जा सकता है। शक्ति के संदर्भ में स्थित होने पर वह धारणा के क्षेत्र से कर्म के क्षेत्र में प्रवेश करता है। इस पद्धति की रूपरेखा को देखते हुए अन्य कोई संदर्भ उचित रूप से उसका स्थान नहीं ले सकता। यदि हम प्रतिनिधिक शासन के दलगत संगठन की समस्त दुर्बलताओं को स्वीकार कर लें तब भी एकमात्र यही जनता के एसे संगठन की व्यवस्था कर सकता है जो वरीयताओं के संयोग (arti culation of preferences) की अनुमति दे सकता है। कहने का सार यह है कि वह न केवल सिद्धान्तों को कर्म से संयुक्त करता है प्रत्युत ऐसे सिद्धान्तों को कर्म से सम्बद्ध करता है जिनके पीछे जनता की प्रेरक शक्ति रहती है। मंत्रि-मंडल

इस प्रेरक शक्ति का ट्रस्टी है। उसकी ट्रस्टीशिप का विश्वास ही वह आधार है जिसके ऊपर यह मंत्रिमंडल बनता है और मुख्यतः उसकी शासन करने की शक्ति इस विश्वास के बने रहने से ही निर्धारित होती है। यहां भी जैसा कि संसदीय प्रक्रिया के प्रत्येक अंग के सम्बन्ध में सही है, विश्वास का रहस्य उस सीमा पर निर्भर है जहां तक दलों का पारस्परिक विश्वास बना रहता है। जैसा कि मैं कह चुका हूं उनके लिए यह आवश्यक है कि वे एक सी भाषा बोलें। अपरंच मंत्रि-मंडल के रूप में उन्हें वही भाषा बोलनी चाहिए जो कि उनकी सिविल सर्विस के अधिकारी बोलते हैं। पारस्परिक सहयोग के इस ताने-बाने के ऊपर ही पद्धति की अपने विभिन्न भागों के बीच यह सद्भाव बनाए रखने की शक्ति जिसके बिना उसका काम नहीं चल सकता निर्भर है।

अब तक मोटे तौर पर यह सद्भाव बना रहा है। लेकिन अब उसके सामने कुछ ऐसे खतरे हैं जो उसकी अविच्छिन्नता को सन्देहास्पद कर देते हैं। इन खतरों का अस्वीकार करना मूर्खता है। मैंने निवेदन किया है कि ये खतरे स्वयं शासन तन्त्र के अन्दर नहीं हैं। यह बात बिल्कुल निराधार है कि मूलतः मंत्रि-मंडल तथा कॉमन-सभा का सम्बन्ध गलत है या मंत्रि-मंडल तथा विभागों का सम्बन्ध गलत है। पद्धति में सुधार सम्भव हैं और वे वांछनीय भी हैं लेकिन वे ऐसे सुधार नहीं हैं जो किसी भी स्थल पर पद्धति के मेरुदण्ड का स्पर्श करते हों। मैंने यह विस्तार रूप से निवेदन किया है कि मंत्रि-मंडल का संसद के ऊपर जो नियंत्रण है उसे समाप्त करने के पक्ष में कुछ नहीं कहा जा सकता। यह कहना भी बिल्कुल निराधार है कि मंत्री अपने अधिकारियों के हाथों में कठपुतली मात्र बन कर रह गया है। ये दोनों ही युक्तियां हमारे वातावरण से बिल्कुल भिन्न वातावरण की ओर लौट चलने की अचेतन इच्छा पर आधारित हैं। यदि हम इन दोनों युक्तियों को मान लेते हैं तथा उनका प्रयोग करते हैं तो इसके परिणामस्वरूप हमारी व्यवस्था नष्ट भ्रष्ट हो जायेगी। आधुनिक मंत्रिमंडल को मुख्य खतरा यह है कि दलों के बीच अब तक जो सद्भाव बना रहा है वह अब उनके उद्देश्यों की भिन्नता के कारण संकटापन्न हो गया है। मैं इस बात को फिर कहता हूं कि इन खाईं को आनुपातिक प्रतिनिधित्व जैसी निर्वाचनीय युक्तियों से नहीं पाटा जा सकता। इसका कारण वह भेदभाव है जो उत्पादन की शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्धों की विषमता ने हमारे समाज में उत्पन्न कर दिया है। जब तक यह विषमता समाप्त नहीं होती संसदीय लोकतन्त्र के अन्तर्गत यह भेदभाव भी समाप्त नहीं हो सकता। इसका समाधान जैसा कि बैजहॉट ने कहा था केवल उदार व्यक्तियों के मंत्रि-मंडलों की रचना से नहीं होगा। इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि यह मंत्रियों को ऐसे कार्यों के निवारण का आमन्त्रण देता है जिन्हें वे अपने सिद्धान्तों के अनुसार करने के लिए बाध्य हैं। इस प्रकार की नीति में यह आशा रहती है कि शायद ऐसे कार्यों की क्रियात्मकता से सामाजिक शांति का कोई मूल्य चुकाया जा सके। इस प्रकार का सिद्धान्त केवल आर्थिक विस्तार के ही वर्षों में जब कि पूंजीवादी विकास जनता के लिए रियायतों की वृद्धि की अनुमति देता है, सफल हो सकता है। यहां

ऐसा नहीं हो पाता। इस प्रकार की चेष्टा का सीधा फल यह होता है कि पूंजीवादी विश्वास स्थगित हो जाता है। इंगलैण्ड, अमेरिका तथा फ्रांस के उदाहरण यही सिद्ध करते हैं। कहने का सार यह है कि एक समाजवादी दल पूंजीवादी लोकतन्त्र का सफलतापूर्वक संचालन नहीं कर सकता। वह उसका संचालन उसके विरोधी सिद्धान्तों के आधार पर ही कर सकता है। फलतः, उसका मन्त्रि-मण्डल उन परिस्थितियों को जान में असमर्थ है जिनमें वह यह जान सके कि वह क्या करना चाहता है और उसे किस प्रकार साहसपूर्वक कर सकता है। फलतः, या तो वह दुर्बल सरकार का रूप धारण करता है या यदि वह साहसपूर्वक अपने विश्वास के अनुसार आचरण करता है, अपने उद्देश्यों में पूंजीवादियों के उस विश्वास को स्थगित कर देता है जो उस अविच्छिन्नता को बनाए रखने के लिए उसकी संसदीय लोकतन्त्र मन्त्रि-मंडल के संचालन के लिए मान्य करता है आवश्यक है। मुझे इस संकट से बचने का कोई मार्ग नहीं दिखाई देता। संस्थागत रूपरेखा के थोड़े-बहुत संशोधन द्वारा ही इस संकट से बचने का कोई मार्ग पाया ही नहीं जा सकता। इस स्थल पर भी हम, जैसा कि इस पुस्तक के पहले अध्यायों में दिखाने का प्रयास किया है, समाज की बुनियादों पर आ जाते हैं। हम उसके संस्थागत ऊपरी ढांचे पर तब तक सहमत नहीं हो सकते जब तक हम उन बुनियादों के स्वरूप के बारे में सहमत न हो जायें।

अध्याय ६

# सिविल सर्विस

( १ )

इंगलैण्ड में सिविल सर्विस का प्रभाव अपेक्षाकृत नई चीज है। जब सत्तर वर्ष पूर्व बैजहॉट ने अपना विश्लेषण किया था, उसने अधिकारियों के प्रभाव का विवेचन करना आवश्यक नहीं समझा और सर सिडनी लो तक कि रोचक पुस्तक जो अब प्राय: एक पीढ़ी पुरानी है उनकी केवल चर्चा ही करके रह जाती है। मेरे विचार से श्री लॉवेल की "गवर्नमेण्ट ऑफ इंगलैण्ड" जो सबसे पहले १ ८ में प्रकाशित हुई थी हमारी राजनीतिक पद्धति पर वह पहली महत्त्वपूर्ण पुस्तक है जो सिविल सर्विस के उचित महत्त्व को स्वीकार करती है। इन तीस वर्षों में जो उसके प्रथम प्रकाशन को हो चुके हैं यह कहना गलत नहीं है कि सिविल सर्विस ने संविधान के अन्य किसी भाग की अपेक्षा टीकाकारों का ध्यान अपनी ओर अधिक आकृष्ट किया है।

सिविल सर्विस का यह महत्त्व कई कारणों से है। पहला कारण तो निस्सन्देह स्वयं सिविल सर्विस का ही बढ़ा हुआ गौरव है। निषेधात्मक राज्य से विध्यात्मक राज्य के परिवर्तन ने सार्वजनिक कार्य-व्यापार में इतना अधिक विस्तार कर दिया है कि मंत्री प्रमुख नीति के बड़े बड़े निर्णयों के अतिरिक्त सब कुछ अपने अधिकारियों के ऊपर छोड़ने को बाध्य हो गया है। वे दिन अब कि सर रोबर्ट पील प्रधान-मंत्री के नाते समस्त विभागों की आभ्यन्तरिक कार्यवाही का ज्ञान प्राप्त कर सकते थे या कोई ग्लैडस्टन जैसा वित्त-मंत्री के नाते समस्त महत्त्वपूर्ण पत्रों को स्वयं लिख सकते थे सब सदैव के लिए बीत चुके हैं। दूसरा कारण सर्विस के पद में असाधारण वृद्धि है। जब से १८७ में श्री ग्लैडस्टन ने अपने सुप्रसिद्ध सपरिषद आदेश (आर्डर इन कौन्सिल) द्वारा संरक्षण की पद्धति (patronage) को हटा दिया सिविल सर्विस अपनी ओर ऐसे योग्य व्यक्तियों को आकृष्ट करने में समर्थ हुई है जैसे कि इस देश में जीवन के अन्य किसी क्षेत्र में पाये जा सकते हैं। उनके व्यवहार के मानदण्ड शीघ्र ही सारे संसार के लिए आदर्श बन गए। वे भ्रष्टाचार से दूर थे। वे सत्तारूढ सरकार की चाहे उसका स्वरूप कैसा भी हो समान उत्साह से सेवा करते थे। उन्होंने प्रशासन के संचालन के लिए ज्ञान का संगठन एक ऐसे धरातल पर कर दिया जो पूर्वकाल से बिल्कुल भिन्न था। मेरे विचार से यह कहना सही नहीं है कि उन्होंने जानबूझ कर शक्ति प्राप्त करने की चेष्टा की। यह कहना अधिक सही होगा कि युगधर्म (zeitgeist) ने शक्ति प्राप्त करने के अवसरों का निर्माण किया जिनसे बुद्धि से योग्य व्यक्ति थे उन्होंने पूरा लाभ उठाया। यह तथ्य कि वे अपनी योग्यता का परिचय देते थे उस स्थिति में प्रकट होता था जिसका उन्हें सामना करना पड़ता था। १८७ के

पश्चात् से इंगलैण्ड में नागरिक प्रशासन की स्थापना है ऐसी दो एक समस्याएँ हों जिनमें कि असफलता मिली हो। अधिकारियों ने प्रायः प्रत्येक समस्या का ही अत्यंत योग्यतापूर्वक समाधान किया है। इस योग्यता के भाव से उन व्यक्तियों तक में जो राजकीय कार्य करने के विवेक के बारे में संदेहास्पद थे यह भाव उत्पन्न हो गया कि अधिकारी अपने कार्य को करना जानते हैं। जब १८६७, १८८४ और १९१८ में नए निर्वाचकों ने राज्य से यह मांग की कि वह सामाजिक सुविधाओं के विस्तार द्वारा उनके भार को कम करे, इन मांगों की पूर्ति के लिए इन व्यक्तियों के ऊपर निर्भर रहना स्वाभाविक हो गया। जब सिविल सर्विस के अधिकारियों ने सफलता-पूर्वक इन मांगों की पूर्ति कर दिखाई, जनता में यह विश्वास जड़ पकड़ गया कि यदि कहीं त्रुटियाँ दिखाई दें तो राज्य के पास इन त्रुटियों को दूर करने के साधन हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि निषेधात्मक राज्य से विध्यात्मक राज्य का यह परिवर्तन कुछ अंश तक स्वयं सिविल सर्विस के अधिकारियों के प्रयत्नों का फल है। ग्रेबलेन के शब्दों में सिविल सर्विस के प्रत्येक योग्य अधिकारी में "कर्मठता की प्रवृत्ति" होती है। आप जब किसी योग्य व्यक्ति से शिक्षा सार्वजनिक स्वास्थ्य कारखानों के व्यवस्थापन और खानों की सुरक्षा जैसे प्रश्नों के समाधान के लिए कहते हैं तो इसके दो परिणाम अवश्यम्भावी हैं। उससे तथ्य खोजने के लिए कहना उससे निष्कर्ष बताने के लिए कहना है और यह तथ्य ही कि वह निष्कर्षों की रिपोर्ट देता है निश्चितता धर्म के एक सिद्धान्त को प्रगट करता है। यह स्मरणीय है कि उन्नीसवीं शताब्दी में समाजवादियों ने इंगलैंड की औद्योगिक स्थितियों की जो तीव्र भर्त्सना की है उसका अधिकांश भाग सरकारी प्रलेखों की खोजों के ऊपर आधारित है। मंत्री उस ज्ञान के वर्ग से बच कर नहीं निकल सकते थे जिसके प्रकाशन के लिए वे स्वयं उत्तरदायी थे। और जहाँ उन्होंने यह समझना प्रारम्भ कर दिया कि इससे बचकर निकलने का कोई मार्ग नहीं है, वे उन व्यक्तियों की मंत्रणा को सुनने के लिए विवश हो गए जो उस ज्ञान को प्रकाश में लाए थे जिन्होंने उस ज्ञान को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया था जिन्होंने उसके परिणामों पर विचार किया है और उसके बारे में मान्यता का एक ऐसा भाव विकसित किया है जो प्लेटो के अनुसार उस ज्ञान में जो व्यक्तित्व का सजीव अंग बन जाये सदैव अन्तर्भूत होता है। मेरे विचार से यह कहना सही नहीं है जैसा कि सिविल सर्विस के कुछ आलोचकों ने कहा है कि उसके अधिकारियों में सत्ता प्राप्त करने की तृष्णा होती है। यदि आवास खराब है यदि सार्वजनिक स्वास्थ्य के स्तर को ऊँचा करना है यदि कुछ ऐसे वाणिज्य हैं जिनमें वेतन बहुत ही कम है यदि जनता कारखानों में कुछ निम्नतम स्वच्छता तथा सुरक्षा की मांग करती है तो ज्ञान का ऐसा संचय होना आवश्यक है जो कर्म की अनुमति दे सके। कर्म के कुछ सिद्धान्तों का निश्चय होना चाहिए और सिविल सर्विस का अधिकारी जिसने सम्पूर्ण जीवन इस ज्ञान के आराधन में व्यतीत किया है स्वभावतः इन सिद्धान्तों पर परामर्श देगा। फिर, चूंकि उसमें योग्यता है, अतः उसके विचार भी अवश्य होंगे और

वह मंत्री के निर्देश को बिना विचार-विमर्श के स्वीकार नहीं करेगा। मंत्री को यह बता देना कि उस नीति के जिसके लिए मंत्री उत्तरदायी होना चाहता है ये ये परिणाम हो सकते हैं उसका कर्तव्य है। उसे मंत्री को स्पष्ट रूप में बता देना चाहिए कि अमुक नीति से हानि की और अमुक नीति से लाभ की सम्भावना है। निश्चय मंत्री को ही करना चाहिए। लेकिन वह उस समय तक बुद्धिमत्तापूर्ण निश्चय नहीं कर सकता जब तक कि वह अपने अधिकारियों के अनुभव से लाभ नहीं उठाता। इसमें षड्यन्त्र जैसी कोई बात नहीं है। यह तो सामान्य व्यवहार-बुद्धि है। वह नीति जो अधिकारियों के अनुभव से पृथक् होगी निश्चितत: मूर्खतापूर्ण और अधिकतर विनाशक होगी।

संक्षेप में सिविल सर्विस का प्रभाव इसलिए है क्योंकि यह प्रभाव राजनीतिक जीवन में परिवर्तित आवश्यकताओं का मध्यस्थ है। जहाँ एक बार सार्वभौम मताधिकार हुआ राजनीतिक दल स्वभावत: अधिक से अधिक मत प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। वे अधिक से अधिक लोकमत को अपनी ओर आकृष्ट करने के विचार से अपने कार्यक्रमों का निर्माण करते हैं। जब शक्ति प्राप्त करने के उपरान्त उन्हें अपने कार्यक्रमों को व्यावहारिक रूप देना पड़ता है उसका प्रशासन का अर्थ यह होता है कि वे अपनी नीति का निर्माण उस ज्ञान और अनुभव के अनुसार करें जिनके लिए वे पूर्णत: तो नहीं किन्तु मुख्यत: विभागों के ऊपर निर्भर होते हैं। किसी भी ऐसे समाज में जो परम्पराओं से बँधा हो तथा कतिपय जीवन रीतियों का अभ्यस्त हो क्रमिक परिवर्तन के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से सुधार नहीं हो सकता। हमारी जैसी व्यवस्था जिसका कार्य व्यवहार को एकरूपता तथा परम्परानिष्ठ प्रणालियों की तुष्टि प्रदान करना हो एक ऐसे दायरे के अन्दर ही नवीन कार्यक्रमों को ग्रहण कर सकती है जिसकी रूपरेखाएँ ज्ञात हों और स्वीकृत हों। दायरे के अन्दर महत्त्वपूर्ण परिवर्तन सफलतापूर्वक तभी किए जा सकते हैं जबकि जनता का मानस उनकी आवश्यकताओं के विचार से आच्छादित हो गया हो। सिविल सर्विस का वास्तविक कार्य सरकार को एक चलते हुए प्रतिष्ठान के रूप में बनाए रखना है। वह लोक-निर्वाचनों के खतरे उसके परिणामों को एक ऐसे माध्यम के आश्रित करके जहाँ अन्वेषणात्मक ज्ञान कर्म का रचनात्मक आच्छादन हो दूर करती है। वह जनता की इच्छा को जिसे कि सत्ता रूढ़ दल प्रतिबिम्बित करता है निष्पक्ष तथा निरासक्त अनुभव के साथ सम्बन्धित करके व्यावहारिक आकार देती है। उसका प्राधिकार प्रभाव का है, शक्ति का नहीं। वह परिणामों की ओर संकेत करती है वह आदेश आरोपित नहीं करती। जो निर्णय सामने आता है वह मन्त्री का निर्णय होता है। उसका काम तो ऐसी सामग्री प्रस्तुत कर देना है जिसकी सहायता से उसके विचार में सर्वश्रेष्ठ निर्णय किया जा सके।

मेरा विश्वास है कि पिछले सत्तर वर्षों में सिविल सर्विस के सभी प्रमुख अधिकारियों ने अपना काम इसी भावना से किया है। उनके कार्यों के स्वरूप में परिवर्तन कुछ तो परिवर्तित निर्वाचकीय प्रत्याशाओं के परिणाम के कारण है तथा कुछ इस कारण है कि सिविल सर्विस विश्वयुद्ध के पश्चात् विभागों की एक असम्बद्ध शृंखला नहीं रही है, प्रत्युत उसने एक एकीकृत प्रशासनिक तंत्र का रूप धारण कर

किया है। पहला तथ्य निर्वाचकों के विस्तार का सीधा फल है। आज जिन्हें सन्तुष्ट किया जाता है उनकी मांगें उन मांगों से भिन्न हैं जिन्हें रसेल या पील ग्लैडस्टन या डिजरैली पूरा करने का प्रयास करते थे। दूसरे का कारण यह है कि सुधार प्रशासन की आवश्यकताओं के फलस्वरूप विभाग स्वयं को सर वारेन फिशर के अनुसार "एक सुसम्बद्ध तथा सम्पूर्ण अवयव के घटक" मानने को विवश हो गए हैं। पिछली पीढ़ी में हमने "विभागीय सिद्धान्त के स्थान पर सेवा-सिद्धान्त" का भी विकास देखा है। यह अभी पूर्ण नहीं है। प्रतिरक्षा के तीन विभागों का संघर्ष इसका एक प्रमाण है। लेकिन अब वह समय समीप आता जा रहा है जबकि सामान्य प्रशासनिक नीति की रूपरेखायें विभागों के प्रधानों के पारस्परिक और अविच्छिन्न सहयोग का परिणाम हुआ करेंगी। आजकल प्रशासन एक से प्रयोजन की पूर्ति के लिए पूर्वकाल की अपेक्षा कहीं अधिक चेष्टाशील है।

( २ )

सिविल सर्विस अपने आधुनिक रूप में प्रायः सत्तर वर्ष पुरानी है। इस समय इसका जो स्वरूप है, उसे श्री ग्लैडस्टन ने १८७० में ट्रेवेलियन नार्थकोर्ट रिपोर्ट की सिफारिशों को कार्यान्वित करके तथा उसमें प्रवेश के लिए "मुक्त प्रतियोगितामूलक परीक्षाओं" की स्थापना करके निर्धारित किया था। स्वभावतः इसके पश्चात् से उसकी रूपरेखा के अनुसार पुनर्गठन होते रहे हैं। लेकिन १८७० के पश्चात् के प्रत्येक परीक्षण ने भी ग्लैडस्टन के निर्णय की बुद्धिमत्ता को पुष्ट किया है। इसके कारण हमने गरमाम के प्रमुख दोषों का ही अन्त नहीं किया है। इन दोषों का अन्त हो जाने से एक ऐसी सिविल सर्विस अवतीर्ण हुई है जो भ्रष्टाचार से बहुत दूर है तथा जो अपेक्षा कृत थोड़े से पारितोषिक के बदले में भी इस देश के कुछ सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ हुई है।

मैं यहाँ ऐसे जटिल प्रश्न के संगठन और संचालन का वर्णन तक नहीं कर सकता। यहाँ सर्विस की मुख्य विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करना पर्याप्त होगा। मेरे विचार से इनमें से दो विशेषताएँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पहली विशेषता तो यह है कि सर्विस की विभिन्न श्रेणियाँ देश की शिक्षा-पद्धति के विभिन्न स्तरों के साथ जुड़ी हुई हैं। दूसरी विशेषता यह है कि प्रवेश के लिए परीक्षा की पद्धति किसी विशेष विभाग के लिए किन्हीं विशेष अर्हताओं की परीक्षा नहीं है प्रत्युत वह सामान्य बुद्धि की परीक्षा है जिसे नियुक्ति के पश्चात् उन समस्याओं के व्यावहारिक परिचय द्वारा जिनका उसे समाधान करना पड़ेगा प्रशिक्षित व अनुशासित किया जाता है।

यह समझना सुगम है कि पहले सिद्धान्त के प्रति प्रेरणा कितनी स्वाभाविक थी। लेकिन उसके परिणाम उससे कहीं अधिक व्यापक थे जितनी कि उसके निर्माताओं ने कल्पना की थी। उन्होंने वास्तव में जो किया वह यह था कि सिविल सर्विस को चार बड़ी श्रेणियों में बाँट दिया। ये चार श्रेणियाँ मोटे तौर पर सामान्य जनसंख्या के सामाजिक संघटन को व्यक्त करती थीं। सबसे नीचे धरातल पर वह श्रेणी थी जिसका सारा जीवन नैत्यक कार्य में व्यतीत होता था। इस श्रेणी को प्रवेश और

शुद्धता का तो ध्यान रखना पड़ता था लेकिन यह उपक्रम और उत्तरदायित्व से बिल्कुल वंचित थी। दूसरी श्रेणी क्लर्क-अधिकारियों की थी। इसे अधिकतर नैत्यक कार्य करना पड़ता था और केवल शिखर के कुछ लोगों को छोड़ कर इससे यही आशा की जाती थी कि यह परम्परागत नियमों को नई सामग्री के ऊपर लागू कर दे। इससे ऊँची अधिशासक-श्रेणी थी। यह श्रेणी उत्तरदायी अवश्य थी लेकिन इसका अधिकांश समय नीति के लिए सामग्री तैयार करने में जाता था न कि नीति के सम्बन्ध में पहल करने में। अंततः उनके ऊपर प्रशासकों की श्रेणी थी। ये लोग विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त किए होते थे मंत्रियों को मंत्रणा देते थे और नीति के निर्माता होते थे। उन पाँच लाख व्यक्तियों में से जो किसी न किसी रूप में सिविल सर्विस के अधिकारी हैं १३ व्यक्ति तो डाकखानों नावगनों तथा शाकघर जैसे औद्योगिक प्रतिष्ठानों में लगे हुए हैं। शेष में से प्राय ७ व्यक्ति क्लर्क-श्रेणी के १६ अधिशासक श्रेणी के तथा ११ प्रशासनिक श्रेणी के हैं। इनके अतिरिक्त प्राय २,५ व्यक्ति विभिन्न विभागों में निरीक्षक हैं और प्राय ३ ऐसे व्यक्ति हैं जो व्यावसायिक टेकनिकल तथा वैज्ञानिक कार्य करते हैं। इनमें शिल्पी बैरिस्टर, भौतिकशास्त्री और चिकित्सक आदि अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ सम्मिलित हैं।

इस रूपरेखा से विशेषकर युद्धोत्तर वर्षों में कुछ वस्तुएँ तुरन्त ही सामने आती हैं। सिविल सर्विस में वास्तविक शक्ति प्रशासनिक श्रेणी के पास है। यह श्रेणी सम्पूर्ण शासन की प्रेरक शक्ति है और यही ऐसे निर्णय करती है जिसका महत्व होता है। इस श्रेणी के व्यक्ति विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त किए हुए होते हैं। उनमें से अधिकांश ऑक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज से आते हैं। प्रशासनिक श्रेणी की सामाजिक रचना का विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि उसके सदस्य ऐसे धनिक परिवारों से सम्बन्ध रखते हैं जो अपने पुत्रों को बड़े सार्वजनिक विद्यालयों में भेज सकते हैं। यह विदेश-विभाग के सम्बन्ध में विशेष रूप से सत्य है। यद्यपि क्लर्क श्रेणी के कुछ लोगों की तो अधिशासक श्रेणी के पदों उन्नति कर दी जाती है, लेकिन अधिशासक श्रेणी और प्रशासनिक श्रेणी के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध बहुत कम रहता है। अधिशासक श्रेणी से प्रशासनिक श्रेणी के पदों पर वर्ष में शायद पचास व्यक्तियों की उन्नति हो पाती हो। कहने का अभिप्राय यह है कि इस संगठन की विभिन्न श्रेणियों के बीच कुछ ऐसी दरारें हैं जो शायद ही कभी मिट पायें। केवल दो-चार अपवादों को छोड़कर एक व्यक्ति जिस श्रेणी पर सिविल सर्विस में प्रवेश करता है वही श्रेणी उसके शासकीय जीवन को निर्धारित करती है। लेकिन चूंकि उसकी प्रवेश-श्रेणी प्राय पूर्ण रूप से उसकी शैक्षणिक सुविधाओं से निर्धारित होती है और ये शैक्षणिक सुविधाएँ उसकी पारिवारिक परिस्थितियों से निर्धारित होती हैं अतः एक व्यक्ति का शासकीय जीवन उस कुल द्वारा निर्धारित होता है जिसमें कि व्यक्ति जन्म लेता है।

यह कहा जा सकता है कि यह सब ब्रिटिश सिविल सर्विस के स्वरूप की अनुचित व्याख्या करता है। जो उस पर शासन करते हैं, वे मुख्यतः उसी वर्ग से सम्बन्ध रखते

किया है। पहला तथ्य निर्वाचकों के विस्तार का सीधा फल है। आज जिन्हें सन्तुष्ट किया जाता है उनकी मांगें उन मांगों से भिन्न है जिन्हें रसेल या पील ग्लैडस्टन या डिजरैली पूरा करने का प्रयास करते थे। दूसरे का कारण यह है कि सुधार प्रशासन की आवश्यकताओं के फलस्वरूप विभाग स्वयं को सर वारेन फिशर के अनुसार "एक सुसम्बद्ध तथा सम्पूर्ण अवयव के घटक" मानने को विवश हो गए हैं। पिछली पीढ़ी में हमने "विभागीय सिद्धान्त के स्थान पर सेवा-सिद्धान्त" का भी विकास देखा है। यह अभी पूर्ण नहीं है। प्रतिरक्षा के तीन विभागों का संघर्ष इसका एक प्रमाण है। लेकिन अब वह समय समीप आता जा रहा है जबकि सामान्य प्रशासनिक नीति की रूपरेखाएँ विभागों के प्रधानों के पारस्परिक और अविच्छिन्न सहयोग का परिणाम हुआ करेंगी। आजकल प्रशासन एक से प्रयोजन की पूर्ति के लिए पूर्वकाल की अपेक्षा कहीं अधिक चेष्टाशील है।

( २ )

सिविल सर्विस अपने आधुनिक रूप में प्रायः सत्तर वर्ष पुरानी है। इस समय इसका जो स्वरूप है उसे भी ग्लैडस्टन ने १८७० में ट्रेवेलियन नार्थकोट रिपोर्ट की सिफारिशों को कार्यान्वित करके तथा उसमें प्रवेश के लिए 'मुक्त प्रतियोगितामूलक परीक्षाओं' की स्थापना करके निर्धारित किया था। स्वभावतः इसके पश्चात् से उसकी रूपरेखा के न्यूनाधिक पुनर्गठन होते रहे हैं। लेकिन १८७० के पश्चात् के प्रत्येक परीक्षण ने भी ग्लैडस्टन के निर्णय की बुद्धिमत्ता को पुष्ट किया है। इसके कारण हमने मरणासन्न के प्रमुख दोषों का ही अन्त नहीं किया है। इन दोषों का अन्त हो जाने से एक ऐसी सिविल सर्विस अवतीर्ण हुई है जो भ्रष्टाचार से बहुत दूर है तथा जो अपेक्षाकृत थोड़े से पारितोषिक के बदले में भी इस देश के कुछ सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ हुई है।

मैं यहाँ ऐसे जटिल प्रश्न के संगठन और संचालन का वर्णन तक नहीं कर सकता। यहाँ सर्विस की मुख्य विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करना पर्याप्त होगा। मेरे विचार में इनमें से दो विशेषताएँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पहली विशेषता तो यह है कि सर्विस की विभिन्न श्रेणियाँ देश की शिक्षा-पद्धति के विभिन्न स्तरों के साथ जुड़ी हुई हैं। दूसरी विशेषता यह है कि प्रवेश के लिए परीक्षा की पद्धति किसी विशेष विभाग के लिए किन्हीं विशेष अर्हताओं की परीक्षा नहीं है प्रत्युत वह सामान्य बुद्धि की परीक्षा है जिसे नियुक्ति के पश्चात् उन समस्याओं के व्यावहारिक परिचय द्वारा जिनका उसे समाधान करना पड़ेगा प्रशिक्षित व अनुशासित किया जाता है।

यह समझना सुगम है कि पहले सिद्धान्त के प्रति प्रेरणा कितनी स्वाभाविक थी। लेकिन उसके परिणाम उससे कहीं अधिक व्यापक थे जितनी कि उसके निर्माताओं ने कल्पना की थी। उसने वास्तव में जो किया वह यह था कि सिविल सर्विस को चार बड़ी श्रेणियों में बाँट दिया। ये चार श्रेणियाँ मोटे तौर पर सामान्य जनसंख्या के सामाजिक संगठन की व्यक्त करती थीं। सबसे नीचे धरातल पर वह श्रेणी थी जिसका सारा जीवन नैत्यक कार्य में व्यतीत होता था। इस श्रेणी को प्रयोग और

कुशलता का भी ध्यान रखना पड़ता था लेकिन यह उपक्रम और उत्तरदायित्व से बिल्कुल वंचित थी। दूसरी श्रेणी लेखक-अधिकारियों की थी। इसे अधिकतर नैत्यक कार्य करना पड़ता था और केवल शिखर के कुछ लोगों को छोड़ कर इससे यही आशा की जाती थी कि वह परम्परागत नियमों को नई सामग्री के ऊपर लागू कर दे। इससे ऊंची अधिशासक-श्रेणी थी। यह श्रेणी उत्तरदायी अवश्य थी लेकिन इसका अधिकांश समय नीति के लिए सामग्री तैयार करने में जाता था न कि नीति के सम्बन्ध में पहल करने में। अन्ततः उनमें ऊपर प्रशासकों की श्रेणी थी। ये लोग विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त किए होते थे मंत्रियों को मंत्रणा देते थे और नीति के निर्माता होते थे। उन पाँच लाख व्यक्तियों में से जो किसी न किसी रूप में सिविल सर्विस के अधिकारी हैं ११ व्यक्ति तो कारखानों नावघरों तथा डाकघर जैसे औद्योगिक प्रतिष्ठानों में लगे हुए हैं। शेष में से प्राय ७ व्यक्ति क्लर्क-श्रेणी के १६ अधिशासक श्रेणी के तथा ११ • प्रशासनिक श्रेणी के हैं। इनके अतिरिक्त प्राय २,५ व्यक्ति विभिन्न विभागों में निरीक्षक हैं और प्राय ३ ऐसे व्यक्ति हैं जो व्यावसायिक टेक्निकल तथा वैज्ञानिक कार्य करते हैं। इनमें सिविल बैरिस्टर, भौतिकशास्त्री और चिकित्सक आदि अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ सम्मिलित हैं।

इस रूपरेखा से विशेषकर युद्धोत्तर वर्षों में कुछ वस्तुएँ तुरन्त ही सामने आती हैं। सिविल सर्विस में वास्तविक शक्ति प्रशासनिक श्रेणी के पास है। यह श्रेणी सम्पूर्ण शासन की प्रेरक शक्ति है और यही ऐसे निर्णय करती है जिसका महत्त्व होता है। इस श्रेणी के व्यक्ति विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त किए हुए होते हैं। उनमें से अधिकांश ऑक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज से आते हैं। प्रशासनिक श्रेणी की सामाजिक रचना का विश्लेषण यह प्रकट करता है कि उसके सदस्य ऐसे धनिक परिवारों से सम्बन्ध रखते हैं जो अपने पुत्रों को बड़े सार्वजनिक विद्यालयों में भेज सकते हैं। यह विशेष विभाग के सम्बन्ध में विशेष रूप से सत्य है। यद्यपि क्लर्क श्रेणी के कुछ लोगों की तो अधिशासक श्रेणी के पदों उन्नति कर दी जाती है, लेकिन अधिशासक श्रेणी और प्रशासनिक श्रेणी के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध बहुत कम रहता है। अधिशासक श्रेणी से प्रशासनिक श्रेणी के पदों पर वर्ष में शायद पचास व्यक्तियों की उन्नति हो पाती हो। कहने का अभिप्राय यह है कि इस संगठन की विभिन्न श्रेणियों के बीच कुछ ऐसी दरारें हैं जो शायद ही कभी मिट पायें। केवल दो-चार अपवादों को छोड़कर एक व्यक्ति जिस श्रेणी पर सिविल सर्विस में प्रवेश करता है, वही श्रेणी उसके शासकीय जीवन को निर्धारित करती है। लेकिन चूँकि उसकी प्रवेश-श्रेणी प्राय पूर्ण रूप से उसकी शैक्षणिक सुविधाओं से निर्धारित होती है और ये शैक्षणिक सुविधायें उसकी पारिवारिक परिस्थितियों से निर्धारित होती हैं अतः एक व्यक्ति का शासकीय जीवन उस वर्ग द्वारा निर्धारित होता है जिसमें कि व्यक्ति जन्म लेता है।

यह कहा जा सकता है कि यह सब ब्रिटिश सिविल सर्विस के स्वरूप की अनुचित व्याख्या करता है। जो इस पर शासन करते हैं वे मुख्यतः उसी वर्ग से सम्बन्ध रखते

है जो कि कॉमन-सभा पर शासन करता है। मुख्यतः वे एक से विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में शिक्षा पाते हैं और सर्विस में प्रवेश करने के उपरान्त एक से क्लबों के सदस्य बनते हैं। उनके विचार या यह कहना चाहिए कि वे धारणाएँ जिनके ऊपर ये विचार निर्भर होते हैं, उन लोगों की सी ही हैं जिनके हाथ में उत्पादन के साधनों का नियंत्रण है। सिविल सर्विस के नाते उनकी सफलता मुख्यतः इसी तथ्य के ऊपर आधारित है। सामाजिक नीति के सम्बन्ध में उनके विचार बहुत कुछ उन मन्त्रियों के समान ही होते हैं जो कि उनके लिए उत्तरदायी होते हैं। वे जिस समाज की कल्पना करते हैं वह न्यूनाधिक रूप से उसी प्रकार का समाज होता है जिसकी वे मन्त्री जिनके साथ उन्होंने सहयोग किया है कल्पना करते हैं। उनके अनुभव में ऐसी कोई बात नहीं होगी जिससे वे वातावरण का निर्वचन कुछ इस प्रकार करने लगें कि उनके मन में उन धारणाओं के प्रति शंका उत्पन्न हो जाये जिनके ऊपर कि हमारी व्यवस्था निर्भर है।

मेरे विचार से यही वह कारण है कि इन साठ वर्षों में क्यों सिविल सर्विस अपनी तटस्थता बनाए रख सकी है और क्यों उसकी सिफारिशें दोनों ही दलों के मन्त्रि मण्डलों को समान रूप से स्वीकार्य हुई हैं। यह तटस्थ इसलिए रह सकी है क्योंकि उसके कार्य सम्बन्धी सिद्धान्त वही रहे हैं जिनके ऊपर कि युद्ध के पूर्व इस देश के राजनीतिक दलों की नीति निर्भर थी। चूंकि १९२२ के पश्चात् से कोई भी श्रमिक सरकार व्यावहारिक दृष्टि से इन सिद्धान्तों से नहीं हटी है अतः सिविल सर्विस की तटस्थता के सम्बन्ध में कभी कोई शंका नहीं उठी है। नीति के सम्बन्ध में भी यही बात सच है। आधुनिक सिविल सर्विस के युग में किसी भी सरकार ने ऐसे कार्यक्रमों पर आचरण नहीं किया जिनसे कि राज्य की बुनियादों पर सन्देह उठता। क्रमवर्ती सरकार मानों में भिन्न रही हैं। सिविल सर्विस की तटस्थता ऐसी नीति का समर्थन करने की आवश्यकता द्वारा परीक्षित नहीं हुई है जो समाजवादी दल की नीति की भाँति उन परम्परागत विचारों को चुनौती देती हो जिनका कि उसने अब तक साथ दिया है।

मेरे कहने का यह अभिप्राय यद्यपि नहीं है कि सिविल सर्विस इस प्रकार की परीक्षा में सफल नहीं होगी। मैं केवल यही कह रहा हूँ कि अब तक ऐसी आवश्यकता नहीं उठी है। मैं यह अवश्य निवेदन करता हूँ कि उसकी अपूर्व सफलता का एक मुख्य कारण यह है नीति की बुनियादों के ऊपर राजनीतिक दलों में एकमत रहा है। इसके फलस्वरूप मन्त्रियों तथा अधिकारियों में प्रेमपूर्ण सहयोग बना रहा है। इस सहयोग का आधार यह है कि वे दोनों नीति के ऐसे मोटे सिद्धान्त कार्यान्वित करने के लिए जिन्हें वे समान रूप से स्वीकार करते हैं एक साथ हैं। वास्तविक समस्याएँ तो तभी आरम्भ होंगी जब कि यह स्थिति नहीं रहेगी। उदाहरणार्थ क्या सर मॉरिस हैंकी जिन्होंने राजकीय आयोग के सामने यह कहा है कि वे यातायात-उद्योग के राष्ट्रीयकरण को घातक मानते हैं उस श्रमिक सरकार के साथ सहयोग कर सकेंगे जो कि इस नीति के ऊपर अटल है? क्या अर्थ-विभाग जो सार्वजनिक निर्माण-कार्यों की बड़ी नीति

के बराबर विरुद्ध रहा है ऐसे मंत्रि-मण्डल के साथ सहयोग कर सकेगा जिसकी इस विरोध से कोई सहानुभूति न हो। क्या वह विदेश-विभाग जो होर-लावल प्रस्तावों के लिए इतना अधिक उत्तरदायी है पूरी शक्ति से ऐसे किसी मन्त्री का साथ देगा जो अपनी सारी नीति सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त की समाजवादी व्याख्या के ऊपर आधारित करता हो।

इन समस्त प्रश्नों का 'हाँ' में उत्तर देना कठिन है। यह सही है कि सिविल सर्विस के विभाग ने मन्त्रियों के साथ सच्चे हृदय से सहयोग करने की एक शक्तिशाली परम्परा का निर्माण कर लिया है। लेकिन यहाँ एक महत्त्वपूर्ण अन्तर विचारणीय है। एक ऐसी नीति को कार्यान्वित करना जिसके सिद्धान्तों को आप स्वीकार करते हैं एक बात है। लेकिन एक ऐसी नीति को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करना, जिसकी बुनियादों को आप गलत मानते हैं एक दूसरी बात है। ऐसी स्थिति में उपेक्षा प्रभृति सामने आने वाली बाधाओं का अधिक-से-अधिक बढ़ा देगी। यह दृष्टिकोण संकल्प-शक्ति को नष्ट कर कर देता है तथा इसका महत्त्व समझना अत्यन्त आवश्यक है। सम्बद्ध मन्त्री के ऊपर भी इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। वह उन सन्देहों तथा खतरों की ओर देखने लगता है जो कि उसकी नीति में काफी बड़े पैमाने पर अन्तर्निहित हो सकते हैं। उसे अपनी नीति पर सब ओर से विचार करके देखना पड़ता है। क्योंकि उसकी तनिक सी भूल से अत्यन्त घातक परिणाम निकल सकते हैं। उसके अधिकारी भी इस सारी कार्यवाही में पूर्णतः ईमानदार होते हैं। वे वैधानिक दृष्टि से भी सही होते हैं। वे यही तो चाहते हैं कि जब तक मन्त्री अपनी नई नीति पर सर्वांगीण दृष्टि से विचार न कर ले वह आचरण की दिशा में प्रवृत्त न हो। वे यह नहीं चाहते कि मन्त्री कोई भूल करे। उनका कार्य मन्त्री के लिए सुगमतम संभव मार्ग खोज निकालना है। यहाँ यह समझना महत्त्वपूर्ण है कि अन्तर्ग्रस्त समस्या ऐसे किसी परिमाणात्मक समन्वय की नहीं है जिसकी कि हमारी व्यवस्था को आवश्यकता है। यह भेद प्रमुख सिद्धान्तों के संघर्ष के कारण गुणात्मक है। हम उस समय तक यह नहीं जान सकते कि सिविल सर्विस की तटस्थता क्या है जब कि हम उसकी परीक्षा गुणात्मक धरातल पर न कर लें।

जहाँ तक हमारा ज्ञान है, व्हाइट हाल में इस प्रकार की तटस्थता पर्याप्त मात्रा में नहीं है। हमारा प्रश्न कस्टर-संकट में सेना के रुख से सम्बन्ध रखता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सेना की परम्पराएँ और मनोविज्ञान असैनिक अधिकारियों की परम्पराओं और मनोविज्ञान से बिल्कुल भिन्न होता है। लेकिन इस प्रसंग में यह सचमुच अत्यंत महत्त्व का है कि सर हेनरी विल्सन ने जो युद्ध-मंत्रालय में सैनिक कार्यवाहियों के निर्देशक थे अपनी सरकार के विरुद्ध जिसकी वे सेवा कर रहे थे उन अधिकारियों के साथ जिनको वह सरकार आदेश दे रही थी और विरोधी दल के नेताओं के साथ जो इसी प्रकार के षड्यन्त्रों से सरकार की योजनाओं को नष्ट-भ्रष्ट करने की कुचेष्टा में रत थे सहयोग करना अपनी सरकारी स्थिति के प्रतिकूल नहीं समझा। यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि सर जॉन फ्रेंच ने जब वे फ्रांस में प्रधान

सेनापति थे अपने विचारों को उस सरकार के ऊपर लादने के उद्देश्य से जिसने उन्हें वहाँ नियुक्त किया था समाचार-पत्रों के [साथ षड्यंत्र किया था। मैंने केवल दो ही उदाहरण लिए हैं। सर हेनरी विल्सन की डायरी और श्री लॉयड जार्ज के युद्ध-संस्मरणों के पाठक जानते हैं कि ये अद्वितीय नहीं हैं। ये जिस गम्भीर समस्या को खड़ा करते हैं, वह समस्या सेना के उन अधिकारियों की है जिनके दृढ़ विचार उस सरकार के विरुद्ध हैं जिसकी कि वे सेवा करते हैं। यदि हम संसदीय व्यवस्था की परमेष्ठता को स्वीकार करते हैं जैसा कि संसदीय शासन में स्वाभाविक है तो क्या सरकार कठिन परिस्थितियों में अपने अधिकारियों की अविभक्त निष्ठा के ऊपर निर्भर रह सकती है। क्या वह उनके वर्ग-सम्बन्धों को याद रखते हुए यह याद रखते हुए कि रूस जर्मनी इटली और स्पेन में इन वर्ग-सम्बन्धों का क्या अर्थ रहा है ऐसा कर सकती है? ये बहुत जटिल और भयावह प्रश्न हैं। यह ठीक है कि ये ऐसी सीमाओं पर हैं जिन तक राजनीतिक वाद विवादों से कोई नहीं पहुँचाना चाहेगा। लेकिन चूंकि संकट के समय वहाँ तक पहुँच हो जाती है, अतः कोई भी व्यक्ति जो राजनीतिक शक्ति के प्रश्नों पर विचार करता है उन पर ध्यान रखना नहीं भूल सकता।

यह ठीक है कि सैनिक अधिकारी की शिक्षा-दीक्षा ही कुछ ऐसी होती है कि उसका दृष्टिकोण निरासक्त होता है तथा वह कुछ ऐसे विचारों में रुचि लेता है जो सैनिक अधिकारी के लिए कहीं अधिक दुर्लभ होते हैं। इसका कारण यह है कि हमारी सेना अब भी वैलिंगटन के समय की भांति मुख्यतः वर्ग-सेना है। श्री लॉयड जार्ज ने इसके बारे में लिखा है "सेना में योग्यतम व्यक्ति सर्वोच्च पदों पर नहीं पहुँचते। सेना में पदोन्नति के मुख्य तत्त्व ज्येष्ठता तथा सामाजिकता है। विभाग का भी इसमें बहुत हाथ रहता है। पदोन्नति के मामले में बुद्धि का स्थान गौण माना जाता है। ऊँची बौद्धिक शक्तियों के व्यक्ति ऐसी वृत्ति को पसन्द नहीं करते जो उनकी शक्तियों के उपयोग का इतना कम अवसर देती हो तथा जिसमें पारितोषिक किसी विषय समता से कोई सम्बन्ध न रखते हों।" यह केवल एक क्रान्तिकारी प्रधान-मंत्री का ही निर्णय नहीं है। इसे लॉर्ड एशर जैसे एक अनुभवी व्यक्ति ने भी प्रगट किया था। उन्होंने इस सम्बन्ध में उन गुणों की तुलना की जिनकी क्रमशः सेना तथा नौ-सेना की सेवा में आवश्यकता होती है। उनका कहना था कि नौ-सेना की सेवा में चरित्र तथा प्रतिभा के सर्वश्रेष्ठ गुण प्रकाश में आ जाते हैं। सेना की सेवा में यह बात नहीं है। ये आलोचनाएँ अल्प परिमाण में कूटनीतिक सेवाओं के ऊपर भी लागू होती हैं। अब ब्राइट की तरह यह कहना ठीक नहीं है कि विदेश-मंत्रालय ब्रिटिश अभिजात-वर्ग का बहिर्गमन-विभाग है। १९१९ के बाद से उसकी भरती की प्रक्रिया में जो परिवर्तन हो गया है उसके फल-स्वरूप अब वे लोग भी थोड़ा बहुत आ गए हैं जहाँ से उत्तम कर्मचारियों की भरती होती है। लेकिन यह बात अब भी सन्देहास्पद है कि अभिजात-वर्ग और शासन का सम्बन्ध जिस्टर जो आज अधिकांश राज्यों की विशेषता है विदेश-विभाग अथवा कूटनीतिक सेवाओं की प्रवृत्तियों में दृष्टिगत होता है। विदेशों में ब्रिटिश दूतावास के लिए

"सर्वोच्च सामाजिक वृत्तों" के बाहर व्यापक और घनिष्ठ सम्पर्क बनाए रखना सर्वथा कठिन है। यदि विदेश-विभाग के कर्मचारियों का सर्वेक्षण किया जाये तो पता चलेगा कि उनके चुनाव का मुख्य आधार अब भी यह विचार है कि इंग्लैण्ड में प्राय १९ प्रतिशत नैवासिक कूटनीतिक प्रतिभा वहाँ के ग्यारह प्रमुख सार्वजनिक विद्यालयों में ही केन्द्रित है। मी वाइटिंग ने लिखा है, "सुधारों के बावजूद वातावरण के साथ सम्पत्तिधारी और व्यावसायिक वर्गों के पक्ष में ही अधिक पड़ते हैं।

कहने का सार यह है कि सार्वजनिक सेवाओं के चाहे वे असैनिक सेवाएँ हों या सैनिक सेवाएँ हों सभी प्रमुख अधिकारी समाज के एक अत्यन्त संकुचित वर्ग से आते हैं। कुछ व्यक्तिगत अपवादों को छोड़कर उनका दृष्टिकोण यह रहता है कि वर्तमान समाज-व्यवस्था के मूल सिद्धान्त वाद-विवाद की परिधि से बाहर हैं। फलतः ये सिद्धान्त उनके विचार के विस्तार को और उनके निर्णयों की सीमाओं को निर्धारित करते हैं। मुझे इसमें संदेह नहीं है कि इन अधिकारियों की अन्तर्दृष्टि काफी तीव्र है। जिन लोगों ने स्वास्थ्य-बीमा-योजना, बेरोजगारी बीमा सर्विस और मजदूर निरीक्षण पद्धति का संगठन किया है उन्हें अपने लिए क्षमा याचना की कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन इन अधिकारियों की वास्तविक परीक्षा तब होगी है जब उन्हें वर्तमान समाज-व्यवस्था के सिद्धान्तों के दायरे में नहीं प्रत्युत उससे बाहर काम करना पड़े। उस समय क्या स्थिति सामने आयेगी इस सम्बन्ध में हम केवल कल्पना ही कर सकते हैं क्योंकि अभी तक सर्विस के किसी अंग को ऐसी अग्नि-परीक्षा में से होकर नहीं गुजरना पड़ा है। हो सकता है कि सिविल सर्विस के अधिकारी इस परीक्षा में सफलतापूर्वक उत्तीर्ण हों। लेकिन हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि अभी तक हमारी पद्धति की सफलता का मुख्य कारण यह है कि अभी तक इस परीक्षा का सामना करने की आवश्यकता नहीं पड़ी है।

मैं इस अध्याय में आगे चल कर उन कुछ आलोचनाओं का विवेचन करूँगा जो अधिकारी-वर्ग की प्रवृत्तियों के संबंध में काफी हद तक सही हैं। यहाँ एक अन्य बात पर जिसकी ओर मैं पहले संकेत कर चुका हूँ बल देना उचित होगा। सिविल सर्विस की एक प्रमुख विशेषता अनोखापन है और यह मेरे विचार से उस प्रक्रिया के कारण है जिसके अनुसार प्रशासनिक वर्ग के सदस्य चुन जाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रशासनिक पद्धति की मैकॉले की इस धारणा से बढ़ी सत्य कोई बात नहीं है कि सिविल सर्विस में चुनाव का आधार विशेष प्रशिक्षण नहीं प्रत्युत सामान्य ज्ञान होना चाहिए। यह ठीक है कि इस समय परीक्षा-विषयों पर जो बल दिया जाता है वह पेशेवर दृष्टि से बहुत कुछ अप्रासंगिक है। डा० फाइनर का यह कहना भी ठीक है कि सफल प्रत्याशियों के चुनाव में मौखिक परीक्षाओं को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाता है। मेरा विचार है कि स्नातकोत्तर स्तर के कुछ प्रत्याशियों को इस आधार पर कि उन्होंने सामाजिक विज्ञानों को कोई मौलिक देन दी है उदाहरणार्थ उन्होंने डाक्टरेट के लिए कोई अच्छा प्रबंध लिखा है सिविल सर्विस में ले लिया जाना चाहिए। यह माना कि वर्तमान व्यवस्था में काफी सुधार किए जा सकते हैं लेकिन इसका मुख्य सिद्धान्त पूर्ण रूप से सही है।

प्रशासनिक प्रक्रम के नियन्त्रण के लिए जिस चीज की आवश्यकता है, वह सामान्य मस्तिष्क है विशेषोन्मुख मस्तिष्क नहीं। फलतः मेरी दृष्टि में विभागों के सर्वोच्च पद उन व्यक्तियों के हाथों में रहना जिन्होंने मानववादी शिक्षा प्राप्त की है, सर्विस के लिए अत्यन्त शुभ सिद्ध हुआ है। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि विशेषज्ञ में ये गुण हो ही नहीं सकते। मेरे कहने का आशय केवल यही है कि विशेषज्ञ के साथ यह खतरा रहता है कि वहाँ न दृष्टि की गहराई पाता है दृष्टि की व्यापकता को देता है। यह कोई संयोग नहीं है कि सैनिक तथा नाविक शायद ही कभी अच्छे मन्त्री रहे हों इसी प्रकार यह भी कोई संयोग नहीं है कि इंजीनियर, डाक्टर और अध्यापक शायद ही कभी सफल राजनेता रहे हों। विभागों के शिखर पर स्थित यदि किसी बड़े अधिकारी को सफल होना है तो यह आवश्यक है कि वह एक सफल राजनेता हो। उसे न केवल यही देखना पड़ता है कि सामग्री किधर से आती है उसे इसका भी विचार करना पड़ता है कि इस सामग्री को उस लोकमत के साथ किस प्रकार प्रकार संयुक्त किया जाये जो सामग्री के अधिनियमों के रूप में आने पर प्रभावित होगी। प्रशासक के रूप में उसका कार्य यह है कि वह भिन्न कुशलता से प्रासंगिक चुनाव करता है तथा महत्त्वपूर्ण बातों पर बल देता है। मेरी धारणा है कि दो-एक अपवादों को छोड़कर शायद ही किसी विशेषज्ञ में यह गुण हो। मेरा विचार है कि यह गुण सर्वश्रेष्ठ मानववादी शिक्षण से ही उत्पन्न होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मानववादी शिक्षण इस गुण को उत्पन्न करने की गारन्टी है। इसका अर्थ केवल यही है कि ऐसे दो व्यक्तियों में से जिनमें से एक तो विशेषज्ञ हो तथा दूसरे ने ऑक्सफोर्ड के मानववादी विद्यालय (Literae Humaniores) में शिक्षा प्राप्त की हो दूसरे के सफल प्रशासक होने की अधिक सम्भावना है।

इस प्रकार, साक्ष्य को देखते हुए मेरा यह विचार है कि मानववादी शिक्षण विशेषोन्मुख शिक्षण की अपेक्षा दृष्टिकोण की अधिक उदारता तथा व्यापकता उत्पन्न करता है। विशेषज्ञ के साथ खतरा यह है कि वह अपने विषय क्षेत्र से सम्बन्धित सत्य को निष्कर्षों की दृष्टि से उससे कहीं अधिक व्यापक मान लेता है जितना कि वह तथ्यों के अनुसार वास्तव में होता है। वह अपने सिद्धान्तों को स्वयंसिद्ध मानता है और यह भूल सा जाता है कि प्रशासन की कला अपनी सर्वोच्च स्थिति में सिद्धान्तों के परीक्षण में निहित है। मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह उस सूक्ष्म परिवर्तन से अच्छी तरह समझा जा सकता है जिसने पिछली शताब्दी में राजनीतिक अर्थशास्त्र को अर्थ-विज्ञान के रूप में बदल दिया है। एक में जैसा कि मिल अथवा मार्शल के पाठक प्रत्येक पृष्ठ पर जान जाते हैं लेखक को दोनों ही वस्तुओं का—अपनी उपकल्पना की दुर्बलता का जहाँ से वह प्रारम्भ करता है तथा उस सीमा का जहाँ तक हेतु उसके निष्कर्षों को अपूर्ण कर देता है ज्ञान रहता है। दूसरे में लेखक एक ऐसी क्रमबद्ध प्रतिकृति विधमन-रीति से एक ऐसे स्तर को रखने की चेष्टा करता है जिसमें मानव-प्रकृति वर्तमान सम्पत्ति-व्यवस्था के कानूनी सम्बन्धों, राज्य-प्रभुत्व की सर्वोच्चता तथा ऐसे ही कुछ और दूसरे मामलों

को स्वयंसिद्ध मान लेता है। इसलिए जब वह अपनी कल्पना प्रतिकृति के निष्कर्षों को अन्य तथ्यों के वास्तविक संसार में स्थानान्तरित करता है उसके निष्कर्षों की असम्बद्धता अत्यन्त विस्मयोत्पादक होती है। व अविचलित प्टोलमैक ज्योतिष के एक उदासीन विश्वासी के को कोपर्निकस की उपपत्ति[2] को मानना अस्वीकार करता है विचार मालूम पड़ते हैं।

मेरा विचार है कि मैकॉले के सिद्धान्त को अलग चुनाव का आधार मानने से सिविल सर्विस इस खतरे से बच गई है। लेकिन केवल यही पर्याप्त नहीं है। मेरे विचार से दो खतरे एक और हैं जिनकी ओर पिछले सत्तर वर्षों में पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। पहला खतरा तो यह है कि सिविल सर्विस के अधिकारी एक बहुत ही सीमित वर्ग से आते हैं। कारण यह है कि उनमें उस अनुभव को जिसका उन्हें सामना करना पड़ता है अनुभव करने की क्षमता नहीं होती। उनकी जीवन-नीतियाँ विचार-पद्धतियाँ और विभागीय परम्पराएँ एक ऐसे मानसिक वातावरण की प्रतीक हैं जो उस मानसिक वातावरण से जिसके परिणामों के लिए उन्हें काम करना पड़ता है बिल्कुल भिन्न होते हैं। वे अपने इस कार्य को सफलतापूर्वक कर सकते हैं, यह एक पीढ़ी पूर्व की अपेक्षा आज कम निश्चित है। उदाहरणार्थ १९१४ में कम्पेन्सेशन एमिस्टेन्स बोर्ड के नए अनुपात निर्धारित करने में सिविल सर्विस के अधिकारी बुरी तरह असफल हुए थे। दर-सुधार के सम्बन्ध में भी वे इसी तरह से असफल हुए हैं। खानों के निरीक्षण की व्यवस्था के बारे में भी इसी प्रकार की असफलता हाथ लगी है। ग्रस्फोर्ड में ग्रेस्फोर्ड की खान के अन्दर जो शोचनीय घटना हुई है वह इस बात का प्रमाण है। टेक्निकल और माध्यमिक शिक्षा के विकास में यदि असफलता न मानी जाये तो भी इतना अवश्य है कि सिविल सर्विस की ओर से सम्बद्ध प्रयोग का अभाव रहा है। मैंने केवल कुछ ऐसी बड़ी-बड़ी समस्याओं को ही उदाहरण के लिए चुना है जो युद्धोत्तर वर्षों में हमारे सामने आई हैं और सिविल सर्विस के अधिकारी जिनका ठीक से समाधान नहीं कर सके हैं। शायद सबसे दुरन्त समस्या अधिकृत बेकारी की है और ऐसा मालूम पड़ता है कि सिविल सर्विस ने न तो इस समस्या की गुरुता को ही समझा है और न अविलम्ब शीघ्रता को ही।

क्यों? हम यह माने लेते हैं कि सिविल सर्विस के अधिकारियों को अपने प्रस्तावों पर राजनीतिक संभावनाओं के अनुसार ही विचार करना पड़ता है। हमें यह भी मान लेना चाहिए कि जो स्थिति जैसी है, उसे वैसी ही बनाए रखना भी सार्वजनिक

---

१ प्टोलमैक ज्योतिष ईसा की दूसरी शताब्दी में मिस्र के एलेक्जेंड्रिया नगर के निवासी प्टोलमी द्वारा प्रवर्तित ज्योतिष शास्त्र है। इसके अनुसार पृथ्वी एक स्थिर पुंज है। तथा सूर्य व अन्य ग्रह-नक्षत्रादि उसके चारों ओर भ्रमण करते हैं।

२. कोपर्निकस का ज्योतिष जिसके अनुसार पृथ्वी सूर्य तथा अन्य ग्रह-नक्षत्रादि सूर्य के चारों ओर घूमते हैं।

प्रशासन की कला का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। इन सीमाओं को मान लेने पर भी यह स्पष्ट है कि अधिकारियों का अधिकांश चिन्तन इस तथ्य से सीमित रहता है कि उनके अनुभव उन्हें हमारी समस्याओं की गुरुता समझने की सामर्थ्य नहीं देते। उस प्रकार की चेतना जिसका मैं विचार कर रहा हूँ बेरोजगारी के क्षणों के प्रासंगिक सम्पर्क, श्रमिक संघ के शिष्ट-मंडल की भेंट, कॉमन-सभा के श्रमिक सदस्यों और उच्च अधिकारियों की मित्रता से भी उत्पन्न नहीं होती। वह इस तथ्य से भी उत्पन्न नहीं होती कि सिविल सर्विस के तरुण अधिकारी ने छः मास तक टॉयन्बी हॉल में निवास किया है। हमारी सिविल सर्विस में सबसे बड़ी कमी इस बात की है कि एक वर्ग दूसरे वर्ग के अनुभवों को ठीक से नहीं समझता। टाइम्स बाजार ने लिखा था कि 'तरुण अधिकारियों के श्रेष्ठ प्रशिक्षण की व्यवस्था यह है कि उन्हें उस प्रकार के कार्य का अनुभव दिया जाये जो कि उन्हें करना है।' अभी तक हमने समुचित रूप से इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं की है।

यद्यपि उक्त सुझाव काफी महत्त्वपूर्ण है लेकिन प्रश्न इससे भी गहरा है। वह इस रोचक प्रस्ताव से भी (जिसके लिए हम मुख्य रूप से टाइम्स बाजार के ऋणी हैं) अधिक गहरा है कि अधिकारियों को पूरे वेतन पर अनुपस्थिति की छुट्टी मिल जाये जिससे कि वे विभाग के बाहर ऐसा ज्ञान अर्जित कर सकें जो उनके कार्य में उपयोगी हो। प्रश्न ऐसी मानसिक प्रवृत्तियों को प्राप्त करने का है जो द्रुत परिवर्तन के युग में बिना किसी भय के परम्परा की बनियादों तक जा सकें तथा उनके परीक्षण के प्रकाश में नवीन सुधारों की आवश्यकता का पूरा महत्त्व समझ सकें। सिविल सर्विस के समस्त गुणों को मानते हुए भी मुझे इसमें सन्देह है कि उसकी ऐसी प्रवृत्ति है या वह ऐसी प्रवृत्ति के अनुकूल है। मेरे विचार से इसका कारण प्रत्येक विभाग की परम्परा तथा उस सीमित कर्म-क्षेत्र का जिससे अधिकारी आते हैं अन्तर्सम्बन्ध है।

प्रायः प्रत्येक स्थिति में ही विभाग की परम्परा यह रहती है कि नीति की अविच्छिन्नता को कायम रखा जाये। फलतः वह द्रुत परिवर्तन के युग में नवीन सुधारों के ऊपर एक अंकुश का कार्य करती है। वह वर्तमान अथवा भविष्य का विचार करने की अपेक्षा अतीत का विचार करना अधिक श्रेयस्कर समझती है। जब उसके नए विचार आते हैं वह इस बात की चेष्टा करती है कि उन्हें वर्तमान समाज-व्यवस्था के अन्दर ही कैसे रक्खा जाये चाहे आवश्यकता इस व्यवस्था में परिवर्तन करने की हो। यही नौकरशाही का सबसे बड़ा खतरा है। वह उन समस्त नए कार्यक्रमों को जिन्हें उसने स्वयं प्रारम्भ नहीं किया है सन्देह की दृष्टि से देखती है। इस देश में समाज सुधार का इतिहास इस सन्देह को अच्छी तरह से पुष्ट कर देता है। इस सम्बन्ध में तो प्रमेय भी विद्यमान हैं। यह कारावास-विषयक सुधारों के सम्बन्ध में भी सही है। छोटे-मोटे परिवर्तनों को छोड़कर मेरे विचार से यह कहना सही है कि इस देश में जन-सुधारों की प्रत्येक गम्भीर योजना गृह-मंत्रालय के अन्दर नहीं प्रत्युत बाहर उठी है। यह इस तथ्य से भी प्रकट है कि तीस वर्षों के बाद भी मजदूरों के प्रतिकर सम्बन्धी

नियम क्यों के त्यों बने हुए हैं और व्यय-संचालन को निर्वाह-व्यय-देशना (cost of living index) के संशोधन में प्रवृत्त करने में प्रायः एक दशक तक आन्दोलन करना पड़ा था। मेरा विचार है यद्यपि यह बात काफी विवादास्पद है कि वित्त-विभाग भी किसी बड़े सार्वजनिक निर्माण के कार्यक्रम का सदैव डट कर विरोध करता है। बिजली पानी की सफाई, मार्गों और आवास आदि के क्षेत्र में काफी सुधारों की आवश्यकता है। लेकिन वित्त-विभाग के विरोध के कारण इन सुधारों की प्रत्येक चेष्टा निष्फल हुई है। उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्य को देखते हुए यह सन्देह कि क्या वित्त-विभाग के सिद्धान्त इतने ही सन्तोषप्रद हैं जैसाकि उत्तरोत्तर सभी मानते आये हैं स्वाभाविक है।

लेकिन मेरा विचार है कि इस प्रसंग में वह सीमित श्रेणी जिससे प्रशासनिक वर्ग आता है और अधिक महत्वपूर्ण है। उच्च अधिकारी परिश्रमी होते हैं तथा वे अपने दैनिक कार्य में व्यस्त रहते हैं। वे लोग एक सा जीवन व्यतीत करते हैं उनका सम्पर्क अधिकतर अपने समान जीवन व्यतीत करने वाले लोगों से रहता है। वे समस्याओं को गलियों और नालों में नहीं, गंदे मकानों और निम्नवर्गीय विद्यालयों में नहीं प्रत्युत उन स्थूल प्रलेखों में देखते हैं जो उनके पास अनन्त गति से आते रहते हैं। इस स्थिति में यह तो स्पष्ट ही है कि उनका कार्य उन्हें सुविधाओं के उस परीक्षण की प्रेरणा नहीं देता जो हमारी पीढ़ी के लिए इतना महत्वपूर्ण है। वे बालकों की बेरोजगारी के प्रश्न को एक प्रशासनिक और सांख्यिकीय समस्या मानते हैं। वे उसे मजदूर वर्ग के उस लड़के के माता-पिता की दृष्टि से नहीं देखते जिसे स्कूल छोड़ने के बारह मास पश्चात् कुछ छोटी-मोटी वृत्तियों में से किसी एक को चुनने के अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता। वे यह समझते हैं कि यदि सेना को पूरी क्षमता पर रखना है तो भरती के नियमों को और अधिक संतोषप्रद कर देना चाहिए। लेकिन वे यह नहीं समझते और समझने का विचार भी नहीं करते कि जब तक सेना में प्रतिभाशाली व्यक्तियों को स्थान नहीं मिलता तब तक इस पीढ़ी में केवल कुछ पैसों के कारण मजदूर वर्ग का कोई योग्य और महत्वाकांक्षी तरुण सेना में नहीं जाना चाहेगा तथा वह अन्य किसी ऐसी वृत्ति को जिसमें उसे अपनी प्रतिभा के विकास का पूरा अवसर मिले पसन्द करेगा। सिविल सर्विस के अधिकारी को स्वयं कभी ऐसा कोई अनुभव नहीं होता जो मी मास्टर वीमन्ड की पुस्तक 'जब बोल दि ढोल' के प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित है। उसे स्वयं कभी ऐसा स्फुरण नहीं होता जिसने जॉन कार्नफोर्ड तथा राल्फ फॉक्स को स्पेन में इन्टरनेशनल ब्रिगेड के स्वयं सेवक बन कर मृत्यु का आलिंगन करने की प्रेरणा दी।

जो व्यक्ति भिन्न रीति से रहते हैं वे भिन्न रीति से सोचते हैं। जब तक हम सामान्य मनमाना में किसी तरह गहरी अनुभव अर्जित नहीं करते पूर्णतम तथ्यात्मक सामग्री पर भी उस सम्यक् दृष्टि से विचार नहीं किया जा सकता जो कि उसे उचित स्वरूप देती है। इस प्रसंग में सरकारी जीवन की "संकीर्णता और कठोरता" का खतरा स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है। कुछ अपवादों को छोड़ कर सिविल सर्विस के उच्च अधिकारियों को यह नहीं मालूम होता कि बेरोजगारी क्या होती है "मीन्स टेस्ट" का क्या अर्थ होता है माध्यमिक विद्यालयों में निःशुल्क स्थानों में कमी कर देने के निर्णय का एक योग्य लड़के पर क्या

प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः यह समझना कि यह आवश्यक है कि जिस व्यवस्था का वह संचालन करता है उसमें अपनी सफलता के समान ही असफलता का सामना करने की भी शक्ति होनी चाहिए एक अतिवादी या सनकी का चिन्ह है और अधिकारियों की दृष्टि में ये दोनों ही शब्द बड़े भयंकर होते हैं। उसके सामने यह खतरा रहता है कि उसे विचार की बुनियादी बातों की समग्रता की दिशा में सम्पूर्ण व्यवस्था का विरोध भार सहना पड़ेगा लेकिन उसे यह ज्ञान रहता है कि यदि वह अपने काम में दुरुस्त तथा चतुर है तो सम्भावना यह है कि उसकी पदोन्नति होगी तथा यह व्यवस्था उसके समय तक तो चलनी ही।

मैं यह कह रहा हूँ कि सिविल सर्विस को न केवल योग्य नैत्यिक कार्य करने वालों की ही आवश्यकता है, प्रत्युत उसे ऐसे उत्साही व्यक्ति की भी आवश्यकता है जो इन नैत्यिक कार्य को विशुब्ध कर सके। मेरी शंका यह है कि क्या यह व्यवस्था इस प्रकार के व्यक्तियों को उत्पन्न करती है और यदि कहीं इस प्रकार का व्यक्ति उठ खड़ा हो तो क्या यह उसे सहन कर सकती है? सिविल सर्विस में उत्साह तथा निष्ठा निःस्वार्थ भाव तथा सार्वजनिक चेतना का कोई अभाव नहीं है। सिविल सर्विस के अधिकारी सदैव मिल-जुल कर काम करते हैं। चाहे वह किसी बड़ी योजना में लगे हों या छोटे-मोटे नैत्यिक कार्यों की पूर्ति में। उनकी मिल-जुल कर कार्य करने की यह भावना विलक्षण है। लेकिन सिविल सर्विस की रचना ही कुछ ऐसी है कि उसमें उस बौद्धिक उर्वरता का अभाव होता है जो लास्की के सुन्दर शब्दों में हमें यह सामर्थ्य दे सके कि "हम अपने उन दूरस्थ अवैयक्तिक स्वामियों को जो स्वयं हम ही हैं यह सिखा सकें कि किसी प्रभावशाली विचार को उस छोटे से जो अल्पमत एक ही जो अनुत्तरदायी स्वतंत्रता में निवास करता है सीमित होने से कैसे रोका जाये?" सिविल सर्विस के अधिकारी के लिए "उन दूरस्थ स्वामियों" को सिखाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय यह है कि वे पहले स्वयं को ही सिखा दें। इसका अर्थ एक ऐसा बौद्धिक प्रयत्न तथा अनुभव है जिसको इस समय सर्विस स्वयं बहुत कम महत्व देती है।

(३)

सिविल सर्विस एक वृत्ति के रूप में अपने सदस्यों को कुछ ठोस लाभ देती है। यदि अधिकारी का व्यवहार अच्छा हो तथा वह अपने काम में निपुण हो तो उसे पद की सुरक्षा रहती है वृद्धियों सहित अच्छा-खासा वेतन मिलता है, वेतन-सहित उचित छुट्टियाँ मिलती हैं बीमारी की छुट्टी मिलती है तथा अवकाश ग्रहण करने पर पेंशन मिलती है जो उसके आखिरी वर्षों के वेतन की प्रायः दो-तिहाई होती है। सर्विस की निम्न श्रेणियों में उसे विट्ले कौंसिलों के माध्यम से अपने नियोजन की शर्तों के विवेचन तथा कुछ सीमा तक निर्धारण में भाग मिलता है। वह किसी भी कर्मचारी-संघ का सदस्य हो सकता है यद्यपि १९२७ के पश्चात् से यह आवश्यक हो गया है कि इन संघों का बाहर के किन्हीं दलों से सम्बन्ध न हो। यदि वह औद्योगिक कर्मचारी नहीं है तो वह राजनीतिक गतिविधियों से वंचित रहता है।

१९२८ के बाद से यह परम्परा भी बन गई है कि यदि वह चुनाव में संसद् की सदस्यता के लिए खड़ा होता है तो उसे सर्विस से त्याग-पत्र देना होता। कुछ विभागों में उपयुक्त परिस्थितियों के अन्तर्गत उसे स्थानीय परिषदों जैसी कुछ संस्थाओं की सेवा करने की अनुमति मिल सकती है। वह किसी भी विवादास्पद सार्वजनिक प्रश्न पर अपने उच्च अधिकारियों की अनुमति के बिना भाषण लेख या पुस्तक के द्वारा अपने विचार व्यक्त नहीं कर सकता।

सम्पूर्ण दृष्टि से विचार करने पर कोई यह नहीं कह सकता कि सिविल सर्विस का खर्चा बहुत है। उसके तीन-चौथाई सदस्य तो चार पौंड प्रति सप्ताह से भी कम वेतन पाते हैं। प्रायः कुल पाँच सौ पद ही ऐसे हैं जिनके वेतन २ पौंड वार्षिक या इससे अधिक हैं। विभागों के अध्यक्ष तक को केवल ३ पौं० वार्षिक वेतन मिलता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सर्विस के मूल में जो सुरक्षा तथा पद का आकर्षण है और उसके शीर्ष में प्रभाव तथा प्रतिष्ठा का। आम तौर पर लोग सर्विस आयु के कारण ही छोड़ते हैं और किसी कारण से नहीं। उदाहरण के लिए १९२ में २२ ५ व्यक्तियों ने सर्विस छोड़ दी थी। लेकिन इनमें से प्रायः १४ ने तो दुर्बल स्वास्थ्य अथवा मृत्यु के कारण छोड़ी थी और केवल २३१ व्यक्तियों ने ही अयोग्यता अथवा कदाचार के कारण। ५२३ और व्यक्तियों ने सर्विस छोड़ी थी लेकिन उन्होंने सर्विस छोड़ने का कोई कारण नहीं बताया था। यह स्वाभाविक है कि इनमें से कुछ को सर्विस के बाहर और अधिक अच्छी जगहें मिल गई होंगी।

स्पष्ट है कि इस दृष्टि से देश का शिक्षित वर्ग सिविल सर्विस को बाहर की अन्य वृत्तियों की अपेक्षा काफी अच्छा मानता है। स्थायित्व, वेतन पर वृद्धियाँ जब तक कि अधिकतम पर न आ जाये, एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में पदोन्नति की सम्भावना, वेतन सहित छुट्टियाँ और अवकाश ग्रहण करने पर पेंशन ये सब ऐसे ठोस लाभ हैं जो केवल कुछ सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिगत प्रतिष्ठानों में ही मिल पाते हैं। मेरा विचार है कि सिविल सर्विस की सर्वोच्च श्रेणी को छोड़ कर इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहला तो यह है कि सर्विस की ओर अधिकतर ऐसे व्यक्ति आकृष्ट होते हैं जिनमें खतरे उठाने का साहस नहीं होता लेकिन जो परिश्रमी होते हैं, आदि से लेकर अपने अन्त तक की स्थिति से सन्तुष्ट होते हैं और एक सुनिश्चित दैनिक कार्यक्रम को स्वीकार करते हैं। दूसरा यह है कि चूँकि सर्विस को बहुत ही कम लोग छोड़ते हैं इसलिए इसका अर्थ यह है कि सर्विस के सदस्यों को अपनी दशाओं से संतोष है।

लेकिन यदि हम प्रशासनिक श्रेणी से नीचे की श्रेणियों पर विचार करें तो सिविल सर्विस के संगठन में एक बड़ी दुर्बलता दिखाई देगी। इन श्रेणियों में विभिन्न प्रकार के हजारों कर्मचारी हैं और एक श्रेणी के व्यक्तियों की दूसरी श्रेणी में बहुत कम पदोन्नति होती है। क्या इसका अर्थ यह है कि सर्विस में पदोन्नति के तरीके इतने संतोषप्रद हैं कि जिन मार्गों से मनुष्य आधार से शीर्ष तक पहुँचते हैं उनसे स्पष्ट है कि योग्यता का बिल्कुल अपव्यय नहीं हो पाता। इसी बात को दूसरे ढंग से यों कहा जा सकता है कि क्या योग्यता को परखने के तरीके इतने पर्याप्त हैं कि निम्न

श्रेणियों की सर्विस में ऐसे लोग ही नहीं हैं जिन्हें यदि अवसर दिया जाये तो वे सर्वोच्च प्रकार के काम के लिए अपनी योग्यता सिद्ध करेंगे।

स्पष्टतः यह अनुपात का प्रश्न है। मैं केवल अपने विश्वास को व्यक्त कर सकता हूँ जो दो तरह के अनुभव पर आधारित है। मैं दस वर्ष तक सिविल सर्विस ट्रिब्यूनल का सदस्य रहा हूँ और इस क्षमता में मैं प्रत्येक प्रकार की सर्विस के लोगों के सम्पर्क में आया हूँ। मैंने बीस वर्ष तक विश्वविद्यालय में सिविल सर्विस के अधिकारियों को शिक्षा दी है तब जब कि वे पूर्व-स्नातक थे और तब जब कि उन्होंने अपने खाली समय में गवेषणा का कार्य किया। मेरा अपना विचार यह है कि सर्विस की प्रत्येक निम्न श्रेणी में कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य होते हैं जो ऊँचे से ऊँचा काम कर सकते हैं लेकिन या तो इन व्यक्तियों की खोज ही नहीं की जाती और या इनसे काम नहीं लिया जाता। मेरे विचार से इस स्थिति के तीन कारण हैं (१) सर्विस की श्रेणियाँ बड़ी कठोर हैं (२) प्रशासनिक श्रेणी से नीचे की श्रेणियों में पदोन्नति के तरीके बहुत यांत्रिक हैं और (३) योग्य व्यक्तियों को ऐसा उत्साह नहीं मिलता कि वे अपनी निपुणता को प्रकट कर सकें। इन तीनों मिश्रकों पर अलग-अलग विशेष रूप से प्रकाश डालने की आवश्यकता है।

सर्विस की श्रेणियाँ बड़ी कठोर हैं। यह ठीक है कि इसमें भरती सार्वजनिक कार्य के विचार से होती है और एक अधिकारी का भाग्य बहुत कुछ उन नैतिक अवसरों द्वारा निर्धारित होता है जिनसे कि वह लाभ उठा सकता है। किन्तु ऊँची अवस्था में अच्छे पदों के लिए प्रयास करने में इस बात पर बहुत अधिक बल दिया जाता है कि प्रत्याशी ने अधिकारियों की कैसी सेवा की है। लेकिन यह प्रतियोगिता झूठी है क्योंकि प्रत्याशी शिक्षा की उन सुविधाओं से वंचित होते हैं जो उनके विरोधियों को प्राप्त होती हैं और प्रायः पच्चीस वर्ष की अवस्था के पश्चात् परीक्षा देने की क्षमता में ह्रास होने लगता है। इसलिए यह दुःख की बात है कि सर्विस में प्रवेश के लिए प्रतियोगी परीक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय का परीक्षण नहीं किया गया है। मुझे कोई कारण नहीं दिखाई देता कि क्यों न प्रायः तीस वर्ष की अवस्था तक किसी ऐसे तरुण अधिकारी को जिसके पास विश्वविद्यालय की अच्छी उपाधि है, या जिसने बकालात पास की है या कुछ शोध-कार्य किया है किसी ऊँचे पद पर कार्यवाहक क्षमता में नियुक्त किया जाये और देखा जाये कि वह असाधारण पदोन्नति के योग्य है या नहीं। इससे करदाता के ऊपर कम बोझा रहेगा और निम्न श्रेणी के व्यक्तियों को इस बात का अवसर मिलता रहेगा कि वे अनुपयुक्त शैक्षणिक सुविधा की असर्हता पर काबू पा सकें। वर्तमान काल में जैसा कि सर्विस से परिचित प्रत्येक व्यक्ति जानता है उसमें काफी लोग ऐसे हैं जो यदि उन्हें यह विश्वास होता कि वे अपने परिश्रम के अनुरूप फल पा सकते हैं इस प्रकार के प्रयत्न करने की अवश्य चेष्टा करते।

पदोन्नति के तरीके बहुत यांत्रिक हैं। मेरे विचार से यह कहना ठीक ही होगा कि प्रशासनिक श्रेणी के नीचे की श्रेणियों में अधिकांश पदोन्नतियाँ ज्येष्ठता के आधार

पर होती है। प्रोमोशन-बोर्ड साधारणतः कोई ऐसी खोज नहीं करता जिससे इस बात की चेष्टा करता है कि पक्षपात न होने दिया जाये। स्पष्ट है कि जहाँ अधिकांश कार्य नैत्यिक कार्य हो चाहे ऐसा नैत्यिक कार्य हो जिसमें कभी कभी वैयक्तिक उपक्रम की आवश्यकता हो वहाँ इस प्रकार का विचार काफी भारी हो जाता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि जब तक सिविल सर्विस का कोई व्यक्ति अधिकारी वर्ग तक नहीं पहुँचता उसका अधिकांश कार्य यन्त्रवत् होता है और वह ऐसी किसी क्षमता को प्रदर्शित नहीं करता जिसकी कि ऊँची श्रेणियों में आवश्यकता होती है। इसके परिणामस्वरूप प्रोमोशन-बोर्ड किसी तरुण अधिकारी की पूरी योग्यताओं के बारे में यदा-कदा ही जानकारी प्राप्त कर पाता है। अधिकांश नैत्यिक पदोन्नतियों के लिए तो वर्तमान व्यवस्था सन्तोषप्रद है। यह असाधारण व्यक्ति की समस्या को जिसकी मैंने यहाँ चर्चा की है, हल नहीं करती।

तीसरे, यह व्यवस्था असाधारण प्रतिभा की खोज की आवश्यकता पर पर्याप्त बल नहीं देती। इसके कई कारण हैं। कुछ तो यह इस ऐतिहासिक तथ्य के कारण है कि युद्ध के पूर्व विभागों के प्रधान आम तौर से यही विचार रखते थे कि असाधारण प्रतिभा ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज के बाहर मिल ही नहीं सकती। युद्ध के पश्चात् इस परम्परा को अनुत्साहित कर दिया गया है, लेकिन मेरा विचार है कि यह अभी पूर्णरूप से नष्ट नहीं हो पाई है। इसका कुछ कारण यह भी है कि नैत्यिक कार्य में लगे हुए वर्षों में असाधारण प्रतिभा के लिए स्वयं को प्रकट करना सुगम नहीं होता। यदि ऐसा हो जाय तो भी इस बात का भय बना रहता है कि सहकर्मियों की ईर्ष्या किसी असाधारण पदोन्नति को पसन्द नहीं करेगी। इसलिए, तीसरी कठिनाई यह उठ खड़ी होती है कि जब कभी असाधारण व्यक्ति उन्नति के साथ-साथ अपनी असाधारण प्रतिभा का प्रदर्शन करता है यदि उसकी उन्नति की गति बहुत तीव्र न हो, तो उसे सर्विस की निम्न्ही कठोर श्रेणियों में रखना सुगम नहीं होता। मैं उच्च कोटि की प्रतिभा के ऐसे कई तरुण व्यक्तियों को जानता हूँ जिन्होंने सर्विस को व्यवसाय इस लिए स्वीकार कर लिया क्योंकि वे उसके सोपान पर ऊँचे चढ़ने के लिए उत्सुक थे। दो-तीन वर्ष तक नैत्यिक कार्य करने के पश्चात् वे निरुत्साहित हो जाते हैं क्योंकि उनको करते रहने पर उन्हें अपनी क्षमताओं को प्रकट करने का कोई अवसर नहीं मिलता। इस प्रकार के व्यक्ति आत्माभिव्यक्ति का अवसर अवकाश में पाते हैं जो कि वास्तव में उन्हें सर्विस में मिलना चाहिए। या वे सर्विस को छोड़ कर किसी व्यक्तिगत नियोजन में लग जाते हैं या श्रमिक संघों का संगठन करते हैं या मुख्यतर सिविल सर्विस की एक प्रमुख विशेषता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि संसार में अच्छी से अच्छी इच्छा के होते हुए भी ऐसा कोई महान् संगठन नहीं है जिसमें इस प्रकार की भूल नहीं हो सकती। सर्विस एक पदसोपान संगठन है उसका कार्य सुनिश्चित और सुयोजित श्रेणीक्रम के अनुसार बँटा होता है और स्टॉफ सुनिश्चित नियमों के परिवर्तनों को बड़ी तीव्रता से धारण करता है। विभागीय अधिकारी इस बात के लिए उत्सुक रहता है कि पदोन्नति में उसके ऊपर पक्ष

पास का आरोप न लगाया जा सके। पक्षपात से आफिस का सारा संगठन बिगड़ जाता है। यही कारण है कि प्रतिवेदनों की एक सांगोपांग व्यवस्था की अवधारणा हुई है। इससे पक्षपात के बहुत कम अवसर रह जाते हैं। इस सबका मामला पर भी मैं अपना केवल यही विश्वास प्रकट कर सकता हूँ कि इस दिशा में सर्विस ने उचित परीक्षण नहीं किए हैं। बजाय के ऐसे कई तरीके हैं जिनसे यह लाभ उठा सकती थी। सिविल सर्विस के कई अधिकारी अपने अवकाश का समय अध्ययन में लगा कर विश्वविद्यालय की उपाधियाँ प्राप्त करते हैं। यह मस्तिष्क की ऐसी शक्ति का प्रमाण है जिसके साथ प्रयोग करना उचित होगा। अन्य कई व्यक्तियों ने अपने से ऊँचे अधिकारियों के साथ बातचीत करने में यथेष्ट प्रशासनिक योग्यता का परिचय दिया है। इनमें से कुछ को मैं जानता हूँ और उन्होंने सिविल सर्विस न्यूज़लैटर के लिए जो अभियोग तय्यार किए थे वे उनकी प्रतिभा के साक्षी हैं। पुनश्च नैत्यिक कार्य करने वालों में जो योग्यता है उसका पूरा उपयोग करने का प्रयास नहीं किया गया है। निम्न श्रेणियों के कुछ अधिकारियों ने सार्वजनिक प्रशासन के साहित्य को अपनी कतिपय विशिष्ट देनों से समृद्ध किया है लेकिन इसका उनके अफसरों पर कोई असर नहीं पड़ा है।

मैं इस बात पर इसलिए बल दे रहा हूँ क्योंकि यह निश्चित है कि यदि निम्न श्रेणी की योग्यता का उच्च श्रेणी की योग्यता के साथ समन्वय हो जाये तो इससे बड़ा लाभ होगा। इससे यह परम्परागत आवरण टूट जायेगा जो विभागीय प्रथाओं के ऊपर अब भी इतनी बुरी तरह छाया हुआ है। इससे नूतन विचार सामने आयगें और आलोचना की नूतन बातों की ओर ध्यान जायेगा। ऊँचे वर्ग के किसी अफ़सर के लिए यह जानना बड़ा कठिन है कि उससे नीचे के वर्ग क्या सोच रहे हैं और यदि वह असाधारण व्यक्ति नहीं है तो इसका पता लगाने की भी चेष्टा नहीं करता। चूंकि प्रशासनिक वर्ग अपने से नीचे के वर्गों से अलग रहता है इसलिए इन वर्गों की आवश्यकताओं के बारे में उसकी जानकारी उथली होती है। इससे सिविल सर्विस के अधिकारी के इस विचार पर प्रभाव पड़ता है कि समय कार्य की क्या सीमाएँ होनी चाहिएँ। उनके मूल विचारों पर जो आक्रमण होते हैं वे उन्हें अस्वीकार्य मालूम पड़ते हैं क्योंकि उनका स्वयं उस प्रकार के अनुभव से सीधा सम्पर्क नहीं होता जो इस प्रकार के आक्रमणों को जन्म देता है। स्वयं सिविल सर्विस के अन्दर ही ऐसा अनुभव पर्याप्त मात्रा में है जिसका यदि नीति-निर्माण के समय उपयोग कर लिया जाये तो उससे विभाग की परम्पराओं में मूलाधारों के सम्बन्ध में कुछ ऐसा संदेह अवश्य पैदा हो जायेगा जो आज सिविल सर्विस के अधिकारी के लिए अत्यंत आवश्यक है। मेरा विचार है कि वर्तमान काल में वह इससे वंचित है और समाज की जिस संकुचित श्रेणी से उसका सम्बन्ध होता है, वह इस प्रकार के संदेह की उपलब्धि को प्रोत्साहन नहीं देती।

यह स्पष्ट है कि इन मामलों में कोई भी द्रुत आभ्यन्तरिक परिवर्तन नहीं हो सकता। यदि कोई परिवर्तन हुआ तो वह तभी हो सकेगा जब कि शिक्षा-व्यवस्था में भी कुछ आधारभूत परिवर्तन हो। इस समय सिविल सर्विस की एक प्रमुख

विशेषता निराधारित है। उससे जो भी काम करने को कहा जाता है वह बड़े उत्साह से करती है। इन विशेषताओं के होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि सिविल सर्विस नई समाज-व्यवस्था के सिद्धान्तों के साथ सफल परीक्षण कर सकती है। यह कार्य न तो निरासक्ति से हो सकता है और न निष्पक्ष उत्साह से। इसके लिए तो दृढ़ विश्वास की आवश्यकता है कि न केवल ये सिद्धान्त अच्छे हीं प्रत्युत उन्हें कार्यान्वित करने की भी प्रबल आवश्यकता है। जिस प्रकार पैलेस्टाइन सरकार के प्रशासन की असफलता का कारण यह था कि सिविल सर्विस के कुछ अधिकारी उसके सिद्धान्तों और प्रयोजनों में आस्था नहीं रखते थे उसी प्रकार हमारी सिविल सर्विस भी यदि उससे ऐसे परीक्षण को करने के लिए कहा जाये जिसमें उसका विश्वास न हो असफल हो सकती है। यदि कहीं ऐसा हुआ तो मेरे विचार से असफलता का कारण यह होगा कि वे व्यक्ति जिनके ऊपर उसे कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक प्रशासनिक कार्यवाही करने का दायित्व था उसके बारे में सन्देहपूर्ण थे और उनकी उसमें कोई वास्तविक सहानुभूति नहीं थी। इसका कारण यह है कि सिविल सर्विस के अधिकांश सदस्यों का सामाजिक अनुभव उनकी वर्गगत सीमाओं से घिरा हुआ है।

यह मैं कह देता हूँ कि यह सिविल सर्विस के सदस्य की असफलता नहीं होगी। यदि किसी व्यक्ति का प्रमुख स्थायी अधिकारियों से सम्पर्क रहा है तो उसे इस बात में सन्देह नहीं रह सकता कि ये अधिकारी तटस्थता के सिद्धान्त में दृढ़ विश्वास रखते हैं। किन्तु यह सिद्धान्त एक ऐसे वातावरण से मर्यादित है जो अत्यन्त संकुचित है। व्यावहारिकता की सीमाओं के सम्बन्ध में उनके विचार वर्तमान समाज व्यवस्था के अनुभव द्वारा बंधे हुए हैं। उन्होंने उसके परिवर्तन की संभावना पर कभी विचार ही नहीं किया है। हस्तक्षेप नियमन तथा राष्ट्रीय जीवन के कुछ विशिष्ट क्षेत्रों के नियोजन का तो वे खूब अच्छी तरह समझते हैं। सामाजिक व्यवस्था का आधारभूत परिवर्तन भिन्न मामला है। इस परिवर्तन को समझना कितना कठिन है यह शस्त्रीकरण राजकीय आयोग (Royal Commission on Armaments) के सामने दी गई सर मॉरिस हैंकी की गवाही से स्पष्ट हो गया था। उद्योग के स्थानीयकरण सम्बन्धी राजकीय आयोग (Royal Commission on Localization of Industry) के सामने वार्ड आफ ट्रेड द्वारा दी गई गवाही से भी यह स्पष्ट हो गया था। इस प्रसंग में विभाग की साक्ष्य यह थी कि व्यापारियों का इस अधिकार का प्रश्न कि वे अपनी औद्योगिक सीमाओं का निर्णय स्वयं करें आर्थिक दृष्टि से अनिवार्य है। यह गृह-मन्त्रालय को कारागार-सम्बन्धी सुधारों को करने के लिए तय्यार करने की कठिनाई में भी स्पष्ट दिखाई देता है। इस क्षेत्र में सोवियट यूनियन ने जो अपूर्व सफलता प्राप्त की है उसको देखते हुए गृह-मंत्रालय की दीर्घसूत्रता उचित नहीं लगती। राजनयिक सर्विस कॉन्सुलर सर्विस को जिस हीनता से देखती है उसमें भी यह स्पष्ट है। राजनीतिज्ञों की भांति अधिकारियों के लिए भी यह बात नहीं है कि वे लोग जो भिन्न प्रकार से रहते हैं भिन्न प्रकार से विचार करते हैं। अधिकांश प्रमुख अधिकारी जिस वातावरण से आते

है। यह अपने आप ही उनके हृदय में परिवर्तन के विरुद्ध बौद्धिक धारणाएँ उत्पन्न कर देता है। जब तक कि सिविल सर्विस के ऊँचे पदों तक पहुँचने का रास्ता सबके लिए नहीं खुलता वर्तमान स्थिति के मनोवैज्ञानिक परिणामों पर काबू पाना अत्यंत दुस्तर है।

( ४ )

सिविल सर्विस का मुख्य गुण निष्पक्षता तथा तटस्थता है। इसी कारण सुदीर्घ परम्परा के अनुसार सिविल सर्विस के अधिकारी संसदीय निर्वाचनों में खड़े नहीं हो सकते और कुछ विभाग उदाहरणार्थ स्वास्थ्य और श्रम विभाग जिनके जनता के साथ विशेष सम्बन्ध हैं अपने अधिकारियों को स्थानीय शासन-संस्थाओं के चुनावों में खड़े नहीं होने देते। इसी प्रकार यह नियम भी बड़ा कठोर है कि सिविल सर्विस के अधिकारी पुस्तक या लेख के द्वारा सार्वजनिक मामलों पर टीका-टिप्पणी नहीं कर सकते। अभी हाल में स्वास्थ्य-मंत्रालय का एक अधिकारी इसलिए सर्विस से बर्खास्त कर दिया गया क्योंकि उसने इटली-अबीसीनिया युद्ध में सम्मोदनों (sanctions) की नीति की आलोचना की थी। इससे पता चलता है कि इस नियम का पालन कितनी कठोरता से होता है।

यह मानने का पर्याप्त प्रमाण है कि सर्विस की निम्न श्रेणियाँ इन नियमों की कठोरता को पसन्द नहीं करतीं और उनका विरोध तक करती हैं। वे मानती हैं कि ये नियम उच्च श्रेणियों के लिए आवश्यक हैं। लेकिन उनका विचार है कि निम्न श्रेणियों के लिए इन नियमों की कोई आवश्यकता नहीं है। ये नियम व्यर्थ ही हजारों अधिकारियों को उनके नागरिक अधिकारों से वंचित कर देते हैं। उनके विचार से यदि इस प्रश्न का निर्णय नियम द्वारा नहीं प्रत्युत व्यक्तिगत अधिकारी के स्वविवेक द्वारा हो तो कोई हानि नहीं होगी। यह कहा जाता है कि यह सर्विस की परम्पराओं पर ध्यान रखते हुए आचरण करेगा और इससे प्रभावित होने वाले अधिकारियों की संख्या इतनी बड़ी नहीं हो जाती कि वर्तमान प्रक्रिया की कठोरता प्रमाणित हो सके।

यह आवश्यक है कि हम विशुद्ध राजनीतिक गतिविधि और सामयिक समस्याओं पर पुस्तक या लेख में की गई टीका-टिप्पणी का भेद समझ लें। जहाँ तक पहले का सम्बन्ध है यह नियम इस सिद्धान्त पर आधारित मालूम पड़ता है कि सर्विस की तटस्थता में जनता के विश्वास की रक्षा करनी चाहिए और राजनीतिक स्वतन्त्रता के कारण विभागों के प्रशासनिक अनुशासन में कोई विघ्न नहीं पड़ना चाहिए। मेरे विचार से यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्पष्ट है कि सिविल सर्विस के उन अधिकारी को जो नीति-निर्माण के कार्य में संलग्न हैं, संसदीय चुनाव में खड़े होने की अनुमति देना ठीक नहीं होगा। उदाहरणार्थ यदि सर मौरिस हैंकी एक ही समय में मंत्रिमंडल के सदस्य और कॉमन-सभा के लिए अनुदार-दल के प्रत्याशी हो तो उनके और श्रमिक सरकार के सम्बन्ध बड़ी शीघ्रता से कटु हो जायेंगे। यदि सर्विस के प्रमुख अधिकारी राजनीति में प्रवृत्त हो जायें तो जनता उनकी तटस्थता में रंचमात्र भी विश्वास नहीं करेगी।

इसलिए, यह स्पष्ट है कि सर्विस की कुछ श्रेणियों को राजनीति में भाग लेने की अनुमति नहीं मिलनी चाहिए। इसका विस्तार कितना होना चाहिए? इस बात को तो सरकार भी स्वीकार करती है कि औद्योगिक कर्मचारियों को राजनीति में भाग लेने का अधिकार है लेकिन यह आश्चर्यजनक है कि व्यक्तियों को जिनका कार्य न्यूनाधिक रूप से इसी प्रकार का है, यह अधिकार नहीं दिया गया है। मैं यह नहीं समझता कि साधारण निर्वाचन में यदि पन्द्रह सौ-सोलह सौ प्रत्याशी हों, सिविल सर्विस के आठ दस अधिकारियों की उपस्थिति से यदि ये अधिकारी उच्च सर्विस के सदस्य न हों सर्विस की तटस्थता में जनता का विश्वास भंग हो जायेगा। लेकिन मैं समझता हूँ कि यदि सेना के प्रमुख अधिकारियों को स्वयं प्रत्याशी हुए बिना समस्त संघर्ष में भाग लेने की अनुमति दे दी जाय तो स्थिति बिल्कुल भिन्न हो जायेगी। यदि नेशनल असिस्टेंस बोर्ड का कोई सदस्य श्रमिक दल के प्लेटफार्म पर बोर्ड के नियमों की निन्दा करने लगे तो उसके बारे में तरह तरह की अवांछनीय बातें होने लगेंगी और मेरा विचार है कि यदि अनुदार दल के वार्षिक सम्मेलन में ग्राम विकास का कोई अधिकारी खानों के राष्ट्रीयकरण की नीति की निन्दा करने लगे तो श्रमिक दल शीघ्र ही कुछ प्रश्न पूछने लगेगा।

मेरी दृष्टि में ऐसा कोई उपाय नहीं है जिसके द्वारा समानुपात राजनीति के क्षेत्र में एक श्रेणी तथा दूसरी श्रेणी के बीच किसी युक्तियुक्त रीति से रेखा खींची जा सके। मुझे इस कठिनाई का परिणाम यह मालूम पड़ता है कि यदि इस प्रश्न का निर्णय व्यक्तिगत विवेक के ऊपर छोड़ दिया जाये तो यदि कहीं अधिकारी से कोई बड़ी गलती हो गई और इसके लिए उसे दण्ड दिया गया तो लोग इसे राजनीतिक संपीडन का द्योतक समझेंगे। इसलिए, मेरा विचार है कि यद्यपि वर्तमान नियम काफी कठोर हैं लेकिन फिर भी वे स्थिति की आवश्यकता के अनुरूप हैं। यदि कोई व्यक्ति उस प्रभाव से परिचित है जो संसद या स्थानीय परिषद के सदस्यों पर व्यक्तिगत प्रकरणों के सम्बन्ध में डाला जाता है तो वह यह स्वीकार करेगा कि अधिकारियों को इस दबाव से जितना पृथक रखा जायेगा उतना ही जनता का व्यवस्था के न्याय में अधिक विश्वास होगा। यदि सर्विस के सदस्यों ने किसी विशाल पैमाने पर दलगत संघर्ष में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया, तो सर्विस की समस्त ऐतिहासिक परम्पराएँ शीघ्रता से नष्ट हो जायेंगी।

पुनश्च प्रशासनिक समस्या कुछ और भी कठिनताएँ खड़ी कर देती है। यदि सिविल सर्विस के अधिकारी राजनीति में भाग लेने लगें और वे निर्वाचन में पराजित हो जायें तो बड़ी कठिनाइयाँ खड़ी होंगी। क्या इस स्थिति में उन्हें सर्विस में लौट आने का अधिकार होगा? क्या यह अधिकार निरपेक्ष है और इस पर इस तथ्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि एक अधिकारी लोकसभा में कितने समय तक रह चुका है? मेरे विचार से विभाग के प्रधान कुछ डरते हैं कि वे इस रीति से सर्विस में पुनः शामिल करने की अनुमति नहीं देते। यदि विरोधी-विभाग का कोई सदस्य कुछ वर्ष तक लोकसभा में अपने विभाग के ऊपर आक्रमण करता रहा है तो उस सर्विस में

वापिस आने पर अपने विभाग के अनुशासन का सुगमता से अभ्यस्त नहीं होगा। यदि वह सक्रिय राजनीति में एक बार फिर प्रवेश करने का विचार करता रहा तो स्थिति और भी कठिन हो जायगी।

लिखित शब्द की समस्या इससे भी अधिक जटिल है। मेरे विचार से यह स्पष्ट है कि सिविल सर्विस के अधिकारी को उस विभाग की नीति की जिसका वह सदस्य है सार्वजनिक रूप से आलोचना करने की अनुमति नहीं दी जा सकती। यदि विदेश विभाग का कोई छोटा अधिकारी भी ईडन की विदेश-नीति की कटु आलोचना करे, तो इससे देश के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बड़ी अव्यवस्था आ सकती है। यदि वह अधिकारी अपना नाम प्रकाशित किए बिना आलोचना करे, तो वह भी ठीक नहीं होगा। मंत्री के लिए अपने अधिकारी में जिस प्रकार की विश्वास-भावना आवश्यक है उसको देखते हुए यह ठीक ही है कि अधिकारी को बाह्य मौन का व्रत ले लेना चाहिए।

लेकिन मेरे विचार से एक ऐसा मध्यम मार्ग भी है जहाँ आत्माभिव्यक्ति का अधिकार बिल्कुल ठीक मालूम पड़ता है। उदाहरणार्थ कोई भी व्यक्ति सरकार के एक उच्च अधिकारी मी आर.जी.हाक्ट्रे की रचनाओं पर आक्षेप नहीं करेगा। वे रचनाएँ समूह वर्तमान काल का एक श्रेष्ठ अर्थशास्त्री सिद्ध करती हैं। जब तक सिविल सर्विस का कोई अधिकारी ज्ञान के विस्तार में सहायता देता है तब तक इस बात का कोई कारण नहीं है कि सरकार उसकी जबान पर ताला लगाए। यदि सिविल सर्विस का अधिकारी विचारशील है तो वह अपने अनुभव के अनुसार जो कुछ लिखेगा वह काफी महत्व पूर्ण होगा। यदि उसे मौन रहने पर विवश कर दिया जायेगा तो यह सचमुच बड़े दुःख की बात होगी। जिस प्रकार भी सेना तथा जल-सेना के अधिकारियों को युद्धनीति और सेना के संगठन के सम्बन्ध में अपने विचार लिपिबद्ध करने के अवसर मिलने चाहिएँ उसी प्रकार असैनिक अधिकारी को भी इस बात की पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए कि वह सामाजिक और प्रशासनिक संगठन के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्तों का विकास कर सके। यह ठीक है कि उसे अपने से उच्च अधिकारियों से अपने विचारों को प्रकाशित करने की अनुमति भी लेनी चाहिए। उदाहरणार्थ यदि वित्त-विभाग का कोई अधिकारी वित्त-विभाग के नियन्त्रण पर या श्रम-मंत्रालय के समाधान-विभाग का कोई अधिकारी सरकार तथा औद्योगिक मध्यस्थ-निर्णय के सम्बन्ध पर कोई पुस्तक लिखे तो यह बहुत उपयोगी कृति होगी। मेरा विचार है कि हम सिविल सर्विस के अधिकारियों को उन समस्याओं के बारे में जिनका उन्हें समाधान करना पड़ता है, मौलिक रूप से चिन्तन करने का बहुत कम अवसर देते हैं। इस क्षेत्र में अत्यधिक स्वविवेक सत्य की खोज में साधक नहीं प्रत्युत बाधक होता है। उदाहरणार्थ सिविल सर्विस के किसी अधिकारी को बैंक व्यवस्था पर कोई पुस्तक लिखने की अनुमति दी जाये लेकिन उसे इस व्यवस्था की अब तक की आलोचनाएँ हुई हैं उन पर विचार करने की अनुमति न दी जाये तो यह उसे पुस्तक लिखने की अनुमति न देने की अपेक्षा कहीं अधिक खराब है। इस सम्बन्ध में यदि हम सिविल सर्विस के अधिकारियों को पूरी स्वतन्त्रता

नहीं देंगे तो भ्रान्ति ही उठायेगी। खतरा यह है कि उनके बारे में गलतफहमियाँ फैल सकती हैं। वैसे तो सिविल सर्विस के अधिकारियों का गुमनाम रहना अच्छा है लेकिन एक निश्चित सीमा तक ही। इस सीमा का अतिक्रमण होने के पश्चात् उनका गुमनाम रहना सार्वजनिक सम्बन्धों की दृष्टि से लाभप्रद होने की अपेक्षा हानिप्रद ही अधिक होता है।

पिछले कुछ समय से इस चीज का अनुभव किया गया है यद्यपि इसके समाधान के लिए जिस उपाय का अवलम्बन किया गया है वह मेरी दृष्टि में सन्तोषप्रद उपाय नहीं है। उपाय यह है कि उस विभाग के लिए जिसका कार्य अपनी गतिविधियाँ जनता को समझाना है एक "जन सम्पर्क अधिकारी" की नियुक्ति की जाये। यह पद बड़ा विकट है। इसमें खबरें देने से लेकर समाचार-पत्रों के साथ इस प्रकार का व्यवहार तक शामिल है कि उस विभाग की कम से कम आलोचना हो सके। मेरा दृढ़ विचार है कि यह एक गलत चीज है। इसने स्वस्थ आलोचना को अवरुद्ध किया है, तथ्यों को छुपाया गया है और प्रचार की सस्ती खबरों का रूप देने की चेष्टा की है। जहाँ विभाग को अपने किसी कार्य की व्याख्या करनी पड़े या किसी आलोचना का उत्तर देना पड़े तो यह कार्य मन्त्री को करना चाहिए जो कि उसके लिए उत्तरदायी होता है। विभाग के लिए यह किसी भी प्रकार उचित नहीं है कि वह समाचार-पत्रों को कुछ ऐसे संकेत दे दे जिससे कि जनता के अन्दर विभाग के पक्ष में लोकमत तैयार हो सके। यदि कोई विभाग अपने सम्बन्धों के अन्दर अधिक से अधिक उन्मुक्तता रखता है, तो इससे उसे कोई हानि नहीं हो सकती। आधुनिक प्रचार विशेषज्ञ चाहे वह किसी भी विषय में विशेष योग्यता प्राप्त कर ले स्पष्ट व्यवहार में विशेषज्ञ नहीं होता। विज्ञापन अधिकर्ता की भाँति उसके पास एक सामग्री अपने विभाग की नीति या व्यक्तित्व बनाने के लिए होती है और वह इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए शीघ्रतम उपायों का आश्रय लेता है। वह सबसे अधिक प्रयास यह प्रभाव उत्पन्न करने का करता है कि उसके विभाग की प्रमुख विशेषता यह है कि वह कभी गलती नहीं कर सकता।

अन्य मानव प्राणियों की भाँति सिविल सर्विस के अधिकारी भी गलतियाँ करते हैं और जनता को उनकी सच्चाई के बारे में विश्वास दिलाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय यह है कि उनकी त्रुटियों के बारे में अधिक से अधिक विज्ञप्ति रक्खी जाये। यदि किसी संकटकालीन घड़ी में इस क्षेत्र में असफलता हो गई, तो उसके बड़े गम्भीर परिणाम हो सकते हैं। सीमित प्रकरण में पुलिस के ऊपर जो सन्देह हुए थे वे अभी समाप्त नहीं हुए हैं। जनता को अभी विश्वास नहीं है कि उसने डार्टमूर जेल के विद्रोह के बारे में सारे तथ्यों को सुन लिया है। सर सैमुअल होर ने १९३७ में पार्लमेन्ट में काम करते समय जिन विरोधी मजदूरों को बर्खास्त कर दिया था और अपने इस कृत्य के सम्बन्ध में जो सफाई दी थी उससे अधिक आत्मतोष के मन में कोई विश्वास पैदा नहीं हो सका है। इसी प्रकार जब १९३७ में श्री [illegible] ने सेना के ऊपर कुछ विशिष्ट दोषारोपण किए थे तो इन दोषारोपों से निपटने का उपाय यह नहीं था कि जिस व्यक्ति ने उनको किया था उसे बर्खास्त कर दिया जाये। इनसे निपटने का श्रेष्ठ उपाय तो यह

वापिस आने पर अपने विभाग के अनुशासन का सुगमता से अभ्यस्त नहीं होगा। यदि वह सक्रिय राजनीति में एक बार फिर प्रवेश करने का विचार करता रहा तो स्थिति और भी कठिन हो जायगी।

लिखित शब्द की समस्या इससे भी अधिक जटिल है। मेरे विचार से यह स्पष्ट है कि सिविल सर्विस के अधिकारी को उस विभाग की नीति की जिसका वह सदस्य है सार्वजनिक रूप से आलोचना करने की अनुमति नहीं दी जा सकती। यदि विदेश विभाग का कोई छोटा अधिकारी भी ईडन की विदेश-नीति की कटु आलोचना करे तो इससे देश के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बड़ी अव्यवस्था आ सकती है। यदि वह अधिकारी अपना नाम प्रकाशित किए बिना आलोचना करे, तो वह भी ठीक नहीं होगा। मंत्री के लिए अपने अधिकारी में जिस प्रकार की विश्वास-भावना आवश्यक है उसको देखते हुए यह ठीक ही है कि अधिकारी को साधु मौन का व्रत ले लेना चाहिए।

लेकिन मेरे विचार से एक ऐसा मध्यम मार्ग भी है जहाँ आत्माभिव्यक्ति का अधिकार बिल्कुल ठीक मालूम पड़ता है। उदाहरणार्थ कोई भी व्यक्ति सरकार के एक उच्च अधिकारी श्री आर.जी.हाट्रे की रचनाओं पर आक्षेप नहीं करेगा। ये रचनाएँ उन्हें वर्तमान काल का एक श्रेष्ठ अर्थशास्त्री सिद्ध करती हैं। जब तक सिविल सर्विस का कोई अधिकारी ज्ञान के विस्तार में सहायता देता है तब तक इस बात का कोई कारण नहीं है कि सरकार उसकी जबान पर ताला लगाए। यदि सिविल सर्विस का अधिकारी विचारशील है तो वह अपने अनुभव के अनुसार जो कुछ लिखेगा वह काफी महत्त्वपूर्ण होगा। यदि उसे मौन रहने पर विवश कर दिया जायेगा तो यह सचमुच बड़े दुःख की बात होगी। जिस प्रकार भी सेना तथा जल-सेना के अधिकारियों को युद्धनीति और सेना के संगठन के सम्बन्ध में अपने विचार विकसित करने के अवसर मिलने चाहिएँ उसी प्रकार असैनिक अधिकारी को भी इस बात की पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए कि वह सामाजिक और प्रशासनिक संगठन के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्तों का विकास कर सके। यह ठीक है कि उसे अपने से उच्च अधिकारियों से अपने विचारों को प्रकाशित करने की अनुमति ले लेनी चाहिए। उदाहरणार्थ यदि वित्त-विभाग का कोई अधिकारी वित्त-विभाग के नियन्त्रण पर, या श्रम-मंत्रालय के समाधान-विभाग का कोई अधिकारी सरकार तथा औद्योगिक मध्यस्थ-निर्णय के सम्बन्ध पर कोई पुस्तक लिखे तो वह बहुत उपयोगी कृति होगी। मेरा विचार है कि हम सिविल सर्विस के अधिकारियों को उन समस्याओं के बारे में जिनका उन्हें समाधान करना पड़ता है, मौलिक रूप से चिन्तन करने का बहुत कम अवसर देते हैं। इस क्षेत्र में अत्यधिक स्वविवेक सत्य की खोज में बाधक नहीं प्रत्युत साधक होता है। उदाहरणार्थ सिविल सर्विस के किसी अधिकारी को बैंक-व्यवस्था पर कोई पुस्तक लिखने की अनुमति दी जावे लेकिन उसे इस व्यवस्था में अब तक जो आलोचनाएँ हुई हैं उन पर विचार करने की अनुमति न दी जावे तो यह उसे पुस्तक लिखने की अनुमति न देने की अपेक्षा कहीं अधिक खराब है। इस सम्बन्ध में यदि हम सिविल सर्विस के अधिकारियों को पूरी स्वतंत्रता

जनसाधारण की राय और प्रशासनिक प्रक्रिया के बीच एक सन्तुलन पैदा कर देती है। अधिकारी के सामने एक बड़ा खतरा यह रहता है कि वह जनसाधारण की राय से पृथक हो जाता है। वह अपनी समस्याओं को अधिकतर फाइलों के माध्यम से देखता है और इसका परिणाम यह होता है कि उसके अंदर उचित परिमाण में भावना नहीं रहती एवं वह जनसाधारण की वास्तविक आवश्यकताओं से दूर जा पड़ता है। गृह मंत्रालय के अधिकारियों के लिए खास अमिम्मेंट्स यूनियन के प्रतिनिधियों से मिलते जुलते रहना लाभदायक होगा। लेकिन उनकी यह भेंट शिष्टमण्डल के रूप में औपचारिक रूप से नहीं होनी चाहिए। इन औपचारिक ढंग में दो-तीन भाषण होते हैं और फिर अधिकारियों की ओर से यह आश्वासन दे दिया जाता है कि हम आपकी मांगों पर विचार करेंगे। यह भेंट नियमित रूप से अनौपचारिक होनी चाहिए और इन भेंटों में दोनों पक्षों को अपनी सामान्य समस्याओं पर वैयक्तिक सम्पर्क द्वारा विचार विनिमय करना चाहिए। यदि स्वास्थ्य मंत्रालय में गंदी बस्तियों की सफाई के सम्बन्ध में कोई परामर्शीय समिति हो तो बहुत अच्छा है। इससे विचारों के आदान-प्रदान के द्वारा अधिकारियों को प्रश्न के तात्कालिक महत्व का निरन्तर भान रहेगा। मैं चाहता हूँ कि सेना के उन नियमों में भी जिनका साधारण सिपाहियों पर प्रभाव पड़ता है कुछ परिवर्तन हों। लेकिन ये परिवर्तन उच्च अधिकारी स्वयं न करें। प्रत्युत ये परिवर्तन भूतपूर्व सिपाहियों की एक समिति के सुझावों के अनुसार होने चाहिएं। ये सिपाही इस बात को भलीभांति जानते हैं कि सेना के नियमों में क्या दोष हैं और उनमें किन सुधारों की आवश्यकता है। जो बात थल सेना के सम्बन्ध में सही है वही नौ सेना और वायु सेना के सम्बन्ध में भी सही है। यदि विभिन्न मंत्रालय नियमित रूप से परामर्शीय समितियों से मंत्रणा करते रहें तो वे बहुत सी कठिनाइयों से बच सकते हैं। मेरे विचार से श्रम मंत्रालय की यह भूल है कि उसने बेरोजगारों का स्थानीय श्रम-विनिमय-केन्द्रों से और अधिक संघों को उनके केन्द्रीय प्रशासन से सम्पर्कित करने की कोई चेष्टा नहीं की है। प्रशासनिक प्रक्रिया से सम्बद्ध ऐसा बहुत सा सामाजिक अनुभव है, जिसका वर्तमान व्यवस्था में हमारे शासक रंचमात्र भी उपयोग नहीं करते। यह आवश्यक है कि इस अनुभव का उपयोग किया जावे। यदि ऐसा हो जावे तो मेरा विचार है कि बीस जन सम्पर्क अधिकारी सिविल सर्विस का काम जनता की समस्याओं के लिए जितना कर सकते हैं उससे अधिक यह कर दिखाएगा।

हम सिविल सर्विस की चाहे जितनी प्रशंसा कर लें लेकिन यह एक तथ्य है कि नागरिक उसके बहुत कम काम को समझ पाते हैं। यह हमारी दोषपूर्ण शिक्षा के कारण है। हम अभी तक अरस्तू के शब्दों में 'संविधान की भावना के प्रशिक्षण' का महत्व नहीं समझ पाये हैं। अधिकांश जनसंख्या को आधुनिक प्रशासन के प्रयोजनों एवं पद्धतियों का कोई ज्ञान नहीं होता। उनका यह विचार होता है (जो बिल्कुल गलत है) कि इन अधिकारियों को अच्छा वेतन मिलता है उन्हें निश्चिन्तता रहती है और कम काम करना पड़ता है। वे दफ्तरी जीवन में कुछ ऐसे फिट जाते हैं कि उन्हें चाहे

था कि एक छोटी सी समिति के द्वारा जिसकी निष्पक्षता में जनता को पूरा विश्वास होता इन दोषारोपों की जाँच करवाई जाती। सर वारेन फिशर ने पिगोट-प्रकरण और बुलोक-प्रकरण में जो जाँच-पड़ताल की थी वह इस प्रकार के बारे व्यवहार की जिससे जनता में ठीक प्रकार का विश्वास उत्पन्न होता है, श्रेष्ठ उदाहरण है। मेरा विचार है कि दुर्लभ लेकिन सामान्यतः महत्वपूर्ण प्रकरणों में पूरी जाँच-पड़ताल के इस उपाय का आश्रय नहीं लिया जाता। फलतः ऐसे प्रकरणों में जनता सम्बद्ध विभाग की नीतियों से असंतुष्ट रह जाती है।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार सरकारी विचार के लिए अधिक से अधिक प्रचार की आवश्यकता है उसी प्रकार जनता और सिविल सर्विस के बीच अधिक से अधिक सम्बन्ध वांछनीय है विशेष कर उस समय जब कि विभाग किसी स्वविवेकी अथवा गोपनीय शक्ति का प्रयोग करता हो। सार्वजनिक प्रशासन और व्यक्तिगत प्रशासन के बीच मुख्य भेद यही है कि पहले में नागरिक को उस प्रत्येक निर्णय के कारण ज्ञात करने का अधिकार है जिनसे कि वह प्रभावित होता है। यही कारण है कि मन्त्रियों की शक्तियों पर विचार करने के लिए डोनोमोर की जो समिति नियुक्त हुई थी उसने स्वास्थ्य-मन्त्रालय से इस बात की सिफारिश की थी कि वह गन्दी बस्तियों की सफाई जैसे मामलों के सम्बन्ध में निरीक्षकों की रिपोर्टों को प्रकाशित कर दिया करे। यदि गृह-मन्त्री किसी विदेशी को देशीकरण का प्रमाण-पत्र देना अस्वीकार कर दें तो उस विदेशी को इस मामले में गृह-मंत्री के निर्णय के विरुद्ध अपील करने का अधिकार होना चाहिए। वर्तमान व्यवस्था जिसमें अस्वीकृति के कारण नहीं बताए जाते असंतोषप्रद है क्योंकि ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिसमें किसी विदेशी के मित्र पहले गृह-मन्त्री के उत्तराधिकारी से अपील करके निर्णय को बदलवा लेते हैं। यह तर्क कि संसद् ने इस क्षेत्र में पूरी स्वतन्त्रता दे रक्खी है, हमें अधिक दूर तक नहीं ले जाता। संसद् का उद्देश्य तो यह है कि इस स्वतन्त्रता का ठीक से प्रयोग हो। कई अवसर ऐसे होते हैं जब कि कुछ अधिकारी अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करते हैं और यह जनता की दृष्टि से छिपा रह जाता है। लेकिन यदि इसका सूक्ष्म परीक्षण हो तो यह अल्पकाल में ही प्रकट हो सकता है।

मैं एक पूर्व अध्याय में राज्य के प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में संसद् के सदस्यों की परामर्शीय समितियों की वांछनीयता के सम्बन्ध में विवेचन कर चुका हूँ। इन समितियों से सबसे बड़ा लाभ यह है कि वे उत्तरदायी व्यवस्थापक तथा प्रशासनिक विशेषज्ञ के बीच सम्पर्क बनाए रक्खेंगी। मेरी दृष्टि में इस सम्पर्क का बहुत महत्व है। इसके कारणों का मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ। इन समितियों के अतिरिक्त मैं विभागों के विषय में ऐसे नागरिकों की परामर्शीय समितियों को भी आवश्यक मानता हूँ जिनके हित विभागों के कार्य से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार की समितियाँ तो अब भी हैं और उनमें से कुछ ने विशेषकर शिक्षा-मंडल की परामर्शीय समिति ने अत्यंत उपयोगी काम किया है। इस प्रकार की समिति का एक बड़ा लाभ [redacted] है कि वह

जनसाधारण की राय और प्रशासनिक प्रक्रिया के बीच एक सन्तुलन पैदा कर देती है। अधिकारी के सामने एक बड़ा खतरा यह रहता है कि वह जनसाधारण की राय से पृथक हो जाता है। वह अपनी समस्याओं को अधिकतर फाइलों के माध्यम से देखता है और इसका परिणाम यह होता है कि उसके अंदर उचित परिमाण की मात्रा नहीं रहती एवं वह जनसाधारण की वास्तविक आवश्यकताओं से दूर जा पड़ता है। गृह मंत्रालय के अधिकारियों के लिए आप अधिस्टेंट्स यूनियन के प्रतिनिधियों से मिलते जुलते रहना लाभदायक होगा। लेकिन उनकी यह भेंट शिष्टमंडल के रूप में औपचारिक ढंग से नहीं होनी चाहिए। इन औपचारिक भेंटों में दो-तीन भाषण होते हैं और फिर अधिकारियों की ओर से यह आश्वासन दे दिया जाता है कि हम आपकी मांगों पर विचार करेंगे। यह भेंट नियमित रूप से प्रतिमास होनी चाहिए और इन भेंटों में दोनों पक्षों को अपनी सामान्य समस्याओं पर वैयक्तिक सम्पर्क द्वारा विचार विनिमय करना चाहिए। यदि स्वास्थ्य मंत्रालय में गंदी बस्तियों की सफाई के सम्बन्ध में कोई परामर्शीय समिति हो तो बहुत अच्छा है। इससे विचारों के आदान प्रदान के द्वारा अधिकारियों को प्रश्न के तात्कालिक महत्व का निरन्तर भान रहेगा। मैं चाहता हूँ कि सेना के उन नियमों में भी जिनका साधारण सिपाहियों पर प्रभाव पड़ता है कुछ परिवर्तन हों। लेकिन ये परिवर्तन उच्च अधिकारी स्वयं न करें। प्रत्युत ये परिवर्तन भूतपूर्व सिपाहियों की एक समिति के सुझावों के अनुसार होने चाहिएं। ये सिपाही इस बात को भलीभांति जानते हैं कि सेना के नियमों में क्या दोष है और उनमें किन सुधारों की आवश्यकता है। जो बात थल सेना के सम्बन्ध में सही है वही नौ सेना और वायु सेना के सम्बन्ध में भी सही है। यदि विभिन्न मंत्रालय नियमित रूप से परामर्शीय समितियों से मंत्रणा करते रहें तो वे बहुत सी कठिनाइयों से बच सकते हैं। मेरे विचार से श्रम मंत्रालय की यह भूल है कि उसने बेरोजगारों को स्थानीय श्रम-विनिमय-केन्द्रों से और श्रमिक संघों को उनके केन्द्रीय प्रशासन से सम्बन्धित करने की कोई चेष्टा नहीं की है। प्रशासनिक प्रक्रिया के सम्बन्ध ऐसा बहुत सा सामाजिक अनुभव है, जिसका वर्तमान व्यवस्था में हमारे शासक रंचमात्र भी उपयोग नहीं करते। यह आवश्यक है कि इस अनुभव का उपयोग किया जावे। यदि ऐसा हो जावे तो मेरा विचार है कि बीस जन सम्पर्क अधिकारी सिविल सर्विस का काम जनता को समझाने के लिए जितना कर सकते हैं उससे अधिक यह कर दिखाएगा।

हम सिविल सर्विस की चाहे जितनी प्रशंसा कर लें लेकिन यह एक तथ्य है कि नागरिक उनके बहुत कम काम को समझ पाते हैं। यह हमारी दोषपूर्ण शिक्षा के कारण है। हम अभी तक अरस्तू के शब्दों में "संविधान की भावना में प्रशिक्षण" का महत्व नहीं समझ पाये हैं। अधिकांश जनसंख्या को आधुनिक प्रशासन के प्रयोजनों एवं पद्धतियों का कोई ज्ञान नहीं होता। उनका यह विचार होता है (जो बिल्कुल गलत है) कि सिविल सर्विस के अधिकारियों को अच्छा वेतन मिलता है उन्हें निश्चिन्तता रहती है और कम काम करना पड़ता है। वे दफ्तरी जीवन में कुछ ऐसे लिप्त जाते हैं कि उन्हें चाहे

था कि एक छोटी सी समिति के द्वारा जिसकी निष्पक्षता में जनता को पूरा विश्वास होता इन दोषारोपों की जाँच करवाई जाती। सर वारेन फिशर ने बिकोरी-प्रकरण और बुसोक-प्रकरण में जो जाँच-पड़ताल की थी वह इस प्रकार के बारे व्यवहार की जिससे जनता में ठीक प्रकार का विश्वास उत्पन्न होता है, श्रेष्ठ उदाहरण है। मेरा विचार है कि दुर्लभ लेकिन सामान्यतः महत्वपूर्ण प्रकरणों में पूरी जाँच-पड़ताल के इस उपाय का आश्रय नहीं लिया जाता। फलतः ऐसे प्रकरणों में जनता सम्बद्ध विभाग की नीतियों से असंतुष्ट रह जाती है।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार सरकारी विभाग के लिए अधिक से अधिक प्रचार की आवश्यकता है उसी प्रकार जनता और सिविल सर्विस के बीच अधिक से अधिक सम्बन्ध वांछनीय है विशेष कर उस समय जब कि विभाग किसी स्वविवेकी अथवा गोपनीय शक्ति का प्रयोग करता हो। सार्वजनिक प्रशासन और व्यक्तिगत प्रशासन के बीच मुख्य भेद यही है कि पहले में नागरिक को उस प्रत्येक निर्णय के कारण ज्ञात करने का अधिकार है जिससे कि वह प्रभावित होता है। यही कारण है कि मंत्रियों की शक्तियों पर विचार करने के लिए लॉर्ड चांसलर ने जो समिति नियुक्त की थी उसने स्वास्थ्य-मंत्रालय से इस बात की सिफारिश की थी कि वह सभी बस्तियों की सफाई जैसे मामलों के सम्बन्ध में निरीक्षकों की रिपोर्टों को प्रकाशित कर दिया करे। यदि गृह-मंत्री किसी विदेशी को देशीकरण का प्रमाण-पत्र देना अस्वीकार कर दें तो उस विदेशी को इस मामले में गृह-मंत्री के निर्णय के विरुद्ध अपील करने का अधिकार होना चाहिए। वर्तमान व्यवस्था जिसमें अस्वीकृति के कारण नहीं बताए जाते असंतोषप्रद है क्योंकि ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिसमें किसी विदेशी के मित्र पहले गृह-मंत्री के उत्तराधिकारी से अपील करके निर्णय को बदलवा लेते हैं। यह तर्क कि संसद् ने इस क्षेत्र में पूरी स्वतंत्रता दे रक्खी है, हमें अधिक दूर तक नहीं ले जाता। संसद् का उद्देश्य तो यह है कि इस स्वतंत्रता का ठीक से प्रयोग हो। कई अवसर ऐसे होते हैं जब कि कुछ अधिकारी अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करते हैं और यह जनता की दृष्टि से छिपा रह जाता है। लेकिन यदि इसका सूक्ष्म परीक्षण हो तो यह अल्पकाल में ही प्रकट हो सकता है।

मैं एक पूर्व अध्याय में राज्य के प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में संसद् के सदस्यों की परामर्शीय समितियों की वांछनीयता के सम्बन्ध में विवेचन कर चुका हूँ। इन समितियों से सबसे बड़ा काम यह है कि वे उत्तरदायी व्यवस्थापक तथा प्रशासनिक विशेषज्ञ के बीच सम्पर्क बनाए रक्खेंगी। मेरी दृष्टि में इस सम्पर्क का बहुत महत्व है। इसके लाभों का मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ। इन समितियों के अतिरिक्त मैं विभागों के विषय में ऐसे नागरिकों की परामर्शीय समितियों को भी आवश्यक मानता हूँ जिनके हित विभागों के कार्य से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार की समितियाँ तो अब भी हैं और उनमें से कुछ ने विशेषकर शिक्षा-मंडल की परामर्शीय समिति ने अत्यंत उपयोगी कार्य किया है। इस प्रकार की समिति का एक बड़ा काम यह है कि यह

में जितना अधिक सामाजिक अनुभव एकत्रित किया जायगा उतनी ही अधिक इस बात की सम्भावना होगी कि मन्त्री का निर्णय अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण होगा। वस्तुतः मेरे सुझाव का अभिप्राय यही है कि हमारे राजनीतिक जीवन में राजकीय आयोग जो महत्त्व रखते हैं उनको तनिक और बढ़ा दिया जाये। प्रशासन की नीति और स्पष्टता में राजकीय आयोग से जो सहायता मिलती है वह वस्तुतः प्रशंसनीय है। मेरे कहने का सार यही है कि लोकतंत्र वस्तुतः उपभोक्ताओं की पसन्द का शासन है और इस उद्देश्य को प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय यह है कि उपभोक्ताओं को संगठित किया जाये जिससे कि समय-समय पर उनसे मन्त्रणा की जा सके। यदि जनता नीतियों के परिणामों में सक्रिय रुचि नहीं लेती तो इसकी क्षतिपूर्ति किसी भी प्रकार नहीं हो सकती। सिविल सर्विस का अधिकारी बड़ी आसानी से यह मान लेता है कि आलोचना की अनुपस्थिति का अर्थ सन्तोष की उपस्थिति है। लेकिन यह बात सच नहीं है। यह जानने का कि जनता क्या चाहती है सर्वश्रेष्ठ उपाय जनता को इस प्रकार संगठित करना है जिससे कि वह अपनी इच्छा को व्यक्त कर सके। यदि हम जनता को अपनी इच्छा व्यक्त करने के साधन नहीं देते तो यह एक बहुत बड़ी गलती है और हमारा सम्पूर्ण विशेषज्ञान इसकी क्षतिपूर्ति नहीं कर सकता। जनता की इच्छा को जानने का श्रेष्ठ उपाय उसे जो कष्ट मिल रहा है उसकी आलोचना से सम्बन्धित करना है। जितना ही अधिक हम इस दिशा में प्रयत्न कर सकते हैं उतने ही अधिक हम नौकरशाही की दुर्बलताओं से सुरक्षित रहेंगे।

( ५ )

औसत नागरिक का दैनिक अनुभव यह सिद्ध करता है कि इस देश में अधिशासी शक्ति की वृद्धि हुई है। यह शक्ति-वृद्धि कुछ तो संसद् के मूल्य पर हुई है। प्रदत्त व्यवस्थापन की वृद्धि पिछले तीस वर्षों के सबसे महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक परिवर्तनों में से एक है। यह शक्ति-वृद्धि कुछ हद तक न्यायालयों के मूल्य पर भी हुई है। मन्त्रियों को अर्द्ध-न्यायिक और कभी-कभी पूर्ण न्यायिक शक्तियाँ दे दी गई हैं। इसके फलस्वरूप कानून का शासन कुछ सीमा तक वर्जित हो गया है। इसको इस विकास के परिणामों के विरुद्ध गम्भीर चेतावनियाँ मिली हैं। यह 'नई तानाशाही' है यह 'नौकरशाही की विजय' है। इंगलैण्ड के प्रधान न्यायाधीश जैसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति तक इस क्षेत्र में कूद पड़े हैं और उन्होंने इस बात को ज़ोर देकर कहा है कि यदि हमें जनता की स्वतंत्रता की रक्षा करनी है तो यह आवश्यक है कि हम प्राचीन रीति-रिवाजों की ओर लौट चलें।

प्रदत्त व्यवस्थापन के विकास की जो आलोचना की गई है यदि उसकी गम्भीर परीक्षा की जाये तो वह बिल्कुल निस्सार सी लगती है। यह तो ठीक है कि संसद् को कुछ आपातकालीन अवसरों को छोड़कर विभागों को ऐसे नियम-निर्माण की शक्तियाँ नहीं देनी चाहिएँ जिनका वह कार्यान्वित होने के पूर्व परीक्षण न कर सके। यह, जैसा कि लॉर्ड डोनफ्मोर कमेटी ऑन मिनिस्टर्स पावर्स' ने कहा है कोई कठिन बात नहीं है। इसके लिए कॉमन-सभा की एक स्थायी समिति की स्थापना की जा

कोई काम करना पड़े वे बहुत धीरे-धीरे करते हैं। वेतनों के सम्बन्ध में जो एंडर्सन समिति नियुक्त हुई थी उसकी टिप्पणियों से भी यह पता चलता है कि सिविल सर्विस के कार्य से वह अपरिचित है। ऐसी स्थिति में आलोचकों के अज्ञान का फल यह होता है कि वे गलतबयानी करने लगते हैं। साधारणतया लोग सिविल सर्विस के गुणों की अपेक्षा उसके दोषों में अधिक रुचि दिखाते हैं। यदि सिविल सर्विस अच्छे काम करती है, तो हो सकता है कि लोगों का ध्यान उस ओर न जाये लेकिन यदि सिविल सर्विस से कोई गलती हो गई तो लोग बड़ी सुगमता से उसकी ओर उँगली उठाने लगते हैं।

नागरिक शिक्षा का महत्व स्वतः स्पष्ट है। अज्ञानी लोकतन्त्रवादी लोकतन्त्र की रक्षा नहीं कर सकेंगे क्योंकि वे लोकतन्त्र का ठीक-ठीक अभिप्राय ही नहीं जानते। लेकिन मेरा विचार है कि जितना ही अधिक हम लोगों को प्रशासनिक प्रक्रिया के क्रियात्मक पक्ष का ज्ञान दे सकते हैं, उतना ही अधिक लोग इस कार्य का महत्व समझ सकेंगे। लेनिन की यह एक महत्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि थी। उसने यह समझ लिया था कि जितनी ही अधिक जनता प्रशासनिक प्रक्रिया से सम्बद्ध होगी उतना ही अच्छा प्रशासन का स्वरूप होगा क्योंकि उस स्थिति में प्रशासन को अधिक उत्तरदायी आलोचक जनता का सामना करना पड़ेगा। मेरा विचार है कि इस प्रश्न पर ब्रिटिश लोकतन्त्र असफल हो गया है। वह यह नहीं समझ सका है कि यदि उसने जनता में रुचि जागृत करने के लिए उपयुक्त संस्थागत युक्तियों का निर्माण कर लिया तो काफी जनता उसकी प्रक्रियाओं में रुचि लेने लगेगी। अपने राष्ट्रीय जीवन के दूसरे क्षेत्रों में हम सफलतापूर्वक ऐसा कर सके हैं। श्रमिक संघ सहकारी आन्दोलन श्रमिक दल तथा अन्य बहुत सी संस्थाएँ केवल इस कारण जीवित रह सकी हैं क्योंकि वे अपने सदस्यों की ऐच्छिक सेवा प्राप्त करने में सफल हुई हैं। मेरा विचार है कि यदि केन्द्रीय और स्थानीय परामर्शीय समितियों का ठीक से संगठित किया जाये और उनका सही उपयोग किया जाये तो वे सार्वजनिक प्रशासन के क्षेत्र में इसी प्रकार की सेवा कर सकती हैं। समितियों को यह विश्वास दिलाना आवश्यक होगा कि उनकी सलाह को महत्व दिया जायेगा। यदि समितियों को केवल औपचारिक संस्थाएँ ही माना गया तो यह बहुत बुरा होगा। आधुनिक नागरिक को प्रशासनिक प्रक्रिया से विमुख होने से रोकने के लिए जो भी किया जाय वह थोड़ा है। नागरिक यह जानता है कि वह कर देता है। उसे इस बात का भी निरन्तर ज्ञान होना चाहिए कि वह किसलिए कर देता है। जब तक उसे इस बात का पूर्ण रूप से ज्ञान नहीं है वह सच्चे अर्थों में नागरिकता की भावना से अनुप्राणित नहीं माना जा सकता। यदि राजनीति की प्रक्रिया में उसका भाग तीन-चार वर्षों के केवल एक बार मत देने तक ही सीमित है तो राजनीतिक दलों के सक्रिय सदस्यों के अतिरिक्त ऐसे बहुत कम व्यक्ति होते हैं जो यह समझें कि हम वस्तुतः नागरिक हैं।

मैं यह बात जोर देकर कहता हूँ कि मेरे कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि मैं मंत्रीय नियंत्रण के सिद्धान्त की उपेक्षा या अवहेलना करता हूँ। निर्णय मन्त्री के ही हाथ में रहना चाहिए। लेकिन यह स्पष्ट ही है कि उसके निर्णय के आधार स्व

भी आवश्यक है कि जब कार्यपालिका को अर्द्धन्यायिक शक्ति दे दी जायेगी निर्णय करने की उसकी पद्धतियाँ कुछ ऐसी होंगी कि जनता में उनकी सचाई के प्रति विश्वास जम सके। पुनश्च यह भी महत्वपूर्ण है कि इस क्षेत्र में कार्यपालिका के निर्णय का आधार सार्वजनिक होगा और इस बात का पूरा आश्वासन मिलता रहेगा कि अधिकारियों ने न्यायपूर्ण निर्णय के लिए आवश्यक समस्त सामग्री का समुचित परीक्षण कर लिया है।

यदि उक्त आवश्यकताएँ पूरी हो जायें तो फिर इस तथ्य से कि कार्यपालिका को न्यायिक शक्तियाँ दे दी गई हैं अधिक ऊहापोह नहीं मचनी चाहिए। पूर्वोत्तर वर्षों में इस प्रश्न पर तनिक अतिरंजना के साथ विचार किया गया है। अनुभव की दृष्टि से यह मानने का कोई कारण नहीं है कि न्यायालय विद्यालयों के प्रबन्धकों तथा स्थानीय शैक्षणिक अधिकारी के विवाद को बोर्ड ऑफ एजूकेशन की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह निबटा सकता है।[1] लेकिन यह मानते हुए भी कि बोर्ड ऑफ एजूकेशन के पास सारे तथ्य होते हैं आम धारणा इसके प्रतिकूल मालूम पड़ती है। यह मानने का भी कोई कारण नहीं है कि यदि कोई स्थानीय अधिकारी किसी अस्वास्थ्यकर भवन का स्वामी है तो उस भवन को बन्द करने का आदेश देने के लिए न्यायालय स्वास्थ्य-मंत्री की अपेक्षा अधिक योग्य है।[2] यहाँ भी अनावश्यक प्रश्ना के स्वरूप को मानते हुए भी आम धारणा इसके प्रतिकूल ही मालूम पड़ती है। इन सभी न्यायाधिकरणों के क्षेत्राधिकार में जो कुछ अन्तर्ग्रस्त है वह उपयुक्त प्रशासनिक मानों का विकास है और इस प्रकार के मानों का मूल्य न्यायालयों की अपेक्षा कार्यपालिका को अधिक विषय-ज्ञान है। यदि कार्यपालिका को इस प्रकार का क्षेत्राधिकार मिल गया है तो इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं हो जाता कि कानून का शासन नष्ट हो गया है क्योंकि इस प्रकार के क्षेत्राधिकार का प्रदान करते समय संसद् इस बात की निगरानी रखती है कि इन न्यायाधिकरणों में कानून का भाव इतनी ईमानदारी न हो कि न्याय की विजय हो सके। केल्सी जो बी., ने "वुड बनाम वुड"[3] के अभियोग में इसकी अच्छी तरह व्याख्या की है। इस प्रकार के न्यायाधिकरणों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है "न्याय कार्य-सम्पादन में वे इस गुण का पालन करने के लिए बाध्य हैं कि किसी भी व्यक्ति को केवल आरोपित अपराधों के आधार पर ही दंड नहीं देना चाहिए। दंड देने के पूर्व अभियुक्त की सुनवाई होनी चाहिए और उसे अपने पक्ष-प्रतिपादन का अवसर मिलना चाहिए। यह नियम केवल विशुद्ध कानूनी न्यायाधिकरणों तक ही सीमित नहीं है प्रत्युत ऐसे प्रत्येक न्यायाधिकरण के ऊपर लागू होता है जिसे व्यक्तियों के व्यवहार-सम्बन्धी मामलों पर निर्णय देने का अधिकार हो।"

प्रशासनिक न्यायसत्ता के इतिहास से यह सिद्धान्त सिद्ध नहीं होता कि व्यवहार में

---

१ बोर्ड ऑफ एजूकेशन बनाम राइस (१९११) ए सी १७९।
२ लोकल गवर्नमेंट बोर्ड बनाम आर्लिज (१९१५) ए सी १२०।
३ (१८७४) एल आर. एक्स १९।

सकती है। यह समिति समस्त नियमों तथा आदेशों पर उनके कार्यान्वित होने के पूर्व विचार करेगी। यदि इन नियमों तथा आदेशों में कोई असाधारण बात हुई तो समिति सभा का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट कर सकती है। इस परीक्षण और ऐसे आश्वासन के बावजूद जिसका अभी तक अभाव नहीं रहा है कि विभिन्न समस्त सम्बद्ध हितों से मंत्रणा किए बिना कोई नियम न बनाएँ प्रदत्त व्यवस्थापन के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है और उसके विपक्ष में बहुत कम। यदि कोई व्यक्ति प्रदत्त व्यवस्थापन की विषय-वस्तु पर विचार करे, तो वह यह बड़ी सुगमता से समझ लेगा कि इसकी वजह से संसद् का बहुत सा अमूल्य समय बच जाता है जिसको वह दूसरे कामों में लगा सकती है। यदि नियमों की सूची में विस्तार अथवा टैक्सी के किरायों में परिवर्तन जैसी नियामक शक्तियों का प्रयोग सभा नहीं प्रस्तुत कुछ मंत्री करते हैं तो इससे हमारी स्वतंत्रता खतरे में नहीं पड़ जाती। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संसद् को शक्ति के किसी भी प्रयोग पर जब वह उचित समझे आक्षेप करने का अधिकार होना चाहिए और इस प्रकार उसे जो कुछ उसके नाम में किया जाये उसके परीक्षण का अधिकार होना चाहिए जिससे कि ऐसी कोई वस्तु जिस पर कि वह आक्षेप करे उसके ध्यान से न छूट जाये। यदि यह हो जाता है, तो प्रदत्त व्यवस्थापन की पद्धति भी वास्तव में काफी पुरानी है, कियात्मक राज्य के लिए आवश्यक एवं प्राविधिक प्रक्रिया-मूलक सुविधामात्र है।

विभागों को जो न्यायिक और अर्द्धन्यायिक शक्तियाँ दे दी गई हैं उससे कुछ और कठिन प्रश्न उठ खड़े होते हैं। प्रोफेसर डायसी के सिद्धान्तों में विश्वास अपेक्ष यह विश्वास करते हैं कि जब तक कानून के किसी प्रश्न को ऐसा कोई न्यायालय नहीं सुलझाता जो कार्यपालिका के नियंत्रण से स्वतन्त्र हो तब तक यह नहीं माना जा सकता है कि उस प्रश्न का उचित निर्णय हो गया। आज कल मन्त्रियों के क्षेत्राधिकार में जो वृद्धि होती जा रही है और उसके फलस्वरूप न्यायालयों की शक्ति में जो कमी हो रही है उसे वे संदेह की दृष्टि से देखते हैं। वकील इस बात का विशेष रूप से विरोध करते हैं कि किसी न्यायिक मामले पर न्यायालयों के बाहर ठीक से विचार किया जा सकता है। उनका कहना है कि इस प्रकार के क्षेत्राधिकार की वृद्धि इस बात का प्रमाण है कि सिविल सर्विस मन्त्रियों की नीति को कानूनी शक्ति से अधिक महत्त्व देने के लिए प्रयत्नशील है। उनका तर्क है कि यह एक नए किस्म की तानाशाही है। स्टुअर्ट-काल में कानून का शासन अंग्रेजों की स्वतन्त्रता का सबसे बड़ा रक्षक रहा है। यदि इसमें शिथिलता कर दी जाती है तो इससे स्वतन्त्रता को खतरा पहुँच सकता है।

आधुनिक प्रवृत्तियों के अनुशीलन को इन समस्त समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। कुछ शक्तियाँ ऐसी हैं जिन्हें कार्यपालिका को देने से सार्वजनिक स्वतन्त्रता निश्चित रूप से खतरे में पड़ जायेगी। यदि कार्यपालिका को यह निर्धारित करने की शक्ति दे दी जाये कि अमुक प्रकार का आचरण गलत है और अमुक व्यक्ति का आचरण इसी कोटि का है तो वह सिद्धान्त की एक बहुत बड़ी पराजय होगी। यह

उन्होंने नागरिकों को कार्यपालिका की शक्ति के दुरुपयोग से बचाव की बहुत अच्छी व्यवस्था कर ली है और यह व्यवस्था हमारे देश की व्यवस्था से भी बढ़ कर है। लेकिन डायसी ने फ्रेंच पद्धति के जो गुण-दोष बताए हैं उन्हें अंग्रेज विधान-विशारद और विशेषकर अंग्रेज न्यायाधीश अभी हाल तक आँख मूंद कर शिरोधार्य करते थे और वे यह मानते थे कि अधिकारियों को न्यायिक शक्ति दे देने से स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाती है।

यदि समुचित व्यवस्था कर ली जाये तो यह मानने का कोई कारण नहीं है कि वस्तुस्थिति ऐसी ही है। यह व्यवस्था आवश्यक है कि वे अधिकारी जो इस प्रकार के क्षेत्राधिकार का उपयोग करते हैं अपने से ऊँचे अफसरों के दबाव में न आ जायें और अभियोग के पक्ष-विपक्ष में जो कुछ छानबीन करें वह निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण हो। इस प्रसंग में वैधानिकता और अवैधानिकता का प्रश्न भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विभाग को अपने प्राधिकार की सीमाएँ निश्चित करने का अन्तिम और निरपेक्ष अधिकार नहीं देना चाहिए। आधुनिक राज्य का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि प्रशासनिक कानून की वृद्धि अवश्यम्भावी है। क्रमशः जिन समस्याओं को प्रशासनिक कानून खड़ा करता है हमें उनके संस्थागत समाधानों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

प्रशासनिक कानून की दूसरी समस्या आधान है। सादम से यह प्रतीत होता है कि इसे संतोषपूर्वक हल कर लिया गया है। नागरिक को अपनी बात कहने का पूरा अवसर मिलता है। अभियोग का निर्णय उन समस्त आधारों को प्रकट करता है, जिनके ऊपर उसकी रचना की जाती है। प्रशासनिक न्यायाधिकरण नागरिक की प्रत्येक बात पर न्यायालय के समान ही ध्यान से विचार करता है। प्रशासनिक न्यायाधिकरणों में निर्णय बड़ी शीघ्रता से हो जाते हैं और नागरिक का व्यय भी कम होता है। समस्या की वास्तविक कठिनाई पहले और तीसरे प्रश्न में निहित है। निश्चित है कि मन्त्री को जो क्षेत्राधिकार दिया जाता है उसका वह स्वयं व्यक्तिगत रूप से प्रयोग नहीं कर सकता। वह केवल अपने अधिकारियों द्वारा की गई जाँच पड़ताल पर स्वीकृति की मुहर लगा देता है। जनता को इन अधिकारियों के बारे में कोई ज्ञान नहीं होता। यह एक श्रेष्ठ नियम है कि न्यायिक कार्य केवल ज्ञात व्यक्तियों को ही सौंपा जाना चाहिए। चूंकि इस प्रकार के कार्य में कानून का भी किंचित् तत्त्व समाविष्ट रहता है अतः यह आवश्यक है कि उनका प्रशासनिक ज्ञान कानूनी प्रशिक्षण के साथ संयुक्त हो। मेरे विचार से यह भी आवश्यक है कि अधिकारियों को अपने इस कार्य के संपादन में जिसमें कुछ न्यायिक विशेषताएँ भी हैं पदावधि की सुरक्षा रहनी चाहिए।

इस दृष्टि से यह स्वाभाविक निष्कर्ष मालूम पड़ता है कि वे व्यक्ति जो मन्त्री को उसकी न्यायिक शक्तियों के प्रयोग के संबंध में सलाह देते हैं, मंत्री द्वारा इस कार्य के लिए विशेष रूप से मनोनीत किए जायें। उन्हें इस ढंग का यथेष्ट अनुभव होना चाहिए और उनमें सामान्य कानूनी योग्यताएँ भी होनी चाहिएँ। जिस प्रकार जनता को यह ज्ञात होता है कि कौन विशेष न्यायाधीश अवकाश कालीन न्यायाधीश है उसी प्रकार उसे यह भी ज्ञात होना चाहिए कि कौन व्यक्ति स्वास्थ्य-मंत्री को मन्त्रणा देता

इस सिद्धान्त की अपेक्षा की जाती है। जहाँ तक हमें मालूम है हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि उनकी पद्धतियाँ न्यायालयों की पद्धतियों से भिन्न हो सकती हैं तथापि वे व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा में कम सक्षम नहीं होते। उन्हें अधिकतर टेकनिकल मामलों पर विचार करना पड़ता है। इन मामलों का निर्णय करने में ऐसे विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है जो न्यायाधीशों के पास कम ही पाया जाता है। उनका काम जल्दी का और सस्ता होता है। यदि कोई व्यक्ति इसके परिणामों की उन धीमी गति निर्णयों से तुलना करे जिनके अनुसार साधारण न्यायालयों में प्रतिकर के निर्णय की अथवा जिला लेखा परीक्षक की शक्ति हस्तगत कर ली है तो वह मेरे विचार से यह मानने के लिए विवश हो जायेगा कि विध्यात्मक राज्य में साधारण न्यायालय इस प्रकार के कार्य के लिए उपयुक्त नहीं है।[1] वैधानिक निर्वचन की उनकी पद्धतियाँ आधुनिक राज्य के लिए दोषपूर्ण हैं। उनके पास उचित प्रशासनिक मानों के निर्माण के लिए आवश्यक ज्ञान का अभाव होता है। यह स्मरणीय है कि इस प्रकार का अधिकांश क्षेत्राधिकार नीति के अन्दर "औचित्य" के प्रश्नों से सम्बन्ध रखता है और यह समझना जरा कठिन है कि "औचित्य" के सम्बन्ध में एक न्यायाधीश का दृष्टिकोण एक मंत्री के दृष्टिकोण से जिसे अपने विचारों के लिए कॉमन-सभा के सामने उत्तर देना पड़ता है क्यों अधिक सही होगा। पुनश्च यदि इस [प्रकार के प्रश्नों से सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक प्रश्न को न्यायालय में प्रस्तुत किया जायेगा तो प्रशासन की प्रक्रिया असंभव हो जायेगी और न्यायालय कार्य के भार से दब से जायेंगे। इस प्रसंग में एक दृष्टान्त पर्याप्त होगा। १९२५ के विधवा अनाथ और वृद्धावस्था के निवृत्ति-वेतन विषयक अधिनियम के अन्तर्गत १९२६ के पहले ग्यारह महीनों में अधिनियम की प्रक्रिया के अनुसार ४ अपीलें की गई थीं। इन अपीलों को किसी साधारण न्याया-लय में भेजना पागलपन होता।

सच्चाई यह है प्रोफेसर डायसी की कानून के शासन की मान्यता और प्रशास-निक कानून के प्रति उनका गहरा विरोध एक ऐसे ऐतिहासिक युग की प्रवृत्तियों के ऊपर आधारित था जो अब बीत चुका है। उनका कानून का शासन एक ऐसे आर्थिक व्यक्तिवाद की अभिव्यक्ति था जिसमें राज्य तथा व्यक्ति को एक दूसरे का विरोधी माना जाता था और यह समझा जाता था कि एक निष्पक्ष न्यायालय जो सामान्य कानून के कुछ शाश्वत सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करता है उनके बीच संतुलन रखता है। लेकिन ये शाश्वत सिद्धान्त तो केवल कुछ ऐसे उपाय थे जिनके द्वारा सम्पत्ति के स्वामी को राज्य-शक्ति के हस्तक्षेप से बचाया जा सके। इसी कारण उनमें कोई स्थायित्व नहीं था और जैसे जैसे सामाजिक परिस्थिति बदलती गई, उनके स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया। अतएव प्रोफेसर डायसी ने प्रशासनिक कानून का जो विवरण दिया था वह ठीक नहीं था। फ्रांस में तृतीय गणराज्य की स्थापना के बाद तो प्रशासनिक न्याया

---

१ लॉर्ड डानस्मोर कमेटी ऑन मिनिस्टर्स पावर्स (१९३२) के प्रतिवेदन में मेरे विरोध का स्मृति-पत्र देखिए।

क्यों में नागरिकों को कार्यपालिका की शक्ति के दुरुपयोग से बचाने की बहुत अच्छी व्यवस्था कर ली है और यह व्यवस्था हमारे देश की व्यवस्था से भी बढ़ कर है। लेकिन डायसी ने फ्रेंच पद्धति के जो गुण-दोष बताए हैं उन्हें अंग्रेज विधान-विशारद और विशेषकर अंग्रेज न्यायाधीश अभी हाल तक आँख मूँद कर शिरोधार्य करते थे और वे यह मानते थे कि अधिकारियों को न्यायिक शक्ति दे देने से स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाती है।

यदि समुचित व्यवस्था करली जाये तो यह मानने का कोई कारण नहीं है कि वस्तुस्थिति ऐसी ही है। यह व्यवस्था आवश्यक है कि वे अधिकारी जो इस प्रकार के क्षेत्राधिकार का उपयोग करते हैं, अपने से ऊँचे अफसरों के दबाव में न आ जायें और अभियोग के पक्ष-विपक्ष में जो कुछ छानबीन करें, वह निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण हो। इस प्रसंग में वैधानिकता और अवैधानिकता का प्रश्न भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विभाग को अपने प्राधिकार की सीमाएँ निश्चित करने का अन्तिम और निरपेक्ष अधिकार नहीं देना चाहिए। आधुनिक राज्य का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि प्रशासनिक कानून की वृद्धि अवश्यम्भावी है। फलतः जिन समस्याओं को प्रशासनिक कानून खड़ा करता है हमें उनके तत्त्वगत समाधानों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

प्रशासनिक कानून की दूसरी समस्या आसान है। वास्तव में यह प्रतीत होता है कि इसे संतोषपूर्वक हल कर लिया गया है। नागरिक को अपनी बात कहने का पूरा अवसर मिलता है। अभियोग का निर्णय उन समस्त आधारों को प्रकट करता है, जिनके ऊपर उसकी रचना की जाती है। प्रशासनिक न्यायाधिकरण नागरिक की प्रत्येक बात पर न्यायालय के समान ही ध्यान से विचार करता है। प्रशासनिक न्यायाधिकरणों में निर्णय बड़ी शीघ्रता से हो जाते हैं और नागरिक का व्यय भी कम होता है। समस्या की वास्तविक कठिनाई पहले और तीसरे प्रश्न में निहित है। निश्चित है कि मन्त्री को जो सत्ताधिकार दिया जाता है उसका वह स्वयं व्यक्तिगत रूप से प्रयोग नहीं कर सकता। वह केवल अपने अधिकारियों द्वारा की गई जाँच पड़ताल पर स्वीकृति की मुहर लगा देता है। जनता को इन अधिकारियों के बारे में कोई ज्ञान नहीं होता। यह एक श्रेष्ठ नियम है कि न्यायिक कार्य केवल ज्ञात व्यक्तियों को ही सौंपा जाना चाहिए। चूंकि इस प्रकार के कार्य में कानून का भी निश्चित तत्त्व समाविष्ट रहता है अतः यह आवश्यक है कि उसका प्रशासनिक ज्ञान कानूनी प्रशिक्षण के साथ संयुक्त हो। मेरे विचार से यह भी आवश्यक है कि अधिकारियों को अपने इस कार्य के संपादन में जिसमें कुछ न्यायिक विशेषताएं भी हैं पदावधि की सुरक्षा रहनी चाहिए।

इस दृष्टि से यह स्वाभाविक निष्कर्ष मालूम पड़ता है कि वे व्यक्ति जो मन्त्री को उसकी न्यायिक शक्तियों के प्रयोग के संबंध में सलाह देते हैं मन्त्री द्वारा इस कार्य के लिए विशेष रूप से मनोनीत किए जायें। उन्हें इस काम का सतत अनुभव होना चाहिए और उनमें सामान्य कानूनी योग्यताएँ भी होनी चाहिएं। जिस प्रकार जनता को यह ज्ञात होता है कि कौन विशेष न्यायाधीश अमुकवाद कालीन न्यायाधीश है, इसी प्रकार उसे यह भी ज्ञात होना चाहिए कि कौन व्यक्ति स्वास्थ्य-मन्त्री को मन्त्रणा देता

है। वैधानिकता और अवैधानिकता का प्रश्न तनिक अधिक कठिन है। एक थे रुकृटन ने कहा है "सार्वजनिक दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि सरकारी विभागों के कृत्य की वैधानिकता के परीक्षण के श्रेष्ठ और द्रुत साधन उपलब्ध हों। उन्होंने सरकारी विभागों की जल्दीबाजी की निन्दा की है और कहा है कि "वे क्या वैधानिक है और क्या अवैधानिक इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार किए बिना ही जल्दी में कार्यवाही कर डालते हैं। यह बात काफी सामान्य रूप से कही गई है। यदि उच्च न्यायालय किसी प्रशासनिक कृत्य की निन्दा करते हैं तो वे यह स्वभावतः नहीं प्रत्युत किसी असाधारण अभियोग के आधार पर ही करते हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की निन्दाएँ सन्देह को जन्म देती हैं और उसके सम्बन्ध में सजगता की आवश्यकता है। स्पष्ट है कि सरकार के विभागों की इस प्रकार की सही या गलत आलोचना बहुत बुरी चीज है।

इसलिए, मेरा यह विचार है कि वैधानिकता और अवैधानिकता के प्रश्न को ऐसे न्यायाधीश या न्यायाधीशों के हाथों में छोड़ देना चाहिए जिनकी स्वतन्त्रता और तटस्थता सन्देहातीत हो। यह आवश्यक है कि वे अपने निर्णय शीघ्रता से और मितव्ययता से कर सकें। उच्च न्यायालय इस कार्य को नहीं कर सकता क्योंकि उसकी प्रक्रिया बहुत धीमी और व्ययसाध्य होती है तथा उसमें और भी न्यायालयों में अपील की सम्भावना रहती है। फलतः हमारे सामने केवल तीन रास्ते ही रह जाते हैं (१) वैधानिकता का प्रश्न सीधे लॉर्ड-सभा के पास भेजा जाये और यदि एटॉर्नी-जनरल तत्कालिकता का प्रमाण-पत्र दे दे तो लॉर्ड-सभा को उस प्रश्न पर शीघ्र ही निर्णय देने की शक्ति हो (२) इसके विकल्पस्वरूप एक सर्वोच्च प्रशासनिक न्यायाधिकरण की स्थापना की जा सकती है। इस न्यायाधिकरण में दो सदस्य तो कानूनी सिविल सर्विस के होने चाहिएँ और उसका अध्यक्ष एक ऐसा वकील होना चाहिए जिसे प्रशासनिक अनुभव हो और किसी पद तथा कार्यकाल उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के समान हो या (३) वैधानिकता का प्रश्न उच्च न्यायालय के एक ऐसे न्यायाधीश के पास भेजा जा सकता है जो इस कार्य के लिए विशेष रूप से नियुक्त किया गया हो ठीक उसी प्रकार जैसे कि राजस्व और वाणिज्य न्यायालयों के न्यायाधीश इस प्रकार की समस्याओं का विशेष ज्ञान रखते हैं। मेरा विचार है कि पहले और तीसरे उपाय कानून के शासन की शास्त्रीय आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और इस देश में उनसे विशेष लाभ यह है कि वे यहाँ की सामान्य न्यायिक परिस्थिति में कोई व्याघात उपस्थित नहीं करते। मेरा विचार है कि दूसरा उपाय सबसे सन्तोषप्रद होगा क्योंकि उसकी वजह से कानूनों का निर्वचन तनिक विशालता से हो सकेगा और वे उस परम्परागत संकुचित निर्वचन से बच जायेंगे जो पिछले कुछ समय से सामान्य कानून के निर्वचन की एक विशेषता हो गई है। यदि हम उस लोप को देखना चाहें जिसे विधान अपने निवचन के आधार के रूप में दूर करना चाहता है तो हमें हीड्रन के अभियोग के समस्त नियमों की ओर वापिस लौटना होगा। सामान्य कानून का न्यायाधीश सार्वजनिक आवश्यकता पर केवल उसी समय विचार करने का अभ्यस्त

होता है जब कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों की अच्छी तरह सुरक्षा हो गई हो।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे "नौकरशाही" के उन आरोपों का कोई समर्थन नहीं होता जो लॉर्ड हीवर्ट[1] ने बड़ी व्यापकता से सिविल सर्विस के ऊपर आरोपित किए हैं। उन्होंने जिस प्रकार के दोषारोपण किए और उनके समर्थन में जिस प्रकार की साक्ष्य प्रस्तुत की उससे यह प्रगट होता है कि वे आधुनिक प्रशासनिक प्रक्रिया का स्वरूप नहीं समझ सके। यदि कोई व्यक्ति हमारी सामाजिक सेवाओं के संगठन और स्वरूप को समझ ले तो वह यह मान लेगा कि "अदृश्यम् राज्य" के लिए निश्चित कानून के नियम मात्र की स्थिति में काम नहीं दे सकते। हमें अपनी न्यायपालिका में एक ऐसी अनुभूति की आवश्यकता है जो अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के अनुसार "बहु शक्तिशाली विचार है कि विधान-मंडल अपनी जनता की आवश्यकताओं का ठीक से समझता है और उन्हें स्वीकार करता है तथा उसके निर्णय उचित आधारों पर निर्भर होते हैं।[1] शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त में जो कुछ सत्य है, उसकी रक्षा करते समय हम यह नहीं चाहते कि न्यायाधीशों को प्रशासनिक प्रक्रिया का स्वामी बना दें। इसका क्या परिणाम निकलता है, यह अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय और विधान-मंडलों के सम्बन्ध से प्रगट हो गया है।[2] लॉर्ड हीवर्ट तथा उनके साथियों ने कानून के शासन का जो अर्थ लगाया है, उससे तो अधिकांश नागरिक स्वस्थ जीवन के उन अवसरों से वंचित हो जायेंगे जिन्हें समाज ने उन्हें प्रदान करना उचित समझा है। हमारे देश में प्रशासनिक कानून के अनुभव से यह लेशमात्र भी सिद्ध नहीं होता कि हम नौकरशाही शासन के खतरे में हैं। न्यायालय इस प्रवृत्ति के विकास के प्रति जो विरोधभाव रखते हैं उससे तो यही प्रगट होता है कि न्यायिक सिद्धान्त भी बहुत राजनीतिक सिद्धान्तों से प्रभावित हो जाते हैं और और न्यायाधीशों तक को इसका ज्ञान नहीं होता। मैं इस समस्या पर पुस्तक के आगामी अध्याय में विचार करूँगा।

---

१ मिल्स्टन बनाम टेक्सास पॉवर कं० २४९ यू० एस० १५७।
२ देखिए, चार्ल्स कैम्स्टीन हाउ दि कोर्ट डिसीजन (१९३७)

अध्याय ७

# संसद् और न्यायपालिका

( १ )

संसद् के अधिनियम स्वयं ही प्रभावी नहीं होते वे मनुष्यों द्वारा लागू किए जाते हैं। चूंकि उन्हें लागू किया जाता है, अतः न्यायालय द्वारा उनकी व्याख्या भी आवश्यक है। ब्रिटिश संविधान का यह एक सिद्धान्त है कि स्पष्ट और असंदिग्ध शब्द ही—शायद वे भी नहीं—नागरिक को उसके इस अधिकार से वंचित कर सकते हैं कि वह कानून का अर्थ न्यायालय द्वारा निर्णीत करवा सके। फलतः हमने प्रशासन में कार्यपालिका की मनमानी के खतरे को दूर करने का ही प्रयास नहीं किया है प्रत्युत इस बात की भी व्यवस्था की है कि नागरिक के अधिकार ऐसे व्यक्तियों द्वारा निर्विघ्न हों जो अपनी पदावधि के सुरक्षित होने की वजह से राजनीतिक विचारों के परिवर्तनशील प्रवाह से बचे रहें। संविधियों का अर्थ सत्तारूढ़ मंत्रालय की इच्छानुसार ही नहीं हो सकता। संसद् के इरादे की खोज वे स्वतन्त्र व्यक्ति करते हैं जो परिणाम में निरासक्त होते हैं और लम्बे वर्षों के अभ्यास द्वारा निर्णय के ऐसे मानदण्डों को आत्मस्थ कर लेते हैं जिनके द्वारा उस इरादे की परीक्षा हो सके।

यही वह सुप्रसिद्ध कानून का शासन है जिसे पिछले दो सौ वर्षों से अंग्रेज अपनी स्वतन्त्रता का रक्षक मानते आए हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि न्यायाधीशों को संसद् का स्वामी बना दिया जाए। मेरे विचार से यह प्रसन्नता की ही बात है कि न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial review) जिस प्रकार अमरीका में प्रचलित है वह इंगलैंड में नहीं पाया जाता। संसद् संविधि द्वारा ऐसे किसी भी निर्णय को रद्द कर सकती है जिसे कि वह असंतोषप्रद या अबुद्धिमत्तापूर्ण माने। 'टेफ वेल केस' (Taff Vale case)[1] में जो निर्णय हुआ था उसे १९०६ के 'ट्रेड्स डिस्प्यूट्स एक्ट' (Trades Disputes Act of 1906) ने रद्द कर दिया था। 'ओवरटाउन बनाम असेम्बली ऑफ दि फ्री चर्च ऑफ स्कॉटलैंड' (Overtoun V Assembly of the Free Church of Scotland)[2] के फलस्वरूप जिन कठिनाइयों की संभावना थी उन्हें संसद् के एक अधिनियम ने दूर कर दिया।

१६८८ की क्रांति के पश्चात् से ब्रिटिश न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता इस देश में संदेहातीत रही है। देश में कठोर न्यायाधीश भी हुए हैं और मूर्ख न्यायाधीश भी।

---

१ (१९ १) ए सी ४२६।
२. १ एफ ७ सी ४०।
३ (१९ ) ए सी ५१५।

कुछ विरले स्वभाव के न्यायाधीश भी हुए हैं। लार्ड ल्डा की ग्रेषम¹ जैसे न्यायाधीश भी हुए हैं जो राजनीतिक वादविवाद के अभियान में इतने पक्षपात से काम लेते थे कि वह गम्भीर निन्दा का कारण बन जाता था। चूंकि हमारे देश में अवकाश ग्रहण करने की कोई व्यवस्था नहीं है अतः कुछ न्यायाधीश अपनी वृद्धावस्था में उस समय तक अपने पद पर स्थित रहे हैं जब कि जनता यह समझ गई थी कि उनकी शक्तियां उनके कार्य के लायक नहीं रही हैं। लेकिन यह कहना बिल्कुल सही है कि कम से कम 'एक्ट ऑफ सेटिलमेंट' के पश्चात् से लार्ड मक्लेसफील्ड (Macclesfield) के एकमात्र अपवाद को छोड़ कर किसी भी अंग्रेज न्यायाधिपति की ईमानदारी पर उसकी नियुक्ति के पश्चात् संदेह नहीं किया गया है। यदि कभी पक्षपात का प्रदर्शन हुआ भी है तो वह बहुत मामूली रहा है क्योंकि इस युग में संसद् में न्यायाधीशों के आचरण पर मुश्किल से तीन-चार बार विचार हुआ होगा।

फिर भी यह समझना आवश्यक है कि विधान-मंडल और न्यायपालिका का सम्बन्ध न तो स्थिर होता है और न हो सकता है। न्यायाधीश अन्य मानव-जाति से पृथक नहीं होते। वे जिस पीढ़ी में जन्म लेते हैं उसके एक भाग होते हैं और उससे प्रभावित होते हैं। अपने युग की प्रमुख विचार धाराओं में उनका भी विश्वास होता है। उनमें से अधिकांश ने पिछले सौ वर्षों से देश की राजनीति में प्रमुख भाग लिया है और वे व्यक्ति थे जिन्हें विक्टोरिया युग के बाद से देश के सर्वश्रेष्ठ न्यायिक पदों के लिए चुना गया है। कानून एक तर्कसम्मत टेकनीक हो सकता है लेकिन यह एक ऐसा टेकनीक है जिसका अभिप्राय स्वतन्त्र युग की ऐतिहासिक शक्तियों के अनुसार निश्चित होता है। न्यायाधीश ऐसा स्वतन्त्र और उत्तरदायित्वहीन प्राणी नहीं है जो कानूनों की व्याख्या करते समय उनके कुछ निश्चित और अटल अर्थ पा ले। यदि कानून इतना निश्चित और अटल होता तो लोग न्यायालयों में नहीं जाते। चूंकि उन्हें कानून के अर्थ के सम्बन्ध में संदेह होता है इसीलिए लोग न्यायालयों की शरण लेते हैं। इसका अभिप्राय यह होता है कि न्यायाधीश कानून की घोषणा करने के साथ-साथ उसका निर्माण भी करता है। उसका कार्य यह पता लगाना होता है कि कुछ तथ्य संसद् के इरादों से और इन इरादों की अनुपस्थिति में उन कुछ आधारभूत सिद्धान्तों से जो स्वयं ही एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया के परिणाम होते हैं व सामान्य कानून के साधारण सिद्धान्त कहलाते हैं किस प्रकार सम्बन्धित हैं।

जब हम इस प्रकार के सम्बन्धों का पता लगाने वाले कार्य का परीक्षण करते हैं और न्यायिक "निष्पक्षता" की बात करते हैं, तब हमें यह भी मान लेना चाहिए कि न्यायाधीश अपने निष्कर्षों के प्रभाव की ओर ध्यान नहीं देते। न्यायमूर्ति होम्स के शब्दों में अन्यान्य व्यक्तियों की भांति उनके भी कुछ अस्पष्ट पूर्वाग्रह होते हैं। यद्यपि परम्परा के अनुसार वे सामयिक राजनीतिक वाद विवादों में जानकर भाग नहीं ले

---

१ देखिए श्री एडिसन का वक्तव्य २२ हंसर्ड (५ सिरीज) १ ११ पृ १११ और देखिए १६ वही (४ सिरीज) १९ १ पृ ३७ ।

सकते। लेकिन चूंकि इन वाद-विवादों की समस्याएँ निर्णय के लिए उनके पास ही आती हैं, अत: यह आवश्यक है कि इन निर्णयों पर उनके व्यक्तिगत दर्शन का भी थोड़ा बहुत प्रभाव पड़े। जिस प्रकार अमरीका के बहुत से वैधानिक कानून की व्याख्या केवल इसी प्रकार की जा सकती है कि सर्वोच्च न्यायालय को वह विधान पसंद नहीं था जिस पर उसे निर्णय देना था और उसने संविधान के सम्बन्ध में कांग्रेस अथवा राज्य विधानमंडल के विचार को न मान कर उसके सम्बन्ध में अपने विचार को प्रधानता दी इसी प्रकार इस देश में भी संविधान की बहुत सी व्याख्या केवल इसी आधार पर समझी जा सकती है कि न्यायाधीशों को संसद् की गतिविधि पसंद नहीं थी अथवा उसने उसकी गतिविधि के परिणामों को अधिक से अधिक सीमित रखने का प्रयास किया।[1] श्रमिक संघों से सम्बन्ध रखने वाले कुछ प्रमुख निर्णयों में यह स्पष्ट है। यह मजदूरों के प्रतिकर से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से अभियोगों के बारे में भी सही है। यह बात इस विधान के पास होने के युद्ध के कुछ वर्षों में विशेषरूप से सही थी क्योंकि यह विधान सामान्य कानून के परम्परागत सिद्धान्तों से भिन्न था।[2] अब यह माना जाने लगा है कि 'आर. वर्सेस हैलीडे (R V Halliday) में बहुमत का निर्णय न्यायाधीशों की इस इच्छा का परिणाम था कि युद्ध के समय में कार्य-पालिका के कार्य में कोई कठिनाई न डाली जाये। वैधानिक व्याख्या और निर्णय के आधार इतने लचीले होते हैं कि न्यायाधीशों को अपनी मनचाही करने के पर्याप्त अवसर मिल जाते हैं। इस मनचाही के पीछे जो प्रेरक शक्ति होती है वह काफी हद तक न्यायाधीशों के राजनीतिक दर्शन पर निर्भर होती है।

यह स्वयंसिद्ध है कि सामान्य कानून की परम्परा कुछ इस प्रकार निर्धारित हुई है कि वह उस व्यापारिक सभ्यता की आवश्यकताओं को पूरा कर सके जो सरकार द्वारा किए गए किसी भी विध्यात्मक कार्य को संदेह की दृष्टि से देखती है। संसद के अधि-नियमों का परीक्षण इस परम्परा के अनुसार ही होता है। संसद् का अभिप्राय जन साधारण की भाषानुसार हंसर्ड अथवा राजकीय आयोगों के प्रतिवेदनों द्वारा नहीं समझा जाता। वह निम्न तीन सिद्धान्तों में से किसी एक पर निर्भर रहता है। विधान के शब्दों का एक व्याकरणसम्मत अर्थ होता है। जब ये शब्द सम्पूर्ण विधान के संदर्भ में पढ़े जाते हैं, तब उनका एक विशिष्ट अर्थ निकलता है। हीडन अभियोग (Heydon s case)[5] के अनुसार न्यायाधीश को उस दोष की ओर ध्यान देना आवश्यक

---

१ देखिए सर एफ. पोलक 'एसेज इन ज्युरिसप्रूडेंस' पृ ८५, और रिपोर्ट ऑन मिनिस्टर्स पावर्स में मेरी टिप्पणी (१९३२) अनुपथ ५ सर डब्ल्यू ग्राहम हैरिसन का अनुपम लेख भी देखिए जर्नल ऑफ सोसायटी ऑफ पब्लिक टीचर्स ऑफ लॉ (१९३५) पृ और ३५।

२ देखिए, मेरी पुस्तक 'स्टडीज इन लॉ एंड पॉलिटिक्स' अध्याय ९।

३ वही पृ ९८६–७ ४ (१९१७) ए सी २६०।

५ कोक रेप ७ बी

है जिसे दूर करने के लिए विधान का निर्माण हुआ था। न्यायाधीश अपने निर्णय में इन समस्त उपायों का अथवा इनमें से किसी एक का जैसा चाहें, उपयोग कर सकता है। वह इन उपायों को पूर्व अभियोगों के प्रकाश में प्रयुक्त कर सकता है। संभव है कि पूर्व अभियोगों के निर्णयों से उसे अपने अभियोग के निर्णय में कुछ सहायता मिले। न्यायाधीश इन उपायों में से किन्हीं भी उपायों का उपयोग कर सकते हैं, लेकिन उनके प्रयोग से वे जो परिणाम निकालेंगे वे सर्वथा भिन्न हो सकते हैं। वे उन लोगों के ऊपर जो उनके सामने आते हैं व्यवहार के मानदंड लागू कर सकते हैं। इन मानदंडों का स्रोत उनका केवल यह ज्ञान होता है कि यदि संसद ने इन मानदंडों का सुधार नहीं किया तो उसने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया है।

"टैफ वेल अभियोग" (Taff Vale case)[1] की यही एकमात्र युक्तिसंगत व्याख्या है। लॉर्ड-सभा ने विधान के स्पष्ट शब्दों के बावजूद भी यह सोचा कि मजदूरों के लिए श्रमिक सभा को उनके अभिकर्त्ताओं के दुष्कर्मी कार्यों के उत्तरदायित्व से क्षमा कर देना असंभव है। "ओसबार्न अभियोग" (Osborne case)[2] के अन्तर्गत "सार्वजनिक नीति" का जो विचार किया हुआ है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि न्यायाधीश कॉमन-सभा में श्रमिक संघों के वैधानिक प्रतिनिधित्व को पसंद नहीं करते। उनके इस दृष्टिकोण का यह परिणाम हुआ कि सभी सदस्यों को वेतन मिलने लगा। "रॉबर्ट्स बनाम हॉपवुड" अभियोग (Roberts V Hopwood)[3] यह सिद्ध करता है कि किसी स्थानीय सत्ता के सेवकों को दिए जाने वाले वेतन ऐसे नहीं होंगे जिन्हें कि विधान के अनुसार वह सत्ता ठीक समझती हो, प्रत्युत वे ऐसे होंगे जिन्हें कि लॉर्ड सभा के न्यायाधीश उपयुक्त मानते हों। एक ओर तो यह बात है और दूसरी ओर यह मनोरंजक है कि क्या यह ही न्यायाधीश मजिस्ट्रेट के कार्यालय के वेतन में हस्तक्षेप करेंगे जो संयोग से कोई चांसलर तथा कोई चीफ जस्टिस को छोड़कर इस देश में सबसे अधिक वेतन पाने वाला अधिकारी है।

प्रोफेसर विल्स के मत से इस प्रयत्न का परिणाम नूतन विधानों को प्राचीन विचारों के अनुरूप बनाना है। अधिकांश महत्त्वपूर्ण वैधानिक व्याख्याओं के मूल में सिद्धान्त रहता है, वह उस समय तक निरर्थक है जब तक कि उसका उद्देश्य व्यक्तियों के सामान्य कानून द्वारा स्वीकृत अधिकारों को ऐसे विधानों से जो उन्हें बदलना चाहते हों, रक्षा करना न हो। व्यावहारिक सिद्धान्त का आधार यह होता है कि स्पष्ट शब्दों के अभाव में विधान-मंडल का उद्देश्य सामान्य कानून द्वारा स्वीकृत अधिकार का अपहरण नहीं हो सकता। "आर बनाम लीच" (R. V Leach)[4] में लॉर्ड हेल्सबरी और "रॉवेल बनाम प्रैट" (Rowell V Pratt)[5] में एल. जे. स्क्रटन के निर्णय को अन्य किसी आधार पर नहीं समझाया जा सकता। हमने पिछले कुछ वर्षों में एक

१ (१९ १) ए सी ४२६। २ (१९११ ) ए सी ८७।
३ (१९२५) ए सी ५७८। ४ (१९१२) ए सी ३ ५।
५ (१९३६) के बी २२६।

ऐसी विचार पद्धति की खोज देती है जिसमें विधान मंडल के उद्देश्यों को एक ऐसे माध्यम के आधीन कर देने की शक्ति है जिसे कि न्यायाधीशों का अनुमोदन प्राप्त हो। उदाहरणार्थ स्पष्ट शब्दों के अभाव में संसद् के बारे में नहीं कहा जा सकता कि उसका उद्देश्य प्रतिकर दिए बिना सम्पत्ति को हस्तगत कर लेना रहा होगा। इसका परिणाम आवास की विकट समस्या[1] को हल करने वाले बहुत से विधान को पंगु कर देना है। हमें बताया जाता है कि समस्त विधान की रचना ऐसी होनी चाहिए जिससे कि नागरिकों को न्यायालयों तक पहुँच हो सके। यह इस तथ्य के बावजूद भी है कि आधुनिक विधानों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि वे विशेष न्यायाधिकरणों को क्षेत्राधिकार दे द तथा साधारण न्यायालयों को उससे वंचित कर दें। मिनिस्टर ऑफ हेल्थ बर्सेस आर' (Minister of Health V R) अभियोग में लॉर्ड-सभा का 'जाफे' (Jaffe)[2] के पक्ष में निर्णय इस प्रवृत्ति का एक उदाहरण है। इसकी पुष्टि इसी न्यायाधिकरण के इसी निर्णय से भी होती है कि "व्हीट बोर्ड (Wheat Board) की एक निर्धारित द्वारा किए गए अन्तिम निर्णय को नियमित करने की शक्ति बोर्ड को यह अधिकार नहीं देती कि वह कानून के प्रश्नों पर इस अन्तिम निर्णय के विरुद्ध कोई अपील न होने दे। इस निष्कर्ष तक पहुँचने का कारण स्पष्ट शब्दों के अभाव में न्यायाधीशों का यह विचार ही था कि इस प्रसंग में संसद् का उद्देश्य १८८९ के "आर्बिट्रेशन एक्ट"[3] को रद्द करना नहीं है। यहाँ "अन्तिम" शब्द का क्या अभिप्राय हो सकता है यह समझना तनिक कठिन है।

इन प्रवृत्तियों का पूरा परीक्षण हमें मूल विषय से बहुत दूर ले जायगा। लेकिन यह दर्शनीय है कि ऊँचे करारोप के इस युग में न्यायालयों ने व्याख्या की एक ऐसी पद्धति के द्वारा जिसे आजकल कहना निरर्थकता होगी धनी व्यक्तियों द्वारा कर के बचाव का समर्थन किया है। ड्यूक ऑफ वेस्ट मिनस्टर के अभियोग में लॉर्ड-सभा में हाल में जो निर्णय हुआ था वह इस बात का जीवित उदाहरण है। यदि न्यायालयों को कभी ऐसे किसी अभियोग पर विचार करना होता है जिसमें प्रशासनिक शक्ति को उत्साही विचारधारा की ओर से चुनौती मिलती है या उसका संचालन राजनीतिक संकट के वातावरण में होता है तो संभवतः वे अधिशासनिक शक्ति के प्रति सम्मतता प्रकट करते हैं। "पासमोर बर्सेस एलियास" (Passmore V Elias) में न्यायमूर्ति हैविट ने "एन्टिक बर्सेस केरिंग्टन (Entick V Carrington) को कुछ ऐसा रूप दे दिया है कि यह सन्देहास्पद हो गया है कि क्या अंग्रेजी स्वतन्त्रता के इस श्रेष्ठ प्रतीक का अब कोई महत्व भी रहा है। यद्यपि श्री हैविट ने

---

[1] देखिए प्रभु आई जेनिंग्स का लेख ४९ हार्वर्ड लॉ रिव्यू (१९३५) पृ ४२६।

[2] (१९३१) २ के बी ९।

[3] आर गोल्ड बर्सेस व्हीट कमीशन (१९३७) ए सी १३९।

[4] (१९३४) २ के बी १६४।

यह काम प्रत्यक्ष निर्णय द्वारा भले ही किया जाय किन्तु फिर भी उसके निर्णय का परिणाम यही रहा है। आजकल की सामाजिक और राजनीतिक अव्यवस्था के फलस्वरूप जो सामूहिक अभियोग होने लगे हैं न्यायाधीशों ने उनको कम करने का कोई प्रयास नहीं किया है। इन सामूहिक अभियोगों में अभियुक्तों की संख्या इतनी अधिक होती है कि न्यायाधीशों के लिए किसी विशेष व्यक्ति से सम्बद्ध साक्ष्य को या उन समस्त प्रमाणों आदि को जिनके आधार पर उन्हें निर्णय देना होता है समझना कठिन हो जाता है।[1] ऐसी स्थितियों में वे साक्ष्य-युक्त पुलिस से अभियुक्त के विचारों को प्रमाणीकृत करने के लिए कहते हैं यद्यपि यह स्पष्ट है कि यह प्रमाणीकरण इतना आत्मनिष्ठ होता है कि इससे पक्षपात पैदा होने के सिवाय और कुछ नहीं होता। मेरे विचार से यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आजकल के अधिकांश न्यायाधीश एक साम्यवादी के अभियोग का कुछ इसी प्रकार निर्णय करते हैं जिस प्रकार कि उनके पूर्ववर्ती कनिष्ठ पिट के शासन-काल में राजद्रोह के विरुद्ध अभियोगों के लिए उत्तरदायी थे। यह सचमुच व्यंग्य की बात है कि न्यायाधीश को जिसके साम्यवाद के बारे में कोई हीवर्ट की भाँति विचार हों ऐसे अभियोगों के निर्णय में कोई कठिनाई न हो जिनमें व्यवस्थापिका ने इस विचारधारा के प्रतिपादकों को दण्डित करने का निर्णय कर लिया हो।[2]

यहाँ पर मैं जो बात कहना चाहता हूँ वह यह है कि आधुनिक राज्य की प्रवृत्तियाँ उन प्रमुख सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं जिनके ऊपर सामान्य कानून का निर्माण हुआ है। इसका परिणाम यह है कि न्यायपालिका इन प्रवृत्तियों के निष्कर्षों को इस प्रकार कम से कम करने की कोशिश करती है जिससे प्रशासक के मार्ग में जान-बूझ कर बाधा पड़ती है। न्यायाधीश संसद् के निर्णयों की आलोचना नहीं करते। वे भी एक ऐसी वस्तु की रचना में संलग्न रहते हैं जो आधारभूत कानून से शायद ही कम महत्वपूर्ण हो। न्यायाधीशों की यह प्रवृत्ति रहती है कि वे नूतन संविधियों को ऐसी नीतियों के दायरे में ही सीमित रखना चाहते हैं जिनका कि वे अनुमोदन करते हों। इस प्रक्रिया का फल यह होता है कि सामाजिक परिवर्तन की गति धीमी हो जाती है—जिसका एक उदाहरण आवास-सम्बन्धी विधान है—या वह उतनी विस्तृत नहीं हो पाती जितनी कि उन तथ्यों के सर्वेक्षण के अनुसार होनी चाहिए। हमारे न्यायाधीश जिस सिद्धान्त पर आगे बढ़ते हैं वह यह विचार है कि वे नागरिकों की "नए अधिनायकवाद" से रक्षा कर रहे हैं। "नए अधिनायकवाद" से उनका आशय वे शक्तियाँ हैं जो संसद् सिविल सर्विस को दे देती है। वे यह नहीं सोचते कि संसद् ने जो यह विधि बनाई है, उसके कुछ अच्छे कारण भी हो सकते हैं। वे यह भी विचार नहीं करते कि संसद् ने इस निर्णय के कारण स्वयं न्यायाधीशों की

१ देखिये २८ जनवरी १९३७ के मैंचेस्टर गार्जियन में मेरा लेख।

२ देखिये "सॉलिसिटर" द्वारा लिखित "इंगलिश जस्टिस" (१९३२) पृ० ११५।

प्रवृत्तियों में ही निहित हो सकते हैं। उनके सम्पूर्ण दृष्टिकोण का सार यह है कि वे आधुनिक प्रशासन की प्रक्रिया के विरुद्ध हैं। वे "कानून के शासन" की व्याख्या कुछ इस प्रकार करते हैं मानो वे एक प्रभुत्वसम्पन्न विधान-मंडल से भी "उच्चतर कानून" के स्वामी हों तथा यह विधान-मंडल सब प्रकार से उनके अधीनस्थ हो। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि वे आधुनिक राज्य तथा उसकी प्रक्रियाओं की व्याख्या ऐसी रीति से करते हैं जो उन बहुत से प्रयोजनों की वैधता को जिनकी पूर्ति में राज्य की शक्ति निरत है अस्वीकार करती है।

और वे यह एसे वातावरण में करते हैं जो उनकी कार्यवाहियों की आलोचना को एक खतरनाक काम बना देता है। बेंथम का यह कहना ठीक ही था कि जब न्याया-धीश न एक बार कोई निर्णय कर दिया तब फिर वह आलोचना के क्षेत्र से बाहर हो जाता है। आज यह स्थिति हो गई है कि उसके बाहर किसी न्यायाधीश की आदतों पर खुलकर विचार करना एक खतरनाक बात है।[1] "आर बर्सेस न्यू स्टेट्समैन" (R V New Statesman)[2] का पाठक यह सोचने के लिए उत्सुक हो जाता है कि यदि बेंथम के समय में सार्वजनिक आलोचना की इतनी मर्यादाएँ होतीं तो क्या उसका काम पूरा हो सकता था। यह उस न्यायपालिका के बारे में सही है जिसने स्वयं संसद की इस इच्छा के बावजूद भी कि वह कानून में सुधार करे कानून में कभी कोई महत्वपूर्ण सुधार नहीं किया है। यह उस न्यायिक पद्धति के बारे में सही है जिसमें व्यय अमरीका को छोड़कर अन्य सब स्थानों की अपेक्षा अधिक होता है तथा जिसमें वकील की फीसें इतनी अधिक हैं व जिनका लन्दन में केन्द्रीकरण इतना प्रबल है कि वह उन समस्त प्रश्नों में जिनमें एक अभ्यर्थी अमीर हो और दूसरा गरीब अमीर की विजय निश्चितप्राय कर देता है। सच तो यह है कि सामान्य कानून के सिद्धान्तों और आधुनिक विध्यात्मक राज्य के सिद्धान्तों के संघर्ष ने हमारी न्यायिक संस्थाओं के सम्पूर्ण आधार का पुनर्विचार आवश्यक कर दिया है।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इस देश में न्याय-मन्त्रालय जैसी कोई वस्तु नहीं है। यहां ऐसा कोई विभाग नहीं है जो लगातार अच्छे ढंग से कानूनी प्रक्रियाओं के संचालन का निरीक्षण करता हो और आवश्यक संशोधनों पर विचार करता हो। इस सम्पूर्ण विभाग के एक अंश का अधिपति लॉर्ड चांसलर है दूसरे का गृह मन्त्री और तीसरे का अटॉर्नी-जनरल। न्यायाधीश आलोचना परिवर्तनों के प्रति ध्यान खींचने के अपने अधिकार का प्रयोग नहीं करते। कौंसिल ऑफ बार अपने उद्भव से लेकर अब तक वृत्तिक शिष्टाचार की समस्याओं में ही व्यस्त रही है। लेकिन ये समस्याएँ कानून का जनसाधारण पर क्या प्रभाव पड़ता है, इससे कोई सम्बन्ध नहीं रखती। बेंथम के समय से हमारी कानूनी पद्धति की बुनियादों का कोई परीक्षण नहीं

---

१ देखिए मेरी पुस्तक स्टडीज इन लॉ एंड पॉलिटिक्स अध्याय १ ।

२ अपराध- रिपोर्ट के लिए देखिए न्यू स्टेट्समैन फरवरी १८।१९२८, अंक ७०१ ।

हुआ है। यह भी स्पष्ट है कि उस समय से दूसरा प्रत्येक राज्य सिद्धान्तों और संस्थाओं के सम्बन्ध में बिल्कुल बदल चुका है। इस देश में व्यापक रूप से कानून का सुधार करना किसी का कार्य नहीं है। लेकिन इसके विरुद्ध की कोई कमी नहीं है कि यह व्यापक सुधार काफी पहले से बहुत आवश्यक है।

जहाँ तक उच्च न्यायालय (High Court) का प्रश्न है हमारी न्यायिक पद्धति के सामने खतरा यह है कि कहीं उसका उन उद्देश्यों से संघर्ष न हो जाये जिन्हें कार्यान्वित करने के लिए विधान-मण्डल इच्छुक है। यह खतरा गम्भीर है। पिछले युग के न्यायाधीशों में श्रमिक संघों के प्रति जो अज्ञान और विरोध था उसके फलस्वरूप श्रमिक दल का जन्म हुआ। आजकल के न्यायालय का सामाजिक सुधार के प्रति जो अज्ञान और विरोध है उसके फलस्वरूप ब्रिटेन में ऐसे प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की आवश्यकता हो सकती है जो न्यायालय को ऐसे न्यायाधीशों द्वारा भ्रष्ट होने से बचायें जो उन दोषों को अस्वीकार करते हैं जिन्हें वह दूर करना चाहता है। आवश्यकता इस बात की है कि वैधानिक व्याख्याओं में अधिक उदारता से काम लिया जाये और न्यायाधीश इस बात को खूब अच्छी तरह समझ लें। न्यायाधीशों के लिए इस बात को भी समझने की आवश्यकता है कि सामान्य कानून का ऐतिहासिक दमन अपने अन्तर्भूत व्यक्तिवाद के कारण समुदायवादी युग के अनुपयुक्त हो जाता है। इस तथ्य से कि न्यायाधीश स्वतन्त्र और सच्चे हैं यह सन्तोष प्राप्त नहीं हो जाता जिसके साथ व परिवर्तन की व्यापक समस्याओं पर विचार करते हैं। इस देश में सामाजिक सुधार का प्रत्येक बड़ा युग ऐसा रहा है जिसमें न्यायाधीशों की क्रूरता ने सामाजिक उन्नति के मार्ग में रोड़े अटकाये हैं। १४८१ में जक केड (Jack Cade) के विद्रोह के समय में कॉमनवेल्थ के युग में और बैथम के काल में यही स्थिति सामने आई थी। जब विधान-मण्डल के उद्देश्य उन उद्देश्यों से भिन्न हों जिन्हें न्यायिक सिद्धान्त स्वीकार करता हो तब समझ लेना चाहिए कि कोई क्रान्तिकारी युग आने वाला है।

कुछ सीमा तक इस समस्या की वास्तविकता इस कारण छिपी रही है क्योंकि महायुद्ध के पश्चात् किसी भी सरकार ने सामाजिक सुधार के व्यापक कार्यक्रम को द्रुतगति से क्रियान्वित करने का प्रयास नहीं किया है। लेकिन इस बात का काफी साक्ष्य है कि उसे अपने इस प्रयास में न्यायाधीशों की सहानुभूति सुगमता से नहीं मिलती। न्यायालयों ने जिस दृष्टि से कैरिंग उद्योग पर 'ट्रेड बोर्ड्स एक्ट' के प्रयोग को देखा था वह एक ऐसा चिह्न है जो खतरे की सूचना देता है। १९२६ की आम हड़ताल के प्रति न्यायाधीश आस्टबरी ने जो दृष्टिकोण अपनाया था—यद्यपि यह प्रश्न उनके सामने नहीं था लेकिन उन्होंने इस पर टिप्पणी की थी—वह यह प्रकट करता है कि न्यायाधीशों ने टफवेल विवाद से कितनी कम शिक्षा ग्रहण की है।[1] "रॉबर्ट्स वर्सेस होपवुड" (Roberts V Hop wood) का अभियोग यह स्पष्ट

१ देखिये प्रोफेसर गुडहार्ट का पैम्फलेट, दि लिगलिटी आफ दि जनरल स्ट्राइक' (१९२६)।

कर देता है कि लॉर्ड-सभा गृह के उचित मानदंडों के सम्बन्ध में प्रगतिशील स्थानीय सत्ता के ऊपर अपने विचार आरोपित करने में नहीं चूकेगी। आवास विधान विशेषकर जेफी अभियाग (Jaff'e case)[1] के सम्बन्ध में न्यायालयों की मतिविधियाँ यह स्पष्ट कर देती हैं कि न्यायाधीश व्यक्तिगत सम्पत्ति के दावा के विषय में अपने विचार को न केवल विधान-मंडल के विचार से ही प्रत्युत सिविल सर्विस के विचार से भी जिसके सबसे महत्त्वपूर्ण भाग का इस दावो के विनाश में कोई स्वार्थ नहीं है अधिक अच्छा समझते हैं। जिस प्रकार अमरीका में सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के न्यू डील कार्यक्रम' के विरोधस्वरूप कानूनी प्रक्रिया के आवरण में एक अधि विधानमंडल (super legislature) बन कर राजनीतिक दमन का निरूपण करने लगा था वाज इस देश में वही स्थिति हाईकोर्ट की हो रही है। यह ठीक है कि यहाँ उसे कम अवसर प्राप्त है। वह संसद के किसी अधिनियम को रद्द नहीं कर सकता। लेकिन फिर भी उसकी यह चेष्टा अवश्य रही है कि इस देश में एक प्रकार का चौदहवाँ संशोधन किया जाय और उसके द्वारा उन व्यक्तिगत अधिकारों में संशोधन करनेवाले सामाजिक परिवर्तन को रोका जाय जिसका वह समर्थन करता हो। इस दृष्टिकोण में यह संभावना छिपी हुई है कि न्यायालय और संसद् के बीच संघर्ष हो सकता है। इसके परिणाम स्वरूप न्यायाधीश राजनीतिक वाद-विवाद में अन्तर्ग्रस्त हो सकते हैं। इससे उनकी प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचेगा।

इस दृष्टिकोण का मूल क्या है? मेरे विचार से इसके तीन कारण हैं

(१) हमारे अधिकांश न्यायाधीश ऐसे व्यक्ति होते हैं जो कि अपने जीवन में सफल वकील रह चुके हों। हमारी समाज-व्यवस्था में सफल वकील वह व्यक्ति होता है जिसने अपने जीवन का प्रमुख भाग धनिकों की सेवा में लगाया हो। फलत: वह वर्तमान आर्थिक व्यवस्था की मान्यताओं को तथा इन मान्यताओं की रक्षा करने वाले कानूनी सिद्धान्तों को बिना जानेबूझे ही स्वीकार कर लेता है। जब संसद् उनमें परिवर्तन की कोशिश करती है, न्यायाधीशों की यह चेष्टा रहती है कि जहाँ हो सके कानूनी सिद्धान्तों में कम से कम परिवर्तन हो। मजदूरों का प्रतिकर, श्रमिक संघ कानून और करारोप के सिद्धान्त—ये सब इसके उदाहरण हैं। न्यायालयों का इन समस्याओं के प्रति यह जो दृष्टिकोण रहा है इसकी व्याख्या केवल इस आधार पर ही की जा सकती है कि संसद् के लिए सामान्य कानून में परिवर्तन करना उचित नहीं है और न्यायाधीशों का यह प्राथमिक कर्तव्य है कि वे सामान्य कानून की रक्षा करें।

(२) मेरे विचार से इस दृष्टिकोण का आंशिक कारण यह भी है कि इस देश में बैरिस्टर की शिक्षा (सालिसिटर की नहीं) में बौद्धिक अध्ययन पर कम बल दिया जाता है। जो लोग न्यायाधीशों का चुनाव करते हैं उन्हें यह कभी नहीं सूझा है कि डायसी, पोलक अथवा जेन्की जैसा कानून का कोई महान् शिक्षक न्यायपीठ का उचित अधिकारी हो सकता है। कानून के अध्यापकों को ब्रिटिश विश्वविद्यालयों में बहु

1 पूर्वोक्त।

सम्मान प्राप्त नहीं है जो उन्हें हार्वर्ड या पेरिस या हिटलर के पूर्व बर्लिन में प्राप्त था। इस देश में कानूनी प्रशासन तथा कानूनी दर्शन का अध्ययन अमरीका तथा फ्रांस की अपेक्षा एक पीढ़ी पीछे है। हमारा कानूनी व्यवसाय इस अर्थ में विद्वत्तापूर्ण नहीं कि वह अभियाओं के परीक्षण में रुचि लेता हो। आस्टिन के बाद से ब्रिटिश न्यायशास्त्र में कोई महत्वपूर्ण विकास नहीं हुआ है। हमारे देश म कानूनी संस्थाओं के संचालन के सम्बन्ध में विदेशों की भाँति गवेषणा करने के कोई प्रयत्न नहीं हो रहे हैं।[1] जिस प्रकार इंजीनियरों ने इंजीनियरिंग शास्त्र के विकास की ओर और चिकित्सकों ने चिकित्सा-शास्त्र के विकास की ओर ध्यान दिया है, उसी प्रकार कानून-विशारदों ने कानून के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया है। ऐतिहासिक दृष्टि से कानूनी व्यवसाय सबसे कम सामाजिक रहा है।

(३) मेरे विचार से इस दृष्टिकोण का तीसरा कारण बड़ा सामान्य सा है। न्यायाधीशों के दृष्टिकोण ने उस सामान्य वातावरण को प्रतिबिम्बित किया है जिसमें पिछले सौ वर्षों से ब्रिटिश समाज रहता आया है। नेपोलियन के युद्ध और औद्योगिक क्रान्ति ने बचपन के समय में इसमें आमूल परिवर्तन कर दिया था। इस समय राज्य की शक्ति पर भी मध्यवर्ग का अधिकार हो गया था। इसके बाद इस व्यवस्था को कोई चुनौती नहीं मिली है क्योंकि अपने परिणामों की दृष्टि से यह सफल रही है। मेरे विचार से यही वह कारण है जिसकी वजह से लोग संहिताकरण (Codification) की ओर से इतने उदासीन रहे हैं तथा उस ऐसी न्याय-व्यवस्था को सहते आये हैं जिसमें अपील की ऊँची-ऊँची श्रेणियाँ हैं व केन्द्रोन्मुखी क्षेत्राधिकार है। यह सब निर्धन वादी के लिए असह्य भार है। यही वह कारण है जिसकी वजह से वकीलों और राजनीतिज्ञों दोनों ने व्यवसाय कानूनी प्रक्रियाओं में अभी तक कोई क्रान्तिकारी संशोधन नहीं किया है। यही वह कारण है जिसकी वजह से हमने कानून के समस्त अंगों का उदाहरणार्थ तलाक यौन-अपराध मद्यनिषेध अनीश्वरवाद और अपराध व मानसिक रोग के सम्बन्ध-वैज्ञानिक शोधों और सामाजिक विचारधारा के पीछे रह जाना स्वीकार किया है। हमारे देश में कानूनी प्रक्रियाओं के अध्ययन के लिए समुचित स्थायी व्यवस्था नहीं है यह तथ्य ही उन हितों के जिन्होंने समझ लिया है हमने भाग्य के साथ अन्तिम सौदेबाजी कर ली है, दृष्टिकोण को प्रकट करता है। लेकिन जिस प्रकार कि अर्थशास्त्र और राजनीति के क्षेत्र में इन सौदेबाजी पर पुनर्विचार होना निश्चित है इसी प्रकार कानून का भी जो अंततोगत्वा इनके ऊपर निर्भर है सिद्धान्ततः पुनर्गठन अवश्यम्भावी है। सबसे रोचक बात तो यह देखनी होगी कि क्या वकील इस कार्य में सहयोग करता है या वह बेन्थम के युग की भाँति ही इस कार्य के प्रति उदासीन या विरुद्ध बना रहता है।

---

१ लॉर्ड चान्सलर एल. सी. ने एक "इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड लीगल स्टडीज" की स्थापना पर विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त की है। "सोसायटी ऑफ पब्लिक टीचर्स ऑफ ला" की उनके पत्र (१९३६) में वार्षिक रिपोर्ट देखिए, पृ. ५८।

( २ )

सामाजिक कठिनाई के प्रत्येक युग में न्याय-व्यवस्था का गुण ही जन-स्वतंत्रता की कसौटी है। मनुष्यों को इस बात का विश्वास होना चाहिए कि जिन लोगों के हाथों में वह सौंपी जाती है, व सत्ता का ऐसा दुरुपयोग नहीं होने देंगे जिससे अभिव्यक्ति और समुदाय की स्वतन्त्रता पर चोट पहुँचे क्योंकि इनके ऊपर ही संसदीय शासन निर्भर है। इस बात पर जितना जोर दिया जाय कम है कि संसदीय शासन का आधार ही यह है कि सरकार लोकमत की माँगों को जहाँ तक हो सके पूरा करने का प्रयास करे। यदि सत्ता लोकमत को दबाने की कोशिश करती है तो समझना चाहिए कि स्वतन्त्रता खतरे में है। हमारे देश में जहाँ अभिव्यक्ति और समुदाय की स्वतन्त्रता न्यायपालिका की प्रवृत्तियों के ऊपर निर्भर है, यह स्थिति विशेष रूप से सत्य है। राजद्रोह तथा राजद्रोहात्मक षड्यन्त्र जैसे अपराधों का क्षेत्र इतना व्यापक है कि प्रो डायसी के अनुसार यदि उसकी उदार व्याख्या की जाये तो उस प्रकार का राजनीतिक वादविवाद जिसके हम अपने देश में अभ्यस्त हैं असंभव हो जायेगा।[1] एक श्रेष्ठ पाठ्य पुस्तक में कहा गया है 'राजद्रोह में वे समस्त प्रथाएँ शामिल हैं जो ऊँचे देशद्रोह से तो कम होती हैं परन्तु प्रत्यक्षतः या परोक्षतः असन्तोष पैदा करती हैं, सम्राट् की प्रजा के विभिन्न वर्गों में दुर्भावना फैलाती हैं सार्वजनिक उपद्रव या गृहयुद्ध कराती हैं और सम्राट् व उनकी उनकी सरकार तथा देश के संविधान के कानूनों के प्रति जनता में घृणा पैदा करती हैं। संक्षेपतः सार्वजनिक अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले समस्त कार्य राजद्रोह के अन्तर्गत आते हैं।'[2] यदि न्यायाधीश इस प्रकार की अस्पष्ट और व्यापक परिभाषाओं का संयमतापूर्वक प्रयोग न करें तो व किसी भी प्रतिक्रियावादी सरकार के हाथों में पड़कर सार्वजनिक स्वतंत्रता के लिए घातक सिद्ध हो सकती हैं।

१९१४—१८ के युद्ध के पश्चात् से इन प्रश्नों ने जिन समस्याओं को खड़ा किया है उन्होंने हाईकोर्ट को स्पर्श करने की अपेक्षा पुलिस गृह-विभाग तथा छोटे क्षेत्राधिकार वाले न्यायालयों को ही अधिक स्पर्श किया है। साक्ष्य से यह सिद्ध हो जाता कि इन क्षेत्रों में प्रचुर असन्तोष विद्यमान है। पुलिस की निष्पक्षता पर कई अभियोगों में सन्देह उठा है। इस सन्देह के विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं था। लेकिन अधिकारियों ने इस आक्षेप को उस समय तक अस्वीकार किया जब तक कि उनके लिए सफलतापूर्वक ऐसा करना असंभव न हो गया। परस्वाइट अभियोग[3] इसका एक उदाहरण है। गृहमंत्री ने हर स्थिति में पुलिस का साथ दिया है और सार्वजनिक जाँच को अस्वीकार

---

१ लॉ आफ दि कॉन्स्टीट्यूशन पृ २४।

२ स्टीफ़ेन्स कमेन्ट्रीज (नया संस्करण) पृ ८७

आर्चबोल्ड क्रिमिनल प्रोसीड्यूर (तेरहवाँ संस्करण) पृ ११२८।

३ इस अभियोग के विवरण के लिए देखिए डब्लू एच थॉमसन सिविल लिबर्टीज पृ ६।

लिया है। डंकन पुलिस कमिश्नर अभियोग[1] तक में जिसमें यह सिद्ध हो गया था कि उसका निर्णय केवल पुलिस के साक्ष्य पर ही आधारित है यही नीति अपनाई। जस्टिस ऑफ दि पीस पुलिस का प्रस्तुत साक्ष्य तक को स्वीकार कर लेते हैं और इससे श्रमिक वर्ग का न्याय-व्यवस्था में विश्वास कम हो गया है[2]। पुलिस ने मजिस्ट्रेट की अनुमति से अपमानजनक शब्दों के प्रयोग या व्यवहार को शासन की प्रतिविरोधियों का दमन करने के लिए जिस सीमा तक बढ़ा लिया है, वह सचमुच अद्भुत है। पिछले दस-पन्द्रह वर्षों से पुलिस शान्तिपूर्ण जलूसों अथवा सभाओं में काफी हस्तक्षेप करती रही है। जहाँ तक बेरोजगारों या साम्यवादियों का प्रश्न है यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि "बीटी वर्सेज गिलबैंक्स" (Beatty V Gillbanks)[3] का सुप्रसिद्ध सिद्धान्त बिल्कुल निष्प्राण हो गया है।

मुकदमे में इतना अधिक व्यय होता है कि अधिकांश व्यक्तियों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे मजिस्ट्रेटों के निर्णय के उपरान्त ऊपर के न्यायालयों में अपील कर सकें। इसलिए सामान्यतः उच्च न्यायालय इन निर्णयों पर अपील के द्वारा विचार नहीं करते। लेकिन जहाँ कहीं उन्हें ऐसे निर्णयों पर विचार करना ही पड़ा है यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने पूरी सफलता से यह काम किया है। १९३४ में ओलम्पिया की दुर्घटनापूर्ण फासिस्ट सभा के बाद जिसमें बहुत से लोगों को उसके संयोजकों की निर्दयता का शिकार होना पड़ा था यह शिकायत की गई थी कि पुलिस ने हस्तक्षेप नहीं किया। गृह-मंत्री ने कहा कानून की व्यवस्था यह है कि जब तक सभा के संयोजक पुलिस से सभा में उपस्थित होने के लिए न कहें पुलिस सभा में नहीं जा सकती। हाँ यदि पुलिस को विश्वास हो जाये कि सभा में वस्तुतः शान्ति भंग हो रही है तो पुलिस वहाँ अवश्य जा सकती है।[4] पुलिस की कार्यवाही का यह समर्थन आश्चर्यजनक है क्योंकि ओलम्पिया में जो हिंसा हुई वह पुलिस के अतिरिक्त और सबको ज्ञात थी। पुलिस बाहर खड़ी थी और उसने घायलों को निरन्तर भवन से बाहर आते हुए देखा था। इसके तीन महीने बाद साउथवेल्स में 'इन्साइटमेंट टु डिसअफेक्शन बिल' के विरोध में एक सभा हुई। संयोजकों द्वारा विरोध किए जाने पर भी पुलिस ने सभा में प्रवेश करने का आग्रह किया और वह वहाँ से हटने के लिए तय्यार नहीं हुई। पुलिस सार्जेण्ट को आक्रमण के लिए आहूत किया गया और उसने यह किया। जब मजिस्ट्रेट के अपील की गई, तो उन्होंने उसे इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि यदि पुलिस को विश्वास हो कि उसकी अनुपस्थिति में सभा में राजद्रोह की बातें कही जायेंगी या शान्ति भंग

---

[1] इस अभियोग पर नेशनल कौंसिल ऑफ सिविल लिबर्टीज की विशेष रिपोर्ट देखिए।

[2] देखिए रामजे म्योर द्वारा ब्रिटिश इज ए डिक्टेटरशिप (१९३७) अध्याय २।

[3] (१८८२) ९ क्यू बी डी, ३०८।

[4] कॉमन्स में बहस १४ जून १९३४ का दिन।

होगी तो वह वहाँ प्रवेश कर सकती है। जब उच्च न्यायालय में अपील की गई, प्रधान न्यायाधीश ने मजिस्ट्रेट के निर्णय को कायम रखा[1]। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अगस्त १९३४ में उच्च न्यायालय ने एक ऐसे नए कानूनी सिद्धान्त का निरूपण किया जो उसी वर्ष के जून मास में गृहमंत्री के कानूनी परामर्शदाताओं को ज्ञात नहीं था। यह स्पष्ट है कि पहली सभा में वक्ता फासिस्ट थे और साउथवेल्स की सभा में अध्यक्ष और प्रधान वक्ता साम्यवादी थे। एक लेखक के शब्दों में "थॉमस बर्सेस डाकिन्स" एक ऐसा उदाहरण हो सकता है जहाँ न्यायालय ने शब्दों के नए सम्मिश्रण के प्रति सुविख्यात सिद्धान्तों का प्रयोग किया हो।" वह सन्दर्भ जिसमें यह प्रयोग किया गया प्रभावोत्पादक है। पुलिस का 'युक्तिसंगत सन्देह' चयनात्मक होता है और उच्च न्यायालय सुविख्यात सिद्धान्तों को इन चयनात्मक प्रश्नों के ऊपर जिनका उसे निर्णय करना होता है सुगमता से लागू करता है।

मैं 'पासमोर बर्सेस इलियास' (Pasmore V Elias) की जिसमें न्यायाधीश होरिज ने "एंटिक बर्सेस कैरिंगटन" की (Entick v Carrington)[2] की कठोर बातों को शांत कर दिया था पहले ही चर्चा कर चुका हूँ। इस निर्णय के प्रभाव को समझना आवश्यक है। इस मामले में पुलिस के कार्य की अवैधानिकता के बारे में कोई सन्देह नहीं है क्योंकि उसके विरुद्ध क्षतिपूर्ति की गई थी। लेकिन न्यायाधीश होरिज ने यह भी कहा था "प्रलेखों या निबन्धों का पकड़ा जाना अथवा व्यक्तियों को निग्रह में लेना सामान्यतः तो अवैधानिक है लेकिन यदि वे किसी व्यक्ति द्वारा किए गए अपराध के साक्ष्य प्रतीत हों तो राज्य के हितों की दृष्टि से यह सब क्षम्य है।'[3] वस्तुतः यह तो आम वारंट को वैधानिक रूप देना हुआ। इससे पुलिस को जहाँ किसी व्यक्ति को गिरफ्तार करने का आधार मिला उस रास्ता की तलाशी लेने की शक्ति मिल जायगी जिससे कि उस व्यक्ति का सम्पर्क हो। पुलिस इस तलाशी में ऐसे साक्ष्य को भी खोज सकती है जो उस व्यक्ति से सीधा सम्पर्क न रखता हो लेकिन ऐसे अन्य व्यक्तियों को दोषी ठहरा दे जिनके विरुद्ध यह आरोप लगाने में समर्थ न हो। यह स्पष्ट है कि सार्वजनिक उत्तेजना के समय इस व्यापक शक्ति के कारण वे व्यक्ति जिनकी गतिविधियाँ पुलिस के लिए असुविधाजनक हों पुलिस की दया के मोहताज हो जाते हैं।

इन निर्णयों में परिलक्षित दृष्टिकोण का उस दमनमूलक विधायी विधान के सन्दर्भ में अनुशीलन करना चाहिए जिसका १९१९ के पश्चात निर्माण हुआ है। यदि यह मालूम पड़े कि कुछ व्यक्ति ऐसा काम करने वाले हैं जिससे अन्न, जल, ईंधन, प्रकाश और यातायात के साधनों की व्यवस्था में विघ्न पड़ेगा या समाज जीवन की आवश्यकताओं से वंचित हो जायेगा तो सरकार १९२० के एमर्जेन्सी पॉवर्स एक्ट के अनुसार संसदीय स्वीकृति के अधीनस्थ मनोवांछित विनियम बना सकती है। इन प्रक्रिया के कारण

---

१ थॉमस बर्सेस डाकिन्स (१९३५) के बी २४९।

२ पूर्वोक्त।

३ पासमोर बर्सेस इलियास पूर्वोक्त।

१९२६ की आम हड़ताल में ऐसे व्यक्तियों तक को गिरफ्तार किया गया था जिन्होंने कहा था कि 'सरकार मजदूरों को कुचलना[1] चाहती है।' १९२७ के ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट ने किसी भी व्यापक सहानुभूतिपूर्ण हड़ताल को अवैधानिक कर दिया है। इसने अधिनियम की परिभाषा इतनी बढ़ा दी है कि यदि किसी व्यक्ति ने किसी हड़ताल-द्रोही के लिए श्रम में अपना हैट ऊपर उठाया, तो उसे जेल भेज दिया गया है।[2] इस अधिनियम का महत्त्व केवल इसके उपबंधों की विशालता में ही नहीं है प्रत्युत इस बात में है कि सार्वजनिक उत्तेजना के दिनों में इसका प्रयोग वे न्यायाधीश करेंगे जिनके बारे में सर वाल्टर सिट्राइन ने यह कहा है कि "भूतकालीन अनुभवों के फलस्वरूप श्रमिक संघ आंदोलन को संगठित श्रमिकों के ऊपर प्रभाव डालने वाले मामलों के सम्बन्ध में न्यायालयों की क्षमता या निष्पक्षता पर कोई विश्वास नहीं है।"[3] यह विचार अकेले सर वाल्टर सिट्राइन का नहीं है। श्री विन्स्टन चर्चिल ने भी इसी बात को कहा है। स्वर्गीय मो मिस्कार्ट जैसे प्रसिद्ध कानूनी विद्वान् तक ने इस बात को बड़ा जोर देकर कहा है[?]। इंग्लैण्ड के एक भूतपूर्व महान्यायवादी तक ने यह स्वीकार किया है कि साधारण श्रमिकों के विरुद्ध रहते हैं। यह निश्चित है कि यदि १९२७ के ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट को लागू किया गया तो इससे जनता में न्यायपालिका की निष्पक्षता के प्रति बहुत कम विश्वास रह जायेगा।

इन दो भयानक अधिनियमों के अतिरिक्त दो अधिनियम और हैं। सरकार ने १९३४ के "इन्साइटमेंट टु डिसअफेक्शन एक्ट" की आवश्यकता को कभी नहीं बताया है। जिन अपराधों के लिए यह बना है, वे पहले से ही वर्तमान विधान के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसके बहुत से उपबन्ध तो इतने अस्पष्ट हैं कि इसके दायरे में शान्तिवादी प्रवृत्ति का ऐसा कोई भी भाषण आ सकता है जो किसी सिपाही के मन में लड़ाई की वैधता के प्रति संदेह पैदा कर दे। मेरा विचार है कि 'पीस प्लेज यूनियन' के परचा का सैनिकों के बीच में वितरण वितरक को इस विधान के क्षेत्राधिकार में ले आता है।[6] अब तक इसके तत्त्वावधान में लाया गया एक महत्त्वपूर्ण अभियोग "बार बर्नेस फ्लिमिंग" का है। इस अभियोग के अन्तर्गत न्यायाधीश सिंगिल्टन ने १८ वर्ष के एक लड़के को एक सिपाही को अनुत्तरदायी परामर्श देने के कारण १२ मास का कारावास दिया था। इस दंड में तथा १९१२ के सुप्रसिद्ध "गोली मत मारो" परचे के लिए श्री टॉम मैन को छः मास का जो कारावास दिया गया था (श्री मैन

१ थाम्पसन अपर क्यूब पृ १५।

२ वही।

३ टाइम्स मई ७ १९२७।

४ हंसर्ड (५ सिरिज १९११) १ २२।

५ दि प्रेजेंट लॉ ऑफ दि ट्रेड डिस्प्यूट्स (१९१४) पृ २४

६ डब्ल्यू आइ जेनिंग्स दि सेडीशन एक्ट एक्सप्लेन्ड (१९३५)।

७. देखिए, टाइम्स मार्च १० १९३७ और मार्च १६, १९३७।

सप्ताह के कारावास के उपरान्त ही छोड़ दिए गए थे) उसमें अपूर्व भेद है। १९११ का यूनीफोर्म्स एक्ट भी इतना ही क्रांतिकारी है। उत्तरदायी निरीक्षक यह स्वीकार करेंगे कि इस विधान की वे धाराएँ जिन्होंने राजनीतिक संस्थाओं के लिए परिधान वर्जित कर दिया था (महाद्वीपीय देशों के अनुभव के अनुसार) हितकर थी। लेकिन इस निषेध की स्वीकृति से लाभ उठा कर पुलिस की शक्तियों में अत्यधिक वृद्धि कर दी गई। "अपमानजनक शब्दों तथा व्यवहार" के अपराध को बहुत व्यापक अर्थ दिया जाने लगा है। पुलिस का प्रधान ऐसे किसी भी जलूस के मार्ग या संचालन को रोक सकता है जिसके बारे में उसे अव्यवस्था का सन्देह हो। वह गृह-विभाग और स्थानीय सत्ता की स्वीकृति होने पर अपने सम्पूर्ण क्षेत्राधिकार में या उसके कुछ भाग में तीन महीने के लिए समस्त जलूसों पर प्रतिबंध लगा सकता है। बाद में इस प्रतिबंध की अवधि बढ़ाई भी जा सकती है। फल यह है कि चूंकि लन्दन के पूर्वी छोर पर फ़ासिस्ट जलूसों में अव्यवस्था हुई है अत: समाजवादी जलूसों पर भी जो शांतिपूर्ण रहे हैं, प्रतिबंध लगा दिया गया है। कुछ असाधारण परिस्थितियों के कारण सामान्य राजनीतिक प्रचार को भी बंद कर दिया गया है। श्री डब्लू एच थॉम्पसन के शब्दों में "यह नीति कुछ ऐसी ही है कि चूंकि कुछ लोग मोटर के हार्न असावधानी रूप से बजाते हैं, अत: उनका बजाना बिलकुल ही बन्द कर दिया जावे।"[1]

सार्वजनिक स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखने वाले मामलों में युद्धोत्तर वर्षों की प्रवृत्ति नैपोलियन के युद्धों की समाप्ति और १८३२ के सुधार विधेयक के बीच के वातावरण से साम्य रखती है। दोनों ही स्थितियों में गम्भीर औद्योगिक अव्यवस्था थी और इसके फलस्वरूप शासक-वर्ग में आतंक सा पैदा हो गया था। इस आतंक के फलस्वरूप दोनों ही स्थितियों में दमनमूलक विधान पास हुए जिन्होंने शांतिपूर्ण राजनीतिक गतिविधि को रोकने की चेष्टा की। दोनों ही स्थितियों में इस घबराहट का प्रभाव न्यायपालिका के ऊपर भी पड़ा। न्यायपालिका ने अपराधियों को काफ़ी कठोर दंड दिये और वामपक्षी आन्दोलन को कुचलने का प्रयास किया। दोनों ही स्थितियों में इसका परिणाम यह हुआ कि जनता का न्यायालयों की निष्पक्षता में विश्वास घट गया। इस विश्वास का लोकतन्त्रात्मक शासन के लिए कितना महत्त्व है इस बारे में कुछ कहना अनावश्यक है। एक अनुभवी लेखक ने लिखा है "न्याय-व्यवस्था में विश्वास की तेजी से कमी होती जा रही है"[2]। यह तथ्य ही कि नागरिक स्वतंत्रताओं की एक राष्ट्रीय परिषद् स्थापित करने की आवश्यकता हुई और यह संस्था अपने जन्म के समय से निरन्तर व्यस्त रही है, ऐसे समय में एक गम्भीर मामला हो जाता है जब कि युग की कठिनाइयाँ इस विश्वास को शान्ति का रक्षक बनाती हैं। जनता में यह भावना जड़ पकड़ती जाती है कि कानून का प्रशासन एक वर्ग के हाथों में दूसरे वर्ग का दमन करने के लिए एक हथियार है। एक अनुभवी लेखक का कहना

---

१ सिविल लिबर्टीज (लन्दन १९३८) पृ १७।

२ ईवनिंग स्टैंडर्ड, (दूसरा संस्करण १९३२) द्वारा "लोकिलिज्म" पृ ९।

है "मजदूर न्यायालय को इस विश्वास के साथ छोड़ता है कि न्यायालय तो ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा शासक वर्ग मजदूरों को कुचलता है।"[1] यह ऐसी स्थिति है जिसके बड़े भयानक परिणाम हो सकते हैं। ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि शासक-वर्ग इस स्थिति का सामना करने के लिए पूरी तरह तय्यार है।

( ३ )

आधुनिक अमरीका के महानतम न्यायाधीश ने न्यायालयों की इस प्रवृत्ति पर चिन्ता प्रकट की है कि "वे विचारों के अदर पचास वर्ष पहले के आर्थिक सिद्धान्तों की स्वीकृति तथा ऐसी किसी बात के पूर्व निषेध का जिसे वकीलों का एक न्यायाधिकरण ठीक नहीं मानता है, पोषण की चेष्टा करते हैं।"[2] यह चेतावनी अमरीका की तरह हमारे लिए भी आवश्यक है। हमारे न्यायाधीशों को अपने अमरीकी भाइयों की तरह यह याद रखना चाहिए कि कानूनी न्यायिक निश्चितता के लिए पीछे फिर कर देखने की शक्ति पर जितना निर्भर है उतना ही वह आवश्यक संशोधनों के लिए आगे बढ़ कर देखने की शक्ति पर भी निर्भर है। उन्हें भी इस खतरे से बचे रहने की आवश्यकता है कि कहीं वे संसद् की इच्छा के स्थान पर उन सामाजिक और आर्थिक सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित न कर दें जिनका वे अनुमोदन करते हों। उनको इस खतरे से भी बचे रहने की आवश्यकता है कि कहीं वे अपने मन के प्रतिकूल विचारों को सामाजिक बुनियादों के लिए धमकी न मान बैठें। उनको यह सीखना है कि चिन्तकों के समाधान का उपाय उनके दृष्टान्तों का दमन नहीं प्रत्युत उनके कारण का निवारण है। उन्हें जैसा कि विरोधी दल के नेता श्री लैंसबरी ने गृह-मंत्री से कहा था "इस बात पर विश्वास न करना चाहिए कि वह सरकार जिसे दमनमूलक कानूनों को कार्यान्वित करना है इस बात की सर्वश्रेष्ठ निर्णायक है कि कौन सी चीज भाषण-स्वतन्त्रता के अधिकार तथा वैधानिक सार्वजनिक सभा करने के अधिकार का अतिक्रमण है।"[3]

युग सामाजिक परिवर्तन के प्रत्येक युग में यह खतरा रहता है कि कहीं उसकी कानूनी प्रवृत्तियां उन राजनीतिक निर्णयों के साथ कदम मिला कर न चल सकें जिनकी उन्हें व्याख्या करनी होती है। हमारी न्यायपालिका के सामने यह खतरा विशेष रूप से विद्यमान है क्योंकि उसकी व्याख्या-पद्धतियां एक ऐसे दर्शन के ऊपर आधारित हैं जिन्हें वे राजनीतिक निर्णय सुगमता से बदलने की चेष्टा कर सकते हैं। यदि न्यायपालिका ने समाजवादी सरकार के कार्यक्रम में विघ्न उपस्थित करने का प्रयास किया तो उसकी स्वतन्त्र स्थिति को आसानी से खतरा पैदा हो सकता है। उसकी सुरक्षा इसी बात पर निर्भर है कि वह न केवल अमीरों को प्रत्युत गरीबों को भी यह विश्वास दिला सके कि उसमें उस अव्यक्त प्रधान पूर्वावयव (inarti-

---

१ जस्टिस इन ए डिप्रेस्ड वर्ल्ड (१९३६) द्वारा चार्ल्स म्योर, पृ २०।

२ ओलिवर वेंडेल होम्स कलेक्टेड लीगल पेपर्स (१९२१) पृ० २१२।

culate major premisses) को पार करने की सामर्थ्य है जो सामान्य-विधि की रचना में इतने मजबूत हैं। इस अतिक्रमण की सामर्थ्य के लिए उसे न केवल अपनी सफलताओं के प्रति ही प्रत्युत असफलताओं के प्रति भी सजग होना है। इस समय वह सजग नहीं है। उसके अधिकांश सदस्य समाज के उच्च वर्ग से प्राप्त हैं। जैसा उनका जीवन होता है वैसे उनके विचार होते हैं। उनका दृष्टिकोण तथा अनुभव उस विशाल जनसमुदाय के अनुभव तथा दृष्टिकोण से भिन्न होता है जिसकी समस्याओं का वह समाधान करती है। उनके सिद्धान्तों का मुख्य उद्देश्य उस सामाजिक रचना की रक्षा करना है जिसकी बुनियादों को आज चुनौती मिल रही है। यदि वह अतीत के प्रति पक्षपात के आवरण में अपनी सत्ता को उन लोगों के पक्ष में करती है जो इन बुनियादों की रक्षा कर रहे हैं, तो यह भयानक होगा। उन परिस्थितियों में जिनका मैं वर्णन कर चुका हूँ ऐसा करना लोकेच्छा के विरुद्ध मालूम पड़ेगा। कोई भी न्यायपालिका इस प्रकार की प्रतिकूलता को अधिक समय तक सहन नहीं कर सकती।

मैं यह घबराहट पैदा करने के लिए नहीं कह रहा हूँ। जो कोई भी व्यक्ति इस देश के श्रमिक वर्ग को जानता है, वह यह समझ लेगा कि वह हमारे शासक वर्ग की भाँति हमारी कानूनी संस्थाओं की उपयुक्तता या निष्पक्षता में भरोसा नहीं रखता। वह यह भलीभाँति जानता है कि कानून अमीरों और गरीबों के बीच काफी भेद रखता है। मजदूर यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि आर्थिक प्रतिरक्षा की उनकी अपनी संस्थाओं ने न्यायालयों से कितनी कठिनाई के उपरान्त मान्यता प्राप्त की है। वे यह समझते हैं कि वकीलों के फीस-क्रम से उनकी कितनी हानि होती है। वे उस इन्तजाम से परिचित हैं जिसकी गरीबों के शासन के बारे में दुहाई दी जाती है। वे अपने से बड़ों के समान पुलिस में विश्वास नहीं रखते विशेषकर श्रमिक क्षेत्रों में। उनकी स्मृतियाँ बड़ी दीर्घ होती हैं। हाल के अभियोगों में जो दण्ड दिए गए, वे इस शताब्दी में वही प्रभाव रखेंगे जो गत शताब्दी में टालपुडल के अभियोगों का रहा था। उनकी दृष्टि में न्यायाधीशों की नियुक्ति केवल अन्य वर्ग अथवा राजनीतिक दल की सेवा के आधार पर होती है। वे दीर्घकाल से आवश्यक सुधारों को स्थगित होते देख रहे हैं और अब ये सुधार कार्यान्वित भी होते हैं तो केवल अधूरे। वे यह भी जानते हैं कि मजिस्ट्रेट का न्याय कितना अनुपयुक्त है पुलिस-न्यायालय के वातावरण से जनसाधारण कितना असन्तुष्ट रहता है। यह बात विश्वासपूर्वक कही सकती है कि यदि कभी इस देश में न्यायपालिका प्रगतिशील सरकार के विरोध में खड़ी हुई, तो शिकायतों का एक बवण्डर उठ खड़ा होगा।

पुनश्च यह बवण्डर स्वयं न्यायपालिका के ही ऊपर आ पड़ेगा। उसे सुधार के अवसर अवश्य मिले हैं लेकिन उसने अपनी शक्ति को उस दिशा में कभी नहीं लगाया। कानूनी शिक्षा जैसे महत्त्वहीन विषय तक में अभिनव विचाराधीन परिवर्तन लॉर्ड हेम्पटरी ने चार वर्ष पूर्व प्रस्तुत किये थे।[1] यह ठीक है कि ब्रिटिश न्यायाधीश

---

१ ईस्वी मार्च १९३४।

अपनी स्वतन्त्रता और सत्यनिष्ठा के लिए विख्यात है लेकिन इससे ही सारी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो जाती। श्रेष्ठ न्यायाधीश वकील होने के साथ साथ राजनेता भी होता है। वह अपने सामने प्रस्तुत होने वाली समस्याओं को इस दृष्टि से देखता है कि उनका राजनीतिक परिणाम क्या होगा। वह इस बात को समझता है कि उसे अपने व्यक्तिगत सामाजिक दर्शन को विधान के गर्भित प्रयोजन के साथ समीकृत नहीं करना चाहिए। आजकल हमें जिस समस्या का सामना करना पड़ रहा है उसमें कानूनी टेकनीक बहुत कम सहायता दे पाती है। ब्लैकस्टोन के शब्दों में न्यायाधीश को कानून की सजीव आकाशवाणी (Oracle) नहीं होना चाहिए प्रत्युत उसे सजीव कानून की सजीव आकाशवाणी होनी चाहिए।" सजीव कानूनों को उन दोषों की ओर सर्वदा ध्यान देना चाहिए जिनका कि परिहार किया जा सकता है। कानून के सातत्य की खोज एक उपयुक्त पूर्वदृष्टान्त से कुछ अधिक है वह उस मार्ग का भी निर्धारण है जिस पर चलकर उस पूर्वदृष्टान्त को आगे बढ़ना होता है। न्यायाधीश के नाते उसे यह मार्ग बताना होता है और वह यह तब तक अच्छी तरह नहीं कर सकता जब तक कि वह ऐसे किसी मार्ग को न चुने जो सामाजिक दृष्टि से उपयुक्त हो। मेरे विचार में न्यायाधीश होम्स के इस कथन का कि कानून का जीवन तर्क नहीं प्रत्युत अनुभव है यही अभिप्राय है।[1]

लेकिन इस विख्यात सूत्र को स्वीकार करते समय यह जाँच करना प्रासंगिक है कि यहाँ किसका अनुभव अभिप्रेत है। कानून सर्वदा ही ऐसी ऐतिहासिक कृति नहीं होता जिसकी जड़ें पुराकाल में जमी हों। वह एक प्रयोजनपरक कृति भी होता तथा उसकी रचना जान-बूझकर नई आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए बदल दी जाती है। हो सकता है कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति ऐसे व्यक्ति करें जिनका अनुभव न्यायिक विचारधारा के प्रतिकूल पड़ता हो। हमारी पद्धति पर आरोप यह है कि उसने इस विरोध के औचित्य को बार-बार ठुकराया है। इस प्रकार की न्यायिक आत्मपरकता न्यायाधीश के कार्य में रुकावट डालती है। अपनी पीढ़ी की मनःस्थिति को पक्का समझना मनुष्यों के विश्वास को खो देने का खतरा मोल लेना है। न्यायाधीश के समीप आरोपित करने के लिए कोई निष्पक्ष तथा वस्तुपरक कानून नहीं होता। मार्शल का यह सुप्रसिद्ध कथन कि "न्याय-विभाग की अपनी कोई इच्छा नहीं होती न्यायिक शक्ति न्यायाधीश की इच्छा को कार्यान्वित करने के लिए प्रयुक्त नहीं होती वह तो सर्वदा विधान-मण्डल की इच्छा को या दूसरे शब्दों में कानून की इच्छा को कार्यान्वित करने के लिए प्रयुक्त होती है"[2] एक श्रेष्ठ सत्य है लेकिन फिर भी एक सत्य ही है। न्यायाधीश स्वयं चाहने पर भी विधायक हुए बिना नहीं रह सकता। राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के अनुसार उसे यह स्मरण रखना चाहिए, "जब कभी वे (न्यायाधीश) संविधान सम्पत्ति संविदा अधिकारों, कानून की उपयुक्त प्रक्रिया,

---

१ दि कॉमन लॉ (१८८१) पृ० १।

२ ओसबोर्न बनाम बैंक ऑफ यूनाइटेड स्टेट्स ८ व्हीट, ७३८,८६६।

culate major premisses) को पार करने की सामर्थ्य है जो सामान्य-विधि की रचना में इतने मूलभूत हैं। इस अतिक्रमण की सामर्थ्य के लिए उसे न केवल अपनी सफलताओं के प्रति ही प्रत्युत असफलताओं के प्रति भी सजग होना है। इस समय वह सजग नहीं है। उसके अधिकांश सदस्य समाज के उच्च वर्ग से प्रोत हैं। जैसा उसका जीवन होता है वैसे उसके विचार होते हैं। उसका दृष्टिकोण तथा अनुभव उस विशाल जनसमुदाय के अनुभव तथा दृष्टिकोण से भिन्न होता है जिसकी समस्याओं का वह समाधान करती है। उसके सिद्धान्तों का मुख्य उद्देश्य उस सामाजिक रचना की रक्षा करना है जिसकी बुनियादों को आज चुनौती मिल रही है। यदि वह अतीत के प्रति श्रद्धाभाव के आवरण में अपनी सत्ता को उन लोगों के पक्ष में करती है जो इन बुनियादों की रक्षा कर रहे हैं, तो वह भयानक होगा। उन परिस्थितियों में जिनका मैं वर्णन कर चुका हूँ ऐसा करना लोकेच्छा के विरुद्ध मालूम पड़ेगा। कोई भी न्यायपालिका इस प्रकार की प्रतिकूलता को अधिक समय तक सहन नहीं कर सकती।

मैं यह घबराहट पैदा करने के लिए नहीं कह रहा हूँ। जो कोई भी व्यक्ति इस देश के श्रमिक वर्ग को जानता है, वह यह समझ लेगा कि वह हमारे शासक वर्ग की भाँति हमारी कानूनी संस्थाओं की उपयुक्तता या निष्पक्षता में भरोसा नहीं रखता। वह यह भलीभाँति जानता है कि कानून अमीरों और गरीबों के बीच काफी भेद रखता है। मजदूर यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि आर्थिक प्रतिरक्षा की उनकी अपनी संस्थाओं ने न्यायालयों से कितनी कठिनाई के उपरान्त मान्यता प्राप्त की है। वे यह समझते हैं कि वकीलों के फीस-बिल से उनकी कितनी हानि होती है। वे उस इन्तजाम से परिचित हैं जिसकी गरीबों के शासन के बारे में दुहाई दी जाती है। वे बचपन से बड़ों के समान पुलिस में विश्वास नहीं रखते विशेषकर दलित क्षेत्रों में। उनकी स्मृतियाँ बड़ी दीर्घ होती हैं। हाबर्ड अभियोगों में जो दण्ड दिए गए, वे इस शताब्दी में वही प्रभाव रखेंगे जो गत शताब्दी में टाल्पुडल के अभियोगों का रहा था। उनकी दृष्टि में न्यायाधीशों की नियुक्ति केवल जन्म वश अथवा राजनीतिक दल की सेवा के आधार पर होती है। वे दीर्घकाल से आवश्यक सुधारों को स्थगित होते देख रहे हैं और जब वे सुधार कार्यान्वित भी होते हैं तो केवल अधूरे। वे यह भी जानते हैं कि मजिस्ट्रेट का न्याय कितना अनुपयुक्त है पुलिस-न्यायालय के वातावरण में जनसाधारण कितना असन्तुष्ट रहता है। यह बात विश्वासपूर्वक कही जा सकती है कि यदि कभी इस देश में न्यायपालिका प्रगतिशील सरकार के विरोध में खड़ी हुई, तो शिकायतों का एक बवंडर उठ खड़ा होगा।

पुनश्च यह बवंडर स्वयं न्यायपालिका के ही ऊपर आ पड़ेगा। उसे सुधार के अवसर अवश्य मिले हैं लेकिन उसने अपनी शक्ति को उस दिशा में कभी नहीं लगाया। कानूनी शिक्षा जैसे महत्वहीन विषय तक में अनिवार्य विचारशील परिवर्तन लॉर्ड वेस्टबरी ने सत्तर वर्ष पूर्व प्रस्तुत किये थे।[1] यह ठीक है कि ब्रिटिश न्यायाधीश

1 ईस्ट मार्च १८५४।

अपनी स्वतन्त्रता और सत्यनिष्ठा के लिए विख्यात हूँ लेकिन इससे ही सारी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो जातीं। श्रेष्ठ न्यायाधीश वकील होने के साथ साथ राजमर्मज्ञ भी होता है। *वह अपने सामने प्रस्तुत हुई कानूनी समस्याओं को इस दृष्टि से देखता है* कि उनका राजनीतिक परिणाम क्या होगा। वह इस बात को समझता है कि उसे अपने व्यक्तिगत सामाजिक दर्शन को विधान के वांछित प्रयोजन के साथ समीकरण नहीं करना चाहिए। आजकल हमें जिस समस्या का सामना करना पड़ रहा है उसमें कानूनी टेकनीक बहुत कम सहायता दे पाती है। ब्लैकस्टोन के शब्दों में न्यायाधीश को 'कानून की सजीव आकाशवाणी (Oracle) नहीं होना चाहिए प्रत्युत उसे सजीव कानून की सजीव आकाशवाणी होनी चाहिए। सजीव कानूनों को उन दोनों की ओर सदैव ध्यान देना चाहिए जिनका कि परिष्कार किया जा सकता है। कानून के सारतत्व की खोज एक अनुरूप पूर्वदृष्टान्त से कुछ अधिक है वह उस मार्ग का भी निर्धारण है जिस पर चलकर उस पूर्वदृष्टान्त को आगे बढ़ना होता है। न्यायाधीश के नाते उसे यह आगे बढ़ाना होता है और वह यह तब तक अच्छी तरह नहीं कर सकता जब तक कि वह ऐसे किसी मार्ग को न चुने जो सामाजिक दृष्टि से उपयुक्त हो। मेरे विचार से न्यायाधीश होम्स के इस कथन का कि कानून का जीवन तर्क नहीं प्रत्युत अनुभव है *यही अभिप्राय है।*[1]

लेकिन इस विख्यात सूत्र को स्वीकार करते समय यह जांच करना प्रासंगिक है कि यहां किसका अनुभव अभिप्रेत है। कानून सदैव ही ऐसी ऐतिहासिक वृद्धि नहीं होता जिसकी जड़ें भूतकाल में जमी हों। वह एक प्रयोजनगत वृद्धि भी होता तथा उसकी रचना जान-बूझकर नई आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए आरम्भ की जाती है। हो सकता है कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति ऐसे व्यक्ति करें जिनका अनुभव न्यायिक विचारधारा के प्रतिकूल पड़ता हो। हमारी पद्धति का खतरा यह है कि उसमें इस विरोध के औचित्य को बार-बार दुहराया है। इस प्रकार की न्यायिक अन्तरात्मता न्यायाधीश के कार्य में रुकावट डालती है। अपनी पीढ़ी की मान्यताओं को गलत समझना मनुष्यों के विश्वास को खो देने का खतरा मोल लेना है। न्यायाधीश के समक्ष आरोपित करने के लिए कोई निष्पक्ष तथा वस्तुपरक कानून नहीं होता। मार्शल का यह सुप्रसिद्ध कथन कि "न्याय-विभाग की अपनी कोई इच्छा नहीं होती न्यायिक शक्ति न्यायाधीश की इच्छा को कार्यान्वित करने के लिए प्रयुक्त नहीं होती वह तो सदैव विधान-मण्डल की इच्छा को या दूसरे शब्दों में कानून की इच्छा को कार्यान्वित करने के लिए प्रयुक्त होती है"[2] एक श्रेष्ठ भ्रम है लेकिन फिर भी एक भ्रम ही है। न्यायाधीश स्वयं चाहने पर भी विधायक हुए बिना नहीं रह सकता। प्रोफेसर करवेल्ट के अनुसार उसे यह स्मरण रखना चाहिए "जब कभी वे (न्यायाधीश) संविधान सम्मत अनिर्दिष्ट अधिकारों, कानून की उपयुक्त प्रक्रिया,

---

१ दि कॉमन लॉ (१८८१) पृ० १।

२ ओसबोर्न बनाम बैंक आफ यूनाइटेड स्टेट्स ९ व्हीट, ७३८२४।

स्वतन्त्रता आदि की व्याख्या करते हैं वे सामाजिक दर्शन के कुछ अंशों को कानून का रूप दे देते हैं। आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर न्यायाधीशों के निर्णय उनके आर्थिक और सामाजिक दर्शन पर निर्भर होते हैं। हमारी जनता ने बीसवीं शताब्दी में जो शान्तिपूर्ण प्रगति की है, उसके लिए हम मुख्यतः उस पुराने दर्शन के नहीं जो स्वयं आदिम परिस्थितियों का परिणाम था प्रत्युत अपने उन न्यायाधीशों के ऋणी हैं जिनका आर्थिक और सामाजिक दर्शन बीसवीं शताब्दी का है।'[1]

हमारे युग की मांग संभवतः यह मालूम पड़ती है कि प्राचीन कानूनी विचारधारा को नूतन विश्वास और नूतन सिद्धांतों के अनुसार विस्तृत किया जाये। हमारी जैसी न्यायपालिका के लिए यह कोई सुगम कार्य नहीं है। जिन प्रभावों ने नए विश्वास की रचना की है, वे उन प्रभावों से भिन्न हैं जिनकी न्यायपालिका अभ्यस्त है। जिस तर्क के ऊपर यह नया विश्वास आधारित है वह उस परम्परागत सूत्र से भिन्न है जिसके ऊपर हमारी न्यायपालिका निर्भर है। उसकी कठिनाई का समाधान नहीं है कि पुराने का नए के साथ समन्वय हो और यह समन्वय ही जैसा कि थियोडोर रूजवेल्ट का मत था सामाजिक शान्ति की आवश्यक शर्त बन जाये। अतः यदि कोई न्यायाधीश इस मांग को अस्वीकार करता है तो वह उस शर्त को अस्वीकार करता है, जिसके आधार पर उसकी परम्परा की रक्षा की जा सकती है।

---

१ ८ दिसम्बर, १९०८ का संदेश ४३ कांग्रेशनल रिकार्ड भाग १ प २१।

अध्याय ८

# राजतंत्र

( १ )

मर्यादित राजतंत्र का आलोचनात्मक विवेचन करना सुगम कार्य नहीं है। इतिहास के इस अंग के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान सबसे कम है। इसके संचालन के विषय में प्रत्येक ज्ञान के चालीस वर्ष पूर्व महारानी विक्टोरिया की मृत्यु के साथ समाप्त हो जाते हैं। सम्राट तथा उनके मंत्रियों के क्या सम्बन्ध रहते हैं, इस प्रश्न का हमारे पास कोई उपयुक्त विवरण नहीं है। हमें राजप्रासाद के अधिकारियों के चुनाव के सम्बन्ध में या उनके मंत्रियों के साथ सम्पर्क के विषय में बहुत कम ज्ञान है। राजप्रासाद तथा समाचार-पत्रों का क्या सम्बन्ध रहता है, इस विषय में एडवर्ड अष्टम् के सिंहासन-त्याग के पश्चात् हमारा ज्ञान और भी कम हो गया है। कोर्ट सर्कुलर हमें राजप्रासाद के दैनिक सरकारी कार्यों की तो सूचना देता है लेकिन वह हमें उन रीतियों से परिचित नहीं कराता जिनसे कि सम्राट् का मत निर्धारित होता है। सम्राट् की गतिविधियों के सम्बन्ध में कितना अधिक मौन रक्खा जाता है यह इस बात से प्रकट हो जाता है कि जनता को श्रीमती सिम्पसन और सम्राट् एडवर्ड के सम्बन्धों का उस समय तक कोई ज्ञान नहीं हुआ था जब तक कि सारा मामला अपूर्व चरमोत्कर्ष पर न पहुंच गया। यद्यपि सम्पूर्ण संसार इन सम्बन्धों के विषय में महीनों तक चर्चा करता रहा था लेकिन ३ दिसम्बर १९३६ तक किसी भी ब्रिटिश समाचार-पत्र ने इसकी चर्चा नहीं की थी। इसके आठ दिन पश्चात् ही एडवर्ड अष्टम् ने सिंहासन-त्याग के अधिनियम पर हस्ताक्षर कर दिए।

यह सुनिश्चित है कि पिछले साठ वर्षों में राजतंत्र की संस्था के बारे में लोगों के विचार काफी बदल गए हैं। महारानी विक्टोरिया के शासन-काल के पहले चालीस वर्षों में इसकी आलोचना काफी मुखर और तीव्र रहती थी। जोसेफ चैम्बरलेन और सर चार्ल्स डाइक जैसे प्रतिष्ठित सार्वजनिक व्यक्ति गणतंत्रवाद के सम्बन्ध में अपनी सम्वेदना प्रकट करते रंचमात्र भी नहीं डरते थे। राजतंत्र की बदनामी इतनी बढ़ गई थी कि लोग गलियों में प्रिंस ऑफ वेल्स (एडवर्ड सप्तम) को देखकर सी-सी करने लगते थे। मंत्रीगण सार्वजनिक आलोचना की इस तीव्रता से बहुत भयभीत हो गए थे। १८७८ के पश्चात् इंग्लैण्ड में कोई गम्भीर गणतंत्रवाद नहीं रहा है और १९३६ के सिंहासन-त्याग के कुछ अशान्तिपूर्ण दिनों को छोड़कर राजतन्त्र की कोई आलोचना नहीं हुई है। इंगलैंड में राजतन्त्र की संस्था को अनिवार्य मान लिया गया है। लोगों की उसके प्रति आस्था कुछ ऐसी बन गई है जैसी कि सत्रहवीं शताब्दी में उनकी राजा के दैवी अधिकारों के प्रति थी। ब्रिटिश जनता का राजतन्त्र के प्रति जो

भाव है वह बीसवीं शताब्दी के दृष्टिकोण से मेल नहीं खाता। इस शताब्दी में तीन राजवंश समाप्त हो चुके हैं और स्पेन के सम्राट गृहविहीन मायावर हो गए हैं। युद्ध के पश्चात् सम्राट् के व्यक्तित्व को जो श्रद्धांजलियाँ समर्पित की गई हैं वे देव-स्तुतियाँ सी मालूम पड़ती हैं।

इस परिवर्तन के कारण क्या हैं? इस प्रश्न का उत्तर बड़ा कठिन है। इसका कुछ कारण तो महारानी विक्टोरिया का सुदीर्घ और एकनिष्ठ शासन-काल है। १८७ के पश्चात् देश उन्हें राष्ट्रीय प्रतीक के रूप में मानने लगा था और उन पर गर्व करने लगा था। एडवर्ड सप्तम् की हँसमुख प्रकृति ने भी राजवंश की प्रतिष्ठा बढ़ाने में थोड़ा योग दिया था। सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् वे जनता के आमोदों में खुलकर भाग लेते थे। फ्रांसीसियों के प्रति उनकी अनुरक्ति और जर्मनों के प्रति उनकी विरक्ति बहुत कुछ राष्ट्रीय भावनाओं के अनुकूल ही थी। जार्ज पंचम के प्रति राष्ट्र की निष्ठा के कुछ गहरे मनोवैज्ञानिक कारण थे। जब प्रसारण ने उन्हें अपने लाखों प्रजाजनों के साथ सीधा वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित करने का अवसर दे दिया था उसके उपरान्त तो वे "अपने प्रजाजनों के पिता" कहलाने लगे थे। उनकी कर्मठता विख्यात थी। उनके शासनकाल में राष्ट्र ने महायुद्ध में विजय प्राप्त की थी। लोग यह समझते थे कि उन्होंने बड़ी विकट राजनीतिक परिस्थितियों में से अपना मार्ग प्रशस्त किया है। उनके उत्तराधिकारी ने जब सिंहासन पर पैर रक्खा वे पहले से ही विख्यात थे। ऐसी ख्याति इतिहास में शायद ही पहले किसी के भाग्य में रही हो। बाहरी विश्व के लिए वे "प्रसन्नमुख राजकुमार" थे और सिंहासन-त्याग के समय तक उनकी प्रत्येक भाव-भंगिमा पर लोग उन्मत्त होकर करतल-ध्वनि करते थे।

मेरे विचार से सम्राट् की लोकप्रियता की वृद्धि अधिक ध्यान देने योग्य नहीं है। विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि १९३६ में सिंहासन-त्याग के समय एक व्यक्ति के ऊपर जो ध्यान था वही सुगमता से भंग हो गया। इसका अभिप्राय यह है कि हम पिछले पाँच सम्राटों के वैयक्तिक गुणों के विषय में चाहे कुछ भी कह लें उनसे १८७८ के बाद के बदलते हुए दृष्टिकोण की कोई व्याख्या नहीं होती। डा० अर्नेस्ट जोन्स का कहना है कि राजतन्त्र के प्रति हमारे आदर का कारण यह है कि हम सम्राट् के व्यक्तित्व में पितृत्व का भाव देखने लगे हैं। यह सिद्धान्त इस युग के बड़े बड़े राजनीतिक नेताओं पर तथा मुसोलिनी हिटलर और स्टालिन जैसे अधिनायकों के ऊपर भी लागू होता है। ये अधिनायक अपने अनुयायियों में बड़ी सुगमता से उत्साह का संचार करते हैं लेकिन इस उत्साह का अन्त भी बड़ी शीघ्रता से हो जाता है। जहाँ अधिनायकों का पतन हुआ जनता उनके प्रति अपना आदर भाव भूल जाती है। अतः राजतंत्र विषयक हमारे दृष्टिकोण के परिवर्तन के दो कारण मालूम पड़ते हैं। पहला कारण तो यह है कि राज्य के सर्वोच्च पद के प्रति जनता के मन में परम्परागत अभिरुचि रहती है और इस अभिरुचि को केवल कुछ विशेष परिस्थितियाँ ही हटा सकती हैं। सम्राटों का अपने प्रजाजनों के ऊपर जादू का सा प्रभाव होता है। अधिकांश व्यक्ति उनके पास घुटने टेक कर पहुँचते हैं। यदि उनका आचरण द्रुतिम संयत है तो इस बात की

बहुत कम संभावना है कि उनके आचरण की जनसाधारण के आचरण की भाँति गहरी छान-बीन होगी।

मेरे विचार से इस परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण बात वह तिथि जिस पर यह हुआ तथा वह प्रचार जो इस तिथि के बाद से इसके सम्बन्ध में होता रहा है, है। मोटे तौर से महारानी विक्टोरिया की लोकप्रियता उस समय से प्रारम्भ होती है, जब कि वे भारत की साम्राज्ञी घोषित हुईं। इसका अर्थ यह हुआ कि यह लोकप्रियता ब्रिटिश जनता में एक साम्राज्यिक भावना के उदय के साथ सम्बन्धित है। इससे दो प्रयोजन सिद्ध हुये हैं। राजतन्त्र डोमीनियनों और उपनिवेशों की स्वामिभक्ति का केन्द्र बिन्दु रहा है। उसने राजभक्ति की एक ऐसी एकता कायम करदी है जो किसी निर्वाचित राष्ट्रपति का व्यक्तित्व कदापि नहीं कर सकता था। मैं उस असाधारण प्रचार के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना चाहता जो इस उद्देश्य को लेकर किया गया है। समारोहों बेतार के तार प्रसारण साहित्य और समाचार पत्र—समस्त संसाधन को इसमें प्रयुक्त किया गया है। राजनीतिक दलों में चाहे कितना भी मतभेद हो लेकिन इस प्रश्न पर वे भी एकमत हैं कि साम्राज्य की एकता को बनाए रखने में राजमुकुट एक अनिवार्य तत्व है। यह पहलू अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपने उद्देश्यों को सिद्ध करने के लिए राजमुकुट की प्रतिष्ठा को जान बूझ कर बढ़ाया है।

देश की आभ्यन्तरिक राजनीति में भी यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। विक्टोरिया के शासन-काल के सम्बन्ध में कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि आवास के प्रश्न को छोड़ कर महारानी ने जनता की भलाई करने वाले अन्य किन्हीं कामों में गम्भीर रुचि प्रकट की हो। विदेशी मामले साम्राज्य धर्म तथा प्रतिरक्षा बलों की समस्याएँ आदि विषय ही ऐसे थे जिनमें वे सबसे अधिक रुचि लेती थीं। एडवर्ड सप्तम् के शासन-काल में कुछ महत्त्वपूर्ण और जॉर्ज पंचम् के शासन-काल में विस्मयजनक परिवर्तन हुआ। यह ठीक है कि इसके लिए कुछ सीमा तक युग का बदलता हुआ मनोवैज्ञानिक वातावरण भी उत्तरदायी है। लेकिन यदि कोई व्यक्ति सम्राट् की इस युग की अभिरुचियों को देखे और उनकी विक्टोरिया-युग की अभिरुचियों से तुलना करे, मेरे विचार से वह यह समझ लेगा कि इस बात का जान-बूझकर प्रयास और प्रचार किया गया है कि राजवंश को उन कार्यों के साथ सम्बन्धित रखा जाये जिन पर कि श्रमिक वर्ग के स्वार्थों का केन्द्रित होना अवश्यम्भावी है। कोई राजकुमार आवास का विशेषज्ञ है तो कोई औद्योगिक कल्याण की ओर अपना ध्यान लगाता है। कहने का सार यह है कि राजपरिवार चिकित्सालयों बालचरों युवक समितियों के आवास बेरोजगारों के पुनर्स्थापन आदि सभी समस्याओं की ओर पर्याप्त ध्यान देता है। चूंकि राजपरिवार की प्रत्येक गतिविधि का अधिक से अधिक प्रचार किया जाता है, जन जनता के ऊपर इसका जो प्रभाव पड़ता है वह विक्टोरिया-युग के प्रभाव से बिल्कुल भिन्न होता है। कहने का सार यह है कि राजतंत्र को लोकतंत्र के कार्यों उसके प्रतीक के रूप में पेश किया गया है और इस विषय के सम्बन्ध में इतनी और भी हर्षध्वनि हुई है

कि विरोधकी दो-एक आवाजें सुनाई भी नहीं दी हैं। यह महत्त्वपूर्ण है कि श्रमिक संघ कांग्रेस का दैनिक मुखपत्र राजपरिवार के समाचारों तथा चित्रों को अन्य किसी पत्र की अपेक्षा अधिक छापता है।

इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। विक्टोरिया-युग मुख्य रूप से कुलीन तंत्र का युग था और उसमें एकमात्र धन ही सामाजिक प्रतिष्ठा पाने का साधन नहीं था। एडवर्ड सप्तम के के सिंहासनारोहण के साथ ही सामाजिक मामलों में कुलीनतंत्र के स्थान पर धनतंत्र की तूती बोलने लगी। पीयरों की संख्या में वृद्धि कुलीनवर्ग का व्यापारिक वर्ग और वित्तीय वर्ग के साथ गठबंधन राजनीतिक दलों का नेतृत्व अधिकाधिक गैर-अभिजात वर्ग के हाथों में पहुँचना—इन सब तत्त्वों ने राजपरिवार की सामाजिक प्रतिष्ठा में अभूतपूर्व वृद्धि की है। उसका संरक्षण पाने का भागीरथ प्रयास किया जाने लगा है और इससे परोपकारात्मक कार्यों के क्षेत्र में उसका प्रभाव असाधारण रूप से बढ़ गया है। इस क्षेत्र में राजपरिवार राष्ट्र का ऐसा प्रतीक बन गया है जैसा कि वह पचास वर्ष या तीस वर्ष पूर्व नहीं था। अब वह सार्वजनिक समारोहों में भी महारानी विक्टोरिया अथवा एडवर्ड सप्तम् के समान विलग नहीं रहता। इसका फल यह हुआ है कि अब लोग राजसिंहासन के साथ पहले की अपेक्षा अधिक वैयक्तिक सम्पर्क अनुभव करने लगे हैं। गत पीढ़ी में राजमुकुट ने सम्मान के स्रोत के रूप में पहले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता और उदारता का परिचय दिया है। इससे इसके लोकतंत्रीकरण का भान होता है जो जनता पर सुदूरव्यापी प्रभाव डालता है। महारानी विक्टोरिया ने जॉन ब्राइट को इस आधार पर प्रिवी कौंसिलरशिप अस्वीकार कर दी थी क्योंकि उन्हें उनकी ऐसी किसी सार्वजनिक सेवा का ज्ञान नहीं था जो उन्हें इतने बड़े सम्मान का अधिकारी सिद्ध करता। महारानी विक्टोरिया के पौत्र ने उनकी हीरक जयन्ती के अवसर पर ट्रेड्स यूनियन कांग्रेस के मन्त्री को प्रसन्नतापूर्वक "नाइटहुड" की उपाधि दी। राजसिंहासन की प्रतिष्ठा का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि भूतकाल की समस्त परम्पराओं के बावजूद पहली दो श्रमिक सरकारों के नेताओं को राजदरबार के समारोहों में खुलकर भाग लेने में कोई कठिनाई नहीं हुई। उन्होंने इन समारोहों में जिस प्रसन्नता से योग दिया उससे संभवतः उनके कुछ समर्थक खट्टे ही हुए होंगे।

किसी भी दृष्टि से देखा जाये राजतंत्र की प्रतिष्ठा है विलक्षण। लेकिन हमें इसके सम्बन्ध में अतिशयोक्ति से सावधान रहना चाहिए। इस प्रतिष्ठा का मुख्य कारण यह है कि वह राजनैतिक दृष्टि से कम-से-कम सामान्य जनता के लिए तटस्थ रहा है। विक्टोरिया ने जब तब मनमानी करने की चेष्टा की थी लेकिन उनके मंत्रियों ने इस सम्बन्ध में मौन बनाए रख कर स्थिति को सम्हाल लिया। यह भी महत्त्व पूर्ण है कि राजतंत्र युद्ध में निरन्तर सफल होता रहा है। महाद्वीपीय देशों के अनुभव से यह ज्ञात होता है कि युद्ध में पराजित होने पर कोई राजतंत्र अधिक समय तक नहीं टिक सकता यह भी महत्त्वपूर्ण है कि उसके राजनीतिक कृत्यों के सम्पादन ने उसे ऐसी किसी संकटापन्न स्थिति में खड़ा नहीं किया है जिसमें कि उसके कार्य की

वैधानिकता के सम्बन्ध में विरोधी दल भयंकर वाद-विवाद करें। यदि किसी व्यक्ति ने १९३६ के सिंहासन-त्याग के सप्ताह में यह निरीक्षण किया हो कि राष्ट्र "कैवेलियर्स" और "राउंडहेड्स" के बीच में किस प्रकार विभक्त हो गया था वह यह समझ लेगा कि राजमुकुट की प्रतिष्ठा तटस्थता की उस प्रवृत्ति का परिणाम मात्र है जो जॉर्ज के परवर्ती युग की विशिष्ट परम्परा है। यदि यह विवाद पुनः प्रारम्भ हुआ तो यह निश्चित है कि राजतंत्र की सत्ता को चोट पहुँचेगी।

यह भी स्मरणीय है कि राजसिंहासन के लोकतंत्रात्मक सम्पर्क केवल सतही हैं और उससे अधिक काम नहीं निकलता। मंत्रि-मंडल को छोड़कर सम्राट के समस्त परामर्शदाता अभिजातवर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। उनके निकट के समस्त सामाजिक सम्पर्क भी इसी प्रकार के हैं। उन कामों के अतिरिक्त जिनके सम्बन्ध में सम्राट् को अपने पद के कारण निकटतम ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है जीवन के अन्य क्षेत्रों के सम्बन्ध में सम्राट् का ज्ञान क्षीण और दूरस्थ होता है। अमेरिका में राष्ट्रपति को जीवन के विविध क्षेत्रों का अनुभव होता है और वे विभिन्न परिस्थितियों के व्यक्तियों के सामाजिक सम्पर्क में आते हैं। ब्रिटिश सम्राट् के साथ यह बात नहीं है। उसे अपने कर्त्तव्य की किसी उपयुक्त रीति से शिक्षा नहीं मिलती। उसे सामान्य शिक्षा मिलती है। राजपरिवार के सदस्यों का अपने बचपन से ही बड़े कृत्रिम वातावरण में पालन होता है। उनके लिए एक प्रकार के सार्वजनिक व्यक्तित्व का निर्माण कर दिया जाता है तथा उनके लिए इससे बचना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है। वे निरन्तर चाटुकारिता और झूठी प्रशंसा के वातावरण में रहते हैं। उनके सामान्यतम वचनों को ज्ञान की पराकाष्ठा माना जाता है। यदि कोई व्यक्ति सातवें एडवर्ड की डायरियाँ पढ़े तो उसे इस बात पर बड़ा आश्चर्य होगा कि उनकी सी योग्यता वाला व्यक्ति किस प्रकार चालीस वर्षों तक ऐसी विकट अवस्था में पड़ा रहा था। यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि जॉर्ज तृतीय के पश्चात् से सिंहासन का प्रत्येक अधिकारी अपने व्यक्तिगत मतों में साम्राज्यवादी और अनुदार रहा है। लेकिन उनके वातावरण को देखते हुए और कुछ आशा करना भी तो असाध्य है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि मर्यादित राजतंत्र की व्यवस्था को अब तक इंग्लैण्ड में अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। युग की परिवर्तनशील परिस्थितियों के बीच में उसने बड़ी कुशलता से अपना पथ प्रशस्त किया है। उसकी सफलता का कारण यह है कि उसने सत्ता का प्रभाव से विनिमय कर लिया है। नीति विषयक भूलों का दोष मंत्रियों के सिर पड़ता है जिन्हें पद-त्याग के द्वारा दंड भुगतना पड़ता है। हमारे संविधान के दायरे में एक ऐसा सक्रिय सम्राट् जिसके मत सार्वजनिक विवाद के विषय हों अविचार्य है। इस व्यवस्था की सफलता का एक प्रमुख कारण यह है कि आधारभूत महत्त्व के मामलों में राजनीतिक दल एकमत रहे हैं। यदि गत पचास वर्षों के किसी बड़े संकट के समय कोई राजनीतिक दल अपने प्रतिद्वंद्वी के विरुद्ध में जान-बूझकर राजमुकुट का आश्रय लेता, तो उस स्थिति में क्या होता इसकी कल्पना तक कठिन है। जैसा कि हम देखेंगे ऐसे अवसर आए हैं जब कि हम इस

स्थिति के निकट तक पहुँच गए हैं। १९१०—११ में लॉर्ड-सभा के ऊपर, १९१३-१४ में अल्स्टर के ऊपर और १९३१ में भी (यद्यपि इस सम्बन्ध में हमें कोई निश्चित ज्ञान नहीं है)। यह हर्ष की बात है कि अब तक राजकीय सत्ता से अंतिम रूप से कोई अपील नहीं की गई है। सम्राट ने दो विरोधी हितों के बीच पंच का सा कार्य करने की कोशिश नहीं की है। उनकी कोशिश तो तो यही रही है कि इन हितों के पारस्परिक विरोध को शांत किया जाये। यदि किसी व्यक्ति ने प्रलेखों का अध्ययन किया है तो वह इस बात को अस्वीकार न कर सकेगा कि सम्राट् के प्रभाव की वृद्धि का वास्तविक स्रोत यही है। हमारे देश के संसदीय लोकतंत्र में एक "वैधानिक सम्राट् का चाहे उसके विचार कैसे भी हों निर्वाह नहीं हो सकता।

( २ )

सम्राट् को अपने मंत्रियों के परामर्श पर आचरण करना चाहिए यह हमारी राजतंत्रात्मक व्यवस्था का केन्द्रबिन्दु है। लेकिन यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जिससे कई विरोधी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। क्या इसका अभिप्राय यह है जैसा कि बैजहॉट का मत था कि उसकी सत्ता "परामर्श प्रोत्साहन और चेतावनी" तक सीमित है? क्या वह काफ़ी विचार के लिए अपनी बात कह सकता है; और इसके बाद उसे जो भी परामर्श दिया जाये वह मानने के लिए बाध्य है? क्या उसके लिए ऐसा कुछ परमाधिकार संरक्षित है जिसका वह अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सकता है? यदि हाँ तो इसकी क्या सीमाएँ हैं और उन्हें कौन निश्चित करता है? क्या वह मंत्रियों को अपदस्थ कर सकता है? क्या वह विघटन अस्वीकार कर सकता है? क्या संसद् के दोनों सदनों द्वारा पास किए गए किसी विधेयक पर वह अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता है? क्या संविधान के सामान्य संचालन तथा एक संकटकालीन स्थिति में कुछ अन्तर है जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर सम्राट् "संविधान के संरक्षक" के रूप में कार्य कर सके? प्रो० कीथ के विचार से ऐसा हो सकता है और वे इसे सम्राट् के कार्यों का केन्द्रबिन्दु मानते हैं। यदि यह विचार सही है, तो हम संविधान के "सामान्य संचालन की कैसे व्याख्या कर सकते हैं? उसकी की व्याख्या कौन करेगा? इन प्रश्नों की रचना ही यह प्रकट करती है कि हमारे संविधान की बुनियादों में राजतंत्र का कितना महत्व स्थान है। हम इन प्रश्नों का केवल उत्तर देने तथा प्राप्त साक्ष्य के आधार पर अपने उत्तरों के मूल्यांकन करने की चेष्टा कर सकते हैं।

एक बात आदि से ही निश्चित है। बैजहॉट ने सत्तर वर्ष पूर्व विक्टोरिया के राजतंत्र का जो चित्र खींचा था वह महारानी विक्टोरिया की पत्रावली (Letters of Queen Victoria) के सम्मुख अधिक विश्वसनीय नहीं है। बैजहॉट के विचार से वे अपने मंत्रियों के हाथों में एक निष्क्रिय उपकरण मात्र थीं जबकि सचाई यह है कि वे शासन के संचालन में एक सक्रिय और हठी अभिकरण थीं। यह सही है और यह महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने न तो कभी विघटन अस्वीकार किया और न कभी किसी विधेयक पर निषेधाधिकार का ही प्रयोग किया। लेकिन व अपने मंत्रियों के चुनाव में महत्त्वपूर्ण भाग लेती थीं कुछ को नियुक्त करती थीं तथा कुछ की नियुक्ति रुकवा

देती थी। उन्हें घरेलू तथा विदेश नीति के किसी भी पहलू पर अपने विचार आरोपित करने कोई कठिनाई न होती थी। वे अपने दुराग्रह से अपने मंत्रियों के जीवन को कितना भार बना देती थीं यह भी ग्लैडस्टन के पत्र-व्यवहार से अच्छी तरह प्रकट हो जाता है। महारानी विक्टोरिया ने १८७४ के पश्चात् ग्लैडस्टन के विरुद्ध लगातार षड्यंत्र किया था और डिज़रैली, सैल्सबरी तथा लॉर्ड बूटले को लिखे गए उनके पत्र यह स्पष्ट कर देते हैं कि उन्होंने अपनी वैधानिक स्थिति की प्रारम्भिक सीमाओं का उल्लंघन करने तक में कोई संकोच नहीं किया था। वे चर्च की नियुक्तियों में निरन्तर हस्तक्षेप करती थीं। इसका कारण कुछ तो उनके अपने कट्टर विचार थे और कुछ उनके उन व्यक्तिगत धार्मिक परामर्शदाताओं की मौजूदगी थी जिन्हें उन्होंने स्वयं चुना था। विदेशी मामलों पर उनके अपने विचार थे और वे नीति के कठिन प्रश्नों को मंत्रि-मंडल की पीठ के पीछे निपटाने की चेष्टा करती थीं। वे मंत्रियों की व्यक्तिगत राय को जानने की चेष्टा करती थीं जिससे कि मंत्रि-मंडल के एक वर्ग को दूसरे वर्ग के विरुद्ध किया जा सके। इसमें उन्हें बहुधा सफलता भी मिल जाती थी। वे सेना-सुधार के मार्ग में अवरोधक बाधा थीं। उनके शासन-काल के दो अन्तिम अधिनियम—"रॉयल टाइटिल्स एक्ट" (Royal Titles Act) और "पब्लिक वर्शिप रेगुलेशन एक्ट" (Public Worship Regulation Act) जो सबसे कम सफल हुए थे उनकी व्यक्तिगत उत्प्रेरणा के परिणाम थे। सेना तथा जहाजी बेड़े दोनों के संवरण के लिए वे ही उत्तरदायी हैं। वे अपने मंत्रियों पर यह नियंत्रण रखने की चेष्टा करती थीं कि उन्हें भाषणों में क्या कहना चाहिए और जब मंत्री उनकी इच्छानुसार भाषण नहीं देते थे, तब वे उनकी भर्त्सना करती थीं। उन्होंने गोश्चेन और फोर्स्टर पर इस बात के लिए दबाव डाला कि वे लिबरल यूनियनिस्ट दल के निर्माण में सहायता दें। बैजहॉट ने जिन सामन्तों की चर्चा की है, जो "राजकीय प्रभाव के विस्तार पर सहमत" थे और जो इस सिद्धान्त का समर्थन करते थे कि राजमुकुट जितना प्रवीण होता है उतना अधिक काम करता है उनके पास उस विचार का समर्थन करने के लिए पर्याप्त सामग्री है जिसे बैजहॉट का विश्लेषण खंडित करना चाहता था।

महारानी विक्टोरिया का जो पत्र-व्यवहार प्रकाशित हो गया है उसमें हम उनके दिन-प्रति-दिन के कार्यरत स्वरूप को देख सकते हैं। एडवर्ड सप्तम् के सम्बन्ध में हमारे पास ऐसे प्रमाण नहीं हैं। यह महत्त्वपूर्ण है कि लॉर्ड एशर ने जिन्हें केवल लॉर्ड नोलीस ही जान सकते थे विक्टोरिया की तुलना में उनके प्रभाव के बारे में लिखा कि वह उनसे अधिक था और अधिक स्पष्ट रूप से ज्ञात्य था।[1] हमारे पास जो सामग्री है वह भी इसी दिशा की ओर संकेत करती है। वे नियुक्तियों को प्रभावित करने में शक्तिशाली थे। सेना और नौ सेना के सुधार के जटिल मामलों में वे एक निर्णायक तत्त्व थे। भारतीय शासन के सम्बन्ध में उन्होंने मंत्रि-मंडल पर अपने विचारों का

---

१ एशर, जर्नल्स एंड लेटर्स, ii, पृ० १०७ लॉर्ड नोलीस को लिखा गया पत्र सितम्बर २ १९०५।

बहुत दबाव डाला। वे लॉर्ड एशर के द्वारा १९ ५ की उदारदलीय सरकार के विरोधी दल के नेताओं के सम्पर्क में थे और लॉर्ड रॉबर्ट्स जैसे उन व्यक्तियों के सम्पर्क में भी थे जो उनकी नीति के कुछ अंशों की तीव्र आलोचना करते थे। यह स्मर्तव्य है कि जब एस्क्विथ ग्रे और हाल्डेन ने इस उद्देश्य से अपने एक गुट का निर्माण कर लिया था कि वे उस समय तक पद को ग्रहण नहीं करेंगे जब तक कि सर हैनरी कैम्पबेल-बैनरमेन लॉर्ड-सभा में न चले जायें और जब उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली थी तब उन्होंने सम्राट् एडवर्ड द्वारा अपने नेता पर दबाव डलवाने का प्रयास किया था। उदारदल के शासन-काल में सम्राट् को उसकी नीति के सम्बन्ध में विरोधी दल के नेताओं के व्यक्तिगत विचारों से गुप्तरूप से अवगत रक्खा जाता है। वे सर अर्नेस्ट कैसेल जैसे व्यक्तियों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर गोपनीय रिपोर्ट पाते रहते हैं। वे लॉर्ड एशर के माध्यम से मंत्रिमंडल के अंदर फूट की बातें सुनते हैं। वे श्री लॉयड जार्ज को अपना आतिथ्य न देकर उनके भाषणों के प्रति विरक्ति प्रकट करते हैं। यह अन्य मंत्रियों की तुलना में उनके साथ किया गया ऐसा भेदभाव है जिस पर आचार्यों की दृष्टि बड़ी तेजी से जाकर ठहरती है। वे जर्मन सम्राट् को एक अत्यन्त कठोर पत्र लिखना चाहते हैं और उन्हें इस कार्य से बड़ी कठिनता से विरत किया जाता है।[1] जब उन्हें विश्वास हो जाता है कि यदि मंत्रियों ने त्यागपत्र दे दिया तो श्री बैल्फोर पद सम्भाल लेंगे वे यह निश्चय करते हैं कि १९ ९ के बजट को पास करने के लिए पीयर बनाने को सहमत नहीं होंगे। १९१ के साधारण निर्वाचन के पश्चात् इसी विशिष्ट प्रश्न पर सरकार को बहुमत मिला था।[2] वे लॉर्ड एशर से लॉर्ड मॉर्ले को लॉर्ड-सभा के प्रश्न पर उनके शेष साथियों से विलग करने की चेष्टा करते हैं। लॉर्ड एशर ने लॉर्ड मॉर्ले से कहा "यह राजनीति में लॉर्ड मॉर्ले के लम्बे प्रशिक्षण और अनुभव का शोचनीय परिणाम होगा यदि उन्होंने एक ऐसी नीति का समर्थन किया जो राजमुकुट के लिए खतरे की ओर संसदीय भ्रष्टाचार की है।"[3] वे आर्कबिशप ऑफ कैंटरबरी को विरोधी दल के साथ बातचीत करने के एक माध्यम के रूप में प्रयुक्त करते हैं और श्री बैल्फोर से आश्वासन पाते हैं कि "यदि श्रीमान् ने मंत्रि मंडल का विघटन करने के सम्बन्ध में अपने वर्तमान मन्त्रियों का परामर्श अस्वीकार कर दिया तो मैं श्रीमान् की सहायता करूँगा।"[4]

यदि उस सामग्री का जिसके ऊपर यह सारांश आधारित है सावधानी से परीक्षण किया जाये तो उससे कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं। सम्राट् [redacted] कट्टर अनुदारवादी विचारों का स्पष्टता से ज्ञान हो जाता है। वे शक्तिशाली प्रतिरक्षा-नीति के पक्ष में हैं, वे

१ एशर उपर्युक्त पुस्तक ii, पृ २८९।
२ वही ii, पृ ४४९ जनवरी २५ १९१० का पत्र। यह पत्र सम्राट् से बातचीत करने के तुरन्त बाद ही लिखा गया है।
३ वही ii पृ ४५४-४५५।
४ वही ii, पृ ४५९।

जर्मनी के कट्टर विरोधी हैं वे भारत-सचिव की परिषद् में लॉर्ड मॉर्ले को एक भारतीय सदस्य की नियुक्ति से विरत करने की असफल चेष्टा करते हैं वे भी लॉयड जॉर्ज के उग्र भाषणों को पसंद नहीं करते। वे थल सेना और जल सेना की समस्त महत्त्वपूर्ण नियुक्तियों में हस्तक्षेप करते हैं। यद्यपि उपचारिक दृष्टि से वे अपने मन्त्रियों की सहमति के बिना कार्य भी सम्भवतः स्वीकार नहीं करते लेकिन वे अपने सम्पूर्ण शासन-काल में विरोधी दल के नेताओं और उनके विचारों के साथ निरन्तर सम्पर्क बनाए रखते हैं। संसद् में विरोधी दल के नेता क्या कदम उठाने वाले हैं, इसका भी ज्ञान उन्हें पहले से ही हो जाता है। यदि मन्त्रि-मण्डल के कुछ सदस्यों के विचार उनके विचारों से नहीं मिलते तो वे लॉर्ड एशर के द्वारा उन पर व्यक्तिगत प्रभाव डालने की चेष्टा करते हैं। यह स्पष्ट ही है कि मंत्रि-मण्डल बहुधा उनके आग्रह को मान लेता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि सम्राट् का मंत्रिमण्डल के ऊपर काफी नियन्त्रण रहता है। मंत्री उनके सम्मुख ऐसे प्रस्ताव उपस्थित नहीं करते जिन्हें स्वीकार करने में उन्हें कठिनाई हो। यदि वे सम्राट् के साथ विचार-विमर्श करने लगते हैं तो उन्हें सम्राट् की युक्तियों में काफी वजन मालूम पड़ने लगता है। जब वे सम्राट् के सम्मुख कोई प्रस्ताव उपस्थित करते हैं तो वे इस बात का ध्यान रखते हैं कि वह प्रस्ताव चाहे ऐसा न हो जिसे कि वे बिल्कुल ठीक समझते हों लेकिन ऐसा अवश्य होना चाहिए जिससे कि वे सम्राट् को सुगमता से उनके अनुकूल कर सकें। सम्राट् शिष्टाचार के पक्के पाबन्द हैं। उनके पास ऐसी रिपोर्टें बराबर आती रहती हैं जिन्हें कि वे मंत्रियों के साथ विचार-विनिमय का आधार बनाते हैं। उनकी जरा-जरा सी बात को गम्भीरता से सुना जाता है और उस पर विचार किया जाता है। सम्राट् जिन सम्बन्धों को स्थापित करते हैं उनके सम्बन्ध में कोई व्यक्ति सुगमता का भाव नहीं रखता। लॉर्ड एशर जैसे कृपापात्र तक सम्राट् के सम्मुख अभ्यर्थी दरबारी के दरबारी जैसा व्यवहार करते हैं जिसे इस बात का निरन्तर भय बना रहता है कि कहीं श्रीमान् मुझसे रुष्ट न हो जायें। यदि हमें उनके शासनकाल का भी वैसा ही पत्र-व्यवहार उपलब्ध हो जाये जैसा कि महारानी विक्टोरिया के शासन-काल का हो गया है तो सम्भव है कि उनके सम्बन्ध में हमारा यह विचार बदल जाये। लेकिन अब तक जो साक्ष्य हमारे सम्मुख आया है उससे यह बात नहीं होती कि एडवर्ड सप्तम् अपने मंत्रियों के हाथों में एक निष्क्रिय उपकरण मात्र थे। उन्होंने महारानी विक्टोरिया की तरह अपनी वैधानिक मर्यादाओं का कभी उल्लंघन नहीं किया। लेकिन इस सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं है कि उनका प्रभाव किस पक्ष की ओर रहता था।

निस्सन्देह, जॉर्ज पंचम के शासन-काल के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान उनके पूर्ववर्ती की अपेक्षा भी कम है। यह निश्चित है कि कुछ अपवादों को छोड़कर उनके शासन काल से सम्बन्धित आवश्यक प्रलेख वर्तमान पीढ़ी के जीवन-काल में प्रकाशित न हो सकेंगे। लेकिन उनके शासन की कुछ समस्याएँ ऐसी अवश्य हैं जिनके ऊपर पहले से उपलब्ध जीवनियों और संस्मरणों ने पर्याप्त प्रकाश डाल दिया है। वे लॉर्ड-सभा के संकट के समय सिंहासन पर आरूढ़ हुए थे। यह संभव है कि १९११ का दूसरा

विगटन उनकी इस नीति का परिणाम था कि वे इस बात का प्रमाण पाए बिना कि देश निश्चित सरकार के साथ है संसदीय अधिनियम की अस्वीकृति को रोकने के लिए नए पीयर बनाने को तय्यार नहीं हुए। १९११–१४ के अल्स्टर संकट के प्रश्न पर उनके सम्बन्ध में कुछ ऐसी गम्भीर समस्याएँ हैं जिनकी व्याख्या नहीं हो सकी है। यह संभव मालूम पड़ता है कि वे राजद्रोहात्मक कार्यवाहियों के लिए सर एडवर्ड कार्सन की संभव गिरफ्तारी के प्रश्न पर अनुदारवादी नेताओं के साथ सम्पर्क बनाए हुए थे और सर ऑस्टिन चैम्बरलेन की डायरियों से ज्ञात होता है कि १९१४ के कुर्रघ विद्रोह के सम्बन्ध में उनके विचारों को प्रकट करने के लिए कदम उठाए गए थे।[1] इस वाद-विवाद में ही सेना के अधिकारियों में यह विचार विकसित किया था कि वे सत्तारूढ़ सरकार के प्रति नहीं प्रत्युत सम्राट् के प्रति व्यक्तिगत रूप से निष्ठावान् हैं। इस विचार के नागरिक शासन के लिए कितने गम्भीर परिणाम हो सकते हैं यह स्पष्ट है। इस वाद-विवाद में ही अनुदारदल के एक प्रमुख नेता लॉर्ड मिल्नर ने कहा था 'यदि कुछ अधिकारियों ने त्यागपत्र दे दिया तो अनुदारदल के सत्तारूढ़ होने पर उन्हें पुनः अपने पदों पर प्रतिष्ठित किया जायेगा।'[2] इन गम्भीर घटनाओं के सम्बन्ध में सम्राट् के क्या विचार थे इस सम्बन्ध में हमें बहुत कम ज्ञान है। हमें केवल इतना ही ज्ञात है कि उन्हें यूनियनिस्ट दल की स्थिति का ज्ञान हो गया था और हम यह मान सकते हैं कि उन्होंने सरकार के ऊपर इसके परिणामों को अच्छी तरह प्रकट कर दिया था।

१९३१ के संकट के ऊपर बहुत कम प्रकाश है और इसकी प्रगति के समय सम्राट् की गतिविधि के सम्बन्ध में इतने विचार भेद हैं कि इस विषय पर निश्चयपूर्वक कोई राय व्यक्त नहीं की जा सकती। लेकिन कुछ बातें स्पष्ट मालूम पड़ती हैं। संयुक्त सरकार का विचार सम्राट् के मन में उसके जन्म के कई महीने पूर्व से विद्यमान था और श्री रैमजे मैकडोनल्ड को इस विचार के अनुकूल समझा जाता था। श्री मैकडानल्ड ने मार्च १९३१ में अपने साथियों को यह संकेत दिया था कि उनका विचार सरकार का आधिकारी ढंग से पुनर्गठन करने का है। यह निश्चित है कि उन्होंने इस पुनर्गठन का स्वरूप अपने उन साथियों में से किसी को नहीं बताया था जो १९३१ में उनसे अलग हो गए थे। यह भी निश्चित है कि जब वे श्रमिक सरकार के नेता के नाते त्यागपत्र देने के लिए बकिंघम राजप्रासाद गए थे उनमें किसी को यह कल्पना नहीं थी कि वे तुरन्त ही राष्ट्रीय सरकार के नेता के रूप में वापिस लौट आयेंगे और अनुदार दल तथा उदार दल के नेता उनकी अधीनता में कार्य करेंगे। यह नहीं मालूम कि इस घटना में उनका आचरण उनकी सम्राट् को दी गई मंत्रणा का था या सम्राट् द्वारा उनको दिए गए सुझाव का परिणाम था। लेकिन उनके दल के आत्मघात को देखते हुए पहला विचार असंभव मालूम पड़ता है। यह सर्वत्र स्वीकृत तथ्य मालूम पड़ता है कि सम्राट्

---

१ पॉलिटिक्स फ्रॉम विदइन।

२ डायरीज ऑफ सर हेनरी विल्सन ११२।

मे श्री मैकडोनल्ड के प्रधान-मंत्रित्व के सम्बन्ध में भी बैल्डविन और सर हर्बर्ट सैमुअल की स्वीकृति प्राप्त करने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। यह स्मरणीय है कि सम्राट् ने राष्ट्रीय सरकार के निर्माण के सम्बन्ध में श्रमिक दल के उन अधिकांश समर्थकों का मत प्राप्त करने की कोई चेष्टा नहीं की थी जिन्होंने श्री मैकडोनल्ड के स्थान पर श्री आर्थर हैण्डरसन का नेतृत्व स्वीकार कर लिया था। यह निश्चित मालूम पड़ता है कि नए प्रशासन के विशेष स्वरूप की प्रेरणा पूर्णतः सम्राट् के पास से आई थी। जॉर्ज पंचम् ने श्री मैकडोनल्ड को इसी प्रकार व्यक्तिगत रूप से चुना था जिस प्रकार जॉर्ज तृतीय ने लॉर्ड ब्यूट को। वही एकमात्र ऐसे आधुनिक प्रधान मंत्री हैं जिन्हें अपने शासन-काल में दल का कोई समर्थन नहीं मिला था। वे तो केवल नाम को ही प्रधान-मंत्री थे उनको शक्ति और समर्थन देने का कार्य भी बैल्डविन ने किया था। हमें इसमें कोई संदेह नहीं है कि सम्राट् ने जो कुछ भी किया वह देश भक्ति के विचार से किया। लेकिन चूंकि यह बात सबको मालूम है कि श्रमिक सरकार के विघटन की पूर्व रात तक आम धारणा यह थी कि श्री बैल्डविन प्रधान मंत्री होंगे अतः मेरे विचार से श्री रैमजे मैकडोनल्ड के प्रधान-मंत्री के रूप में अवतरण को प्रासाद-क्रांति (Palace Revolution) कहना अनुचित नहीं है। यह तर्क किया जाता है कि सम्राट् का कार्य दो कारणों से वैधानिक था।[1] "सम्राट् को तो केवल इस बात की चिन्ता थी कि देश को गम्भीर आर्थिक संकट से किस प्रकार बचाया जावे। बैंक आफ इंग्लैंड से धन का निकास संकट की गम्भीरता का स्पष्ट प्रमाण था। यदि प्रधान मंत्री यह समझते कि वे मंत्रिमंडल पर नियंत्रण नहीं रख सकते तो वे त्यागपत्र दे सकते थे और सम्राट् उसे स्वीकार कर श्री बैल्डविन को प्रधानमंत्री बना सकते थे। लेकिन इस कार्यवाही से संकट की घड़ी में बड़ी हानि होती। नए प्रधानमंत्री को कॉमन सभा में जबर्दस्त विरोध का सामना करना पड़ता और वह विघटन की मांग के लिए विवश हो सकता था। लेकिन राष्ट्रीय सरकार के निर्माण की स्थिति में विघटन को अनिश्चित काल तक टाला जा सकता था क्योंकि यह मानने का कोई कारण नहीं है कि जल्दी विघटन का कोई विचार था। उस समय यह मानना बहुत सुगम था कि श्रमिक दल देश के श्रमिक मतदाताओं का वास्तविक प्रतिनिधि नहीं है और आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रीय सरकार बहुत से श्रमिक मतदाताओं से अपील कर सकती है। यह तथ्य स्वीकार करना कठिन था कि तीन श्रमिक नेता[2] केवल थोड़े से श्रमिक मतदाताओं का ही प्रतिनिधित्व करते थे। इन परिस्थितियों में यह अपरिहार्य था कि सम्राट् को एक सहकारी मंत्रिमंडल आदर्श दिखाई दिया विशेषकर उस समय जबकि इस मंत्रिमंडल को उदारवादियों तथा अनुदारवादियों दोनों का समर्थन प्राप्त था और वह इंग्लैंड को उत्कर्ष के पथ पर रखने का सुअवसर देता था।" सम्राट् के कार्य के समर्थनमें प्रोफेसर कीथ का यह पहला तर्क है।[3]

---

१ कीथ दि किंग एंड दि इम्पीरियल क्राउन पृ ११६।
२ सर्वश्री मैकडोनल्ड स्नोडेन और थॉमस।
३ उपर्युक्त पुस्तक पृ ११६।

विरुद्ध उनकी इस नीति का परिणाम था कि वे इस बात का प्रमाण पाए बिना कि देश निश्चित सरकार के साथ है संसदीय अधिनियम की अस्वीकृति को रोकने के लिए नए पीयर बनाने को तय्यार नहीं हुए। १९११–१४ के अल्स्टर संकट के प्रश्न पर उनके सम्बन्ध में कुछ ऐसी गम्भीर समस्याएँ हैं जिनकी व्याख्या नहीं हो सकी है। यह संभव मालूम पड़ता है कि वे राजद्रोहात्मक कार्यवाहियों के लिए सर एडवर्ड कार्सन की संभव गिरफ्तारी के प्रश्न पर अनुदारवादी नेताओं के साथ सम्पर्क बनाए हुए थे और सर आस्टिन चेम्बरलेन की डायरियों से ज्ञात होता है कि १९१४ के कुर्रघ विद्रोह के सम्बन्ध में उनके विचारों को प्रकट करने लिए कदम उठाए गए थे।[1] इस वाद-विवाद में ही सेना के अधिकारियों में यह विचार विकसित किया था कि वे सत्तारूढ़ सरकार के प्रति नहीं प्रत्युत सम्राट् के प्रति व्यक्तिगत रूप से निष्ठावान् हैं। इस विचार के नागरिक शक्ति के लिए कितने गम्भीर परिणाम हो सकते हैं यह स्पष्ट है। इस वाद-विवाद में ही अनुदारदल के एक प्रमुख नेता लॉर्ड मिलनर ने कहा था "यदि कुछ अधिकारियों ने त्यागपत्र दे दिया तो अनुदारदल के सत्तारूढ़ होने पर उन्हें पुनः अपने पदों पर प्रतिष्ठित किया जायेगा।"[2] इन गम्भीर घटनाओं के सम्बन्ध में सम्राट् के क्या विचार थे इस सम्बन्ध में हमें बहुत कम ज्ञान है। हमें केवल इतना ही ज्ञात है कि उन्हें मुनियमित्त दल की स्थिति का ज्ञान हो गया था और हम यह मान सकते हैं कि उन्होंने सरकार के ऊपर इसके परिणामों को अच्छी तरह प्रकट कर दिया था।

१९३१ के संकट के ऊपर बहुत कम प्रलेख हैं और इसकी प्रगति के समय सम्राट् की गतिविधि के सम्बन्ध में इतने विचार भेद हैं कि इस विषय पर निश्चयपूर्वक कोई राय व्यक्त नहीं की जा सकती। लेकिन कुछ बातें स्पष्ट मालूम पड़ती हैं। संयुक्त सरकार का विचार सम्राट् के मन में उसके जन्म से कई महीने पूर्व से विद्यमान था और श्री रैमजे मैक्डोनल्ड को इस विचार के अनुकूल समझा जाता था। श्री मैक्डानल्ड ने मार्च १९३१ में अपने साथियों को यह संकेत दिया था कि उनका विचार सरकार का क्रांतिकारी ढंग से पुनर्गठन करने का है। यह निश्चित है कि उन्होंने इस पुनर्गठन का स्वरूप अपने उन साथियों में से किसी को नहीं बताया था जो १९३१ में उनसे अलग हो गए थे। यह भी निश्चित है कि जब वे श्रमिक सरकार के नेता के नाते त्यागपत्र देने के लिए बकिंघम राजप्रासाद गए थे उनमें किसी को यह कल्पना नहीं थी कि वे तुरन्त ही राष्ट्रीय सरकार के नेता के रूप में वापिस लौट आयेंगे और अनुदार दल तथा उदार दल के नेता उनकी अधीनता में कार्य करेंगे। यह नहीं मालूम कि इस समता में उनका व्यवहरण उनकी सम्राट् को दी गई मंत्रणा का था सम्राट् द्वारा उनको दिए गए सुझाव का परिणाम था। लेकिन उनके दल के अल्पमत को देखते हुए पहला विचार असंभव मालूम पड़ता है। यह सर्वत्र स्वीकृत तथ्य मालूम पड़ता है कि सम्राट्

१ पॉलिटिक्स फ्रॉम विद इन।

२ डायरीज ऑफ सर हेनरी विल्सन ११२।

ने श्री मैकडोनेल्ड के प्रधान-मंत्रित्व के सम्बन्ध में श्री बैल्डविन और सर हर्बर्ट सैमुअल की स्वीकृति प्राप्त करने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। यह स्पष्ट है कि सम्राट् ने राष्ट्रीय सरकार के निर्माण के सम्बन्ध में श्रमिक दल के उन अधिकांश समर्थकों का मत प्राप्त करने की कोई चेष्टा नहीं की थी जिन्होंने श्री मैकडोनेल्ड के स्थान पर श्री आर्थर हैंडरसन का नेतृत्व स्वीकार कर लिया था। यह निश्चित मालूम पड़ता है कि नए प्रशासन के विशेष स्वरूप की प्रेरणा पूर्णतः सम्राट् के पास से आई थी। जॉर्ज पंचम ने श्री मैकडोनेल्ड को इसी प्रकार व्यक्तिगत रूप से चुना था जिस प्रकार जॉर्ज तृतीय ने लॉर्ड नॉर्थ को। वही एकमात्र ऐसे आधुनिक प्रधान मंत्री हैं जिन्हें अपने शासन-काल में दल का कोई समर्थन नहीं मिला था। वे तो केवल नाम के ही प्रधान-मंत्री थे। उनको शक्ति और समर्थन देने का कार्य श्री बैल्डविन ने किया था। हमें इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सम्राट् ने जो कुछ भी किया वह देश भक्ति के विचार से किया। लेकिन चूंकि यह बात सबको मालूम है कि श्रमिक सरकार के विघटन की पूर्व रात तक आम धारणा यह थी कि श्री बैल्डविन प्रधान मंत्री होंगे अतः मेरे विचार से श्री रैमजे मैकडोनेल्ड के प्रधान-मंत्री के रूप में अवतरण को प्रासाद क्रांति (Palace Revolution) कहना अनुचित नहीं है। यह तर्क किया जाता है कि सम्राट् का कार्य दो कारणों से वैधानिक था।[1] "सम्राट् को तो केवल इस बात की चिन्ता थी कि देश को गम्भीर आर्थिक संकट से किस प्रकार बचाया जाये। बैंक आफ इंग्लैंड से धन का निकास संकट की गम्भीरता का स्पष्ट प्रमाण था। यदि प्रधान मंत्री यह समझते कि वे मंत्रिमंडल पर नियन्त्रण नहीं रख सकते तो वे त्यागपत्र दे सकते थे और सम्राट् उसे स्वीकार कर श्री बैल्डविन को प्रधानमंत्री बना सकते थे। लेकिन इस कार्यवाही से संकट की वृद्धि में बड़ी हानि होती। नए प्रधानमंत्री को कॉमन सभा में कट्टर विरोध का सामना करना पड़ता और वह विघटन की माँग के लिए विवश हो सकता था। लेकिन राष्ट्रीय सरकार के निर्माण की स्थिति में विघटन को अनिश्चित काल तक टाला जा सकता था क्योंकि यह मानने का कोई कारण नहीं है कि जल्दी विघटन का कोई विचार था। उस समय यह मानना बहुत सुगम था कि श्रमिक दल देश के श्रमिक मतदाताओं का वास्तविक प्रतिनिधि नहीं है और आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रीय सरकार बहुत से श्रमिक मतदाताओं से अपील कर सकती है। यह तथ्य स्वीकार करना कठिन रहा होगा कि तीन श्रमिक नेता[2] केवल थोड़े से श्रमिक मतदाताओं का ही प्रतिनिधित्व करते थे। इन परिस्थितियों में यह अपरिहार्य था कि सम्राट् को एक सहकारी मंत्रिमंडल आदर्श दिखाई दिया विशेषकर उस समय जबकि इस मंत्रिमंडल को उदारवादियों तथा अनुदारवादियों दोनों का समर्थन प्राप्त था और वह इंग्लैण्ड को उत्कर्ष के पथ पर रखने का सुअवसर देता था।" सम्राट् के कार्य के समर्थन में प्रोफेसर कीथ का यह पहला तर्क है।[3]

---

१ कीथ दि किंग ऐंड दि इम्पीरियल क्राउन पृ० ११६।
२ सर्वश्री मैकडोनेल्ड स्नोडेन और थॉमस।
३ उपर्युक्त पुस्तक पृ० ११६।

यह तर्क कुछ बातों को छोड़ देता है और कुछ पर विशेष बल देता है। यह इस तथ्य को छोड़ देता कि श्री मैकडोनल्ड ने जो कदम उठाया उस पर उन्होंने अपने मन्त्रिमंडल के साथियों से जान बूझकर विचार विमर्श नहीं किया था। यह तो उन्हें स्वयं मालूम ही रहा होगा कि उन्हें दलगत समर्थन बहुत कम प्राप्त है क्योंकि अपनी सरकार के जूनियर मंत्रियों की एक बैठक में उन्होंने उनसे अपने साथ शामिल न होने की प्रार्थना की थी और उन्हें आश्वासन दिया था कि संयुक्त सरकार केवल कुछ समय के लिए ही है। श्री मैकडोनल्ड ने संसदीय दल से भी कभी भेंट नहीं की जिससे कि श्रमिक विचारधारा के ऊपर उनके प्रभाव का सम्राट् को ज्ञान हो जाता। यह इस तथ्य को भी उपेक्षित कर देता है कि यदि श्री मैकडोनल्ड का नई सरकार में लिया जाना वांछनीय ही था तो उन्हें प्रधानमंत्री के स्थान पर अन्य किसी क्षमता में भी लिया जा सकता था जैसा कि आगे चलकर १९३५ की पुनर्गठित सरकार में किया गया था। यह इस तथ्य को भी छोड़ देता है कि जहाँ तक इस संकट के लिए श्रमिक सरकार ही उत्तरदायी थी इस उत्तरदायित्व का मुख्य अंश श्री मैकडोनल्ड और श्री स्नोडेन के ऊपर ही पड़ता है। यह इस तथ्य को भी भूल जाता है कि अनुदार दल और उदार दलों को मिलाकर सभा का बहुमत प्राप्त था और वे अपने मुख्य आर्थिक प्रस्तावों के पास होने तक एक दूसरे से अलग नहीं हुए। यह इस तथ्य की भी अवहेलना कर देता है कि यद्यपि सर हर्बर्ट सैमुअल सरकार में शामिल हो गए थे उनकी इस कार्यवाही की श्री लॉयड जार्ज ने तीव्र आलोचना की थी। प्रो० कीथ के विचार में सम्राट् का मुख्य उद्देश्य स्वर्ण-प्रमाप को बनाए रखने के लिए सरकार का निर्माण करना था। यही कारण है कि वे इस बात को छोड़ जाते हैं कि उसके निर्माण और संयुक्त सरकार बनाने के लिए श्री मैकडोनल्ड की इच्छा के सम्बन्ध में जो पूर्वकालीन अफवाहें थी उनमें कोई संपर्क है या नहीं। यह मानने का भी कोई कारण नहीं है कि यदि श्री बैल्डविन इस प्रकार की संयुक्त सरकार के प्रधान होते तो उन्हें संकट के बीच में ही सभा का विघटन करने के लिए विवश होना पड़ता। जब तक उदार वादी उनका समर्थन करते रहते उनका बहुमत सन्देहातीत था और यह मानने का भी कोई कारण नहीं है कि उदारवादी श्री मैकडोनल्ड को नेता के रूप में अधिक पसंद करते थे।

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की संयुक्त सरकार के सम्बन्ध में सम्राट् यह पहले से ही समझ चुके थे कि साधारण निर्वाचनों में उसे ऐसा बहुमत प्राप्त हो जायेगा जो कि श्री बैल्डविन के लिए पाना कठिन होगा। यदि किसी दल में फूट पड़ी हो तो साधारण निर्वाचनों में उसे बड़ी हानि रहती है। लेकिन यह निश्चित एक भयानक सिद्धान्त है कि सम्राट् दलों के आभ्यन्तरिक घटना-क्रम के विषय में इतनी चिन्ता रखें कि वे उस नेता के लिए जिससे वे सरकार का निर्माण करने के लिए कहें बहुमत प्राप्त करने की चेष्टा करें। यह दृष्टिकोण प्रायः वैसा ही है जैसे कि महारानी विक्टोरिया ने लॉर्ड ग्रैन्विल से यह जानने की प्रार्थना की थी कि क्या वे आम निर्वाचन के लिए तय्यार हैं। प्रो० कीथ के तर्क का अनिवार्य निष्कर्ष यह है कि सम्राट् को अपने मनो-

अनुकूल राजनीतिक गठबंधन के लिए बहुमत प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। यही जॉर्ज तृतीय की नीति है और इसका मतलब यह है कि सम्राट् तटस्थ नहीं है प्रत्युत वे अपनी नीति आगे बढ़ाने के लिए कार्यरत हैं। इस संदर्भ में यह सचमुच आश्चर्यजनक है कि सम्राट् ने श्रमिक दल के उस भाग की जो प्रो० कीथ के मतानुसार काफी बड़ा भाग है—जिसने भी मैकडॉनल्ड का अनुगमन नहीं किया राय जानने की कोई चेष्टा नहीं की। अल्स्टर-संकट के समय उन्होंने विरोधी दल की राय जानने का प्रयास किया था और १९१४ का बकिंघम प्रासाद सम्मेलन उनकी इच्छा के कारण ही हुआ था कि कैसे भी हो समझौता हो जाये। १९३१ में उन्होंने श्रमिक दल के ऊपर अपने हस्तक्षेप के मनोवैज्ञानिक प्रभावों के बारे में कोई ध्यान नहीं दिया।

यहाँ प्रो० कीथ का दूसरा तर्क महत्वपूर्ण हो जाता है। उनका कहना है कि साधारण निर्वाचनों में राष्ट्रीय सरकार को प्रचंड बहुमत मिला। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सम्राट् के कार्य के बारे में औचित्य सिद्ध हो गया। लेकिन इसका अभिप्राय तो यह हो गया कि जब कोई सरकार सीधे राजमुकुट के तत्वावधान में बनती है और बाद में उसे बहुमत मिल जाता है, तो उसके निर्माण के सम्बन्ध में सम्राट् का कार्य वैधानिक हो जाता है। यह निश्चितरूप एक भयानक सिद्धान्त है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब सम्राट् यह समझे कि मंत्रियों के ऊपर जनता का विश्वास नहीं रहा तो वे उन्हें त्यागपत्र देने के लिए विवश कर सकते हैं और यदि नई सरकार को निर्वाचनों में बहुमत मिल जाता है, तो समझा जाता है कि सम्राट् का कार्य वैधानिक था। १९१०–११ में लॉर्ड-सभा के प्रश्न पर जो संकट खड़ा हो गया था उसमें भी बाल्फोर ने इसी स्थिति को ग्रहण किया था और अब अल्स्टर-संकट के समय सम्राट् को यह परामर्श दिया गया था कि वे "होम रूल बिल" पर अपनी स्वीकृति न दें तो उसमें भी यही निहित था। तर्क यह है कि सम्राट् अपने मंत्रियों के परामर्श से सहमत नहीं हैं तो वे उन्हें त्याग-पत्र देने के लिए विवश कर सकते हैं तथा यदि नई सरकार को बहुमत मिल जाता है तो उनका यह कार्य वैधानिक समझा जायेगा।

लेकिन यह तर्क इस प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं डालता कि यदि नए गठबंधन को कोई बहुमत नहीं मिला तो सम्राट् की क्या स्थिति होगी। यदि वे मंत्रियों को पदच्युत करते हैं, तो इसका अभिप्राय यह है कि वे तटस्थता को तिलांजलि देते हैं। अर्थात् वे मंत्रियों के विचारों को अस्वीकार करते और अपने विचारों को स्वीकार करने के लिए कहते हैं। इस दृष्टि से सम्राट् संविधान की संरक्षित शक्ति हो जाते हैं और इस प्रकार की शक्ति का प्रयोग कठिन या संदेह ही होता है, कभी-कभी भयानक भी होता है। मेरा विचार है कि प्रो० कीथ इस बात से सहमत होंगे कि यह एक ऐसा हथियार है जिसका केवल असाधारण परिस्थितियों में ही प्रयोग करना चाहिये। लेकिन इस बात का निर्णय कौन करेगा कि कौन सी परिस्थिति "असाधारण" है? क्या सम्राट् स्वयं? यदि हाँ तो इसका अभिप्राय यह है कि सम्राट् विलक्षण राजनीतिक प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि के व्यक्ति हैं। लेकिन ये ऐसे गुण हैं जो राजाओं में सदैव नहीं

यह तर्क कुछ बातों को छोड़ देता है और कुछ पर विशेष बल देता है। यह इस तथ्य को छोड़ देता कि श्री मैकडॉनल्ड ने जो कदम उठाया उस पर उन्होंने अपने मन्त्रिमंडल के साथियों से जान बूझकर विचार-विमर्श नहीं किया था। यह तो उन्हें स्वयं मालूम ही रहा होगा कि उन्हें दल का समर्थन बहुत कम प्राप्त है क्योंकि अपनी सरकार के जूनियर मंत्रियों की एक बैठक में उन्होंने उनसे अपने साथ शामिल न होने की प्रार्थना की थी और उन्हें आश्वासन दिया था कि संयुक्त सरकार केवल कुछ समय के लिए ही है। श्री मैकडॉनल्ड ने संसदीय दल से भी कभी भेंट नहीं की जिससे कि श्रमिक विचारधारा के ऊपर उनके प्रभाव का सम्राट् को ज्ञान हो जाता। यह इस तथ्य को भी उपेक्षित कर देता है कि यदि श्री मैकडॉनल्ड का नई सरकार में लिया जाना वांछनीय ही था तो उन्हें प्रधानमंत्री के स्थान पर अन्य किसी क्षमता में भी लिया जा सकता था जैसा कि आगे चलकर १९३५ की पुनर्गठित सरकार में किया गया था। यह इस तथ्य को भी छोड़ देता है कि जहाँ तक इस संकट के लिए श्रमिक सरकार ही उत्तरदायी थी इस उत्तरदायित्व का मुख्य अंश श्री मैकडॉनल्ड और श्री स्नोडेन के ऊपर ही पड़ता है। यह इस तथ्य को भी भूल जाता है कि अनुदार दल और उदार दलों को मिलकर सभा का बहुमत प्राप्त था और वे अपने मुख्य आर्थिक प्रस्तावों के पास होने तक एक दूसरे से अलग नहीं हुए। यह इस तथ्य की भी अवहेलना कर देता है कि यद्यपि सर हर्बर्ट सैमुअल सरकार में शामिल हो गए थे उनकी इस कार्यवाही की श्री लॉयड जार्ज ने तीव्र आलोचना की थी। प्रो० कीथ के विचार में सम्राट् का मुख्य उद्देश्य स्वर्ण-प्रमाप को बनाए रखने के लिए सरकार का निर्माण करना था। यही कारण है कि वे इस बात को छोड़ जाते हैं कि उसके निर्माण और संयुक्त सरकार बनाने के लिए श्री मैकडॉनल्ड की इच्छा के सम्बन्ध में जो पूर्वकालीन बातचीतें थीं उनमें कोई संपर्क है या नहीं। यह मानने का भी कोई कारण नहीं है कि यदि श्री बैल्डविन इस प्रकार की संयुक्त सरकार के प्रधान होते तो उन्हें संकट के बीच में ही सभा का विघटन करने के लिए विवश होना पड़ता। जब तक उदार दलों उनका समर्थन करते रहते उनका बहुमत संदेहातीत था और यह मानने का भी कोई कारण नहीं है कि उदारवादी श्री मैकडॉनल्ड को नेता के रूप में अधिक पसंद करते थे।

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की संयुक्त सरकार के सम्बन्ध में सम्राट् यह पहले से ही समझ सकते थे कि साधारण निर्वाचनों में उसे ऐसा बहुमत प्राप्त हो जायेगा जो कि श्री बैल्डविन के लिए पाना कठिन होगा। यदि किसी दल में फूट पड़ी हो तो साधारण निर्वाचनों में उसे बड़ी हानि रहती है। लेकिन यह निश्चित एक भयानक सिद्धान्त है कि सम्राट् दलों के आभ्यन्तरिक घटना-क्रम के विषय में इतनी चिन्ता रखें कि वे उस नेता के लिए जिससे वे सरकार का निर्माण करने के लिए कहें बहुमत प्राप्त करने की चेष्टा करें। यह दृष्टिकोण प्रायः वैसा ही है जैसे कि महारानी विक्टोरिया ने लॉर्ड डैम्बी से यह जानने की प्रार्थना की थी कि क्या वे आम निर्वाचन के लिए तैयार हैं। प्रो० कीथ के तर्क का अनिवार्य निष्कर्ष यह है कि सम्राट् को अपने मनो-

नुकूल राजनीतिक गठबंधन के लिए बहुमत प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। यही प्रो० कीथ की नीति है और इसका मन्तव्य यह है कि सम्राट् तटस्थ नहीं हैं प्रत्युत वे अपनी नीति आगे बढ़ाने के लिए कार्यरत हैं। इस संदर्भ में यह सचमुच आश्चर्यजनक है कि सम्राट् ने श्रमिक दल के उस भाग की जो प्रो० कीथ के मतानुसार काफी बड़ा भाग है—जिसने श्री मैकडोनल्ड का अनुगमन नहीं किया राय जानने की कोई चेष्टा नहीं की। मन्त्रता-संकट के समय उन्होंने विरोधी पक्ष की राय जानने का प्रयास किया था और १९१४ का बकिंघम प्रासाद सम्मेलन उनकी इच्छा के कारण ही हुआ था कि कैसे भी हो समझौता हो जावे। १९३१ में उन्होंने श्रमिक दल के ऊपर अपने कृत्य के मनोवैज्ञानिक प्रभावों के बारे में कोई ध्यान नहीं दिया।

यहाँ प्रो० कीथ का दूसरा तर्क महत्त्वपूर्ण हो जाता है। उनका कहना है कि साधारण निर्वाचनों में राष्ट्रीय सरकार को प्रचंड बहुमत मिला। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सम्राट् के कार्य का बाद में औचित्य सिद्ध हो गया। लेकिन इसका अभिप्राय तो यह हो गया कि जब कोई सरकार सीधे राजमुकुट के तत्त्वावधान में बनती है और बाद में उसे बहुमत मिल जाता है, तो उसके निर्माण के सम्बन्ध में सम्राट् का कार्य वैधानिक हो जाता है। यह निश्चित रूप एक भयानक सिद्धान्त है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब सम्राट् यह समझे कि मंत्रियों के ऊपर जनता का विश्वास नहीं रहा तो वे उन्हें त्यागपत्र देने के लिए विवश कर सकते हैं और यदि नई सरकार को निर्वाचनों में बहुमत मिल जाता है, तो समझा जाता है कि सम्राट् का कार्य वैधानिक था। १९१०–११ में लॉर्ड-सभा के प्रश्न पर जो संकट खड़ा हो गया था उसमें श्री बाल्फोर ने इसी स्थिति को ग्रहण किया था और जब अल्स्टर-संकट के समय सम्राट् को यह परामर्श दिया गया था कि वे "होम रूल बिल" पर अपनी स्वीकृति न दें, तो उसमें भी यही निहित था। तर्क यह है कि सम्राट् अपने मन्त्रियों के परामर्श से सहमत नहीं हैं तो वे उन्हें त्याग-पत्र देने के लिए विवश कर सकते हैं तथा यदि नई सरकार को बहुमत मिल जाता है तो उनका यह कार्य वैधानिक समझा जायेगा।

लेकिन यह तर्क इस प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं डालता कि यदि नए गठबंधन को कोई बहुमत नहीं मिला तो सम्राट् की क्या स्थिति होगी। यदि वे मंत्रियों को पदच्युत करते हैं, तो इसका अभिप्राय यह है कि वे तटस्थता को तिलांजलि देते हैं। अर्थात् देश से मन्त्रियों के विचारों को अस्वीकार करने और अपने विचारों को स्वीकार करने के लिए कहते हैं। इस दृष्टि से सम्राट् संविधान की संरक्षित शक्ति हो जाते हैं और इस प्रकार की शक्ति का प्रयोग कठिन तो सदैव ही होता है कभी-कभी भयानक भी होता है। मेरा विचार है कि प्रो० कीथ इस बात से सहमत होंगे कि यह एक ऐसा हथियार है जिसका केवल असाधारण परिस्थितियों में ही प्रयोग करना चाहिये। लेकिन इस बात का निर्णय कौन करेगा कि कौन सी परिस्थिति "असाधारण" है? क्या सम्राट् स्वयं? यदि हाँ तो इसका अभिप्राय यह है कि सम्राट् विलक्षण राजनीतिक प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि के व्यक्ति हैं। लेकिन ये ऐसे गुण हैं जो नरेशों में सदैव नहीं

पाये जाते । क्या वे परामर्श लेंगे ? यदि हां तो वह किसका परामर्श होगा ? यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि उन्हें लॉर्ड एशर जैसे व्यक्तियों के जिनके परामर्श को वे अपने उत्तरदायी मन्त्रियों के परामर्श से अधिक महत्व दें एक "व्यक्तिगत मन्त्रि-मण्डल" से नहीं घिरे रहना चाहिये। कोई भी उत्तरदायी मन्त्र-मण्डल इस स्थिति को स्वीकार नहीं करेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उन्हें कभी जो सीधे स्वयं (जैसा कि उन्होंने कई बार किया है) या कभी लॉर्ड एशर अथवा आर्कबिशप ऑफ कैंटरबरी के माध्यम से विरोधी दल के नेताओं के साथ सम्पर्क रखना चाहिए । यदि इस बात का निर्णय कि हम कौन से मंत्री रक्खेंगे सम्राट् करते क्यों चाहे यह निर्णय साधारण निर्वाचनों के परिणामों के अधीनस्थ हो तो यह निश्चित है कि उस निर्वाचन में सम्राट् के विचारों का विवेचन होगा । उस स्थिति में सम्राट् अपनी एक नीति का और शायद अपने एक दल का निर्माण कर लेंगे और हम जॉर्ज तृतीय की टेक्नीक के पास वापिस पहुँच जायेंगे । वास्तव में यह सिद्धान्त बोलिंगब्रोक के "देश भक्त सम्राट्" का सिद्धान्त है और मुझे इस बात में संदेह है कि क्या यह बीसवीं शताब्दी के संविधान की अवस्थित मान्यताओं के अनुकूल है ?

( १ )

उक्त विवेचन हमें १९११ के संकट के काफी पीछे की ओर ले जाता है । लेकिन इस संकट का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि वह राजकीय शक्ति को बुनियादों को स्पर्श करता है । राजमुकुट के कुछ ऐसे परमाधिकार हैं जिनका अब प्रयोग नहीं होता । इस समय उनकी क्या स्थिति है ? उदाहरणार्थ क्या सम्राट संसद् द्वारा अपने पास भेजे गए किसी विधेयक को अस्वीकार कर सकते हैं ? यदि प्रधान-मंत्री उनसे संसद का विघटन करने के लिए कहें, तो क्या वे 'न' कर सकते हैं ? क्या वे ऐसे किसी मंत्रिमंडल को जिसकी नीति से वे सहमत न हो अपदस्थ कर सकते हैं ? क्या उन्हें अपने प्रधान-मंत्री को चुनने का और प्रधानमंत्री के साथियों का चुनाव सीमित करने का अधिकार है ?

राजमुकुट ने १७०७ के पश्चात् से किसी विधेयक पर अपनी सहमति देना अस्वीकार नहीं किया है। यह शक्ति अब केवल किसी अभूतिकारी संकट की असाधारण परिस्थितियों में भले ही प्रयुक्त की जाये। इसका परिणाम यह होगा कि मंत्री त्याग पत्र दे देंगे और उनके उत्तराधिकारियों को जो राजकीय निर्णय के लिए उत्तरदायी होंगे साधारण निर्वाचन का सामना करना पड़ेगा। इस निर्वाचन में यह प्रश्न कि क्या सम्राट् का निर्णय ठीक था या नहीं प्रमुख विवाद्य विषय होगा। यदि नई सरकार पराजित हो गई, तो या तो सम्राट् को झुकना होगा या वे संविधान की मर्यादाओं के बाहर रह कर शासन करने की चेष्टा करेंगे। पहले विकल्प में नए प्रधान-मंत्री पद-ग्रहण करते समय यह शर्त सम्राट् के सामने रक्खेंगे कि वे पुनः अपनी शक्ति का प्रयोग न करने की प्रतिज्ञा करें । १९११ में एक भूतपूर्व लॉर्ड चांसलर लॉर्ड हेल्सबरी ने यह कहा था कि राजकीय सम्मति की अस्वीकृति वैधानिक थी ।

संकट के दिनों में सर विलियम एन्सन और डी आयसी जैसे अधिकारी विद्वानों ने

इस विचार का समर्थन किया था। वास्तव में इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि सम्राट जब कभी अपने मंत्रियों की नीति से असहमत हों वह उन्हें अपदस्थ कर सकता है। यदि कोई सम्राट् इस परमाधिकार का प्रयोग करना चाहे जिसका पिछले दो सौ वर्षों से कोई प्रयोग नहीं हुआ है, उसका व्यक्तिगत उत्तरदायित्व कितना गंभीर होगा यह बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसका प्रयोग राजकीय तटस्थता को त्यागे बिना नहीं हो सकता और यह तटस्थता उस समय तक नहीं स्थायी या बच सकती जब तक कि सम्राट् मंत्रि-मण्डल के सदस्यों को अपनी इच्छानुसार नियुक्त न करें। यदि कभी ऐसा हुआ तो मेरे विचार से राजनीतिक संघर्ष का केन्द्र राजकीय शक्ति का नियंत्रण हो जायेगा। यह मार्ग या तो जॉर्ज तृतीय की व्यवस्था की ओर ले जाता है और या सिंहासन त्याग की ओर। सम्भावना यह है कि यह मार्ग इससे भी भयानक स्थिति की ओर ले जा सकता है।

विघटन के परमाधिकार की समस्या इससे भी अधिक जटिल है। यह माना जाता है कि विघटन करने या न करने के सम्बन्ध में सम्राट् को अपने मंत्रियों के परामर्श पर चलना चाहिए। लेकिन समस्या यह है कि क्या सम्राट् ऐसे किसी विघटन को अस्वीकार कर सकते हैं जिसकी कि मंत्री मांग करें या वे ऐसे किसी विघटन का आग्रह कर सकते हैं जिसे कि उनके मंत्री न चाहते हों। यद्यपि पुस्तकें यही कहती हैं कि यह निर्णय सम्राट् के हाथों में है और यह परमाधिकार एक सजीव वस्तु है लेकिन मेरे विचार से इस विचार से सहमत होना कठिन है। लगभग प्राय: सौ वर्ष से अधिक हो गए जब कि सम्राट् ने इस प्रकार के विघटन को अस्वीकार किया था। इतने पुराने दृष्टान्त की भित्ति से दावा करना बड़ा कठिन बात होगी। दूसरे यदि विघटन की मांग करने वाली सरकार बहुमत की सरकार हुई और उसकी मांग को अस्वीकार कर दिया गया तो वह इस आधार पर कि उसका परामर्श नहीं माना गया त्याग-पत्र दे देगी। उसके बाद जो दूसरी सरकार बनेगी उसे भी अल्पमत में होने के कारण देर सबेर विघटन की मांग करनी पड़ेगी। उस समय सम्राट् की स्थिति बड़ी विषम हो जायेगी क्योंकि तब वे वही बात जो उन्होंने एक प्रधानमंत्री के लिए अस्वीकार कर दी थी वे उसके उत्तराधिकारी के लिए स्वीकार कर रहे होंगे। पूर्वदृष्टान्तों को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि किसी सरकार को विघटन की प्रार्थना करते समय कॉमन-सभा में बहुमत प्राप्त है, तो उसकी प्रार्थना अवश्य मानी जायेगी। यदि उसकी प्रार्थना नहीं मानी जाती तो सम्राट् के ऊपर यह दोषारोपण होगा कि वे दलों के बीच भेदभाव करते हैं।

जब सरकार का कॉमन-सभा में अल्पमत हो तब क्या स्थिति भिन्न होती है ? श्री एस्क्विथ ने १९२३ में यह दृष्टिकोण लिया था कि स्थिति भिन्न होती है। १९२४ की श्रमिक सरकार का कॉमन-सभा में बहुत अल्पमत था उसे ६१५ स्थानों में से केवल १९१ स्थान ही प्राप्त थे। यदि यह पराजित हो जाती तो श्री एस्क्विथ अनुदारवादी नेता के साथ पद-ग्रहण करने के लिए तय्यार थे। लेकिन जब श्रमिक सरकार पराजित हो गई और प्रधान-मंत्री श्री रैमजे मैक्डॉनल्ड ने विघटन के लिए कहा सम्राट् ने

पाये जाते। क्या वे परामर्श लेंगे? यदि हाँ तो यह किसका परामर्श होगा? यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि उन्हें लॉर्ड एशर जैसे व्यक्तियों के जिनके परामर्श को वे अपने उत्तरदायी मन्त्रियों के परामर्श से अधिक महत्त्व दें एक "व्यक्तिगत मन्त्रि मण्डल" से नहीं घिरे रहना चाहिये। कोई भी उत्तरदायी मन्त्रि-मण्डल इस स्थिति को स्वीकार नहीं करेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उन्हें कभी भी सीधे स्वयं (जैसा कि उन्होंने कई बार किया है) या कभी लॉर्ड एशर अथवा आर्चबिशप ऑफ कैंटरबरी के माध्यम से विरोधी दल के नेताओं के साथ सम्पर्क रखना चाहिए। यदि इस बात का निर्णय कि हम कौन से मंत्री रखेंगे सम्राट् करने लगें चाहे यह निर्णय साधारण निर्वाचनों के परिणामों के अधीनस्थ हो तो यह निश्चित है कि उस निर्वाचन में सम्राट् के विचारों का विवेचन होगा। उस स्थिति में सम्राट् अपनी एक नीति का और शासन अपने एक दल का निर्माण कर लेंगे और हम जॉर्ज तृतीय की टेकनीक के पास वापिस पहुँच जायेंगे। वास्तव में यह सिद्धान्त बोलिंगब्रोक के "देश भक्त सम्राट्" का सिद्धान्त है और मुझे इस बात में संदेह है कि क्या यह बीसवीं शताब्दी के संविधान की अकथित मान्यताओं के अनुकूल है?

( ३ )

उक्त विवेचन हमें १९११ के संकट से काफी पीछे की ओर ले आता है। लेकिन इस संकट का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि वह राजकीय शक्ति की बुनियादों को स्पर्श करता है। राजमुकुट के कुछ ऐसे परमाधिकार हैं जिनका अब प्रयोग नहीं होता। इस समय उनकी क्या स्थिति है? उदाहरणार्थ क्या सम्राट् संसद् द्वारा अपने पास भेजे गए किसी विधेयक को अस्वीकार कर सकते हैं? यदि प्रधान-मंत्री उनसे संसद का विघटन करने के लिए कहें, तो क्या वे 'न' कर सकते हैं? क्या वे ऐसे किसी मन्त्रिमंडल को जिसकी नीति से वे सहमत न हों अपदस्थ कर सकते हैं? क्या उन्हें अपने प्रधान-मंत्री को चुनने का और प्रधानमंत्री के साथियों का चुनाव सीमित करने का अधिकार है?

राजमुकुट ने १७०७ के पश्चात् से किसी विधेयक पर अपनी सहमति देना अस्वीकार नहीं किया है। यह शक्ति अब केवल किसी क्रान्तिकारी संकट की असाधारण परिस्थितियों में भले ही प्रयुक्त की जाये। इसका परिणाम यह होगा कि मंत्री त्याग-पत्र दे देंगे और उनके उत्तराधिकारियों को जो राजकीय निर्णय के लिए उत्तरदायी होंगे साधारण निर्वाचन का सामना करना पड़ेगा। इस निर्वाचन में यह प्रश्न कि क्या सम्राट् का निर्णय ठीक था या नहीं प्रमुख विवेच्य विषय होगा। यदि नई सरकार पराजित हो गई तो या तो सम्राट् को झुकना होगा या वे संविधान की मर्यादाओं के बाहर रह कर शासन करने की चेष्टा करेंगे। पहले विकल्प में नए प्रधान-मंत्री पद-ग्रहण करते समय यह शर्त सम्राट् के सामने रखेंगे कि वे पुनः अपनी शक्ति का प्रयोग न करने की प्रतिज्ञा करें। १९१३ में एक अग्रपूर्व लॉर्ड चांसलर लॉर्ड हेल्सबरी ने यह कहा था कि राजकीय सम्मति की अस्वीकृति वैधानिक थी। मस्टर-मेंगट के दिनों में सर विलियम एन्सन और प्रो० डायसी जैसे अधिकारी विद्वानों ने

इस विचार का समर्थन किया था। वास्तव में इसका अभिप्राय यह ही जाता है कि सम्राट जब कभी अपने मंत्रियों की नीति से असहमत हो वह उन्हें अपदस्थ कर सकता है। यदि कोई सम्राट् इस परमाधिकार का प्रयोग करना चाहे जिसका पिछले सौ वर्षों से कोई प्रयोग नहीं हुआ है, उसका व्यक्तिगत उत्तरदायित्व कितना गंभीर होगा यह बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसका प्रयोग राजकीय तटस्थता को त्यागे बिना नहीं हो सकता और यह तटस्थता उस समय तक नहीं त्यागी जा सकती जब तक कि सम्राट् मंत्रि-मण्डल के सदस्यों को अपनी इच्छानुसार नियुक्त न करें। यदि कभी ऐसा हुआ तो मेरे विचार से राजनीतिक संघर्ष का केन्द्र राजकीय शक्ति का नियमन हो जायेगा। यह मार्ग या तो जॉर्ज तृतीय की व्यवस्था की ओर ले जाता है और या सिंहासन त्याग की ओर। सम्भावना यह है कि यह मार्ग इससे भी भयानक स्थिति की ओर ले जा सकता है।

विघटन के परमाधिकार की समस्या इससे भी अधिक जटिल है। यह माना जाता है कि विघटन करने या न करने के सम्बन्ध में सम्राट् को अपने मंत्रियों के परामर्श पर चलना चाहिए। लेकिन समस्या यह है कि क्या सम्राट् ऐसे किसी विघटन को अस्वीकार कर सकते हैं जिसकी कि मंत्री मांग करें या वे एसे किसी विघटन का आग्रह कर सकते हैं जिसे कि उनके मंत्री न चाहते हों। यद्यपि पुस्तकें यही कहती हैं कि यह विशेष सम्राट् के हाथों में है और यह परमाधिकार एक सजीव वस्तु है लेकिन मेरे विचार में इस विचार से सहमत होना कठिन है। प्रथमतः प्रायः सौ वर्ष से अधिक हो गए जब कि सम्राट ने इस प्रकार के विघटन को अस्वीकार किया था। इतने पुराने दृष्टान्त को फिर से ताजा करना बड़ा कठिन काम होगी। दूसरे यदि विघटन की मांग करने वाली सरकार अल्पमत की सरकार हुई और उसकी मांग को अस्वीकार कर दिया गया तो वह इस आधार पर कि उसका परामर्श नहीं माना गया त्याग-पत्र दे देगी। उसके बाद जो दूसरी सरकार बनेगी उसे भी अल्पमत में होने के कारण देर सबेर विघटन की मांग करनी पड़ेगी। उस समय सम्राट् की स्थिति बड़ी विषम हो जायेगी क्योंकि तब वे वही बात जो उन्होंने एक प्रधानमंत्री के लिए अस्वीकार कर दी थी उसके उत्तराधिकारी के लिए स्वीकार कर रहे होंगे। पूर्वदृष्टान्तों को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि किसी सरकार को विघटन की प्रार्थना करते समय कॉमन्स-सभा में बहुमत प्राप्त है, तो उसकी प्रार्थना अवश्य मानी जायेगी। यदि उसकी प्रार्थना नहीं मानी जाती तो सम्राट् के ऊपर यह दोषारोपण होगा कि वे दलों के बीच भेदभाव करते हैं।

जब सरकार का कॉमन्स-सभा में अल्पमत हो, तब क्या स्थिति भिन्न होती है? श्री एस्क्विथ ने १९२३ में यह दृष्टिकोण लिया था कि स्थिति भिन्न होती है। १९२४ की श्रमिक सरकार का कॉमन्स-सभा में बहुत अल्पमत था उसे ६१५ स्थानों में से केवल १९१ स्थान ही प्राप्त थे। यदि यह पराजित हो जाती तो श्री एस्क्विथ अनुदारवादी नेता के मार्ग ग्रहण करने के लिए तय्यार थे। लेकिन जब श्रमिक सरकार पराजित हो गई और प्रधान-मंत्री श्री रैमजे मैकडोनाल्ड ने विघटन के लिए कहा सम्राट् ने

उनकी मांग स्वीकार कर ली। इसके अलावा और कोई चारा भी नहीं था। यदि सम्राट विघटन अस्वीकार कर देते और श्री एस्क्विथ को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करते तो चूंकि श्री एस्क्विथ का दल भी मैकडोनल्ड के दल से भी छोटा था अतः उन्हें भी कुछ समय पश्चात् पराजय भोगना पड़ती और विघटन की मांग करनी पड़ती। उसको स्वीकार करने का अर्थ यह होता है कि सम्राट् के ऊपर पुनः दोषारोप लगाया जाता कि वे दलों के बीच विभेद करते हैं। विघटन को स्वतः ही स्वीकार करने का अर्थ सरकार का उत्तरदायित्व निर्वाचकों के कंधों पर रख देना है और यह ठीक भी है। इस परमाधिकार के स्वतःभाव पर बल देना ही राजकीय तटस्थता को बनाए रखने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

कुछ अधिकारी विद्वानों ने जिनमें प्रो. ए. एफ. पोलार्ड सबसे प्रमुख हैं, इस विचार का विरोध किया है। उनका कहना है कि विघटन के अधिकार को स्वतः-चालित कर देने से शासन की अविच्छिन्नता को धक्का पहुँचेगा। कोई सरकार विशेषकर अल्पसंख्यक सरकार बिना किसी कारण के भी विघटन कर सकती है। हो सकता है कि वह केवल राजनीति का ही खेल खेले और देश के ऊपर आम निर्वाचन लाद दे क्योंकि वह स्थिति को अपने अनुकूल पाती हो या समझती हो कि उसके विरोधी तय्यार नहीं हैं। इन आलोचकों का मत है कि सम्राट को अस्वीकृति का बोझ नहीं उठाना चाहिए। यह कठिनाई इस प्रकार हल की जा सकती है कि विघटन का अधिकार स्वीकार करने के पहले संसद् की स्वीकृति प्राप्त कर लेना आवश्यक मान लिया जावे।

इस आलोचना को कार्यान्वित करना कठिन है। यदि कोई विधान मण्डल कोई शिक्षा देता है तो वह यह है कि शायद ही कोई संसद् अपने विघटन के लिए सहमत हो। साधारण निर्वाचन में खर्चा बहुत होता है और अधिकांश सदस्य इस बात के लिए उत्सुक रहते हैं कि अपने स्थानों पर जितने अधिक समय तक रह सकें रहें। यदि किसी सरकार ने सभा से विघटन की मांग की और सभा ने उसे स्वीकार कर लिया तो इससे सरकार की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचेगा और यह सरकार के ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पास करने के तुल्य होगा। ऐसी स्थिति में वह सत्तारूढ़ न रह सकेगी। उसे त्याग-पत्र देना होगा और उसके त्याग-पत्र का परिणाम यह होगा कि उसके उत्तराधिकारी के लिए देश का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक हो जायेगा। चाहे जिस दृष्टि से देखा जाय यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि सरकार ने स्वयं विघटन की मांग की तो देश उसे धक्का दे देता है। १९२३ में श्री बैल्डविन और १९२४ में श्री मैकडोनल्ड के साथ यही हुआ था। प्रत्येक स्थिति में विघटन की मांग करने का निर्णय गलत था और प्रत्येक स्थिति में सरकार को पराजय का दण्ड देना पड़ा।

विघटन को आरम्भ कर देने का अधिकार तनिक दूसरे प्रकार का होता है। पिछले तीस वर्षों में ऐसे दो अवसर आए हैं जब कि सरकार का सम्राट की स्पष्ट इच्छा के कारण विघटन कर दिया गया था। १९१० में एडवर्ड सप्तम् की इच्छा के कारण बजट के ऊपर और उसी वर्ष जॉर्ज पंचम् की इच्छा के कारण लॉर्ड-सभा की शक्तियों

के प्रश्न पर। दोनों ही स्थितियों में मंत्री काफी अनुनय विनय के पश्चात् सम्राट् की इच्छा से सहमत हो गए थे और इस प्रकार यद्यपि विघटन का उपक्रम सम्राट् की ओर से आई थी लेकिन सरकार ने उसे स्वीकार कर लिया। फलतः विघटन मन्त्रीय उत्तरदायित्व के आवरण से आवृत रहा। यदि कभी सम्राट् ने विघटन की माँग की और मंत्रि-मण्डल ने उसे अस्वीकार कर दिया तब क्या स्थिति होगी? मेरे विचार से यदि सम्राट् ने आग्रह किया तो मंत्रिमण्डल को त्याग-पत्र देने के सिवाय और कुछ चारा नहीं रहेगा। एक नई सरकार का निर्माण होगा तथा वह तुरन्त ही निर्वाचन कराएगी। हम तत्कालीन संस्मरणों के आधार पर यह जानते हैं कि १९११-१४ के संकट-काल के दिनों में जार्ज पंचम् पर इस प्रकार से विघटन करने के लिए बार-बार दबाव डाला गया था। उन्होंने इसे नहीं माना था। तभी महायुद्ध प्रारम्भ हो गया और यह समस्या फिर भी रह गई कि क्या सम्राट् लोकमत किस के परिणामों को स्वीकार कर लेंगे। यद्यपि इस वृत्तान्त ने समस्या का कोई समाधान नहीं दिया लेकिन फिर भी यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

यह स्पष्ट है कि सम्राट् द्वारा दंडात्मक विघटन (penal dissolution) का हुक्म मंत्रियों को पद-च्युत करने का ही एक भिन्न रूप है। पिछली बार इसका प्रयोग काफी पहले हुआ था। यह जिस मुख्य समस्या को उपस्थित करता है वह यह है कि यदि कोई सरकार निर्वाचनों में सफलता पा लेती है तो क्या दण्डात्मक विघटन का औचित्य सिद्ध हो जाता है? मैं इस विचार को दो कारणों से अस्वीकार करता हूँ। पहली बात तो यह है कि सम्राट् की ऐसी कार्यवाही निर्वाचनीय वाद-विवाद का विषय हो जायगी और इसके फलस्वरूप सम्राट् की तटस्थता ही निर्वाचन का एक प्रश्न बन जायेगी। यह जैसा कि मैं कह चुका हूँ अत्यन्त भयानक और अवांछनीय है। दूसरी बात यह है कि दंडात्मक विघटन केवल बहुत गम्भीर परिस्थितियों में ही हो सकता है। लेकिन इससे सम्राट् के ऊपर यह निर्णय करने का गम्भीर उत्तरदायित्व आ पड़ता है कि "गम्भीर परिस्थितियाँ" क्या हैं? यहाँ एक प्रश्न यह भी उठ खड़ा होता है कि क्या इस सम्बन्ध में सम्राट् स्वयं अपने निर्णय पर ही निर्भर रहेंगे या वे अपने सरकारी परामर्शदाताओं के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यक्तियों से भी परामर्श ले सकते हैं। बाद का भाग स्पष्टतः अवैधानिक है। पहले प्रश्न का अभिप्राय यह है कि सम्राट् का निर्वाचक-मंडल से सम्पर्क है जो कि साधारणतया नहीं होता। दंडात्मक विघटन का एक परिणाम यह भी होगा कि असफल मंत्रिमंडल के पश्चात् जो नया मंत्रिमण्डल बनेगा वह यह कह सकेगा कि उसके विरुद्ध मत देना राजमुकुट के विरुद्ध मत देना है, शक्ति प्राप्त करने का प्रयास करेगा। यद्यपि १९११ के निर्वाचन में ऐसा कोई तत्त्व उपस्थित नहीं था लेकिन फिर भी उस समय ऐसा ही हुआ था। यदि विचारक सम्राट् के दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं तो यह परम्परा निर्मित हो सकती है कि जब कभी सम्राट् यह समझें कि किसी सरकार को देश का विश्वास प्राप्त नहीं रहा तो वे उसका विघटन कर सकते हैं। मेरे विचार में इस प्रकार की शक्ति का बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयोग अत्यन्त कठिन है और यदि इस शक्ति

का प्रयोग ऐसी स्थिति में किया गया जबकि दलगत संघर्ष अत्यन्त तीव्र हो तो सम्राट् की स्थिति बड़ी विषम हो जायेगी। यदि दलपरक विघटन का परिणाम उस दल की पराजय हुआ जिसके साथ सम्राट् ने स्वयं को सम्बन्धित किया है तो सम्राट की स्थिति उस समय तक स्पृहणीय न हो सकेगी जब तक कि वे भविष्य में उस अधिकार के प्रयोग न करने का वचन न दे दें।

यह विचार इस प्रश्न के साथ गुम्फित है कि क्या सम्राट् को दलपरक विघटन के अतिरिक्त अपने मंत्रियों को अपदस्थ करने का अधिकार है। पिछली बार इस अधिकार का प्रयोग उस समय किया गया था जबकि जॉर्ज तृतीय ने १७८३ में नॉर्थ फॉक्स के संयुक्त मंत्रि-मंडल को अपदस्थ कर दिया था। यह सच बात है कि सम्राट ने १८३४ में मेलबोर्न को अपदस्थ किया था उन्होंने प्रधानमंत्री के परामर्श पर आचरण किया था।[1] यह मानना असंभव है कि अब यह अधिकार पुराना पड़ गया है यद्यपि जैसा कि प्रो. कीथ कहते हैं, यह शक्ति केवल गम्भीर परिस्थितियों में बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयोग के लिए है।'[2] लेकिन यहाँ समस्या यह है कि 'बुद्धिमत्ता' और 'गम्भीरता' दोनों ऐसे मामले हैं जिनका निर्णय सम्राट् को करना चाहिए, लेकिन यह स्पष्ट प्रश्न है कि यदि सम्राट् बुद्धिमान हुए तो क्या वह इसका निर्णय करने के लिए तय्यार होवें। यदि सम्राट् ऐसा करते हैं, तो वे अपने भाग्य को उस दल के साथ संयुक्त कर लेते हैं जिसे वे पद-ग्रहण के लिए बुलाते हैं। इन परिस्थितियों में वे चाहे कुछ भी करें, उनके सारे प्रशासनों के ऊपर दल का रंग चढ़ा रहता है। पद-च्युति इससे भी भयानक है क्योंकि वह दक्षिण-पक्ष की सरकार की अपेक्षा वामपक्ष की सरकार के विरुद्ध अधिक प्रयुक्त होगी। इसका अर्थ यह होगा कि दक्षिणपक्ष सम्राट् के मित्रों का दल है। यदि इस दल की पराजय हुई तो यह सम्राट् की पराजय होगी और इस पराजय के परिणाम निश्चितत: बड़े गम्भीर होंगे।

इस प्रकार की पदच्युति की संभावना १९३६ के सिंहासन-त्याग के संकट के दिनों में सामने आ गई थी। यह कहा जा सकता है कि यह विचार स्वयं ड्यूक ऑफ विंडसर के मन में कभी नहीं आया था। लेकिन उस समय उनसे यह बात कई व्यक्तियों ने कही थी। सुझाव यह था कि विरोधी दल के नेता के नाते श्री एटली को यह कह देना चाहिए कि हम बॉल्डविन मंत्रि-मंडल के सम्राट् की श्रीमती सिम्पसन के साथ शादी के विरोध से असहमत हैं। तब सम्राट् को चाहिए कि वे श्री बॉल्डविन को अपदस्थ कर दें; श्री एटली को सरकार का निर्माण करने के लिए आमंत्रित करें। तत्पश्चात् वे सभा का विघटन कर दें तथा नये आम निर्वाचन करायें जिससे यह ज्ञात हो सके कि क्या देश नये मंत्रि-मंडल का अनुमोदन करता है।

यह स्पष्ट है कि ड्यूक ऑफ विंडसर के विवाह की बुद्धिमत्ता या मूर्खता यहाँ सन्निहित सिद्धान्तों के विवेचन से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। यहाँ दो बातें महत्व-

---

१ मेलबोर्न पेपर्स पृ २२-३।

२ कीथ वही पृ १७८।

पूर्ण है संकट के समय काफी लोगों का यह मत था कि सम्राट् का अपदस्थ करने का अधिकार एक उचित अधिकार है और उसकी सहमति या असहमति निर्वाचकों के निर्णय पर निर्भर है। मेरे विचार से इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन करने वालों ने यह नहीं समझा कि पद-च्युति का विषय यहाँ अन्तर्ग्रस्त वैधानिक सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। यदि मैक्डानल्ड पद-च्युत कर दिए जाते और एटली नई सरकार का निर्माण कर लेते तथा उसके लिए निर्वाचकों की स्वीकृति भी प्राप्त कर लेते तो यह परम्परा बन जाती कि यदि सम्राट् अपने मंत्रियों के परामर्श से सहमत नहीं हैं तो वे उन्हें अपदस्थ करने के अधिकारी हैं। इसके परिणामस्वरूप वे संविधान के अन्दर एक ऐसी विधायक शक्ति बन जाते जिसे कि पिछले सौ वर्षों के वैधानिक विकास ने रोकने का प्रयास किया है। यह निश्चित है कि उन्हें इस अनिश्चित शक्ति के प्रयोग में प्रवृत्त करने के लिए उन पर काफी दबाव डाले जाते। मंत्रियों को सदैव इस बात का भय लगा रहता कि कहीं सम्राट् हमें अपदस्थ न कर दें। वे इस बात की भरसक चेष्टा करते कि कैसे भी हो सम्राट् की कृपादृष्टि प्राप्त की जावे। कहने का सार यह है कि हम पुनः हैनोवर युग के राजतंत्र के वातावरण में पहुँच जाते। यह स्पष्ट है कि यदि पदच्युति की शक्ति का एक बार भी गलत प्रयोग हुआ तो राजतंत्र की रक्षा कठिन हो जायेगी।

मंत्रियों के चुनाव का प्रश्न तनिक भिन्न है। इस बात के स्पष्ट दृष्टान्त हैं कि सम्राट् को प्रधान-मंत्री के मनोनयन में थोड़ी-बहुत स्वतंत्रता रहती है। यदि कभी किसी ऐसे प्रधान-मंत्री का जिसकी मृत्यु हो चुकी हो या जिसने त्यागपत्र दे दिया है कोई स्पष्ट उत्तराधिकारी न हो तो राजमुकुट का यह संदेहातीत व्यक्तिगत अधिकार है कि वह जिस व्यक्ति को सर्वाधिक उपयुक्त समझे उसे प्रधान-मंत्री बना सकता है। इन परिस्थितियों में उसे किसी से परामर्श लेने की आवश्यकता नहीं है वह पूर्णतः स्वविवेक के अनुसार आचरण कर सकता है। १८९४ में श्री ग्लैडस्टन के अवकाश ग्रहण करने पर महारानी विक्टोरिया ने लॉर्ड रोजबरी को प्रधान-मंत्री बनाया यद्यपि इस पद के तीन और सम्भावित प्रत्याशी थे। इसी प्रकार १९२३ में श्री बोनर लॉ के त्यागपत्र देने पर जार्ज पंचम् ने लार्ड कर्जन के स्थान पर श्री (और अब लॉर्ड) बाल्डविन को तरजीह दी थी। यह सत्य है कि सम्राट् को ऐसा व्यक्ति प्रधान-मंत्री चुनना चाहिए जिसे कि अपने दल का पूरा समर्थन प्राप्त हो। १८८ में महारानी विक्टोरिया ने यह प्रयास किया था कि वे श्री ग्लैडस्टन को प्रधान-मंत्री न बनायें। लेकिन उनके ये प्रयास फलीभूत नहीं हुए। १९०८ में सर हेनरी कैम्पबेल बैनरमैन के त्यागपत्र देने पर यह स्पष्ट था कि श्री एस्क्विथ को उनका उत्तराधिकारी होने लिए आमंत्रित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार १९३७ में यह स्पष्ट था कि श्री बाल्डविन के पश्चात् श्री चैम्बरलेन को प्रधान मंत्री होना चाहिए। यदि सम्राट् दल की इच्छाओं के विरुद्ध अपने किसी मनचाहे व्यक्ति को प्रधान-मंत्री बनाना चाहें तो वे देखेंगे कि उनका मनोनीत व्यक्ति सरकार-निर्माण के लिए आवश्यक समर्थन न पा सकेगा। इस प्रकार सम्राट् का स्वविवेक जैसा कि ज्ञात होता

का प्रयोग ऐसी स्थिति में किया गया जबकि दलगत संघर्ष अत्यन्त तीव्र हो तो सम्राट् की स्थिति बड़ी विषम हो जायेगी। यदि दलपरक विघटन का परिणाम उस दल की पराजय हुआ जिसके साथ सम्राट् ने स्वयं को सम्बन्धित किया है तो सम्राट की स्थिति उस समय तक सन्तोषप्रद न हो सकेगी जब तक कि वे भविष्य में उस अधिकार के प्रयोग न करने का वचन न दे दें।

यह विचार इस प्रश्न के साथ गुम्फित है कि क्या सम्राट् को दलपरक विघटन के अतिरिक्त अपने मंत्रियों को अपदस्थ करने का अधिकार है। पिछली बार इस अधिकार का प्रयोग उस समय किया गया था जबकि जॉर्ज तृतीय ने १७८३ में नॉर्थ फॉक्स के संयुक्त मंत्रि-मंडल को अपदस्थ कर दिया था। यह सब जानते हैं कि सम्राट ने १८३४ में मेलबोर्न को अपदस्थ किया था उन्होंने प्रधानमंत्री के परामर्श पर आचरण किया था। यह मानना असंभव है कि अब यह अधिकार पुराना पड़ गया है यद्यपि जैसा कि प्रो० कीथ कहते हैं यह शक्ति केवल गम्भीर परिस्थितियों में बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयोग के लिए है।[1] लेकिन यहाँ समस्या यह है कि "बुद्धिमत्ता" और "गम्भीरता" दोनों ऐसे मामले हैं जिनका निर्णय सम्राट को करना चाहिए, लेकिन यह स्पष्ट प्रश्न है कि यदि सम्राट् बुद्धिमान हुए तो क्या वह इसका निर्णय करने के लिए तय्यार होंगे। यदि सम्राट् ऐसा करते हैं तो वे अपने भाग्य को उस दल के साथ संयुक्त कर लेते हैं जिसे वे पद-ग्रहण के लिए बुलाते हैं। इन परिस्थितियों में वे चाहे कुछ भी करें, उनके भावी प्रजाजनों के रुष्ट होने का भय बना रहता है। पर स्थिति इससे भी भयानक है क्योंकि यह दक्षिण-पक्ष की सरकार की अपेक्षा वामपक्ष की सरकार के विरुद्ध अधिक प्रयुक्त होगी। इसका अर्थ यह होगा कि दक्षिणपक्ष सम्राट् के मित्रों का दल है। यदि इस दल की पराजय हुई तो यह सम्राट् की पराजय होगी और इस पराजय के परिणाम निश्चियत: बड़े गम्भीर होंगे।

इस प्रकार की पदच्युति की संभावना १९३६ के सिंहासन-त्याग के संकट के दिनों में सामने आ गई थी। यह कहा जा सकता है कि यह विचार स्वयं ड्यूक ऑफ विंडसर के मन में कभी नहीं आया था। लेकिन उस समय उनसे यह बात कई व्यक्तियों से कही गई थी। सुझाव यह था कि विरोधी दल के नेता के नाते श्री एटली को यह कह देना चाहिए कि हम वैस्टमिन मंत्रि-मंडल के सम्राट् की श्रीमती सिम्पसन के साथ शादी के विरोध से असहमत हैं। तब सम्राट् को चाहिए कि वे भी बैंस्विन को अपदस्थ कर दें। श्री एटली को सरकार का निर्माण करने के लिए आमंत्रित करें। तत्पश्चात् वे सभा का विघटन कर दें तथा नये आम निर्वाचन करायें जिससे यह ज्ञान हो सके कि क्या देश नये मंत्रि-मंडल का अनुमोदन करता है।

यह स्पष्ट है कि ड्यूक ऑफ विंडसर के विचार की बुद्धिमत्ता या मूर्खता यहाँ अन्तर्ग्रस्त सिद्धान्तों के विवेचन से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। यहाँ दो बातें महत्व

---

१ मेलबोर्न पेपर्स पृ० २२–६।
२ कीथ वही पृ० १७८।

महारानी विक्टोरिया की पत्रावली और लॉर्ड एशर के पेपर्स के पाठक सब जानते हैं कि ये अधिकार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और इनका प्रयोग दैनिक शिष्टाचार से लेकर घरेलू और विदेश नीति के गम्भीरतम प्रश्नों तक विस्तृत है। यही "परामर्श देने प्रोत्साहन देने और चेतावनी देने" का वह सुप्रसिद्ध अधिकार है जिसकी आज से प्रायः सत्तर वर्ष पूर्व बैजहॉट ने चर्चा की थी।

प्रत्येक यह स्पष्ट कर देते हैं कि यह शक्ति काफी महत्त्वपूर्ण है। यदि सम्राट् के अपने कुछ दृढ़ विचार हैं तो वे मंत्रि-मंडल की नीति पर काफी विपुल प्रभाव डाल सकते हैं, विशेषकर उस स्थिति में जब कि वे महारानी विक्टोरिया की भाँति अपनी सरकार के प्रस्तावों के विरुद्ध हों। कारण यह है कि उनके आक्षेपों और सुझावों को सुगमता से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उनकी स्थिति की उच्चता और प्रतिष्ठा के कारण उनके साथ ऐसी सुगमता से बातचीत नहीं हो सकती जैसी कि साथियों के साथ हो सकती है। आधुनिक युग के किसी भी प्रधानमंत्री को इतना भार वहन नहीं करना पड़ा जितना कि महारानी विक्टोरिया ने भी ग्लैडस्टन के कन्धों पर रख दिया था। यह तथ्य कि सम्राट् का प्रभाव व्यापक और अविच्छिन्न होता है संदेहातीत है। इस बात मात्र से कि सम्राट् एडवर्ड अष्टम् भी दैनन्दिन की दलित क्षेत्रों सम्बन्धी नीति से असन्तुष्ट हैं इस नीति पर उनके संक्षिप्त राज्यकाल में देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक गम्भीर विचार होने लगा था। सम्राट् जॉर्ज पंचम् का यह निश्चय था कि वे साम्राज्यिक प्रतिष्ठानों में विशेष रुचि लें। उनके इस निश्चय का ही यह फल था कि इस विषय पर आधुनिक सरकारों ने विशेष ध्यान दिया। यदि सम्राट् उत्साही है और उन्हें ठीक परामर्श मिलता है तो वे नीति के निर्माण में अब भी महत्त्वपूर्ण भाग ले सकते हैं।

'सम्राट् को ठीक परामर्श मिले' यह बात एक रोचक प्रश्न खड़ा कर देती है जिस पर हमारी जानकारी बहुत कम है। प्रश्न यह है कि सम्राट् को अपने परामर्श के लिए किन व्यक्तियों पर निर्भर रहना चाहिए। सम्राट् के सचिव की स्थिति अत्यन्त महत्त्व की है, यह बात प्रलेखों से बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। चूँकि इस सचिव का सम्राट् के साथ निरन्तर सम्पर्क रहता है अतः वह सम्राट् के मन को समझता है और उसके ऊपर काफी असर रखता है। वह अपनी स्थिति के कारण जहाँ पहुँचना चाहे, पहुँच सकता है। वह अपने स्वामी के लिए जैसी सामग्री चाहे, एकत्रित कर सकता है और उसके पास ला सकता है। विक्टोरिया और ग्लैडस्टन भी एस्क्विथ और लॉर्ड एशर का पत्र-व्यवहार पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिगत सचिव के विचारों का कितना महत्त्व है। यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्तिगत सचिव सिविल सर्वेन्ट नहीं होता। उसकी नियुक्ति सम्राट् अपनी इच्छानुसार करते हैं और पिछले सौ वर्षों से वह प्रायः यदि स्वयं अभिजात नहीं तो अभिजात वर्गों से सम्बन्धित अवश्य रहा है। सामान्यतया उसको पीयर बना दिया जाता है। उसे राजप्रासाद का पूरा अनुभव होता है तथा वह गतकाल के समस्त दृष्टान्तों को जानता है। मेरे विचार से यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि सर हेनरी पोन्सोन्बी के समय से सम्राट् की

है उससे कहीं अधिक सीमित है। जब दल का नेतृत्व निश्चित न हो तब वे दो-तीन व्यक्तियों में से किसी एक को चुन सकते हैं। हो सकता है कि यह चुनाव सफल न हो। १९८ का दृष्टान्त यह स्पष्ट कर देता है कि यह स्वविवेक निर्णायक नहीं प्रत्युत प्रयोगात्मक ही था। यह स्वविवेक इस तथ्य से और भी सीमित हो जाता है, जैसा कि १९२२ में भी बाल्डविन के चुनाव ने स्पष्ट कर दिया था कि आधुनिक परिस्थितियों में प्रधान-मंत्री के लिए कॉमन-सभा का सदस्य होना आवश्यक है।

इस पद्धति के स्वरूप को देखने पर यह आवश्यक मालूम पड़ता है कि मंत्रिमंडल में दल के प्रमुख सदस्य अवश्य सम्मिलित हों। लेकिन यह स्पष्ट है कि ऐसे प्रधान व्यक्तियों को छोड़ कर शेष व्यक्तियों के चुनाव में प्रधान-मंत्री को अपने विवेक के अनुसार कार्य करना चाहिए। यह कहना शायद सही है कि किसी भी मंत्रि-मंडल में प्रायः आधे सदस्य दलगत आवश्यकताओं के अनुसार चुने जाने चाहिएँ और शेष सदस्य प्रधान-मंत्री की इच्छानुसार हो सकते हैं। इससे सरकार की शक्ति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। यह ठीक है कि इन सब नियुक्तियों में सम्राट् के प्रसाद का ध्यान रक्खा जाता है और उनके निर्धारण में राजकीय प्रभाव का थोड़ा बहुत महत्व अवश्य रहता है। विक्टोरिया ने कई अवसरों पर अपने प्रधान-मंत्रियों की बात नहीं मानी थी और उनकी कदर न की गई थी। उनके समय के पश्चात् प्रधान-मंत्री पर इस सम्बन्ध में कितना दबाव पड़ता रहा है, यह हम नहीं जानते लेकिन इतना हमें अवश्य मालूम है कि श्री एस्क्विथ ने लॉर्ड एशर को इसलिए युद्ध-मंत्री बनाना चाहा था जिससे वे एडवर्ड सप्तम को प्रसन्न कर सकें। जॉर्ज पंचम के बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने भी रैमजे मैकडोनल्ड की दोनों श्रमिक सरकारों की प्रस्तावित सदस्यता बिना किसी विवेचन के स्वीकार कर ली थी। यदि सम्राट् प्रधान-मंत्री द्वारा प्रस्तावित नियुक्तियों का निरन्तर विरोध करते हैं तो प्रधान-मंत्री पदग्रहण करना अस्वीकार कर अपनी बात मनवा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में सम्राट् का वास्तविक कार्य केवल उसी सीमा तक रहता है जिस सीमा तक कि प्रधान-मंत्री ने दृढ़ निश्चय कर लिया हो। यदि सर चार्ल्स डाइल्क विवाह-विच्छेद के प्रकरण में अन्तर्ग्रस्त न होते तो मेरा विचार है कि महारानी विक्टोरिया का विरोध उन्हें मंत्रि-मंडल से बाहर रखने में सफल न हो सकता था। यह ठीक है कि सम्राट् विरोध कर सकते हैं और उनके विरोध को पर्याप्त महत्व दिया जायेगा लेकिन मंत्रियों के चुनाव में अन्तिम निर्णय प्रधान मंत्री का ही रहता है।

( ४ )

जब मंत्रिमंडल का निर्माण हो चुकता है राजमुकुट के साथ संबंध एक ऐसी अनवरत प्रक्रिया रहती है जो उसके अन्त के साथ ही समाप्त होती है। सम्राट् को यह अधिकार होता है कि वे मंत्रिमंडल के महत्वपूर्ण प्रस्तावों को काफी पहले से जान लें जिससे कि वे उन पर विचार विनिमय के लिए तय्यार हो सकें। उन्हें उनके आरोप पर सम्बद्ध मंत्रियों के साथ विवेचन करने का अधिकार है और यदि वे किसी प्रस्ताव पर असहमत हों तो उसे सम्पूर्ण मंत्रि-मंडल के पास पुनर्विचार के लिए भेज सकते हैं।

महारानी विक्टोरिया का पत्रावली और लार्ड एस्हर के पेपर्स के पाठक यह जानते हैं कि ये अधिकार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और इनका प्रयोग दैनिक शिष्टाचार से लेकर घरेलू और विदेश नीति के गम्भीरतम प्रश्नों तक विस्तृत है। यही 'परामर्श देने प्रोत्साहन देने और चेतावनी देने' का वह सुप्रसिद्ध अधिकार है जिसकी आज से प्रायः सत्तर वर्ष पूर्व बेजहॉट ने चर्चा की थी।

प्रत्येक यह स्पष्ट कर देते हैं कि यह शक्ति काफी महत्वपूर्ण है। यदि सम्राट् के अपने कुछ दृढ़ विचार हैं तो वे मंत्रि मंडल की नीति पर अपना विपुल प्रभाव डाल सकते हैं विशेषकर उस स्थिति में जब कि वे महारानी विक्टोरिया की भांति अपनी सरकार के प्रस्तावों के विरुद्ध हों। कारण यह है कि उनके आक्षेपों और सुझावों को सुगमता से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उनकी स्थिति की उच्चता और प्रतिष्ठा के कारण उनके साथ ऐसी सुगमता से बातचीत नहीं हो सकती जैसी कि साथियों के साथ हो सकती है। आधुनिक युग के किसी भी प्रधानमंत्री का इतना भार वहन नहीं करना पड़ा जितना कि महारानी विक्टोरिया ने श्री ग्लैडस्टन के कंधों पर रख दिया था। यह तथ्य कि सम्राट् का प्रभाव व्यापक और अविच्छिन्न होता है सर्वस्वीकृत है। इस वास्ताव मात्र से कि सम्राट् एडवर्ड अष्टम् श्री बेल्डविन की सरकार की दोनों सम्बन्धी नीति से असन्तुष्ट थे इस नीति पर उनके संक्षिप्त राज्यकाल में देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक गम्भीर विचार होने लगा था। सम्राट् जॉर्ज पंचम् का यह नियम था कि वे सामाजिक प्रतिष्ठानों में विशेष रुचि लेते। उनके इस निश्चय का ही यह फल था कि इस विषय पर आनुक्रमिक सरकारों ने विशेष बल दिया। यदि सम्राट् उत्साही हैं और उन्हें ठीक परामर्श मिलता है तो वे नीति के निर्माण में अब भी महत्वपूर्ण भाग ले सकते हैं।

'सम्राट् को ठीक परामर्श मिले' यह बात एक रोचक प्रश्न खड़ा कर देती है जिस पर हमारी जानकारी बहुत कम है। प्रश्न यह है कि सम्राट् को अपने परामर्श के लिए किन व्यक्तियों पर निर्भर रहना चाहिए। सम्राट् के सचिव की स्थिति अत्यन्त महत्व की है, यह बात प्रलेखों से बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। चूंकि इस व्यक्ति का सम्राट् के साथ निरन्तर सम्पर्क रहता है अतः वह सम्राट् के मन को समझता है और उनके ऊपर काफी असर रखता है। वह अपनी स्थिति के कारण जहां पहुंचना चाहे, पहुंच सकता है। वह अपने स्वामी के लिए जैसी सामग्री चाहे, एकत्रित कर सकता है और उनके पास ला सकता है। विक्टोरिया और ग्लैडस्टन की पुस्तिका और लार्ड एस्हर का पत्र-व्यवहार पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिगत सचिव के विचारों का कितना महत्व है। यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्तिगत सचिव सिविल सर्वेन्ट नहीं होता। उसकी नियुक्ति सम्राट् अपनी इच्छानुसार करते हैं और पिछले सौ वर्षों से वह प्रायः यदि स्वयं अभिजात नहीं तो अभिजात वर्गों से सम्बन्धित अवश्य रहा है। सामान्यतया उसको जीवन भर रखा जाता है। उसे राजप्रासाद का पूरा अनुभव होता है तथा वह भूतकाल के समस्त दृष्टान्तों को जानता है। मेरे विचार से यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि सर हेनरी पोन्सोन्बी के समय से सम्राट् की

मन्त्रात्मा का रक्षक और उनका सबसे स्थायी एवं प्रभावशाली परामर्शदाता रहा है। चूंकि एक-एक व्यक्तिगत सचिव राजप्रासाद में कई वर्षों तक रहता है, अतः उसको विपुल अनुभव प्राप्त हो जाता है, एवं मंत्री इस अनुभव को प्रचुर महत्व देते हैं।

लेकिन व्यक्तिगत सचिव ही सम्राट के एकमात्र परामर्शदाता नहीं है। राजपरिवार का भी थोड़ा-बहुत महत्व रहता है—कितना यह ठीक-ठीक नहीं मालूम। लेकिन यह मान लेना उचित होगा कि उसके कुछ सदस्यों के ऐसे विचार और सिद्धान्त होते हैं जिनका बड़ा प्रभाव होता है। बड़े-बड़े अधिकारी उदाहरणार्थ प्रिवी कौंसिल के क्लर्क और युद्ध-सेवाओं के प्रधान निरन्तर सम्राट् के सम्पर्क में रहते हैं। फिर सम्राट् के व्यक्तिगत मित्रों की भी बहुत प्रतिष्ठा रहती है। लॉर्ड एशर और सर अर्नेस्ट कैसेल जैसे व्यक्तियों ने सम्राट् की विचारधारा से परिचय के कारण नीति के निर्माण पर काफी प्रभाव डाला है। मेरे विचार से यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि इनके और इन जैसे व्यक्तियों के माध्यम से देश के समस्त प्रतिष्ठित व्यक्तियों की राय सम्राट् तक पहुँच जाती है और फिर वह सत्तारूढ़ सरकार को बता दी जाती है। उदाहरणार्थ यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि बैंक ऑफ इंग्लैंड के इर्द गिर्द जो भी विचार होगा वह राजप्रासाद तक अवश्य पहुँच जायेगा। आर्चबिशप ऑफ कैंटरबरी भी अपनी विशेष स्थिति के कारण असाधारण महत्व के विचारों के प्रवण के माध्यम बन जाते हैं। जो कुछ कहा जाता है और सुना जाता है उसको क्या महत्व मिलता है इस सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते क्योंकि यहाँ हम एक ऐसे धूमिल विश्व में निवास करते हैं जिसमें कोई भी बात सर्वथा स्पष्ट नहीं है। हम तो केवल यही मान सकते हैं कि यद्यपि राजप्रासाद और बाहर के लोकमत के बीच परोक्ष सम्पर्क होते हैं लेकिन उनमें अविच्छिन्नता और व्यापकता कमी रहती है। सम्राट अपने मंत्रियों के परामर्श पर आचरण करते हैं। लेकिन वे अपने मंत्रियों को कुछ ऐसे सुझाव संकेत विचार और सिद्धान्त दे देते हैं जिनमें इंग्लैण्ड में जो कुछ परम्परागत और शक्तिशाली है उसे पर्याप्त स्थान मिला होता है।

यह स्पष्ट है कि सम्राट के सुझावों और संकेतों में इंग्लैंड की परम्परागत और शक्तिशाली विचारधारा को छोड़कर अन्य किसी प्रकार की विचारधारा नहीं होती। सम्राट् यह प्रत्यक्ष रूप से जान लेंगे कि बड़े-बड़े जमींदारों बैंकरों अनुदार दल के नेताओं युद्ध सेवाओं के प्रधानों और धार्मिक नेताओं के क्या विचार हैं। वे उनके साथ और उनके बीच रहते हैं। उनका व्यक्तिगत परिचय-मण्डल इन वर्गों के सदस्यों से ही मिलकर बनता है। इस प्रकार उन्हें न तो राज्य के अन्य तत्वों का कोई प्रत्यक्ष ज्ञान ही होता है और न उनके साथ उनका कोई सम्पर्क ही होता है। जब तक श्रमिक सरकार सत्तारूढ़ न हो उन्हें इस बात की कोई विशेष जानकारी नहीं होती कि श्रमिक दल अथवा श्रमिक संघों के क्या विचार हैं। उनका श्रमिक वर्ग की संगठित अथवा असंगठित विचारधारा से कोई स्वाभाविक सामाजिक सम्पर्क नहीं होता। यदि सम्राट् किसी श्रमिक अनुदारवादी लीडर के साथ भोजन करें या उनके साथ किसी दिन शिकार खेलने के लिए चले जायें तो किसी को कोई आश्चर्य नहीं होगा। लेकिन यदि

सम्राट् किसी प्रमुख श्रमिक संघ अधिकारी के साथ भोजन करें अथवा छुट्टी का कोई दिन किसी सहकारी सदन में व्यतीत करें, तो सबको आश्चर्य होगा। निष्कर्ष यह निकलता है कि सम्राट् का सामाजिक सम्पर्क अनुदार दल के पक्ष का है। उदारवादी दल के पतनोपरांत यह बात विशेष रूप से दिखाई देती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब कभी किसी विरोधी सम्राट् को भोज दिया जाता है और उसके स्वागत में समारोह होता है तो उसमें सम्राट् की श्रमिक दल के नेता के साथ भेंट हो जाती है। बस यही सब कुछ है। सम्राट् ने जिस तत्परता से १९११ में लॉर्ड-सभा के संकट में या १९१३ १४ में हस्तक्षेप किया उन्होंने १९२६ की आम हड़ताल में या १९३१ में श्रमिक दल के विचारों को जानने में वैसी तत्परता नहीं दिखाई। संक्षेपतः सम्राट् का सम्पूर्ण वातावरण ही ऐसा है कि उनके विचार एक सनातनी कंज़रवेटिव के से विचार होते हैं वे निर्धनों की भलाई अवश्य करना चाहते हैं लेकिन उनका विश्वास होता है कि परिवर्तन सुनिश्चित परम्पराओं के अनुसार होना चाहिए।

उक्त दृष्टिकोण की पुष्टि में हमारे पास प्रचुर साक्ष्य है। सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में महारानी विक्टोरिया के विचार बहुत ही रूढ़िवादी थे। उनके विशाल पत्र-व्यवहार से इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि उन्होंने अपने समय का कोई भी क्रान्तिकारी विचार समझा था उससे सम्वेदना की बात तो दूर है। उनके मन में स्वाभिमानी निर्धनों के प्रति स्नेह था यह आवास-परिस्थितियों के सम्बन्ध में उनकी चर्चा से स्पष्ट हो जाता है। लेकिन उनका सम्पूर्ण मानसिक संगठन अभिजातवर्गीय था। डाइट (उनके प्रिवी कौंसिलर बनने के पूर्व) डाइक १८८६ के पूर्व चैम्बरलेन के प्रति उनका जो दृष्टिकोण था उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकतंत्र के प्रगतिशील विचारों से उनका कोई परिचय नहीं था। एडवर्ड सप्तम् के अभिलेख में भी ऐसी कोई बात नहीं है जिससे कि कुछ भिन्न निष्कर्ष निकले। यह सही है कि उनकी डाइल्क और भी जॉन बर्न्स जैसे प्रगतिशील व्यक्तियों के साथ मित्रता थी। लेकिन यह नहीं मालूम पड़ता कि वे श्रमिक आन्दोलन के मूल में काम करने वाली शक्तियों को थोड़ा-बहुत भी समझते थे। उन्होंने श्री केर हार्डी का जो सामाजिक अपमान किया था उससे यह स्पष्ट ज्ञात हो गया था कि वे अपने समय के किसी श्रमिक संसद-सदस्य को किस भाव से देखते थे।

उनके उत्तराधिकारी के समय स्थिति भिन्न है क्योंकि राजनीतिक वातावरण भिन्न है। १९१८ के पश्चात् ब्रिटिश राजपरिवार ने जनहितकारी निर्माण कार्यों की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया। श्रमिक दल संसद में विरोधी दल बन गया तथा उसने दो बार कुछ कालों के लिए सरकार का भी निर्माण किया। इससे भी देश के वातावरण में कुछ परिवर्तन आया। तथापि इस परिवर्तन में ऐसी कोई वस्तु नहीं थी जिसने कि परम्परागत स्थिति को स्पर्श किया हो। यह अच्छी तरह ज्ञात था कि सम्राट् अपने श्रमिक मंत्रियों के साथ बड़ा अच्छा व्यवहार करते हैं और उनके संबंध में समस्त वैधानिक शिष्टता का पालन करते हैं। व्यक्तिगत जीवन में उनके सर्वत्र की भाँति ही कट्टर अनुदारवादी विचार बने रहे, लेकिन दोनों ही श्रमिक सरकारों में

से किसी के कार्यक्रम में ऐसी कोई बात नहीं थी जिससे उन्हें लड़ने की आवश्यकता पड़ती। यह कहा जाता है कि जब श्री आर्थर हेंडरसन ने विदेश मंत्री के नाते सोवियत यूनियन के साथ पूरे कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिए थे सम्राट उनसे रुष्ट हो गए थे। लेकिन यहां यह कह देना असंगत होगा कि सोवियत यूनियन की मान्यता के सम्बन्ध में सम्राट की जो शंकाएं थी प्रधान मन्त्री श्री रैमजे मैकडानेल्ड भी उनसे सहमत थे। जॉर्ज पंचम् के राज्यकाल की मुख्य रोचकता १९३८ के प्रकरण के अतिरिक्त मन्त्रियों के प्रति उनका दृष्टिकोण कम तथा मन्त्रियों का राज प्रासाद के वातावरण से प्रभावित होना अधिक है। यह सुविदित है कि दोनों श्रमिक सरकारों के कुछ सदस्यों पर राजप्रासाद के वातावरण का समसामयिक अनुदारदलीय सरकारों के सदस्यों की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ा था। कहने का सार यह है कि जब श्रमिक मन्त्रि-मण्डल सत्तारूढ़ था उसका सिद्धान्त के प्रश्न पर उदाहरणार्थ लॉर्ड-सभा के साथ कभी कोई संघर्ष नहीं हुआ।

वस्तुतः जब तक सामान्य परिस्थितियों में प्राथमिक महत्त्व के मामलों में विभिन्न दलों की सरकारें नीति की अविच्छिन्नता बनाए रखती हैं तब तक सम्राट् के अधिकारों के सम्बन्ध में कोई गम्भीर समस्या नहीं उठती। अधिक से अधिक वे परिवर्तन के चक्र में महारानी विक्टोरिया की भांति बाधक बना सकते हैं। लेकिन जब तक बुनियादी के सम्बन्ध में राजनीतिक एकता है उनके विचारों एवं व्यक्तित्व का कोई विशेष प्रभाव नहीं होगा। पूर्वकथित प्रधान-मन्त्री छोटे-मोटे मामलों पर भी झुक सकता है। राजमुकुट के प्रभाव को हितकारी समझौते में प्रयुक्त किया जा सकता है जैसा कि १८८४ के सुधार विधेयक के समय किया गया था। छोटे-मोटे अपवादों को छोड़ कर यह बात कही जा सकती है कि जब तक अविच्छिन्नता का सिद्धान्त कायम है राजकीय शक्ति के सम्बन्ध में विक्टोरिया के समय का सुमन्त्रय-युक्त संतोषप्रद एवं सामान्य संसदीय शासन की विशेषताओं के पूर्वरूप से अनुकूल मालूम पड़ता है।

सम्राट् की स्थिति के सम्बन्ध में वास्तविक समस्या यह है कि नीति की अविच्छिन्नता टूट सकती है और संकट की सम्भावना को भी दूर नहीं किया जा सकता। यहां कुछ ऐसी समस्याएं उठ खड़ी होती हैं जो प्रो कीथ के इस सिद्धान्त के अन्तर्गत आ जाती हैं कि सम्राट् 'संविधान के रक्षक' हैं। उन्होंने लिखा है "वास्तविकता यह है कि राजमुकुट का यह कर्तव्य है कि वह संविधान के मूलतत्त्वों की रक्षा करे। १९११ के संसदीय अधिनियम में जहां परिवर्तन के प्रतिरोध के सम्बन्ध में लॉर्ड-सभा की शक्ति कम करती है इस बात की आवश्यकता बढ़ती है कि संकट-काल में सम्राट कार्यवाही करें।"

"संविधान के संरक्षक" यह एक सुमधुर सूत्र है। हमें इसका पूरा अर्थ समझने की चेष्टा करनी चाहिए। ऐसा मालूम पड़ता है कि यदि कोई मंत्री सम्राट् को ऐसा परामर्श दें जो "संविधान के मूलतत्त्वों" की अवहेलना करता हो तो संकट के समय सम्राट अपने मन्त्रियों के परामर्श पर आचरण करना अस्वीकार कर सकते हैं। प्रो कीथ ने हमें विस्तार से यह नहीं बताया कि ये मूलतत्त्व क्या हैं लेकिन हम उनके दृष्टिकोण का परिचय उनके द्वारा दिए गए उदाहरणों से कर सकते हैं।

समझा जाता है कि यदि श्रमिक दल कुछ ऐसे क्रान्तिकारी आर्थिक परिवर्तन करना चाहे जिनका लॉर्ड-सभा प्रतिरोध करे तो निर्वाचकों का "प्रबल" समर्थन ही इस बात का औचित्य सिद्ध कर सकेगा कि सम्राट् उस "सुनिश्चित व्यवस्था की उपेक्षा कर दें जिसने उच्च सभा को विलम्ब करने की शक्ति दे दी है।" इस दृष्टि से सम्राट् दो कार्य कर सकते हैं। वे लॉर्ड सभा के निषेधाधिकार का अतिक्रमण करने के लिए पर्याप्त पीयर बनाना अस्वीकार कर सकते हैं और इस प्रकार श्रमिक सरकार को इस बात के लिए विवश कर सकते हैं कि या तो वह दो वर्ष तक अपने विधान के लिए प्रतीक्षा करे या तुरन्त आम निर्वाचन करवाए। दूसरा कार्य सम्राट् यह कर सकते हैं कि वे लोकसदन विघटित कर सकते हैं जिससे उन्हें यह विश्वास हो सके कि श्रमिक सरकार निर्वाचकों के बहुमत की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। यह सिद्धान्त श्रमिकदलीय सरकार की भाँति ही अनुदारदलीय सरकार के ऊपर भी लागू होता है। प्रो० कीथ कहते हैं "यदि अनुदारदलीय सरकार देश से राय लिए बिना ही लॉर्ड-सभा की शक्ति बढ़ाने का प्रयास करती है तो सम्राट् को इस चेष्टा का प्रतिरोध करना होगा। यह तो दोनों सरकारों का ही कर्तव्य है कि वे संसदीय अधिनियम के मूल को उस समय तक बनाए रक्खें जब तक कि निर्वाचक कुछ और निश्चित न कर लें।" उन्होंने आगे चल कर कहा है, "यह संभव है कि राजमुकुट की शक्तियों का प्रयोग इस बात पर बल देने के लिए किया जाये कि उस समय तक कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं होगा जब तक कि सम्पूर्ण निर्वाचकगण उसकी आवश्यकता को न मान लें।"

उक्त सिद्धान्त का एक विचार यह मालूम पड़ता है कि संसदीय अधिनियम इस अर्थ में ब्रिटिश संविधान का एक मूलतत्त्व है कि लॉर्ड-सभा के निर्णय को एक विशेष निर्वाचकीय निर्णय ही अतिक्रान्त कर सकता है। यदि श्रमिक सरकार ऐसे किसी विधान को पास करवाना चाहती है जिसे लॉर्ड-सभा अस्वीकार करती है तो यह आवश्यक है कि वह या तो उस विधान को दो वर्षों के अन्दर ही तीन बार पास करे या विघटन करे। यह स्पष्ट नहीं है कि क्या प्रो० कीथ यह मानते हैं कि लॉर्ड-सभा की शक्तियों का प्रश्न एक पृथक् प्रश्न है और इन शक्तियों को कम करने या समाप्त करने के लिए एक पृथक् आम निर्वाचन की आवश्यकता है। जब जॉर्ज पंचम् ने श्री एस्क्विथ से १९१० के दूसरे आम निर्वाचन के लिए कहा था तब उनका यही विचार था। उन्होंने कहा था कि यदि श्री एस्क्विथ लॉर्ड-सभा की शक्तियों को सीमित करने के प्रश्न पर बहुमत प्राप्त कर लेंगे तो वे आवश्यकता होने पर नए पीयरों के निर्माण के लिए तैयार हो जायेंगे। इस प्रकार पहले आम निर्वाचन का यही अर्थ लगाया गया कि निर्वाचकगण सरकार के इस विचार से सहमत हैं कि लॉर्ड-सभा को १९०९ का बजट संशोधित या अस्वीकृत नहीं करना चाहिए।

हमें इस दृष्टिकोण का महत्त्व कम नहीं समझना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि लॉर्ड-सभा आर्थिक (या दूसरे मामलों में) दो वर्ष तक 'स्टेटस क्वो' को कायम रख सकती है और यदि श्रमदलीय सरकार कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करना चाहे, तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह देश की राय जाने। यदि वह पीयर बनाने की

नहीं है। उन्होंने जॉर्ज पंचम् को बताया था "यदि मंत्रीय उत्तरदायित्व के वैधानिक सिद्धान्त का कोई अर्थ है, तो सम्राट को अपने मृत्यु-आदेश पर भी, यदि वह आदेश हस्ताक्षर के लिए एक ऐसे मंत्री में उपस्थित किया जिसे कि संसद् में बहुमत प्राप्त है, हस्ताक्षर करने पड़ेंगे। यदि इस आधारभूत सिद्धान्त को कोई आघात पहुँचता है तो राजतंत्र का अन्त दूर नहीं है।" संसद में बहुमत होने का अर्थ कॉमन-सभा में बहुमत होना है क्योंकि श्रमिक सरकार का लॉर्ड-सभा में तो बहुमत हो ही नहीं सकता। लॉर्ड एश्चर के अनुसार सम्राट् के पास केवल प्रतिवादन की ही शक्ति रह जाती है। वे मंत्रियों को उनके निर्णय की गलतियाँ बता सकते हैं वे खतरे स्पष्ट कर सकते हैं जो मंत्रियों के सामने आ सकते हैं। लेकिन यदि मंत्रियों न उस परामर्श के सम्बन्ध में जो वे सम्राट् के सम्मुख उपस्थित करते हैं एक बार दृढ़ निश्चय कर लिया तो सम्राट् का यह वैधानिक कर्तव्य हो जाता है कि वे उसे स्वीकार करें। इसका विकल्प जैसा कि मैं कह चुका हूँ मंत्रियों की पद-च्युति है और इसके परिणाम स्वरूप राजकीय परमाधिकार के ऊपर अनिवार्यतः एक ऐसा संघर्ष उठ खड़ा होगा जिसका परिणाम चाहे जिस दृष्टि से देखा जाये भयानककारी होगा।

कहा जाता है कि इससे सम्राट् की स्थिति स्वतःचालित यन्त्रवत् (automaton) की भाँति रह जायगी। यहाँ कुछ भेद आवश्यक है। मेरी युक्ति यह है कि सम्राट् के सार्वजनिक कृत्य स्वतःचालित होने चाहिएँ, सार्वजनिक दृष्टि से उन्हें अपने मंत्रियों का परामर्श स्वीकार कर लेना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से वह परामर्श, प्रोत्साहन और चेतावनी देने के अपने समस्त अधिकारों का पूरा प्रयोग कर सकते हैं। उनकी सर्वोच्च स्थिति होने के कारण मंत्री उनकी राय पर बड़े ध्यान से विचार करेंगे। बस इससे अधिक कुछ नहीं हो सकता। यदि मंत्रियों ने किसी बात का निश्चय कर लिया है तो सम्राट् को उसे मानना होगा। यदि यह कहा जाय कि सम्राट् अपनी तटस्थता नहीं त्यागते और उनका कार्य एक विशेष प्रकार की प्रक्रिया को प्रभावी करने तक ही सीमित है तो इसका उत्तर यह है कि इस प्रक्रिया को सम्यक् विधान के सार से अलग नहीं किया जा सकता। लॉर्ड-सभा विधान को केवल यह आश्वासन पाने के लिए ही अस्वीकृत नहीं करती कि देश सरकार की योजनाओं के पक्ष में है। वह कॉमन-सभा के संघर्षरत दलों के बीच में तटस्थ निर्णायक नहीं है। लॉर्ड बाल्फोर के अनुसार वह तो अनुदार दल की एक शाखा है जिसका कर्तव्य इस बात की व्यवस्था करना है कि चाहे सरकार का गठन चाहे कुछ भी हो, अनुदार दल ही सदैव सत्तारूढ़ बना रहे। यद्यपि संसदीय अधिनियम ने लॉर्ड-सभा की शक्ति को कम कर दिया है लेकिन अब भी उसकी इतनी शक्ति है कि वह सरकार के ऐसे किसी भी कार्यक्रम को नष्ट कर सकती है जिसे कि स्वयं पसन्द न करती हो। यह कहना कि सम्राट इस प्रकार के विधान को नष्ट करने में लॉर्ड-सभा के साथ सहयोग करें एक ऐसी कार्यवाही के लिए कहना है जो सम्राट् की तटस्थता के विचार के बिल्कुल प्रतिकूल है।

सम्राट् के परमाधिकार के प्रयोग का कार्य कितना कठिन और जटिल है इस पर कुछ प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें "क्रान्तिकारी" परिवर्तन रोकना

है, उन्हें संविधान के "मूलतत्त्वों" की रक्षा करनी है। लेकिन "क्रान्तिकारी" परिवर्तन क्या है? क्या इसका निर्णय सम्राट् स्वयं ही करेंगे? क्या वे अपने मंत्रियों के अतिरिक्त कुछ और लोगों का परामर्श लेंगे? यदि हाँ तो वे किसका परामर्श लेंगे? स्पष्टतः क्रान्तिकारी क्या है, इस सम्बन्ध में हमारा विचार हमारे निर्णय के मूलाधारों पर निर्भर रहता है। देश में कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जिनकी दृष्टि में "इंग्लैंड के बैंक" का राष्ट्रीयकरण सम्पूर्ण सामाजिक स्थायित्व के अन्त का प्रारम्भ है। पी एम कीन्स जैसे कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जो इसे ऐसी सामान्य बात समझते हैं जिसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। यह कौन सा मापदण्ड है जिससे सम्राट् निर्णय करेंगे? क्या कोई विधान इसलिए क्रान्तिकारी है क्योंकि लॉर्ड-सभा ने उसे अस्वीकार कर दिया है? यह एक न्यायसंगत कसौटी नहीं हो सकती क्योंकि लॉर्ड-सभा ने कई क्रान्तिकारी विधानों को पास किया है। उदाहरणार्थ उसने १९२८ के रिफार्म एक्ट को पास किया है जिसने देश में सार्वभौम वयस्क मताधिकार की स्थापना कर दी है। और, संविधान के "मूलतत्त्व" क्या हैं? वे समय समय पर बदलते ही नहीं रहते प्रत्युत लोगों में एक समय में भी उनकी विषयवस्तु के सम्बन्ध में एकमत नहीं होता। सामान्यतया यह संविधान का एक मूलतत्त्व मान लिया गया है कि सम्राट् अपने मंत्रियों के परामर्श पर आचरण करेंगे। १६८८ के पश्चात् से वैधानिक विकास की सामान्य दिशा इस सिद्धान्त को पूर्ण रूप से स्थापित करने की ओर रही है। यह सही है कि संकट के समयों में उन लोगों ने जो मंत्रियों के परामर्श पर आक्षेप करते हैं यह सिद्धान्त विकसित करने का प्रयास किया है कि यदि सम्राट् देश की सुरक्षा के विचार से कार्य कर रहे हों तो वे संकट के समय मंत्रियों के परामर्श की उपेक्षा कर सकते हैं। १९०९ में श्री लॉयड जार्ज ने जो बजट प्रस्तुत किया था और उदारवादी दल लॉर्ड-सभा की शक्तियों को कम करने की जो बात कहता था वह लॉर्ड लैन्सडौन और उनके दल को पसंद नहीं था। फलतः, यदि सम्राट् अपने मंत्रियों को अपदस्थ करते तो वे पद-ग्रहण करने के लिए तत्पर थे। इसी प्रकार सम्राट् से १९१३-१४ में होम रूल एक्ट पर निषेधाधिकार का प्रयोग करने के लिए कहा गया था। अनुदार दल उदारवादी सरकार की आयरलैंड सम्बन्धी नीति को पसन्द नहीं करता था। यदि श्रमिक सरकार सत्तारूढ़ हो जाये तो वे लोग जो समाजवादी कार्यक्रम को पसन्द नहीं करते इसी युक्ति का प्रयोग करेंगे। वास्तव में वे एक महत्त्वपूर्ण वैधानिक सिद्धान्त को स्थापित करने की बात कहते हैं क्योंकि यह सिद्धान्त ऐसे परिणामों की ओर ले जाता है जिनका वे प्रचुर विरोध करते हैं। इसलिए वैधानिक संकट ऐसी स्थिति है जिसमें सम्राट् से यह कहा जाता है कि वे अपनी सरकार से स्वतन्त्र होकर कार्य करें क्योंकि विरोधी दल को यह विश्वास है कि सरकार की नीति राष्ट्र के भविष्य के लिए विनाशकारी है।

अस्तु, सिद्धान्त के निष्कर्षों को स्पष्ट करना निश्चयतः उसका खंडन करना है। यह सिद्धान्त सम्राट् के हाथों में प्रचुर शक्ति और वास्तविक शक्ति सौंप देता है। इससे उन्हें उस सरकारी विधान के ऊपर या देश में विरोध की भावनाएँ जाग्रत करना

है, पूरा नियंत्रण प्राप्त हो जायेगा और लॉर्ड-सभा अर्थात् अनुदार दल को यह ज्ञात हो जायगा कि यदि वह सरकारी विधेयकों को स्थगित करना या उन्हें निर्वाचकों के सम्मुख उपस्थित करना चाहता है तो वह संसदीय अधिनियम के अन्तर्गत बस एक बार निषेधाधिकार का प्रयोग करले। प्रो० कीथ के मतानुसार यह सिद्धान्त अनुदार दलीय सरकार के ऊपर उस समय तक लागू नहीं होगा जब तक कि वह संसदीय अधिनियम को रद्द करने का प्रस्ताव न करे। यह सिद्धान्त कठिन परिस्थिति में समाजवादी सरकार के स्थान पर सम्राट् को प्रतिष्ठित होने का आमंत्रण देता है। इस सिद्धान्त का उद्देश्य यह है कि सम्राट् समाजवादी सरकार के कार्यक्रम को नष्ट करने में लॉर्ड सभा का साथ दें और इसी बीच में अनुदार दल आगामी साधारण निर्वाचन के लिए अच्छी से अच्छी तय्यारी करे। यह सिद्धान्त नीति की उत्प्रेरणा सरकार के हाथों से लेकर जहाँ जनता ने उसे स्थापित किया था सम्राट् के हाथों में सौंप देता है। इस घटना-क्रम से वातावरण कुछ ऐसा बदल जाता है कि इस नीति के लोकप्रिय होने के बहुत कम अवसर रह जाते हैं। सम्राट् जॉर्ज पंचम् संविधान के समस्त अभिसमयों का बड़ी तत्परता से पालन करते थे लेकिन उन्होंने भी लॉर्ड एशर से यह कहा था कि यदि वे १९११ में पीयर बनाने के लिए विवश हो जाते, तो फिर वे अपना मस्तक कभी नहीं उठा सकते थे। संक्षेप में हमको यह समझ लेना चाहिए कि सम्राट् जिनको संकटकालीन कार्यवाही की यह उत्प्रेरणा दी जा रही है आधारभूत परिवर्तन के निश्चित विरोधी हैं। यही बात राजप्रासाद के अधिकारियों के बारे में भी सही है। उनका प्रशिक्षण और वातावरण उन्हें दूसरा कुछ बनने ही नहीं दे सकता। यही बात सम्राट् के समस्त व्यक्तिगत मित्रों की है। सम्राट् के अधिकांश मित्र अनुदारवादी ही होते हैं। यदि ऐसी परिस्थितियों में सम्राट् अपनी वैयक्तिक शक्ति का प्रयोग करने के लिए हठ करें तो इसका निष्कर्ष यह निकलेगा कि वे अपनी व्यक्तिगत भावनाओं के कारण समाजवादी सरकार को वे कार्य पूरा करने से रोक रहे हैं जिनके लिए कि वह निर्वाचित हुई थी।

यह स्मरण रखना चाहिए कि मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि सम्राट् प्रो० कीथ के सिद्धान्त में अन्तर्निहित दृष्टिकोण को ग्रहण नहीं करेंगे मैं केवल यह कह रहा हूँ कि यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वैधानिक सिद्धान्त को भंग करना होगा तथा इसके परिणाम क्रान्तिकारी हो सकते हैं। ये परिणाम क्या होंगे इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ कहना कठिन है, हाँ इसका केवल कुछ संकेत ही दिया जा सकता है। १९१ के बजट वाद विवाद के सम्बन्ध में लॉर्ड एशर ने लिखा था "मुझे सारी स्थिति १९१४ की तरह भयानक मालूम पड़ती है।"[1] लॉर्ड एशर के इस कथन से स्थिति की भयंकरता का अनुमान लगाया जा सकता है। सम्राट् पर इस दिशा में दबाव डाला जायेगा यह निश्चितप्राय है। पूर्वदृष्टान्त यही बताते हैं कि यह स्थिति होगी। उस दल के लिए जो आधारभूत परिवर्तन का विरोधी है राजनीतिक संघर्ष में अन्तिम शस्त्र के रूप में सम्राट्

१ जर्नल्स एण्ड लेटर्स ऑफ विस्काउंट एशर, भाग ३ पृ ४८।

को वैयक्तिक लोकप्रियता का प्रयोग करना एक चिरपरिचित शक्ति है। सम्राट् राजनीतिक सवालों में तटस्थ रहते हैं। उन्हें उस नीति को स्वीकार करने के पूर्व जिसे गम्भीर चुनौती मिल रही हो, देश से परामर्श करने का अधिकार है। वह सरकार अन्यायपूर्ण है जिसने उन्हें चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया है। उन्हें नीति के परिवर्तन के उत्तरदायित्व को ग्रहण करने के लिए १८३४ में सर रॉबर्ट पील की भांति तत्पर मंत्रिमंडल की खोज का हक है। परमाधिकार के प्रयोग में खतरे का भय उसका विनाश नहीं है। ये अपरिवर्तनवादी दल के कुछ चिरपरिचित तर्क हैं। इनका अभिप्राय यह है यह दल जिसको सत्ता रहता है वह एक ऐसी प्रक्रिया द्वारा निर्धारित होगा जो स्वयं उस दल की नीतियों के ऊपर जब वह सत्तारूढ़ होगा लागू नहीं होगी। यह सिद्धान्त उस सरकार का निर्णायक नहीं होगा जिसको अपने सिद्धान्त कार्यरूप में परिणत करने का अधिकार मिल गया है।

वास्तव में उक्त समस्या का मूल यह है कि युद्धोत्तर युग में दलों के पारस्परिक सम्बन्ध बिल्कुल बदल गए हैं। मैं इस विषय का पहले ही विवेचन कर चुका हूँ। मैंने यह निवेदन किया है कि जब ये दल मूलाधारों के ऊपर एकमत थे तब सुगमता से मतभेद सहन कर सकते थे। १८३२ के पश्चात् से उनके संघर्षों ने केवल दो ही बार संविधान के चरम अभिसमयों को स्पर्श किया है। इन अवसरों को छोड़कर राजतंत्र की शक्ति का प्रयोग करने की कभी आवश्यकता नहीं पड़ी क्योंकि किसी भी दल को अपनी नीतियाँ कार्यान्वित करने के लिए उसका सहारा लेने की जरूरत नहीं हुई। दुर्भाग्यवश अब यह स्थिति नहीं रही है। युद्ध के पश्चात की समस्त सामाजिक और आर्थिक प्रवृत्तियों ने सामाजिक संगठन के मूलाधारों को वाद-विवाद का विषय बना दिया है। राजकीय शक्ति के सम्बन्ध में व्यापक दृष्टिकोण रखने का अर्थ उसे एक ऐसे हथियार की तरह प्रयुक्त करना होगा जो इन मूलाधारों के स्वरूपगत परिवर्तन को यदि स्थगित नहीं कर सकता तो कम से कम रोक अवश्य सकता है। राजनीति के प्रतिष्ठित और अनुभवी व्यक्तियों की दृष्टि में राजकीय परमाधिकार समाजवाद के आगमन को रोकने का एक साधन है। उनका यह दृढ़ विचार है कि समाजवाद राष्ट्रीय विनाश का पर्याय है। कष्ट से राष्ट्र को उसके परिणामों से बचाने के लिए सम्राट् की ओर तकते हैं। समाजवाद के विश्वासी परमाधिकार के विषय में उनके विचार से सहमत नहीं हैं इससे वे लोग अपने दृष्टिकोण को बदलने के लिए तैयार नहीं हैं। ये लोग इस तथ्य से प्रभावित हुए नहीं मालूम पड़ते कि लॉर्ड एशर जैसे व्यक्ति जो उनकी भांति ही समाजवाद के कट्टर विरोधी हैं राजनीतिक विषयों में सम्राट् को एक सक्रिय अभिकर्त्ता बनाने को खतरे की दृष्टि से देखते हैं। आर्थिक शक्ति के संघर्ष में वे राजमुकुट की सत्ता को खतरे में डालने के लिए प्रस्तुत हैं।

कुछ ऐसे लोग भी हैं जो सम्राट् की शक्ति के प्रयोग को विशुद्ध रूप से लोकतंत्रात्मक मानते हैं। वे कहते हैं "जब राष्ट्र प्रत्यक्ष रूप से विभक्त हो तब उससे परामर्श करने से और अधिक लोकतंत्रात्मक क्या हो सकता है?" लेकिन प्रत्येक सरकार ही ऐसे नये विधानों के लिए उत्तरदायी होती है जो राष्ट्र को प्रत्यक्ष रूप से विभक्त कर

देते हैं । लेकिन सरकार उनके ऊपर राष्ट्र से परामर्श करना आवश्यक नहीं समझती । युद्ध की घोषणा राष्ट्र के जीवन के लिए सबसे आधारभूत बात है लेकिन होशहवास वाला प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि युद्ध की घोषणा के पूर्व जनमत संग्रह की माँग करना लोकतंत्रात्मक सिद्धांत का दुरुपयोग ही है । यह तर्क यह रूप ले सकता है कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मामलों को अन्तिम रूप से स्वीकार करने के पूर्व हमें यह निश्चय हो जाना चाहिए कि जनता उनमें सहमत है । यहाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मामले केवल वे मामले हैं जिन्हें वामपक्षीय सरकार प्रस्तुत करती है । यह कोई नहीं कहेगा कि सम्राट् को दक्षिणपक्षीय सरकार का निर्माण कर देना चाहिए जिससे कि उसके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मामले पुनर्विचार के लिए जनता के सामने उपस्थित हो सकें । राजमुकुट को लोक-निर्णय का दायित्व ग्रहण करने के लिए आतुर किया जाता है इसका कारण स्पष्ट है । लार्ड-सभा की असंगति का अब कोई समर्थन नहीं करता । यदि उसमें और कॉमन-सभा में संघर्ष हो तो यह निर्विवाद है कि लोकमत कॉमन-सभा की ओर जायेगा । लेकिन राजमुकुट के तत्वावधान में संचालित अनुदार दल की युद्धनीति युद्ध अव्यवस्था उत्पन्न कर सकती है । यह राजसिंहासन की लोकप्रियता को वामपक्षीय शक्तियों के विरुद्ध प्रयुक्त करेगी । यह अनुदारवादी स्वार्थों के हाथों में एक शक्तिशाली अस्त्र है, और जार्ज पंचम् जैसे लोकप्रिय सम्राट् की उपस्थिति में तो यह एक अचूक अस्त्र बन सकता है । यदि सम्राट् के नेतृत्व में अनुदारवादी शक्तियाँ निर्वाचन जीत लेती हैं तो अच्छे से अच्छा यह होगा कि यह लोकतन्त्र के उन्माद की विजय होगी; यदि वे हार जाती हैं तो बुरे से बुरा यह होगा कि संघर्ष आर्थिक क्षेत्र में न होकर वैधानिक क्षेत्र में छेड़ जायेगा । इस परिवर्तन की भविष्यवाणी करना कठिन है क्योंकि राजतन्त्र की जड़ें मानवीय अनुभव में बहुत गहरी हैं । उसकी बुनियादों पर संदेह करना कुछ ऐसे विवादों को उठा देना है जिनका अंत कोई नहीं देख सकता ।

इस प्रसंग में एक अंतिम बात और कही जा सकती है । यह महत्त्वपूर्ण है कि १९३६ के सिंहासन-त्याग के संकट में अनुदारदल के किसी भी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति ने यह नहीं कहा कि ड्यूक ऑफ विंडसर के प्रस्तावित विवाह के विरुद्ध मंत्रिमंडल के निर्णय की अभिपुष्टि एक निर्वाचकीय निर्णय द्वारा होनी चाहिए यद्यपि मंत्रिमंडल ने जो दृष्टिकोण ग्रहण किया था उसके पास कोई 'मैंडेट' नहीं था । श्री चर्चिल ने कुछ देर करने के लिए कहा था लेकिन उनका अभिप्राय केवल यही था कि इस विषय पर सलाह-मशविरा और हो जाये । यह भी ध्यान देने योग्य है कि किसी भी प्रमुख व्यक्ति ने यह प्रश्न नहीं उठाया कि ऐसे व्यक्तिगत मामले तक में सम्राट् को अपने मंत्रियों के परामर्श को अस्वीकार करने का अधिकार है । श्रमिक दल ने आदि से अंत तक यही कहा था कि सम्राट् को इस प्रकार अस्वीकार करने का कोई अधिकार नहीं है और उसके इस दृष्टिकोण की अनुदार दल ने भूरि प्रशंसा की । सिंहासन-त्याग के संकट की गम्भीरता सर्वत्र स्वीकृत है । यदि कभी कोई ऐसा प्रकरण उपस्थित हुआ जिसमें कि सम्राट् अपने मंत्रि-मंडल से स्वतन्त्र होकर आचरण कर सकते हैं तो वह उनके विवाह जैसा कोई व्यक्तिगत प्रकरण ही हो सकता

है। लेकिन यह बात महत्त्वपूर्ण है कि इस अवसर पर सकटकाल म स्वतंत्र राजकीय परमाधिकार का सिद्धान्त एक ओर तो फासिस्टो और लार्ड रोदरमेयर तथा दूसरी ओर साम्यवादी दल के अतिरिक्त अन्य किसी न नहीं उठाया था। मेरे विचार से इनमें से कोई भी दल वैधानिक प्रणालियों के पालन में उचित रुचि नहीं लेता। पहले दल का लक्ष्य सम्राट् को वैधानिक सरकार के विरोध में खड़ा करके दल पद्धति को घाट पहुँचाना और इस अवस्था से अपनी स्थिति मजबूत करना था। साम्यवादियों का विचार था कि यदि सम्राट् श्रमिक सरकार का निर्माण करने के लिए राजी हो गए तो उनकी लोकप्रियता से समाजवाद के लिए आम निर्वाचन जीता जा सकता है। लेकिन वे लोग यह बात नहीं समझ सके जिसे अनुदारवादियों ने तुरत समझ लिया था कि यदि सम्राट् एक कारण से अपने मंत्रियों को अपदस्थ कर सकते हैं तो वे उन्हें किसी दूसरे कारण से भी अपदस्थ कर सकते हैं। चाहे कुछ भी हो हमें प्रधान-मंत्री का यह आश्वासन प्राप्त है कि सम्राट् ने ऐसा कभी नहीं सोचा था। वे अपने मंत्रियों के परामर्श का परिणाम स्वीकार नहीं कर सकते थे और उन्होंने जनता विरोध करने की अपेक्षा सिंहासन-त्याग करना अधिक अच्छा समझा। इस दृष्टिकोण का सदन की दोनों सभाओं ने प्रबल समर्थन किया था। यह एक ऐसा दृष्टान्त है जिसका भविष्य के लिए अत्यंत महत्त्व है।

( ५ )

राजतंत्र के इतिहास में एक ऐसा तथ्य था जिसे १९३६ के सिंहासन-त्याग ने सामने लाकर खड़ा कर दिया और जिसका संक्षिप्त विवेचन करने की आवश्यकता है। प्रलेखों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सम्राट का आलोचना और टीका सम्बन्धी कार्य अधिकतर उनके व्यक्तिगत सचिव तथा सहायकों की योग्यता पर निर्भर है। यह कार्य कुछ हद तक राजपरिवार के उन सदस्यों के ऊपर भी निर्भर है जिनके द्वारा सम्राट् के पास काफी सूचनाएँ पहुँचती रहती हैं। यह सुविख्यात है कि राजसचिवों ने अब तक बड़े सराहनीय ढंग से कार्य किया है। श्री ऑक्सफ्स्टन ने सर एच. टेलर की सेवाओं के प्रति ऊँची श्रद्धांजलि अर्पित की थी और सर हेनरी पोन्सनबी की राजभक्ति का प्रतीक यह ग्रंथ है जो उनके प्रलेखों से तैयार हुआ है।

जब एडवर्ड अष्टम् सिंहासन पर आसीन हुए थे उन्होंने सचिवालय और राज परिवार की नियुक्तियों में काफी परिवर्तन किए थे। उन्होंने पुराने कर्मचारियों के स्थान पर जिन नए कर्मचारियों को नियुक्त किया था उनमें से बहुत कम को अपने कार्य का विशेष ज्ञान था। यह कहा जा सकता है कि उनके शासनकाल की कुछ समस्याएँ उनके व्यक्तिगत परामर्शदाताओं की अनुभवहीनता [illegible] सम्बद्ध थी। मेरे विचार से अब यह समय आ गया है जबकि राजपरिवार के समस्त पदों पर सिविल सर्विस के व्यक्तियों को नियुक्त किया जाना चाहिए। मेरे विचार से विभिन्न सरकारी विभागों में आवश्यक चरित्र और अनुभव के व्यक्तियों को पाना कठिन नहीं होगा। अपने प्रशिक्षण के कारण वे अपने सामने आने वाली वैधानिक समस्याओं

का समाज के अन्य किसी वर्ग की अपेक्षा अधिक बुद्धिमत्ता से समाधान कर सकेंगे। उनके कार्य में निर्वैयक्तिकता और निरासक्ति का ऐसा वातावरण हो सकता है जिसका महत्त्व स्पष्ट है। ये लोग लॉर्ड[1] एशर जैसे प्रतिष्ठित वृद्ध पुरुषों या वैधानिक मर्यादाओं का अतिक्रमण करने के लिए उत्सुक बैकन्सफील्ड तथा सैल्सबरी जैसे भूतपूर्व मंत्रियों के अनुचित प्रभाव से सम्राट की वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत नियुक्त किए गए व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमत्तापूर्वक रक्षा कर सकेंगे। इन व्यक्तियों का सामान्य सिविल सर्विस की परम्परा में निष्णात होना ही इस प्रकार के कार्य के लिए उनकी उपयुक्तता का एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

मेरे विचार में यह स्पष्ट है कि सम्राट् से सम्बन्ध रखने वाले समस्त राजनीतिक पदों को जहाँ तक हो सके अराजनीतिक होना चाहिए। सर रॉबर्ट पील को राज परिवार की ह्विग महिलाओं का प्रश्न लेकर जिस विषम स्थिति का सामना करना पड़ा था उसकी तो शायद अब पुनरावृत्ति नहीं होगी लेकिन यह बिल्कुल अवांछनीय है कि १९११ की भाँति सम्राट् के एक सैनिक अधिकारी का अल्स्टर-विद्रोह को समर्थकों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हो विशेषकर उस समय जब कि यह स्पष्ट हो कि उसके विचार सम्राट् के मन पर प्रभाव रखते हैं।[1] यह ठीक है कि राजप्रासाद के पास जितने लोगों से जानकारी पहुँचे उतना ही उपयोगी है। लेकिन यह समझना आवश्यक है कि सम्राट् के उपयोग के लिए उसका मूल्यांकन करना ऐसा कठिन कार्य है जो उसके कर्मचारी सदैव ही ठीक से नहीं कर पाते। १९२९-३१ की श्रमिक सरकार के सदस्यों को इन प्रश्नों में बड़ी परेशानी होती थी जो वे राजप्रासाद में संयुक्त सरकार की मान्यताओं के सम्बन्ध में निरन्तर पाते रहते थे। राजकर्मचारियों का कार्य इस प्रकार के मत देना नहीं है। सिविल सर्विस का मूलतत्त्व यह है कि उसका प्रशिक्षण इस प्रकार के दृष्टिकोण के विरुद्ध होता है। राजप्रासाद के पद सिविल सर्विस को दे देने से इस बात का आश्वासन मिल जायेगा कि जहाँ तक सम्भव हो सकेगा राजप्रासाद के कर्मचारियों के सम्पर्क संदेह का कोई कारण उत्पन्न न करेंगे।

( ६ )

दो प्रश्न डोमीनियनों की परिवर्तित स्थिति में राजमुकुट के स्थान के बारे में चर्चनीय हैं। लॉर्ड बाल्फोर जैसे अधिकारी लेखकों का विचार है कि इस परिवर्तन में राजमुकुट की शक्ति उस शृंखला या इकाई के रूप में जिसके प्रति साम्राज्य के विभिन्न भाग एकनिष्ठ हैं बढ़ गई है।[2] इस युक्ति को स्वीकार करना कठिन है। मोटे तौर पर यह कहना सही है कि अब डोमीनियन शासन के नियमन से स्वतंत्र हैं सम्राट या गवर्नर जनरल अपने डोमीनियन प्रधान मंत्री के परामर्श पर इसी प्रकार आचरण करते हैं जिस प्रकार कि लंदन में वे अपने प्रधान मंत्री के परामर्श पर

---

१ एशर, संडे टाइम्स जनवरी ५ १९१८।

२ बैजहॉट के 'दि इंगलिश कॉन्स्टीट्यूशन' (वर्ल्ड्स क्लासिक्स एडीशन) की भूमिका देखिए कि किंग एंड दि इम्पीरियल क्राउन पृष्ठ, ५५२।

आचरण करते हैं। यदि उनके दो प्रधान मंत्री परस्पर विरोधी परामर्श दें तो क्या होगा यह कहना जरा कठिन है। स्पष्टतः इस मतभेद को सुलझाने में सम्राट् की सहायता ली जायगी। आयर्लैण्ड के सम्बन्ध में यह समस्या स्पष्ट है और दक्षिण अफ्रीका के सम्बन्ध में युद्ध के समय इस प्रकार की कई विकट समस्याएँ उठ चुकी हैं। लेकिन यह समझ में नहीं आता कि राजमुकुट का यह बहुमुखी व्यक्तित्व उसकी शक्ति को किस प्रकार बढ़ाता है।

यह सही है कि राजतंत्र की संस्था द्वारा निर्मित राजभक्ति का बंधन काफी गहरा है और उसे अन्य किसी साधन द्वारा सुगमता से नहीं प्राप्त किया जा सकता। लेकिन ब्रिटिश राष्ट्रमंडल की जड़ें और भी गहरी हैं। साम्राज्य का मनोवैज्ञानिक आधार स्पष्ट रूप से भौतिक है। यदि वह अनुपयुक्त मालूम पड़ता है जैसा कि १७७६ में अमेरिका के उपनिवेशों को मालूम पड़ा था तो राजभक्ति की संस्था सम्बन्ध विच्छेद को नहीं रोक सकती। राजमुकुट का व्यक्तित्व भी तभी तक उपयोगी है जब तक कि भौतिक आधार सबल है। उसका उन प्राचीन परम्पराओं से सम्बन्ध है जो एक सामान्य दृष्टिकोण का निर्माण करती हैं और झगड़ों के समाधान को सुगम कर देती हैं। प्रो० कीथ का कहना सही है कि 'यदि राजमुकुट न हो तो राष्ट्रमंडल के विभिन्न भागों का निश्चित सम्बन्ध निर्धारण तर्क के द्वारा कार्य होगा।' यह बात जरा संदेहास्पद है कि इस प्रकार के निर्धारण का उचित समय आ गया है। लेकिन यह स्मरणीय है कि इस प्रकार के निर्धारण की आवश्यकता को कई उच्च कोटि के विद्वानों ने व्यक्त किया है। इस प्रकार के जटिल प्रश्न कि क्या डोमीनियनों को अलग हो जाने का अधिकार है और क्या इंग्लैंड और डोमीनियनों के सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अन्तर्गत आते हैं वस्तुतः सम्राट् के व्यक्तित्व से बिल्कुल स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार के प्रश्नों का समाधान इंग्लैंड और डोमीनियनों के स्वार्थों की क्रिया-प्रतिक्रिया से ही सम्भव है। १९२१ में आयरिश संधि के समय राजभक्ति के अर्थ पर जो वाद-विवाद हुआ था उसको देखते हुए यह शंका की जा सकती है कि सम्राट् का व्यक्तित्व एकता की शृंखला के रूप में कुछ जटिल समस्याओं के समाधान में सहायक होने की अपेक्षा बाधक ही अधिक रहा है। यह भी संभव है कि राजमुकुट के व्यक्तिगत प्रतिनिधि के रूप में डोमीनियन के गवर्नर जनरल की स्थिति भविष्य में नए प्रश्न खड़े कर सकती।[1] जॉर्ज पंचम् ने सर इसाक इसाक्स (Sir Isaac Isaacs) की जो आस्ट्रेलिया में उत्पन्न होने वाले गवर्नर जनरल थे नियुक्ति को आसानी से नहीं माना था। इस संदर्भ में भारत के भविष्य के गर्भ में ऐसी कई विकट समस्याएँ छिपी हुई हैं जिनका समाधान सुगम नहीं होगा।

जो लोग कि राजमुकुट की साम्राज्यिक स्थिति में उसकी अपरिहार्यता का प्रमाण देखते हैं सम्भवतः दो बातों से प्रभावित हैं। वे राजकीय प्रतिष्ठा की साम्राज्यिक एकता के विचार को शक्तिशाली बनाने के रूप में विदेशों में वृद्धि करते हैं। राजभक्ति की जड़ें मानवीय प्रवृत्ति के अन्दर बहुत गहरी हैं। लेकिन वे स्वदेश में भी राजमुकुट की

1 देखिए जस्टिस एवाट की अच्छी कृति 'दि किंग एंड हिज़ डोमीनियन गवर्नर्स'।

प्रतिष्ठा को बढ़ाना चाहते हैं। वे उसकी अपरिहार्यता पर इस उद्देश्य से भी बल देते हैं कि वह घरेलू मामलों में व्यापक परमाधिकार का उपभोग कर सके। इस प्रकार यदि किसी राजकीय कृत्य की आलोचना हो तो उसे साम्राज्यिक एकता पर आघात बताया जा सकता है। सम्राट् की स्थिति को खतरे में डालने का अर्थ साम्राज्य की सुरक्षा को खतरे में डालना है। जितनी दृढ़ता से यह बात निर्वाचकों के कानों में डाली जायेगी, उतना ही आवश्यक यह मालूम पड़ेगा कि सम्राट् के समस्त कार्यों को सार्वजनिक आलोचना से पृथक रक्खा जाय। हमसे यह कहा जाता है कि भारत को अपने अधिकार में रखने के लिए राजमुकुट का निर्णायक महत्व है। यह मान लिया जाता है कि उसके प्रभाव के बिना भारतीय मस्तिष्क पर हमारा नियन्त्रण कम हो जायेगा।

यह आवश्यक नहीं है कि हम प्रतिनिधत्व के महत्व को अस्वीकार करें। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि राजमुकुट की साम्राज्यिक प्रतिष्ठा उसी समय से प्रारम्भ होती है जब से हमें भारत के व्यापारिक मूल्य का ज्ञान हुआ। हमें उसके इस महत्व का ज्ञान उस समय नहीं हुआ जब कि उपनिवेश हमारे बक्स में बंधे हुए पत्थरों की भांति थे। साम्राज्य की एकता उसी समय तक कायम रक्खी जायगी जब तक कि उसको कायम रखना उसके सभी भागों के लिए हितकारी है। जब तक इसका मूल्य है, तब तक राजमुकुट भी इस एकता के प्रतीक के रूप में मूल्यवान् रहेगा। साम्राज्य के अन्दर उसका महत्व उन आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों की क्रिया प्रतिक्रिया पर निर्भर है जो कि उसके (साम्राज्य के) अन्तर्सम्बन्धों पर वेगशाली प्रभाव डालती हैं। हम चाहे जितने रहस्यपूर्ण शब्दों का प्रयोग करें, यह तथ्य नहीं छिपाया जा सकता कि राजमुकुट की न तो अपनी कोई नीति है और न हो सकती है। सम्राट पूर्ण रूप से अपने मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार बोलते और आचरण करते हैं। साम्राज्यों का उत्थान और पतन उन कारणों पर अवलम्बित है जिन्हें कदाचित सम्राट् नियन्त्रित करना तो दूर रहा बहुत कम प्रभावित कर सकते हैं। जितनी स्पष्टता से हम इस तथ्य को समझ लेंगे उतनी ही स्पष्टता से हम सम्राट् की स्थिति को हृदयंगम कर सकेंगे।